*

लेखक एवं प्रकाशक :
डॉ० भगवती लाल शर्मा

*

संस्करण :
प्रथम, १९७०

*

मूल्य :
पच्चीस रुपये

*

आवरण :
ज़ियाउल्ला खाँ

*

वितरक :
अर्चना प्रकाशन
१, मेहरा हाउस, कालाबाग
अजमेर (राज.)

*

मुद्रक :
राजस्थान प्रिंटर्स,
सेठी सदन, दौलतबाग रोड,
अजमेर

अर्चना प्रकाशन
का
अष्टम पुष्प

संकेतिका



समर्पण—



पूज्य पिता

पं० श्री कृष्ण जी व्यास

को

जिनका स्नेह ही सम्बल रहा—

—भगवती लाल शर्मा

भूमिका

आजकल हिन्दी और उसकी बोलियों, उपभाषाओं और विभाषाओं में बहुत-सा काम हो रहा है। जब से हिन्दी ने राष्ट्रभाषा की ख्याति पायी है इसके आसपास क्रिया-प्रतिक्रिया का गहन वातावरण बना है। दोनों परिपार्श्वों में साहित्यिक और भाषिक गतिविधियाँ तीव्र एवं उत्तेजित हुई हैं। एक तो स्वतंत्रता के उपरान्त देश के कर्णधारों ने यहाँ के निवासियों की अध्ययन-ललक को प्रोत्साहित किया; दूसरे अनेक विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और विद्यालयों की संस्थापना ने अध्ययन-अध्यापन की दिशा बदलने का भी प्रयत्न किया।

कुछ लोग यह कह कर हिन्दी भाषा और साहित्य के गौरव की उपेक्षा ही नहीं करते, वरन् उसको अस्वीकृति भी देते हैं कि हिन्दी में घास-कूड़ा बढ़ रहा है। उन लोगों के बौद्धिक धरातल के साथ मेरी पूरी सहानुभूति है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य किसी व्यक्ति, वस्तु, या विचार का मूल्यांकन अपने बौद्धिक स्तर पर ही करता है। यदि कोई मनुष्य अपने विचार या भाव को दूसरे पर आरोपित करता है तो इसमें आरोप्य का क्या दोष है ? ऐसे व्यक्ति के संबंध में हम एक सार्वजनिक प्रार्थना करते हुए कह सकते हैं—'धियो यो नः प्रचोदयात्'।

जिनके लोचन निमीलित हैं उनको जगाने के लिए इतना कहना पर्याप्त है कि हिन्दी में बीस वर्ष में जितना काम हुआ है उतना इतने थोड़े समय में विश्व की किसी भाषा में नहीं हुआ और यह कहना भी अनुचित नहीं है कि हिन्दी की इस गति ने देश की अन्य भाषाओं में स्पर्धा को जाग्रत किया है। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि कुछ प्रतिशत को छोड़कर हिन्दी का कार्य गौरवमय एवं सराहनीय है।

जब मैं यह कहता हूँ कि हिन्दी में काम हो रहा है तो मेरा तात्पर्य घास-कूड़े से नहीं है। उस समय मेरे ध्यान-पथ में अच्छा काम ही होता है। मेरी समझ में यह नहीं आता कि हिन्दी के कटु आलोचक हिन्दी से क्या अपेक्षा करते हैं। आज हिन्दी विश्व साहित्य के समानान्तर दौड़ रही है। हिन्दी में मौलिकता भी है और अनुकरण भी है। मैं इन दोनों बातों का आदर करता हूँ। सब कुछ मौलिक नहीं हो पाता और सब कुछ अनुकरण की भूमि पर न तो संभव होता है और न वांछनीय ही। यदि भाषा-शैली में अनुकरण है तो साहित्यिक विधाओं में भी अनुकरण है, किन्तु देश, काल और व्यक्ति-रुचि के परिवेश में मौलिकता भी उभरे बिना नहीं रह रही है।

हिन्दी साहित्य का भंडार सर्जना क्षेत्र में भी भर रहा है और आलोचना-क्षेत्र में भी। आलोचना-क्षेत्र में गवेषणा को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिल रहा है। गवेषणा या अनुसंधान की दो भूमियाँ हैं— वैयक्तिक एवं संस्थानिक। विश्वविद्यालय की उपाधियों से संबंधित अनुसंधान कार्य दूसरी भूमि पर होता है। डॉ. रघुवीर या महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कार्य पहली भूमि से संबंधित है। दोनों ही भूमियों पर होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण है और आलोचनात्मक-क्षेत्र को गौरवान्वित करता है। यह दूसरी बात है कि कहीं आलोचना को प्राथित्य मिलता है तो कहीं गवेषणा को, किन्तु इन दोनों को विरहित करना असंभव है। हाँ, यह संभव है कि एक ही कार्य में दोनों का संतुलित पुट हो, किन्तु ऐसी बहुत ही कम कृतियाँ होती हैं जिनमें संतुलन बना रहता है। यह संतुलन घुणाक्षर-न्याय से ही बन जाता है, किसी आलोचक या

गवेषक के प्रयत्नों को इस दिशा में बहुत कम सफलता मिलती दीखती है। अनुशीलनीय कृति "ढोला मारू रा दूहा' में काव्य-सौष्ठव, संस्कृति एवं इतिहास" कृतिकार की संतुलनात्मक सफलता का ज्वलंत उदाहरण है।

डॉ. भगवतीलाल शर्मा ने गवेषणा की भूमि पर आलोचना से सहयोग प्राप्त किया है। यों तो 'ढोला मारू रा दूहा' पर देशी-विदेशी अनेक विद्वानों की लेखनी को यश मिला है, किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कृति अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई। उसमें मूल पाठ के साथ आलोचना और गवेषणा को समाहृत किया किया गया है। फिर भी इस कृति में कुछ पार्श्व उपेक्षित रहे जिनका ध्यान डॉ. भगवतीलाल शर्मा को स्फुरित हुआ और उन्होंने नौ परिच्छेदों की गवेषणा प्रस्तुत की।

इसका प्रथम परिच्छेद 'विषय-प्रवेश' है जिसके पाँच अंग हैं। प्रथम अंग शीर्षक और व्युत्पत्ति से संबंधित है; दूसरे अंग में रूप, रूपान्तर और पाठान्तर की विवेचना की गयी है; तीसरे में कृतिकार का निर्णय एवं परिचय दिया गया है; चौथे में कृति के रचना-काल का विवरण है और पाँचवें अंग में कृति की लोक-प्रियता की सतर्क विवेचना की गयी है।

दूसरे परिच्छेद में 'कथा एवं पात्र' से संबंधित विवेचना है। इसमें सात अंग हैं। पहले अंग में 'कथा-सार' दिया गया है; दूसरे में 'कथा संगठन' है; तीसरे में 'कथा का अन्त'; चौथे में 'कथा-वस्तु का प्रकार; पाँचवे में 'कथानक रूढ़ियाँ'; छठे में 'क़था पर प्रभाव' और सातवें में 'कथा के पात्र : मुख्य और गौण' की विवेचना है।

तीसरा परिच्छेद 'काव्य-स्वरूप' से संबंधित है जिसके पाँच अंग हैं। इनमें क्रमशः प्रबन्धात्मकता, मुक्तकत्व, लोक-काव्यत्व, शैली और अन्य दृष्टिकोण विवेचित हुए हैं।

चौथा परिच्छेद 'अनुभूति-पक्ष' का विवेचन करता है। इसके पाँच अंग हैं। पहले अंग में प्रधान रस (शृंगार) का विवेचन है। इसके अनेक अंगोपांगों का विवेचन भी इसी में हुआ है। दूसरे अंग में अन्य रसों की विवेचना है। तीसरे अंग में सौन्दर्य और प्रेम का विवरण है। चौथे में कल्पना तत्त्व और पाँचवें में अन्य भावगत विशिष्टताएँ विवेचित हैं।

पाँचवें परिच्छेद में 'अभिव्यक्ति-पक्ष' पर विचार किया गया है। इसके अंदर भाषा, शैली, अलंकार, छंद, संवाद-योजना, प्रकृति-चित्रण, काव्य-रूढ़ियाँ, कलागत अन्य विशेषताएँ एवं काव्य-दोष निरूपित हुए हैं।

छठे परिच्छेद में परम्परा एवं प्रादेशिक रूपों का विवेचन हुआ है। सातवाँ परिच्छेद कृति की सांस्कृतिक धरा का उद्घाटन करता है। इसमें पहले साहित्य और संस्कृति के संबंध पर विचार किया गया है; फिर धर्म, दर्शन, शिक्षा और नीति की गवेषणा की गयी है। कला एवं विज्ञान, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, राजनीतिक जीवन एवं प्राकृतिक जीवन की गवेषणा एवं मीमांसा भी इसी परिच्छेद में की गयी है।

आठवें उपान्त परिच्छेद में कृति की ऐतिहासिक धरा की खोज की गयी है। इसके अंतर्गत पहले तो साहित्य और इतिहास के संबंध का निरूपण सामान्य रुप से किया गया है। फिर कथावस्तु की ऐतिहासिकता की परीक्षा की गयी है। इसके

उपरान्त पात्रों की ऐतिहासिकता का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अंतर्गत ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन परिश्रम साध्य और रोचक है।

अंतिम परिच्छेद उपसंहार है। 'ढोला मारू रा दूहा' ने राजस्थानी और हिन्दी में जो स्थान प्राप्त किया है, पहले तो उसकी विवेचना है; फिर साहित्य को इस कृति की देन पर विचार किया गया है। अन्त में साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से इस कृति के विषय में निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

मैं यह कहने के लिए तो तैयार नहीं हूँ कि यह कृति सर्वथा निर्दोष है, किन्तु मैं यह कहने में भी नहीं हिचकता कि इसको तैयार करने में लेखक को घोर परिश्रम करना पड़ा है। विशेषकर हस्तलिखित सामग्री के संकलन में जो भी परिश्रम हुआ है, उससे कई गुना परिश्रम उसके वर्गीकरण में हुआ होगा। यह वर्गीकरण सुस्पष्ट एवं सतर्क है। एक एक बात पर लेखक ने गंभीर विचार किया है। 'ढोला मारू रा दूहा' का इस प्रकार का अध्ययन अब तक नहीं हुआ था और इसकी बड़ी भारी आवश्यकता थी।

आवश्यकता की पृष्ठभूमि में इस कृति की लोकप्रियता अविस्मरणीय है। इस कृति के लेखक ने 'ढोला मारू रा दूहा' के रूपान्तरों और पाठान्तरों की बात के साथ उसकी लोकप्रियता की बात भी की है। राजस्थान में ही इसके अनेक रूपान्तर मिलते हैं जो इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। अन्य प्रदेशों में भी ढोला की कथा प्रचलित है, किन्तु इसका 'दूहा' वाला साहित्यिक रूप उसमें नहीं मिलता है। गीत काव्य के रूप में जो 'ढोला' उत्तर प्रदेश में गाया जाता है, उसके साथ अनेक प्रसंग जुड़ गये हैं। नल दमयंती (दुमैंती) की कथा में उसमें नल-मोतिनी-प्रसंग भी जुड़ गया है। इतना ही नहीं उसमें ऐसे और भी प्रसंग जुड़ गये हैं जिनके सिर-पैर का ऐतिहासिक परिचय मिलना दुष्कर ही नहीं, असंभव दीखता है। जिस ढोला की बात 'दूहा' में की गयी है उसको नल से जोड़ देने में इतनी असंभव कला नहीं है, जितनी महाभारत कालीन नल-दमयंती से जोड़ देने में है। इसके साथ ही नल को दुर्गा देवी से रक्षित बताया है और अनेक प्रसंगों में दुर्गा नल की सहायता करती है।

जो हो, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि ढोला की कथा इतनी लोक-प्रिय हुई कि उसमें अनेक क्षेपक समाविष्ट होते चले गये और कथानक अनेक रूपों और धाराओं में प्रसारित होता चला गया। मूल कथानक की चोटी हाथ में आने की कोई आशा इसलिए नहीं है कि ढोला की कथा मूलतः लोक-कथा है। कुछ-एक लोक-कथाओं को छोड़ कर शेष का यह सामान्य दुर्भाग्य है कि उन पर लोक रंग इतना गहरा चढ़ जाता है कि उसके असली रूप की गवेषणा ही असंभव हो जाती है। अतएव कथानक की गवेषणा में डॉ. शर्मा ने जो कुछ कहा है, मैं उसे उनके अनुमानों की सफलता मात्र कह सकता हूँ, उसे मैं उसकी ऐतिहासिक भूमिका पर लेखक की पहुँच नहीं कह सकता।

इतिहास स्थान से ही संबंधित नहीं होता, वह तो तिथियों और युगीन घटनाओं से भी संबंधित होता है। पात्र भी उससे दूर नहीं रह सकते। ऐतिहासिक भूमि पर 'ढोला' शब्द का कोई विवेचन नहीं किया जा सका और न किया जा

सकता है। इस संबंध में 'ढोला' की व्युत्पति बीच में आ खड़ी होती है। व्युत्पत्ति से यही तथ्य अवगत होता हैं कि 'प्रिय' के अर्थ में प्रयुक्त यह शब्द व्यक्ति विशेप के लिए स्वीकृत हो गया। क्यों हो गया ? इसका साधिकार उत्तर मिलना कठिन प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में प्रायः सभी देशी-विदेशी विद्वानों ने 'ढोला' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अटकलबाजियों से काम लिया है। इसकी व्युत्पत्ति 'दुर्लभक' शब्द से कुछ सार्थक प्रतीत होती है जो इस प्रकार हो सकती है— दुर्लभक, दुल्लभअ, दुल्लहअ, ढुल्लअ, ढोला। इस 'दुर्लभक' में 'क' स्वार्थ का प्रत्यय है। जिस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने 'उल्ल' को व्यर्थ प्रत्यय बतलाया है, 'क' उस प्रकार व्यर्थ तो नहीं है, किन्तु स्वार्थ में इसका प्रयोग संस्कृत शब्दों में प्रायः होता था।

प्राकृत शब्दों में इसका स्थानापन्न 'अ' रहा जो प्रथमा एकवचन में 'ओ' के रूप में प्रयुक्त होता रहा क्योंकि अकारान्त शब्द अपने विसर्ग के साथ प्राकृत में ओकरान्त में बदल जाते थे। राजस्थानी में प्रथमा एकवचन में यह ओकारान्त प्रयोग उसी परपंरा का द्योतक है। समास का पूर्वपद ओकारान्त नहीं होता। वह खड़ी बोली की भाँति आकारांत ही रहता है। इसीलिए 'ढोलो मारू रा दूहा' न होकर 'ढोला मारू रा दूहा' प्रयोग है।

'दुर्लभक' से व्युत्पन्न 'ढोला' शब्द का प्रयोग संज्ञा रूप में है, विशेषण रूप में नहीं है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि 'क' स्वार्थ-प्रत्यय संज्ञाओं में ही लगता है, किन्तु संज्ञावत् प्रयुक्त विशेषण पद भी इसके अपवाद नहीं हैं। दुर्लभक (दुर्लभ) का अर्थ है दुष्प्राप्य, बहुमूल्य अथवा महँगा। प्रिय भी दुर्लभ या बहुमूल्य होता है, इसलिए दुर्लभ (दुर्लभक) शब्द ने जहाँ बहुमूल्य का अर्थ दिया, वहाँ 'प्रिय' का अर्थ भी प्रकट किया। ये दोनों अर्थ अंग्रेजी के dear (डीअर) शब्द में भी सुरक्षित हैं। दुर्लभ तथा 'डीअर' के इन दोनों अर्थों में संयोग भी हो सकता है और परंपरार्थ की एकरूपता भी हो सकती है।

अन्य-विवेचनों में वैचारिक सूक्ष्मता एवं गंभीरता है। विश्लेषण की प्रक्रिया में धर्म, दर्शन, रीति-रिवाज आदि के 'परत' खोले गये हैं। सारे 'परत' परिचित होने से प्रिय एवं रोचक भी हैं। इसका विवेचन सूक्ष्म एवं शास्त्रीय पद्धति पर किया गया है। भौगोलिक एवं चारित्रिक धराओं पर डा. शर्मा की दृष्टि क्रमशः वास्तविक एवं मनोवैज्ञानिक रही है। हाँ, सौन्दर्य की गवेषणा में प्रस्तुत कृति-कार वस्तुपरकता से आक्रान्त रहा है।

संक्षेप में मैं यह कह सकता हूँ कि इस कृति के लेखक ने आलोचना और गवेषणा को समन्वय की भूमिका दी है, विश्लेषण एवं विवेचन को सूक्ष्मता दी है, सौन्दर्य की गवेपणा को वस्तुपरकता दी है और चरित्र-चित्रण को मनोवैज्ञानिकता दी है। यह अध्ययन कवि के कृतित्व की सही अवगति में तो सहायक होगा ही, साथ ही, लोक साहित्य के अध्ययन के लिए नये आयामों का उन्मेष भी करेगा। मैं इस अध्ययन के प्रस्तोता को उसके अध्यवसाय, व्यवस्था-बोध एवं विश्लेषण-कौशल के लिए साधुवाद देता हूँ।

सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

जयपुर
३-१०-७०

परिचायिका

(अ) विषय का महत्व :

भारतीय संस्कृति, साहित्य और इतिहास में अपनी गौरवमयी परम्पराओं से अभिमंडित राजस्थान का अनेक दृष्टियों से एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान है। विशेषत: इस भारतीय भू-खंड की भाषा राजस्थानी का प्राचीन लिखित-मौखिक साहित्य इसकी अप्रतिम कीर्ति है। देववाणी संस्कृत को छोड़कर अन्य कतिपय भाषाओं का ही प्राचीन साहित्य-भण्डार इतना सुसम्पन्न और समृद्ध है।

प्राचीन राजस्थानी भाषा और साहित्य अत्यन्त विपुल ही नहीं, उसमें विविधता की दृष्टि से भी अत्यधिक प्रचुरता प्राप्त होती है। राजस्थानी जन-जीवन के वीरतामय रहने के फलस्वरूप वीर रसात्मक काव्य के बहुल सर्जन से राजस्थानी एक ओर जहाँ वीर-रस का पर्याय ही बन गयी; तो दूसरी ओर रसराज शृंगार की रचनाओं में राजस्थान के नवनीत हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों की सजीव एवं चित्रात्मक अभिव्यक्ति भी अपूर्व एवं अनूठी बन पड़ी है। भक्ति की भावधारा जहाँ एक ओर अबाध गति से यहाँ प्रवाहित हुई है, तो शेष रसों की रचनाओं से भी इस समृद्धतमा राजस्थानी की क्रोड़ शून्य नहीं है। इस प्रकार राजस्थानी साहित्य विविधता और विपुलता-दोनों ही दृष्टियों से सुसम्पन्न है।

'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थानी शृंगार-साहित्य का शृंगार है। राजस्थानी के इस गौरव-ग्रंथ का शृंगार की ललित रचनाओं में बड़ा ही आदरणीय स्थान रहा है। इस कालजयी रचना में लोक-हृदय को युगों से आकर्षित करने की अद्भुत शक्ति रही है और आज के इस बौद्धिक युग में भी इसकी मनोहारिता किंचित मात्र कम नहीं कही जा सकती। राजस्थानी में तो कविता के लिए ऐसी मान्यता रही है कि जिसके श्रवण से आनन्द विभोर होकर सिर झूम न उठे, वह कविता ही क्या ?[1] 'ढोला-मारू' इस कसौटी पर खरा उतरता है। वह आज भी अपनी मर्मस्पर्शिता के कारण हृदय को रसामृत से परिप्लुत कर सकने में सक्षम है। देश के अनेक भागों में इस कमनीय काव्य की अमृत-स्त्राविणी कथा अपने-अपने अलग-अलग ढंगों से विकसित हुई है और कितने ही साहित्यकारों को इस प्रेमी-युगल की आकर्षक कथा ने आकर्षित किया है। राजस्थानी लोकजिह्वाओं पर 'ढोला-मारू' के कितने ही दोहे उदाहरण, उद्धरण, मनोरंजन और साहित्यिक आनन्द के सर्जन के लिए मध्य-युग से वर्त्तमान पर्यन्त

---

१. क्या कामण, क्या कवित रस, क्या धानुख्ख तरांह ?
लोयण, मन, तन लागतां, सीस न धुणिये ज्यांह ॥

समादृत एवं आसन्न रहे हैं। काव्य हृदय-संवेद्य होता है; आस्वादन की वस्तु; आत्मा को आप्लावित करने वाली रस-धारा होती है। फलत: इस लोक-पूजित राजस्थानी रचना की मनोहारी भावनिधि एव आपात-मधुर शिल्पगत-सौष्ठव के प्रति आकर्षण और रुचि होना मेरे जैसे राजस्थानी के लिये ही नहीं, अपितु किसी भी साहित्य-रसिक के लिये एक सहज स्वाभाविक वस्तु है।

बहुत समय तक लोकभूमि पर लिखे गये काव्यों की शिष्ट आलोचना-साहित्य में उपेक्षा-सी होती रही है, किन्तु नव-जागरण के साथ-साथ लोकोन्मुखी-काव्यों की भाव-निधि एवं कलात्मकता को भी मूल्यांकित करने के सद्-प्रयत्न हुए हैं। नवीन एवं वैज्ञानिक शोध-दृष्टि से अपने प्राचीन साहित्य का पुनरूद्धार करने तथा उसे प्रतिष्ठित करने एवं परखने के आग्रह से राजस्थानी साहित्य अब आलोचकों एवं गवेषकों की दृष्टि से अछूता नहीं रह गया है। फलत: 'ढोला मारू रा दूहा' का महत्व भी नये संदर्भ में स्थापित किया जाने लगा है। इसके व्यवस्थित संपादन के पश्चात् विविध दृष्टिकोणों के अनुसार कुछ विद्वानों ने इस पर स्तुत्य अध्ययन भी किये; किन्तु वे संक्षिप्त रहे और पत्र-पत्रिकाओं में मुद्रित फुटकल लेखों तक ही सीमित रहे। विषय के महत्व को देखते हुए ये सब अध्ययन पूर्ण और पर्याप्त नहीं माने जा सकते। काव्यगत सौष्ठव की श्रेष्ठता के अतिरिक्त ऐतिहासिक आधार पर सर्जित इस महीयसी कृति में राजस्थान का सांस्कृतिक जीवन, उसकी परम्पराएँ, धारणाएँ तथा भावनाएँ और तात्कालिक समाज एवं उसके सामाजिक क्रिया-कलापों का प्रतिनिधि सांकेतिक आभास मिलता है। भाषा की दृष्टि से 'ढोला मारू रा दूहा' उत्तरकालीन अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी एवं आदिकालीन राजस्थानी के संधिस्थल का प्रतिनिधित्व भी करता है। ऐतिहासिक धरातल पर दाम्पत्य-प्रेम का उद्घाटन करने वाला यह काव्य काव्यों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ता है। अनेक दृष्टियों से 'ढोला मारू रा दूहा' साहित्य क्षेत्र में निराले स्थान का अधिकारी है। काव्य, संस्कृति एवं इतिहास का इस कृति में संगुफन इतने कलात्मक ढंग से रूपायित हुआ है कि इस ग्रंथ का और अधिक विशद अध्ययन अपेक्षित समझा गया।

इसकी महत्ता से प्रेरित होकर जब इस ग्रंथ पर शोध-कार्य का निश्चय किया तो दो प्रकार की भूमिकाएँ मुझे स्पष्ट लक्षित हुई :—

एक : इस ग्रंथ की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के अधार पर मूल पाठ का संपादन कर इसके भाषा-शास्त्रीय रूप का प्रामाणिक समीक्षित संस्करण प्रस्तुत करना;

दूसरी : इस ग्रंथ का काव्य, सस्कृति एवं इतिहास के परिप्रेक्ष्य में विस्तृत अध्ययन करना।

दोनों ही भूमिकाओं का अपना-अपना महत्व है। इस शोध-प्रबन्ध में दूसरी भूमिका पर रह कर कार्य किया गया है जिससे राजस्थान के इस जातीय-काव्य के

एक पक्ष का समुचित उद्घाटन हो सके। यह इसलिए भी उचित समझा गया कि जब इसके अनेक पक्षों के विशद विवेचन के लिए हस्तलिखित प्रतियों की समुचित सहायता ली जायगी तो इसके मूल-रूप-निर्धारण में यह कार्य आगे चलकर पीठिका का कार्य करेगा। प्रथम पक्ष का इस शोध-प्रवन्ध से अपेक्षित कम महत्व नहीं है, किन्तु 'विषय-परिधि' के विस्तार-भय के कारण फिलहाल उसे नहीं लिया गया है। अदूर-भविष्य में श्रम, शक्ति और सुविधा-सामर्थ्य के अनुसार उसे भी पूरा करने का मंगल-संकल्प मन में अवश्य है।

विपय के महत्व को मैं राजस्थानी भाषा के रूप में ही नहीं मूल्यांकित कर रहा; वरन् सम्पूर्ण हिन्दी-वाङ्मय के संदर्भ में भी इस रचना को प्रथम कोटि की रचनाओं में स्वीकार करके चला हूँ। 'दूहों' की मौलिक भावोद्भावना इसके अपूर्व भाषा-सौष्ठव से चमत्कृत हो उठी है। अभिव्यंग्य एवं अभिव्यक्ति का सानुपातिक समन्वय, कल्पना और इतिहास के अवशेषों का ऐसा सुमेल—मुक्तक छन्द की प्रबन्धात्मकता में विरल ही कहा जायेगा। ऐसी लोकोन्मुखी एवं अपेक्षाकृत उपेक्षित श्रेष्ठ साहित्यक-रचना का व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक अध्ययन साहित्य के कोष की समृद्धि के साथ 'ढोला मारू' के अध्ययन की शृंखला में एक नयी कड़ी की नियोजना करेगा, ऐसी विनम्र धारणा को लेकर ही मैंने 'ढोला मारू रा दूहा' का अध्ययन हिन्दी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार शोध के आलोक में एतद् विपयक सर्वांगीण अध्ययन, प्रामाणिक एवं शोधपूर्ण नये तथ्यों और विचारों का प्रस्तुतीकरण यहाँ मेरा इष्ट रहा है।

(आ) एतद् विषयक किया गया कार्य :

लगभग तीन दशक पूर्व सर्व श्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक एवं नरोत्तम दास स्वामी द्वारा इस रचना का संयुक्त संपादित संस्करण हिन्दी-साहित्य-संसार के समक्ष आया। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित होने के पश्चात् शीर्पस्थ विद्वानों की दृष्टि इसकी ओर गयी। वर्तमान तक इस रचना को लेकर जो अध्ययन हुआ है, उसका वर्गीकरण अधोलिखित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

क : मूल ग्रन्थ को लेकर किये गये कार्य :

इसके अन्तर्गत 'ढोला मारू' पर उल्लेखनीय एवं विचारणीय उपलब्ध ग्रन्थों का परिचय निम्नलिखित है :—

१. ढोला मारवणी री वार्ता :

वर्त्तमान समय में इस पर सर्व प्रथम टीका प्रस्तुत करने का श्री गणेश श्री किशोर दान बारहठ, लोलावास निवासी ने सं. १९६१, विजयादशमी पर किया। परन्तु दुर्भाग्य से यह कृति प्रकाशित नहीं हो सकी और इस तरह साहित्य-संसार श्री बारहठ के सुप्रयास से वंचित रह गया। श्री बारहठ द्वारा लिखित यह टीका राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी (ग्रं. ३८) में उपलब्ध है।

२. ढोला मारू रा दूहा :

सर्व श्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तम दास स्वामी के सुयोग्य संपादकत्व में यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सं. १९९१ में प्रकाशित हुआ। संपादक-त्रय ने विभिन्न प्रतियों से मूल-पाठ का निर्धारण कर अध्यवसाय से विवेच्य रचना की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी। प्रस्तावना के पूर्वार्द्ध में ऐतिहासिक विवेचन और साहित्यिक आलोचना देकर उत्तरार्द्ध में भाषा एवं व्याकरण का निरूपण किया गया है। ग्रन्थ में हिन्दी अनुवाद, पाठान्तर, टिप्पणी, विभिन्न प्रतियों के पाठ, शब्द कोष, प्रतीकानुक्रमणिका आदि देकर ग्रन्थ का समापन किया गया है।

संपादक-त्रय का यह सुप्रयास 'ढोला मारू' के अध्ययन की आधार-शिला है। इस ग्रन्थ की ऐतिहासिक महत्ता है। कहीं-कहीं उनकी आलोचना एवं निष्कर्ष से मतभेद के लिये अवकाश है; किन्तु उनका परिश्रम सुश्लाघ्य है, इसमें निःसन्देह दो मत नहीं हो सकते। इतना अवश्य खटकता है कि इस ग्रन्थ के अब तक तीन संस्करण (संवत् १९९१, २०११ एवं २०१९) निकल चुकने पर भी उपलब्ध नयी सामग्री के समावेश और प्रयोग के प्रति नितान्त उदासीनता बरती गयी है। पाठानुसन्धान की दृष्टि से भी इसका पाठ चिन्त्य है और आलोचना में भी अनेक पक्ष अपस्पर्शित रह गये हैं।

३. लेस दूहा द ढोला मारू :

इस ललित प्रणयाख्यान की मनोहारी भावविधि से प्रभावित होकर फ्रांसिसी विदुषी डॉ. शार्लोत वॉदविल ने फ्रेंच भाषा में इसकी आलोचना एवं ३०० दोहों का अनुवाद किया है। एक विदेशी भाषा में इसका अनुवाद इसकी लोकप्रियता ही नहीं, महत्ता भी सिद्ध करता है। पश्चिमी साहित्य-संसार के समक्ष राजस्थानी के इस गौरव-ग्रंथ के सौन्दर्य का उद्घाटन करने वाला यह प्रथम प्रशंसनीय प्रयास है। राजस्थानी वाङ्मय एवं परिवेश से पूर्णतया अन्तरंग परिचित न होने के कारण आलोचना में उनकी दृष्टि का समावेश किसी नवीन तथ्य को तो प्रकट नहीं करता, फिर भी अनुवाद अवश्य सुन्दर बन पड़ा है। ग्रन्थ सन् १९६४ में इन्सटीट्यूट फ्रेन्काईज द इन्डोलोजी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित हुआ है।

४. ढोला मारू रा दूहा : विवेचन और व्याख्या :

यह ग्रन्थ श्री शम्भूसिंह मनोहर द्वारा लिखा गया है तथा दी स्टूडेन्ट्स बुक कम्पनी, जयपुर से सन् १९६५ में प्रकाशित हुआ है। श्री मनोहर का यह प्रयास व्याख्या की दृष्टि से बहुत मनोहर है। यह ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त है—आलोचना खण्ड एवं व्याख्या खण्ड। आलोचना संक्षिप्त है और कुछेक पहलू आलोचनात्मक दृष्टि से ओझल भी रह गये हैं; परन्तु जो भी लिखा गया है वह संबल एवं सतर्क है। श्री मनोहर राजस्थानी शब्दों की आत्मा से सुपरिचित हैं। अतः व्याख्या खण्ड में उनकी यह तल-स्पर्शिनी प्रतिभा इन दोहों में निहित विशिष्ट

भाव को सुस्पष्ट करने में अत्यन्त सफल हुई है। व्यावहारिकता-पूर्ण सन्दर्भोचित अर्थों के उद्घाटन के फलस्वरूप उपलब्ध व्याख्याओं में यह व्याख्या निराली है, परन्तु व्याख्या मात्र ३०६ दोहों की ही की गई है। शेष दोहों की व्याख्या भी की जाती तो रचना के शेषांश का सौन्दर्य भी प्रस्फुटित हो जाता।

५. ढोला मारू रा दूहा : एक विवेचन :

यह विवेचन अपने मूल में श्री कृष्ण विहारी सहल द्वारा राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर को सन् १९६३ में प्रस्तुत किये गये अपने एम. ए. के शोध-निवन्ध का ही परिवर्तित प्रकाशित रूप है। लेखक ने संक्षेप में 'विवेचन' के चार अध्यायों में क्रमश: काव्यरूप, काव्य-सौष्ठव, युग-चित्र और उपसंहार दिया है। संक्षिप्त होने पर भी 'युगचित्र' सुन्दर वन पड़ा है। यह विवेचन आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली से सन् १९६५ में प्रकाशित हुआ है।

६. ढोला मारू रा दूहा :

डॉ. कृष्णकुमार शर्मा ने अपनी इस कृति में 'ढोला मारू' का लोक-गाथा की दृष्टि से प्रौढ़ विवेचन कर मौलिकता का संकेत दिया है। 'दूहों' की व्याख्या भी अपने ढंग की अच्छी व्याख्या है और इस तरह अध्ययन की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती है। यह कृति सन् १९६७ में कॉलेज वुक डिपो, जयपुर द्वारा प्रकाशित हुई है।

७. ढोला मारू रा दूहा :

इस काव्य के अध्ययन की शृंखला में प्रो. महावीर प्रसाद शर्मा की कृति भी सुन्दर वन पड़ी है। लेखक ने संक्षिप्त भूमिका देकर इसके दोहों की व्यवख्या में अनेक नवीन उद्भावनाएँ प्रस्तुत की है। यह कृति गर्ग वुक कम्पनी, जयपुर से सन् १९६७ में प्रकाशित हुई है।

इसके अतिरिक्त 'ढोला-मारू' का 'चौपाई' रूप जैन कवि कुशल लाभ विरचित 'ढोला मारवणी नी कथा-चौपाई'—आनन्द काव्य महोदधि, मौक्तिक ७ में सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ। यह 'कथा-चौपाई' संवत् १८०१ की लिपिवद्ध प्रति पर आधारित है। मुनि श्री संपत विजय जी ने इसकी साथ ही गुजराती में परिचयात्मक भूमिका भी लिखी है। इसी प्रकार जोधपुर के कला-प्रेमी एवं साहित्यानुरागी महाराज मानसिंह (सं १८३९-१९००) द्वारा स्थापित 'पुस्तक प्रकाश' ग्रंथागार में उपलब्ध 'ढोला मारू' से संवंधित १२१ चित्रों का परिचयात्मक आलेख पं. विश्वेश्वर नाथ रेऊ द्वारा लिखित "ढोला मारवण की कथा और उसके आधार पर वने चित्रों का खुलासा" शीर्षक लघु पुस्तक में सं. १९८१ में प्रकाशित हुआ। कथा परिचय आदि के अतिरिक्त इस लघु पुस्तक में साहित्यिक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। 'ढोला मारू' का 'वात' रूप राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी (जोधपुर) से प्रकाशित एवं डॉ. नारायण सिंह भाटी द्वारा संपादित त्रैमासिक पत्र 'परम्परा' में 'राजस्थानी वात संग्रह' शीर्षक अंक में भी छपा है।

ख : पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध :

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'ढोला मारू रा दूहा' ने अनेक विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया। अनेक विश्व-विद्यालयों के हिन्दी स्नातकोत्तर पाठ्य-क्रम में भी इसे स्थान मिला। एतदर्थ 'ढोला मारू' पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इसके अनेक पक्षों को लेकर विद्वानों द्वारा विचार प्रकट किये गये हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण लेख इस प्रकार हैं :—

१. चिमनलाल डाह्या भाई दलाल बी. ए; 'मारू ढोला' (साहित्य, गुजराती पत्रिका : अगस्त १९१४ : पृ. ३५३),

२. बारोट कवि गोविन्द गिला भाई : मारू ढोला नी वार्ता (वाक् सौन्दर्य (गुजराती पत्रिका) सं. १९७३ मार्ग शीर्ष : पृ. १७७),

३. श्री किशोरसिंह बार्हस्पत्य : (राजस्थान : १/२),

४. श्री स्व. मुंशी अजमेरी : काव्य स्वरूप (नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९/४),

५. डॉ. माताप्रसाद गुप्त : शब्दार्थ विवेचन (नागरी प्रचारिणी पत्रिका : ६४/२, ६५/१, उत्तर भारती : ६/२),

६. डॉ. हरिवल्लभ भायाणी : शब्दार्थ विवेचन (वरदा ५/२,५/३,५/४,६/३,७/१),

७. श्री मूलचन्द प्राणेश : शब्दार्थ विवेचन (विश्वम्भरा : १/३; एक और साल्ह कुमार : मरूभारती : १४/३),

८. श्री भँवरलाल नाहटा : शब्दार्थ विवेचन (नागरी प्रचारिणी पत्रिका : ६६/१),

९. डॉ. दशरथ शर्मा : ऐतिहासिक पक्ष (मरू भारती : ११/२),

१०. डॉ हरिशंकर शर्मा 'हरीश : ढोला मारू रा दूहा (त्रिपथगा : ६/७),

११. डॉ. रामसरूप : नीति तत्व (सप्त सिंधु : जनवरी १९६३),

१२. डॉ. गोवर्द्धन शर्मा : लोक तत्व (वरदा ४/१),

१३. डॉ. मनोहर शर्मा : लौकिक गाथाओं पर (वरदा ५/१),

१४. डॉ. ओमा नन्द रू : सारस्वत : मध्यकालीन दोहा साहित्य (परम्परा : अंक १५-१६ : पृ. १२९),

१५. श्री सीताराम लालस : प्राचीन राजस्थानी के महत्वपूर्ण ग्रन्थ (परम्परा २/६-७ पृ. १९२),

१६. डॉ. शार्लोत् वॉदविल : ढोला मारू की नयी व्याख्या (दी जर्नल ऑफ ऑरिएन्टल रिसर्च इन्सटिट्यूट : ११/४),

१७. श्री घनश्याम देव तैलंग : ढोला मारू रा दूहा (राष्ट्रदूत : २६ अक्टूबर, १९६४),

१८. डॉ. सत्येन्द्र : ढोला : एक लोक महाकाव्य (हंस),

१९. श्री रामवल्लभ सोमानी : कछवाहों का प्रारम्भिक इतिहास (शोव पत्रिका : १७/४ : पृ. ८१),

२०. डॉ. मनोहर शर्मा : मरवण (मरूवाणी : ७/८ : पृ. ५-७),
कुरंजा और मरवण (वरदा : २/१),
एक अन्य मरवण (वरदा : ७/१),

२१. श्री शंभुसिह मनोहर : कल्लोल (मरूभारती : १६/४) आदि ।

२२. सुश्री सीता अग्रवाल : ढोला मारू एक राजस्थानी लोक-गीत : (विशाल भारत : जुलाई. ५२),

२३. श्री दीनदयाल ओझा : ढोला मारू में प्रकृति चित्रण (प्रेरणा : ५/२),

२४. डॉ. भगवतीलाल शर्मा : ढोला मारू की कवि-समस्या (सप्तसिंधु : जुलाई ६८),
ढोला मारू का रचना-काल (मधुमती : फरवरी ६९),
ढोला मारू की लोकप्रियता (वरदा : १०/२) ।
ढोला मारू की कथानक रूढ़ियाँ (मरूभारती : १५/१) ।

इसके अतिरिक्त 'ढोला मारू' पर राजस्थानी साहित्य से संबंधित ग्रंथों, प्रेमाख्यान-परक अध्ययनों, इतर हिन्दी साहित्य के ग्रंथों, इतिहास ग्रन्थों, गुजराती ग्रन्थों, कोषों और खोज विवरण तथा सूचियों आदि में भी सूचनात्मक आलेख प्रस्तुत हुए हैं।

इस प्रकार यह 'ढोला मारू' पर विभिन्न दृष्टिकोण लिये हुये कार्यों का संक्षिप्त सर्वेक्षण है। उपरोक्त विवेचित कार्य के परिशीलन के पश्चात् यह धारणा प्रवुद्ध हो उठती है कि 'ढोला मारू' पर अब तक किया गया कार्य शृंखला-वद्ध न होकर विखराव लिये हुये तथा सम्यक् न होकर संक्षिप्त है। 'ढोला मारू' पर स्वतन्त्र अध्ययन तो कम ही उपलब्ध हैं और जो हैं वे संपादक-त्रय द्वारा संपादित ग्रन्थ पर ही आधारित। हस्तलिखित-प्रतियों का अध्ययन तो हुआ ही नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनात्मक स्फुट लेखों में आकार-सीमा के कारण इसके साथ पूर्णतया न्याय नहीं हो सका है। 'ढोला मारू' के स्वरूप को समझने में ये प्रयत्न सक्षम नहीं कहे जा सकते। इस तरह जो विवेचित कार्य है उसे स्तरीय स्वरूप देना एवं अछूते पक्षों को, जिनपर पर्याप्त विवेचन नहीं हुआ है, छूकर इस ललित काव्य का सांगोपांग अध्ययन-आलोचन करके उस अभाव की पूर्ति करना ही यहाँ मेरा अभीष्ट रहा है।

(इ) शोध-प्रबन्ध की सीमा :

प्रस्तुत शोध-विषय का प्रत्यक्ष सम्बन्ध एक काव्य रचना के साहित्यिक अनुशीलन से है। साहित्य को देश और काल संजीवन प्रदान करते हैं। अतः साहित्यिक-परिवेश का संस्कृति और इतिहास से पूर्ण सम्बन्ध है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'ढोला

मारू रा दूहा' का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक—त्रिकोणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'ढोला-मारू' को लेकर राजस्थानी एवं अनेक इतर प्रान्तीय भाषाओं में विविध साहित्य-विधाओं में विपुल रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रबन्ध में मात्र राजस्थानी भाषा में उपलब्ध 'ढोला-मारू' को ही लिया गया है। अनावश्यक विस्तार एवं कलेवर वृद्धि के भय से शेष प्रान्तीय रूपान्तरों का संदर्भोचित उल्लेख-मात्र ही सम्भव हो सका है।

राजस्थान भाषा में भी 'ढोला-मारू' को प्रतिपाद्य बनाकर गद्य, पद्य-बात आदि अनेक रूपों में अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं; किन्तु यहाँ पर विस्तृत अध्ययन के लिये इस कथा के 'दोहा'-स्वरूप तक ही सीमित रहना पड़ा है। दोहा-रूप के भी अनेक रूपान्तर आदि मिलते हैं जो सम्पादनाभाव के कारण हस्तलिखित प्रतियों में ही प्राप्त हैं। अतः मैंने हस्तलिखित प्रतियों का यथास्थान यथोचित उपयोग अध्ययन को पूर्ण बनाने हेतु अवश्य किया है; किन्तु विवेच्य कृति के रूप में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित एवं सर्व श्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक एवं नरोत्तम दास द्वारा संयुक्त संपादित 'ढोला मारू रा दूहा' ग्रन्थ को ही लिया गया है। प्रकाशित प्रति से जहाँ अधिक मतभेद दृष्टिगोचर हुआ है, उसका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

काव्य-सौष्ठव के सम्यक् अनुशीलन का आधार 'समीक्षा' के प्रतिष्ठित मान दण्ड रहे हैं। किन्तु साथ ही राजस्थानी के काव्यशास्त्रीय लक्षणों एवं परम्पराओं को भी ध्यान में रखा गया है क्योंकि प्रस्तुत कृति राजस्थानी की रचना है। अतः काव्य-पक्षीय न्याय की दृष्टि से यह उचित समझा गया है जिससे व्यापक समीक्षण-परीक्षण संभव हो सके एवं साथ ही उसकी अन्तर्निहित भाव-सुषमा का प्रस्फुटन भी।

राजस्थान का समुज्ज्वल अतीत संस्कृति एवं सभ्यता की अनेक गौरवमयी परम्पराओं से अनुप्राणित रहा है। एतदर्थ इस कृति के सांस्कृतिक निरूपण में सार्वदेशिक दृष्टिकोण के साथ-साथ प्रादेशिक विशिष्टताओं को भी संस्पर्श दिया गया है। तत्कालीन राजस्थानी संस्कृति एवं सभ्यता के परिवेश में ही काव्य में अभिवर्णित समाज का सांस्कृतिक अनुशीलन उपस्थित किया गया है।

विवेच्य रचना के ऐतिहासिक अध्ययन की परिधि अत्यन्त सीमित रखी गयी है। 'ढोला मारू' में इतिहास-तत्व उनके नाम एवं विवाह की घटना तक ही उपलब्ध है। 'ढोला मारू' की ऐतिहासिक स्थिति होते हुए भी इतिहास-ग्रन्थ उनके तथा अन्य पात्रों व घटनाओं के सम्बन्ध में मौन साधे हुए हैं। फिर भी ख्यातों, मूर्तियों, जनश्रुतियों एवं किंवदन्तियों तथा इस काव्य के विभिन्न साहित्यिक रूपों में उपलब्ध सूचनाओं का इतिहास की दृष्टि से परीक्षण कर निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं। अतः पात्रों और घटनाओं आदि का विवेचन उपलब्ध सामग्री के आधार पर मर्यादित रूप में ही बन पड़ा है।

सम्पूर्ण प्रवन्ध में विषय का मूल संकेत साहित्यिक मूल्यांकन की ओर ही रखा गया है। लोकोन्मुखी काव्यों के मूल रूपों की उपलब्धि प्रायः नहीं होती। लोकजिह्वा द्वारा समादृत होने के फलस्वरूप समय-समय पर अनेक हाथों का सस्पर्श पाकर उनमें क्षेपकता का समावेश होता रहता है। कहीं-कहीं तो यह परिवर्तन-परिवर्द्धन मूल स्वरूप को ही पूर्णत: विकृत कर देता है। इस तरह साहित्यिक सौन्दर्य के साथ-साथ संस्कृति तो बची रहती है किन्तु इतिहास का कुछ ठिकाना नहीं रहता। वह बदल जाता है। यही स्थिति 'ढोला मारू रा दूहा' के साथ भी है। इसलिये मेरे इस अध्ययन की मूल चेतना साहित्यिक-सौष्ठव का उद्घाटन ही है; संस्कृति और इतिहास तो उसके अंगीभूत बनकर ही उपस्थित हुए हैं।

(ई) मौलिकता एवं योगदान :

'ढोला मारू' का सम्यक संश्लिष्ट और शोधपूर्ण अनुशीलन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया है। अनेक विशिष्टताओं से युक्त होने पर भी किसी ने इसे शोध का विषय नहीं बनाया। प्रस्तुत अध्ययन इस काव्य-ग्रन्थ पर प्रथम उपाधि-परक शोधकार्य है जिसमें 'ढोला मारू' का सर्वांगीण एवं अद्यतन स्वरूप प्रस्तुत करना मुझे अभिलषित रहा है। यह शोध-कार्य इस प्रकार मूलतः अनुसन्धानात्मक होने के साथ-साथ आलोचनात्मक भी है। इस प्रक्रिया में मैंने शोध और समीक्षा-दोनों की संतुलित दृष्टि का समन्वय एवं उपयोग करके नये तथ्य और विचार प्रकाश में लाने का विनम्र प्रयास किया है।

इस गवेषणात्मक अध्ययन में मौलिकता एवं योग की दृष्टि से निम्नलिखित कुछ विन्दु स्थिर किये जा सकते हैं:—

(१) 'ढोला मारू' पर काव्य-सौष्ठव, संस्कृति एवं इतिहास के दृष्टिकोण से वैज्ञानिक शोध करने का यह प्रथम प्रयास है।

(२) इस रचना में अन्तर्निहित सूक्ष्म मानस-संवेदन, सौन्दर्य-चेतना, रस, भाव-प्रवणता, कल्पना-वैभव, भाषा और शब्द-सुषमा, अलंकार-चमत्कृति, कथोपकथन-योजना, गुण, रीति, कवि-समय, वर्णनात्मक रूढ़ियाँ आदि अनुभूति एवं अभिव्यक्ति-पक्ष के प्रायः सभी अंग-उपांगों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

(३) ग्रन्थ का नामकरण, शीर्षक में व्यवहृत शब्दों की व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या, विभिन्न रूप-रूपान्तर, रचनाकार, कला, साहित्य और सांस्कृतिक क्षेत्र में इसकी लोकप्रियता आदि का मार्मिक विश्लेषण भी इसमें प्रस्तुत किया गया है।

(४) "ढोला मारू रा दूहा" का मूल-स्वरूप, विकसन-शीलता, वर्तमान काव्य स्वरूप आदि पक्षों पर विचार इस शोध-प्रवन्ध में प्रथम बार किया गया है।

(५) कथानक-रूढ़ियों का विश्लेषण भी सविस्तार एवं प्रमाण-पूर्वक जितना यहाँ उपलब्ध है, उतना पूर्व-प्राप्त विवेचन ग्रन्थों में नहीं मिलता।

(६) छंद शास्त्रीय दृष्टिकोण से छंदों का विवेचन और दोहों का वर्गीकरण आदि भी प्रस्तुत प्रबन्ध में पहली बार ही हो रहा है ।

(७) प्रस्तुत काव्य के सांस्कृतिक निरूपण में कला, विज्ञान, सभ्यता, समाज, अर्थ, प्रकृति, प्राणी इत्यादि प्रायः सभी दृष्टिकोणों का समावेश करके बड़ी बारीकी से विशद जानकारी प्रस्तुत कर इसे पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है ।

(८) 'ढोला मारू रा दूहा' के पात्र, स्थल, घटनाओं आदि में ऐतिहासिकता भी समाविष्ट है । प्रस्तुत प्रबन्ध में यात्रा, शिलालेखों, इतिहास-ग्रन्थों, हस्तलिखित प्रतियों आदि की सहायता से इन पर मौलिक विवेचन किया गया है ।

(९) 'ढोला मारू' की परम्परा और राजस्थानी के इतर विविध प्रेमाख्यानों में उसके विकास एवं प्रभाव का दर्शन तथा इस काव्य का अन्य प्रेमाख्यानों से प्रसंगतः तुलनात्मक अध्ययन भी अपने-आप में एक नवीनता कही जा सकती है ।

(१०) 'ढोला मारू' के अध्ययन में हस्तलिखित प्रतियों की इतनी सहायता प्रथम बार ही ली गयी है जो इस प्रबन्ध की एक विशिष्टता है । इससे अनेक नये तथ्य सामने आये हैं जो इसके अध्ययन में और आगे दिशा-संकेत करेंगे ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के माध्यम से 'ढोला मारू रा दूहा' के अध्ययन में अछूते तथा अत्यल्प स्पर्श किये गये तथ्यों पर विशद तथा विस्तृत प्रकाश डाला गया है, और अनेक हस्तलिखित प्रतियों आदि की सहायता से नवीन तथ्यों का उद्घाटन करके व्याप्त भ्रांतियों के निराकरण में भी सहायता दी गई है ।

(उ) विषय का विभाजन :

इस गवेषणात्मक प्रबन्ध का मूल उद्देश्य 'ढोला मारू रा दूहा' का काव्य-सौष्ठव, संस्कृति एवं इतिहास के सन्दर्भ में परिशीलन तथा मूल्यांकन करना रहा है । अतः इस उद्देश्य के पूर्त्यर्थ मैंने अपने इस शोध-प्रबन्ध को कतिपय परिच्छेदों में विभाजित कर लिया है जिनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है:—

प्रथम परिच्छेद इस प्रबन्ध की पीठिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है । विवेचित काव्य का सामान्य परिचय देने के पश्चात् ग्रन्थ का नामकरण, शीर्षक में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या एवं इसके उपलब्ध विभिन्न रूप-रूपान्तरों पर प्रकाश डाला गया है । इसी अनुक्रम में ग्रन्थ के रचना-काल, रचनाकार और लोक-प्रियता अनुशीर्षकों में इतर अनेक हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन-अवलोकन के के पश्चात् मैंने अपने निष्कर्षों को निबद्ध करने की चेष्टा कर विषय-प्रवेश किया है ।

इसका द्वितीय परिच्छेद आलोच्य कृति की कथावस्तु एवं पात्र-परिकल्पना से सम्बन्ध रखता है । सर्व प्रथम कथा-सार देकर विवेचित काव्य की कथावस्तु के संघटन, विकास एवं प्रकार पर शास्त्रीय दृष्टि से संतुलित विवेचन किया गया है । लोकोन्मुखी काव्य होने के कारण इसमें लोक-विश्वास पर आश्रित एवं कवि-कल्पना-

जन्य अनेक कथानक-रूढ़ियाँ समाविष्ट हैं। कथावस्तु को निश्चित दिशा, गति, आधार और मोड़ देने वाली इन कथानक-रूढ़ियों के सविस्तर परियोजना के उपरान्त काव्य के पात्रों को वर्गीकृत किया गया है। लौकिक, अलौकिक एवं प्राणी पात्र शीर्षकों में वर्गीकरण के तदनन्तर कथा के प्रमुख-प्रमुख पात्रों की व्यक्तिगत-एवं सामूहिक चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट किया गया है।

'ढोला मारू' का काव्य स्वरूप भी बहुचर्चित विषय रहा है। तृतीय परिच्छेद में मैंने प्रबन्ध, लोक-काव्य एवं अन्य दृष्टिकोणों से इसके काव्य-स्वरूप पर विशद विवेचन किया है और इस काव्य का समुचित एवं यथासंगत परीक्षण कर अपना काव्य-स्वरूप सम्बन्धी निष्कर्ष दिया है। इससे संलग्न ही 'ढोला मारू' के मूल स्वरूप की परिकल्पना करते हुये मैंने उसके विकास-सोपानों पर भी प्रकाश डाला है। इसे शिष्ट अथवा लोक-काव्य माना जाय आदि अनेक विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का उत्तर देने का भी यहाँ मैंने प्रयास किया है जो इस प्रबन्ध की विशेषता है।

इस प्रबन्ध का चतुर्थ परिच्छेद 'ढोला मारू रा दूहा' के अनुभूति पक्ष से संबंधित है। यहाँ इस रचना की मानस-मंजूषा अनावृत करना ही मेरा प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। इस रचना में अन्तर्निहित सूक्ष्म मानस-संवेदना, शील समन्वित शृंगार, भाव-निधि एवं रसात्मकता को लेकर सर्व प्रथम मनन-मंथन किया गया है। तत्पश्चात् 'ढोला मारू' में निहित रूप, कर्म एवं भाव-सौन्दर्य-चेतना की पर भी यहाँ मैंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस रचना में भाव-प्रवणता एवं सौन्दर्य-नियोजन के अतिरिक्त आह्लादकारी कल्पना-वैभव भी विद्यमान है जिसका उद्घाटन 'कल्पना' खण्ड में किया गया है। तदनन्तर उसकी अन्य भावगत विशिष्टतायें देकर निष्कर्ष के रूप में उसका समुचित मूल्यांकन मैंने दिया है। यहाँ रचना की भाव नियोजना एवं रसात्मकता की मौलिक उक्तियों एवं रमणीय उद्भावनाओं का सूक्ष्म उद्घाटन अन्य रचनाओं के सोदाहरण तुलनात्मक अध्ययन से परिपुष्ट एवं परिपूर्ण बनाने का प्रयास भी मैंने किया है। इस तरह अनुभूति-पक्ष के विभिन्न पक्षों पर इस परिच्छेद में विशद विवेचन करके उन पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का यह पंचम परिच्छेद आलोच्य कृति के अभिव्यक्ति पक्ष की विस्तृत विवेचना में नियोजित हुआ है। सुन्दर अभिव्यक्ति के बिना सुन्दर भाव भी पंगु रह जाते हैं। 'ढोला मारू' में अभिव्यंग्य और अभिव्यक्ति की अनूठी समन्विति है। इस काव्य की मनोहारी भाव-निधि कवि के अभिव्यक्ति-सौष्ठव से चमत्कृत एवं सबल हो उठी है जिसका क्रमशः यहाँ विवेचन किया गया है। सर्व प्रथम शब्द-सम्पत्ति एवं भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य को परखने का मैंने प्रयास किया है। तत्पश्चात अन्य अधिकरणों में मैंने शैली, अलंकार, छन्द, संवाद-योजना, प्रकृति-चित्रण, काव्य रूढ़ियाँ एवं अन्य अभिव्यंजनागत संविधान की समीक्षा की है। इस समीक्षण में विवेच्य कृति में उपलब्ध कतिपय काव्य-दोष भी मेरे द्वारा यहाँ संकेतित हैं। राजस्थानी की इस रचना को राजस्थानी काव्य के मानदण्डों की

कसौटी पर भी कस कर इसके अभिव्यक्तिगत परीक्षण को पूर्ण बनाने का मैंने उपक्रम किया है।

राजस्थानी में पद्य और गद्य की अनेकानेक प्रेमी-युगल-कथाओं का प्रणयन हुआ है। 'ढोला मारू रा दूहा' के रचना-वैशिष्ट्य ने इस परवर्ती राजस्थानी प्रेमाख्यान-परम्परा को विशेष प्रभावित किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के षष्ठ परिच्छेद में राजस्थानी की अनेक प्रेम-गाथाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्ष पर 'ढोला मारू' के प्रभाव को सुस्पष्ट करने का मैंने प्रयास किया है। इस प्रभाव का विस्तृत पर्यालोचन विभिन्न प्रेम-कथाओं के अनेक दृष्टान्तों से संपुष्ट है। इस कार्य में इन प्रणय-गाथाओं की अनेकानेक हस्तलिखित प्रतियों का भी सहारा लिया गया है और इस तरह इस अध्ययन को पूर्ण बनाने का मेरा प्रयत्न रहा है। 'ढोला मारू' का लोकप्रियता-क्षेत्र भी विस्तृत रहा है। यह प्रणय-कथा अन्य दूर-अदूर प्रदेशों के लोक-मानस द्वारा अत्यन्त समादृत रही है। इस परिच्छेद में उत्तरी और मध्य भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं में इस कथा के प्रचलित स्वरूपों का परिचयात्मक आलेख भी दिया गया है जिससे इस कथा के परिवर्तन-परिवर्द्धन का आभास मिल सके।

'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थान का निर्विवाद रूप से जातीय काव्य है। इसके स्वर-व्यंजनों में राजस्थानी आत्मा का संगीत संवलित है। सप्तम परिच्छेद में 'ढोला मारू' का सांस्कृतिक निरूपण किया गया है। प्रारंभ में इस रचना की संस्कृति और सामाजिकता को समझने में विशिष्ट राजस्थानी दृष्टि का आग्रह एवं संकेत दिया गया है। तत्पश्चात धर्म, दर्शन एवं शिक्षा; कला एवं विज्ञान; राज्य शासन एवं नीति; तद्युगीन सभ्यता एवं समाज के सामाजिक जीवन (वर्ण-व्यवस्था, परिवार, विवाह, समाज में नारी, आचार-विचार-शिष्टाचार, प्रथाएँ तथा विश्वास, खान-पान, वस्त्राभूषण, क्रीड़ा-विनोद, विचरण-स्थल, पर्व एवं त्यौंहार), आर्थिक-जीवन (व्यवसाय, यातायात) और प्राकृतिक-जीवन (स्थल, वनस्पति, प्राणी) आदि का अनेक शीर्षकों में पूर्ण आलेखन है। राजस्थानी संस्कृति को सामन्ती-कंकाल कहकर घृणा-सूचक मुख-मुद्रा बनाने वालों की कमी नहीं है। निश्चित ही इस काव्य की कथा सामन्त-परिवार से सम्बन्धित है, परन्तु यहाँ इसमें केवल सामन्त-संस्कृति का ही प्राधान्य हो, ऐसी बात नहीं है। 'ढोला मारू' मध्ययुग के समस्त राजस्थानी समाज का सांस्कृतिक पट खोलता है। लोक-मानस की आशाएँ और विश्वास इसमें खुलकर खिले हैं। यह सांस्कृतिक जीवन का प्रस्फुटन इस काव्य की कलात्मकता से संस्पर्श पाकर इतना सजीव हो उठा है कि वह मध्ययुगीन राजस्थानी जन-जीवन को साकार खड़ा कर देता है। इस काव्य की यह अन्यतम विशिष्टता है। इस तरह 'ढोला मारू' में अभिवर्णित समाज के साँस्कृतिक जीवन का प्रस्फुटन तथा सम्यक् विवेचन इस परिच्छेद में समाहित है।

शोध-प्रबन्ध के इस अष्टम परिच्छेद में 'ढोला मारू' की कथा एवं पात्रों पर

ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। 'ढोला मारू' की कथा एवं पात्र ऐतिहासिक रहे हैं। परन्तु उनकी ऐतिहासिक स्थिति पर कम जानकारी उपलब्ध है। विभिन्न साहित्य और इतिहास-ग्रन्थों में न्यूनाधिक संदर्भ देकर केवल चलता हुआ प्रकाश ही डाला गया है। निश्चित ही काव्य में निर्वैयक्तिकता है, पात्रों का मात्र नाम भर ही आया है और साहित्यकार की ऐतिहासिक-दृष्टि ही सर्वत्र परिलक्षित है; परन्तु ऐतिहासिक पात्र होने के कारण उन पर ऐतिहासिक धारणा का प्रस्तुतीकरण अपेक्षित ही नहीं अत्यावश्यक भी है। मैंने विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थों, इतिहास ग्रन्थों, शिला-लेखों और तत्सम्बद्ध स्थान विशेषों की निजी-यात्रा के साहाय्य से सूचनाएँ एकत्रित कर इन पर अपना स्वतन्त्र चिन्तन एवं समीक्षात्मक निष्कर्ष दिया है। इससे प्रचलित भ्रांतियों के निवारण के साथ-साथ अनेक नवीन तथ्य भी अवगुण्ठित हुए हैं। ऐतिहासिक कथा-सूत्र में कलित कल्पना के सरस समन्वय के फलस्वरूप ही यह रचना अत्यन्त हृदयहारी एवं मर्मस्पर्शी बन पड़ी है।

इस सम्बन्ध का अन्तिम नवम परिच्छेद 'उपसंहार' का है। 'उपसंहार' के अंतर्गत अनुसंधित कृति का काव्य, संस्कृति एवं इतिहास की दृष्टि से शोध-परक संतुलित मूल्यांकन और समीक्षात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही यहाँ विवेचित रचना का साहित्य को प्रदेय तथा हिन्दी और राजस्थानी साहित्य में इसके स्थान का निर्धारण भी किया गया है।

इन परिच्छेदों के पश्चात शोध-प्रबंध के अन्त में चार परिशिष्टों का भी समावेश किया गया है। परिशिष्ट एक में विभिन्न ग्रन्थागारों में प्राप्य 'ढोला मारू' से सम्बन्धित तथा अन्य हस्तलिखित ग्रन्थों की विस्तृत सूची दीं गयी है जिनका उपयोग इस प्रबन्ध-लेखन में किया गया है। परिशिष्ट दो में कुछेक शिलालेखों का उल्लेख है। परिशिष्ट तीन विभिन्न भाषाओं के सहायक ग्रन्थों की संदर्भिका है और परिशिष्ट चार में उपयोग में ली गयी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का आकलन है।

(ऊ) आभार-दर्शन :

इस परिचायिका पर पूर्ण-विराम देने के पहले उन समस्त इष्ट-हितैषियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन न करना बड़ी कृतघ्नता होगी जिन्होंने परोक्ष-अपरोक्ष रूप में मुझे इस विषय के सम्यक् अध्ययन में प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

सर्वप्रथम मैं अपने परम पूजार्ह वात्सल्य-मूर्ति पूजनीय पितृ-श्री श्री कृष्ण जी के चरणों में श्रृद्धावनत हूँ जिनका शुभाशीष मेरे संघर्षमय जीवन के सम-विषम पथ पर शिरस्त्राण बनकर रहा है। दिवंगता माता की तो एक कुहासी याद भर है, जो मेरे जीवन के उषा-काल में ही मुझे अबोध छोड़, मेरे नन्हे हाथों से अपनी अंगुली छुड़ाकर अनन्त पथगामिनी हो गयी एवं जिसकी स्नेह-छाया से मेरा शैशव अनजान रहा। पर मुझे उसका अभाव कभी नहीं खला। पिताजी के स्नेह-संबल ने उसे पूर्ण बना दिया। पितृ-श्री के जीवन के इस अन्तिम ढलते प्रहर में मेरे जिस श्रम, सेवा और समय पर उनका अधिकार था, उसका बड़ा अंश मेरे इस अध्ययन में लग

गया। जिन्होंने इस प्रकार सदैव ही मेरे लिये सब कुछ किया, भला मैं उनका चिर-ऋणी उनके लिये क्या लिखकर संतोष करूँ ?

राजस्थानी दोहा-साहित्य के विश्रुत गवेषक डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत मेरे इस शोध-प्रबन्ध के निर्देशक रहे हैं। शोध-अवधि में उनसे उनके विवेक पुष्ट ज्ञान का सम्बल तो मिला ही; साथ में अपार स्नेह, सौहार्द और आत्मीयता भी मिली। स्नेहमयी भाभीजी श्रीमती चिन्तामणी सारस्वत का अपरिमित स्नेह भी मुझे सदैव प्राप्त हुआ। इस अनुकम्पा के लिये सरस्वती-समाराधक इस सारस्वत-दम्पत्ति के आभार से मुक्ति मेरे लिये कठिन है।

सर्व श्री (स्व) प्रो. मोहन वल्लभ पन्त, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, डॉ० कन्हैयालाल सहल, आ. बदरी प्रसाद साकरिया, अगरचन्द नाहटा, सीताराम लालस, शम्भुसिंह मनोहर, डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी, डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डॉ० ब्रजमोहन जावलिया, डॉ० केदार शर्मा, सौभाग्यसिंह शेखावत, मूलचन्द प्राणेश, ईश्वरीदत्त शर्मा, मलखानसिंह यादव, हीरालाल झालोरा आदि ने मुझे बहुमूल्य परामर्श देकर कृतार्थ किया है। उनकी इस उदारता के लिये मैं उनका प्रभूत कृतज्ञ हूँ। इतिहास सम्बन्धी अध्ययन में डॉ० रघुवीरसिंह जी, सीतामऊ का सत्परामर्श भी मुझे मिला है जिसके लिये मैं आपका विशेष आभारी हूँ। विद्यानुरागी श्री लक्ष्मीनिवासजी बिड़ला ने भी सहायता देकर मेरे इस अध्ययन को आगे बढ़ाया जिसके लिए मैं आपका भी आभारी हूँ।

श्री अनिल बोर्दिया, भूतपूर्व अपर निदेशक, प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान राज्य, बीकानेर का इस संबंध में प्रोत्साहन एवं सहयोग भी अविस्मरणीय है। आपकी सुयोग्यता, विवेकशीलता एवं कल्पनाशीलता ने शिक्षक-वर्ग में चेतना का जो नया क्षितिज खोला; वह अध्यापक-वर्ग के लिये प्रेरणा का स्रोत और अध्यापक-प्रशासन सम्बन्धों का उज्ज्वल अध्याय है।

हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक परम श्रद्धेय डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण', प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने मेरी इस कृति की भूमिका लिखकर इसे पारस-स्पर्श दिया है। आपका यह महत् कृपा-प्रसाद मेरे लिये 'गूंगे का गुड़' है जिसकी स्वानुभूति मैं अपने तक ही सीमित रखना चाहता हूँ।

संस्कृत. हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के प्रकाशित ग्रंथों का उपयोग मैंने जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर, अलवर, अहमदाबाद, बड़ौदा, बल्लभ-विद्यानगर इत्यादि अनेक नगरों के पुस्तकालयों से किया है। हस्तलिखित प्रतियों व पाण्डुलिपियों का अवलोकन एवं उपयोग भी अनेक ग्रंथागारों से किया गया है। एतदर्थ मैं उन समस्त ग्रंथागारों, संग्रहालयों, संस्थाओं आदि के अधिकारियों और संग्राहकों के प्रति कृतज्ञता-वश नमित हूँ जिन्होंने मुझे सम्बन्धित हस्त-

लिखित प्रतियों को दिखाने की अनुकम्पा की और जिनका मैंने इस सम्वन्ध में उपयोग किया।

अभिन्न हृदय एवं अंतरंग मित्र-प्रवर श्री रामप्रसाद दाधीच, बी. ए., प्रभाकर की निराली आत्मीयता मेरे जीवन-पथ का पाथेय रही है। इस साधना के सफल समापन में मैं उनकी सत्प्रेरणा एवं मेरे हेतु अभ्युदय की कामना का वहुत वड़ा अंश मानता हूँ। इस कथन में निस्सन्देह अत्युक्ति नहीं है कि एक अच्छे मित्र में जीवन की आधी मिठास निहित रहती है।

यहाँ मेरी स्वानुभूति एवं हृदयाकांक्षा अपनी सौम्य तथा सुशील सहधर्मिणी श्रीमती शांति देवी शर्मा के लिये भी कुछ लिखने को प्रेरित करती है। मेरी मंगल-कामना ही जिसके अस्तित्व का अभीष्ट हो और गृहस्थ-प्रपंच के भँवर में जिसका साहचर्य मेरे लिये कर्म-क्षेत्र का प्रेरक रहा हो, उसके लिये हृदयागार से शुभाकांक्षाओं का सहज स्फुरण स्वाभाविक है। इस पर भी मेरा अन्तस अनुराग इन शब्दों में प्रकट होकर भी उसकी स्नेहिल और प्रेम-पगी अन्तर्भावनाओं का शायद ही प्रतिदान बन सके।

इस शोध-प्रबंध के प्रकाशन की समुचित व्यवस्था में सहोदर-तुल्य डॉ. वद्री प्रसाद पंचोली का अवलम्ब मेरे लिये वरदान सिद्ध हुआ है। उनके निश्छल स्नेहमय प्रोत्साहन से ही यह नाव किनारे लग सकी है। वे धन्यवाद चाहते नहीं और कुछ लिखे विना मेरा हृदय नहीं मानता। ऐसी ही स्थिति में ये शब्द लिख रहा हूँ।

आवरण-पृष्ठ की कलात्मक साज-सज्जा की है मित्रवर श्री जियाउल्ला खाँ ने। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

मैं सरदार पटेल विश्व-विद्यालय, वल्लभ विद्यानगर के अधिकारियों का भी आभार मानता हूँ जिन्होंने इसके प्रकाशन की शीघ्रातिशीघ्र अनुमति देकर इस कृति का समुचित मूल्यांकन किया।

—भगवती लाल शर्मा



संकेताक्षर

अ. सं. ला.	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी,
क्र.	क्रमांक,
ग्रं.	ग्रंथांक,
छं. सं.	छंद संख्या,
दी हि. ई. टो. हि.	दी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स,
दो. सं.	दोहा संख्या,
पृ.	पृष्ठ,
पु.	पुस्तकांक,
पु. प्र.	पुस्तक प्रकाश,
पु. वि.	पुरालेख विभाग,
पु. सं.	पुस्तक संख्या,
भा. वि. मं. शो. प्र.	भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान,
रा. प्रा. वि. प्र. शा.	राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा,
रा. शो. सं.	राजस्थानी शोध संस्थान,
सं.	संवत्,
संपा.	संपादक,
सु. सा. पु.	सुमेर सार्वजनिक पुस्तकालय,
ह. प्र.	हस्तलिखित प्रति ।



प्रथम परिच्छेद

विषय-प्रवेश

प्रथम परिच्छेद : विषय-प्रवेश

(अ) ग्रंथ शीर्षक और उसकी व्युत्पत्तिक व्याख्या :

क : ग्रंथ का नामकरण :

इस काव्य–ग्रंथ का शीर्षक 'ढोला मारू रा दूहा' है जिसका हिन्दी रूपान्तर 'ढोला और मारू के दोहे' होगा।

वर्ण्य–विषय, छन्द, शैली, चरित्र, घटना, स्थान, नायक–नायिका का नाम, नृत्य, ऋतु, स्तुति, संख्या, वर्णमाला, प्रशस्ति आदि के आधार पर काव्यों के नामकरण की प्रवृत्ति रही है। विशेषकर राजस्थानी साहित्य में नायक-नायिका के नाम और छन्द विशेष को लेकर अनेक रचनाओं का नामकरण किया गया है। इन विविध छन्दों में भी 'दोहा' छन्द को रचनाओं के नाम में विशेष स्थान दिया गया है। अपभ्रंश से उत्तराधिकार में प्राप्त 'दोहा' छन्द राजस्थानी का वहु-प्रयुक्त, वहु-प्रचलित और प्रिय छन्द रहा है। 'रा दोहा' शब्दावली संयोजित कर रचनाओं के नामकरण की प्रवृत्ति राजस्थानी साहित्य में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। ऐसी प्रवृत्ति प्रेम एवं वीर काव्यों के शीर्षकों में विशेष परिलक्षित होती है। अनेक प्रेम-प्रधान ग्रन्थों के शीर्षक उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें नायक-नायिका का नाम और 'रा दोहा' शब्दावली संयुक्त है यथा—नागड़ै रा दूहा, काछवा रा दूहा, पीठवा रा दूहा, सुहप रा दूहा, वींझरै रा दूहा, आलणसी भाटी रा दूहा आदि। इन शब्दों के शीर्षकों से युक्त और भी अनेक ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों में यत्र-तत्र अप्रकाशित पड़े हैं।

विवेच्य काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' का शीर्षक काव्य-ग्रन्थों के नामकरण की इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। नायक ढोला, नायिका मारू और छन्द दोहा के आधार पर इस काव्य का नामकरण हुआ है, जो नायक-नायिका के नाम और छन्द के समन्वित स्वरूप को प्रकट करता है।

ढोला इस काव्य का मुख्य फलाधिकारी है, इसलिये शीर्षक में उसे प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस सरस काव्य का नामकरण प्रमुख साधक और साध्य की मान्यता के आधार पर रखा गया है। काव्य के पूर्वार्द्ध में मारवणी भी ढोला की साधिका है और ढोला उसका आराध्य है; कान्त है। इस आधार पर

---

१. उदाहरणार्थ—जइतसी रउ छन्द, राजियै रा सोरठा, जसै धवलोत रा कुण्डलिया, मयण रा कवित्त, राजसिंह रा झूलणा, अमरसिंह रा सवैया, सूरजसिंह रा त्रोटक, करमसैण री झमाल आदि।

मारवणी को काव्य-शीर्षक में प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिये था। श्री ईश्वरीदत्त शर्मा तो सूफी-असूफी प्रेम कहानियों से इसमें अत्यधिक साम्य पाते हुए इसका नाम 'मारवणी' ही दिया जाना अधिक उपयुक्त समझते हैं। परन्तु फलागम की दृष्टि से और राजस्थानी काव्य-नामकरण-परम्परा से काव्यकार द्वारा दिया गया शीर्षक ही अधिक उपयुक्त है। साधक, साध्य एवं छन्द की मान्यता ही इसमें परिलक्षित होती है।

शीर्षक में चार शब्द हैं परन्तु वे लघु हैं। अतः शीर्षक में लाघव का गुण भी अनायास ही आ गया है जिसके कारण चार लघु शब्दों का यह शीर्षक किंचित् बड़ा होने पर भी अत्यन्त आकर्षक और मधुर बन पड़ा है।

ख : शीर्षक की व्युत्पत्तिलभ्य शाब्दिक व्याख्या :

प्रस्तुत काव्य का शीर्षक है 'ढोला मारू रा दूहा'। शीर्षक में प्रयुक्त इस शब्दावली की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या अधोलिखित है—

(१) ढोला :

इस काव्य के नायक का यह नाम है। यहाँ यह शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत व्यक्त हुए हैं।

'ढोला' शब्द संस्कृत के 'दुर्लभ' शब्द से व्युत्पन्न माना जाता है जो प्राकृत-अपभ्रंश में 'ढोल्ला' था। संपादक-त्रय ने इसका रूप परिवर्तन इस प्रकार रखा है— दुर्लभ-दुर्लम्भ-दुल्लह-दुल्लह-ड़ुल्लह-ढोल्लह-ढोल्ल-ढोल्ला।[१] श्री रामचन्द्र वर्म्मा,[२] डॉ० रामसिंह तोमर,[३] श्री सीताराम लालस,[४] श्री शम्भुसिंह मनोहर,[५] श्री मूलचन्द प्राणेश,[६] संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर-सम्पादक[७] आदि ने इस 'दुर्लभ' वाली धारणा को ही मान्य रखा हैं।

'पाइअ-सद्द-महण्णवो' में 'ढोल्ल' शब्द देश्य माना गया है जिसका अर्थ प्रिय, पति आदि किया गया है।[८] डॉ० माता प्रसाद गुप्त की सम्मति में "यह या तो 'दुर्लभ' (दूल्हा) का राजस्थानी रूप है या 'दुर्लभ' शब्द का व्यक्तिवाची प्रयोग है जो अक्सर

---

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ० १६७।
२. मानक हिन्दी कोश : दूसरा खण्ड (ख-त): पृ० ४८८।
३. हिन्दी साहित्य कोश : संपा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य : भाग २ : पृ० २१३। इन्होंने व्युत्पत्ति देकर अंत में प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर शंका अवश्य व्यक्त की है:-दुर्लभ-दुल्लह-दूल्हा-ढोला ?
४. राजसथांनी सबद कोस : भाग २ : पृ० १४३६।
५. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या एवं विवेचन : पृ० १२।
६. व्यक्तिगत पत्र : दिनांक ८-१२-६६।
७. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर : पृ० ४०६।
८. कर्त्ता पं० हृ० त्रि० शेठ : पृ० १२५०।

पुरुषों के नामों में उक्त क्षेत्र में मिलता है।"[1] डॉ० भोलाशंकर व्यास का इस शब्द पर व्युत्पत्ति विषयक मत इस प्रकार है—"इसका न०भा०आ० रूप 'ढोल' है जो प्राचीन हिन्दी तथा राजस्थानी कृतियों में भी मिलता है, 'वज्या दमामा ढोल' (ढोला मारू रा दूहा : ३५१)। यहाँ एक ओर 'ल' का द्वित्व तथा 'अ' का दीर्घीकरण अवहट्ठ की छन्द-निर्वाह प्रवृत्ति के कारण है, किन्तु 'ल्ल' केवल ओजगुण लाने के लिये प्रयुक्त हुआ जाना पड़ता है।"[2] हेमचन्द्र की अपभ्रंश व्याकरण के अनुसार" 'ढोल' का दीर्घीकरण होकर 'ढोला' होना सिद्ध होता है—स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वो। यहाँ 'ढोला' प्रथमा एक वचन में है और सम्बोधन एक वचन में भी ढोला ही रहता है।"[3] श्री नेमिचन्द शास्त्री ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा हैं—"अपभ्रंश में स्वादि विभक्तियों के आने पर प्रायः कभी तो प्रतिपादिक के अन्त्य स्वर का दीर्घ और कभी ह्रस्व हो जाता है।"[4]

हिन्दी तथा राजस्थानी के मूर्धन्य आलोचक डॉ० कन्हैयालाल सहल इसे देशज शब्द मानते हुए लिखते हैं—"ढोला शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ एक और उट्टंकणा की जा सकती है। जो 'ढोलों के ढमके' तोरण मार कर वधू को घर लाता है तथा लोक-गीतों में जिसे 'लसकरिया ढोला' द्वारा स्मरण किया जाता है उस वीर प्रेमी अथवा सेनानायक को 'ढोल' से सम्बद्ध होने के कारण यदि 'ढोला' शब्द से अभिहित किया जाय तो यह उचित ही है। जो भी हो ढोला शब्द की व्युत्पत्ति तथा प्रयोग पर अभी इदमित्थं नहीं कहा जा सकता।"[5]

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वाचार्य पद्म श्री मुनि जिनविजय भी 'ढोला' शब्द को प्रान्तीय देशज शब्द मानते हैं।[6] प्रख्यात गुजराती भाषाविद् अध्यापक बेचरदास जीवराज दोशी इसे 'धव' शब्द से व्युत्पन्न ठहराते हैं। हेमचन्द के प्राकृत व्याकरण में प्रयुक्त ढोल्ल या ढोल्ला शब्द पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है—

"मूल 'धव' एटले पति-धणी। धव + उल्ल ('उल्ल' स्वार्थिक) धवुल्ल-धउल्ल-ढउल्ल-ढोल्ल-ढोल्ला। एवो परिवर्तन-क्रम भासे छे। प्रथमा, एक वचन, अकारान्त संज्ञा, पुल्लिग।"[7]

फ्रांसिसी विदुषी डॉ० शार्लोत वॉदविल ने इसकी व्युत्पत्ति 'ढंढोल' शब्द से जोड़ी है जिसके अन्य रूपान्तर ढंढोलियउ, ढंढोलसी आदि बनते हैं।[8] इस तरह हमारे

---

१. व्यक्तिगत पत्र : ३१-१-६६।
२. प्राकृतपैंगलम् : भाग १ : पृ० १३०।
३. अपभ्रंश व्याकरण : अनु० के० का० शास्त्री : अध्याय ८ सूत्र ३३० : पृ० ५।
४. अभिनव प्राकृत व्याकरण : पृ० ६ एवं ४५६।
५. मरुभारती : १४-२ : पृ० ५८।
६. निजीचर्चा : दिनांक ७-२-६७।
७. गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति : पृ० २०५।
८. जरनल आफ दी ओरिएन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट : वॉल्यूम ११-४ : पृ० ३१९-२०।

स॰ ॰। निम्नलिखित शब्द आते हैं जिनसे ढोला शब्द की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा ग॰॰ है—

एक : दुर्लभ, दो : धव, तीन : ढंढोल।

जहाँ तक 'दुर्लभ' शब्द से ढोला बनने का प्रश्न है, वहाँ यह अपभ्रंश व्याकरण के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है और इसकी स्थितियां इस प्रकार हो सकती हैं—

एक : दुर्लभ—दुर्ल्लभ—दुल्लभ—दुल्लह—ढुल्लह—ढोल्लह—ढोल्लउ—ढोल्ल ढोल्ला—ढोला।

दो : दुर्लभ—दुर्ल्लभ—दुल्लभ—दुल्लह—दूल्लहा—दूल्हा—ढोल्ला—ढोला।

द से ढ बनने की प्रवृत्ति प्राकृत-अपभ्रंश के शब्दों में बहुतायत से मिलती है यथा दस्यु-ढास, दुहितृ-ढोटी, दृष्टि—डीठी आदि। द अथवा दु से ढ अथवा ढो होने के अनेक उदाहरण इस प्रकार रखे जा सकते हैं। भाव की दृष्टि से भी इस मान्यता में सत्यांश की कमी नहीं है। दूल्हा अथवा वर की खोज और प्राप्ति में दुर्लभता का आभास है। विवाह जैसे अवसर विशेष पर बजने वाले 'ढोल' से भी इसका सम्बन्ध इस तरह अनायास ही बैठ जाता है।

जयपुर की ओर वहाँ के राज-वंश में हुए दूलहराय को ही ढोला अथवा ढोलाराय कहा जाता है। ढोला के मूल और व्यक्ति विशेष के नाम होने की मान्यता में भी विश्वास करने वालों की कमी नहीं है। परन्तु जयपुर राजवंश का दूलहराय पूर्वज ढोला का ११वीं-१२वीं पीढी का वंशज है। फिर हस्तलिखित प्रतिओं में दुर्लभराज जैसा ढोला का नाम नहीं मिलता। सर्वत्र साल्हकुमार नाम ही प्राप्त होता है। ढोला शब्द वस्तुतः व्यक्तिवाचक नाम नहीं रहा जैसा कि अनेक मानते हैं। यह तो वर अथवा पति अथवा प्रेमी के रूप में ही प्रचलित रहा और प्रयोग में लिया गया है। प्रस्तुत काव्य में ढोला व्यक्तिवाचक नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है पर वह वास्तव में व्यक्तिवाचकता-शून्य है। यह दूल्हा का ही परिवर्तित रूप है। 'ढोला मारू रा दूहा' में ढोलउ (दो. सं. ४,१०,५६२,६१६), ढोलह (दो. सं. १२५-२६-२७ आदि), ढोला (दो. सं. ६०९ आदि) और ढोल (दो. सं. ६७४ आदि) इत्यादि इसके अन्य रूपान्तर भी आये हैं।

अब अध्यापक बेचरदास जीवराज दोशी के इसे 'धव' शब्द से व्युत्पन्न मानने के मत पर विचार किया जाय। सस्कृत शब्द 'धव' का हलायुध ने अपने कोश में 'पति' अर्थ दिया है और हरिवंश-पुराण का यह श्लोक उदाहरणार्थ रखा है—

मा विद्या च हरे : प्रोक्ता तस्यां ईशो यतो भवान्।
तस्मान्माधवनामासि धव : स्वामीति शब्दत :॥

'ढोला' शब्द का प्रयोग भी पति के अर्थ में ही होता है। 'ध' से 'ढ' बनने की प्रवृत्ति भी प्राकृत-अपभ्रंश के शब्दों में पायी जाती है। संस्कृत के 'ध' से प्रारंभ होने वाले अनेक शब्दों का 'ढ' में रूपान्तर हुआ है। उदाहरण के लिए धृष्ट—ढीट,

१. हलायुध कोश : संपा० श्री जयशंकर जोशी : पृ० ४७१।

धार-ढार, धूप्-ढारस, धीवर-ढीमर, धवल-ढौरा आदि शब्द रखे जा सकते हैं।

लेकिन 'धव' के साथ 'उल्ल' स्वार्थिक प्रत्यय, जो निरर्थक रूप से संयोजित होकर शब्दांश बनता है, की कल्पना संगत नहीं लगती। प्राकृत या अपभ्रंश के साहित्य में भी ऐसी शब्दावली दृष्टिगोचर नहीं होती। फिर 'धव' शब्द तो अपने मूल में ही अभी तक राजस्थानी साहित्य में प्रयुक्त हुआ मिलता है—

ऊभी गोख अवेखियौ, पैलां रो दल् सेर।
पड़ियौ धव सुणियौ नहीं, लीधो धण नाले्र ।।६८।।[1]

अतः 'धव' से 'ढोला' बनना नियमानुसार उचित और उपयुक्त नहीं लगता।

जहाँ तक 'ढंढोल' शब्द से इसे जोड़ने का प्रश्न है, वहाँ यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इसका 'ढंढोल' से ढंढोलने या खोजने वाला नायक अर्थ करना योरोपीय साहित्य के नायकोचित हो सकता है, राजस्थानी नायकानुकूल नहीं। राजस्थानी प्रेम-मयी कथाओं के नायक भ्रमर-वृत्ति के वशीभूत नहीं हैं। उनकी अनुरक्ति स्वकीया में ही अधिक रही है; किसी अन्या में नहीं। डॉ० वॉदविल की इस धारणा में अनुमानाश्रय ही अधिक दृष्टिगत होता है, तथ्याश्रय नहीं। इसके साथ ही भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी इस व्युत्पत्ति में कोई सार नहीं लगता।

रही 'ढोला' के 'देशज' शब्द होने की बात; सो कहीं पर तो इसे 'देशज' कहा गया है ओर कहीं इसे 'देशज' शब्दों में गिनाया तक नहीं गया है। पाइअ-सद्द-महण्णवो,[2] सार्थ गुजराती जोडणी कोश,[3] विनीत जोडणी कोश,[4] अपभ्रंश व्याकरण[5] आदि में 'ढोला' को संज्ञा, पुल्लिग, एक वचन, देशज माना है। परन्तु दूसरी ओर प्राकृत अपभ्रंश के शब्द-संग्रहों और कोशों में इसे देशी शब्दों में नहीं लिया गया है। ऐसे शब्द-संग्रहों और कोशों में उदाहरणार्थ-पाइअलच्छी नाम माला (प्राकृत कोश),[6] देशी सद्द संगहो,[7] उक्ति रत्नाकर (संस्कृत एवं देशी शब्द कोश),[8] प्राकृत शब्दानुशासन[9] आदि रखे जा सकते हैं जिनकी शब्दावली में ढोला को स्थान नहीं मिला है। यह अवश्य संभव है कि इन कोशों में बहुप्रचलित शब्दों को ही स्थान मिला हो और 'ढोला' शब्द छूट गया हो। परन्तु 'ढोला' जैसे महत्त्वपूर्ण शब्द के, जिसका प्रयोग ११-१२ वीं शती में खूब हुआ हो, छूट जाने से इस संभावना को अवश्य बल मिलता है कि यह देशज शब्द नहीं है।

---

१. वीर सतसई : सूर्यमल मीसण : संपा० श्री गौड़, आशिया एवं सहल : पृ० १५७।
२. कर्त्ता पंडित ह० त्रि० शेठ : पृ० १२५०।
३. मरू भारती : १४।२ : पृ० ५८ से उद्धृत।
४. संपा० मगन भाई प्रभुदास देसाई : पृ० ३३०।
५. अनुवादक के० का० शास्त्री : पृ० ५–६।
६. मूल : धनपाल : संपा० बी० डी० एण्ड महाशयाना मण्डली।
७. प्रथम भाग : मूल : हेमचन्द्र : संपा० अध्यापक बेचरदास दोशी।
८. मूल : साधु सुन्दरगणि : संपा० मुनि श्री जिनविजय।
९. मूल : त्रिविक्रम : संपा० श्री परशुराम शर्मा।

'ढोला' एक वहु-अर्थी शव्द है। भिन्न-भिन्न संदर्भों में इसका भिन्न-भिन्न अर्थ प्राप्त होता है। वृहत् हिन्दी कोश में इसके ये अर्थ दिये गये हैं—फल आदि में पड़ने वाला एक सफेद कीड़ा, मेहराव का लदाव, शरीर, पति, एक तरह का गीत, मूर्ख व्यक्ति, सीमा सूचक चिह्न।[1] पाइअ-सद्द-महण्णवो,[2] विनीत जोडणी कोश,[3] सार्थ गुजराती जोडणी कोश,[4] संक्षिप्त हिन्दी शव्द सागर,[5] नालन्दा विशाल शव्द सागर,[6] मानक हिन्दी कोश,[7] राजसथांनी सवद कोश,[8] राष्ट्रभाषा हिन्दी-मराठी कोश [9] आदि में भी न्यूनाधिक यही अर्थ दिये गये हैं। सचित्र अर्द्ध मागधी कोश में ऊँट,[10] सस्कृत-इंगलिश डिक्सनरी में मृदंग,[11] (अप्रकाशित) राजस्थानी शव्द कोश में राजस्थानी लोकगीतों का नायक, नरवर का राजकुमार[12] आदि अन्य अर्थ भी इसके द्रष्टव्य हैं।

प्रयोग की दृष्टि से 'ढोला' काफी प्राचीन शव्द है। जैनाचार्य हेमचन्द्र के शव्दानुशासन के अध्याय ८ (अपभ्रंश व्याकरण) में इस शव्द का तीन वार प्रयोग प्राप्त है:—

(अ) ढोल्ला सामला धण चंपावण्णी। ८-४-३३०।।

(आ) ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया, मा करु दीहा माणु।
णिद्दए गमिही रत्तड़ी, दड़वड़ होइ विहाणु।। ८-४-३३०।।

(इ) ढोल्ला एह परिहासड़ी, अइ भण-कवणहिं देसि।
हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि।।८-४-४२५।।[13]

आचार्य हेमचन्द्र के इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् ११९२ अनुमानित है।[14] उस समय तक 'ढोला' शव्द नायक, प्रेमी, पति के रूप में रूढ़ वनकर कर काफी प्रचलन पा गया था।

---

१. पृ० ५५२।
२. पृ० १२५०।
३. पृ० ३३० एवं ५३५।
४. मरु भारती : १४/२ : पृ० ५८ से उद्धृत।
५. पृ० ४०६।
६. पृ० ४८८।
७. दूसरा खण्ड (ख-त) : पृ० ४८८।
८. पृ० १४३६।
९. पृ० २४१।
१०. भाग २ : पृ० ८९६।
११. पृ० २२६।
१२. संपा० श्री वदरीप्रसाद साकरिया।
१३. संपा० के० का० शास्त्री : पृ० ५।
१४. सिद्ध हेम : संपा० श्री वूच व पटेल : प्रास्ताविक पृ. ४।

'प्राकृतपैंगलम्' में भी 'ढोला' शब्द इसी प्रकार दो बार वीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है —

(अ) ढोला मारिअ ढिल्ली महँ मुच्छिअ मेच्छ शरीर।

....

दरमरि दमसि विपक्ख मारू, ढिल्ली महँ ढोल्ला ।। १/१४७ ।।[१]

इस ग्रन्थ का निर्माण-काल १४ वीं विक्रमी शती का प्रथम चरण संकेतित है।[२]

आगे चलकर तो 'ढोला' शब्द का नायक, पति, आदर्श प्रेमी और वीर के अर्थ में रूढ़ प्रयोग अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—

(अ) ढोलामारू घड़ी एक करहो जोकार हो।

—मोहन विजय कृत 'चंदरास' : सं. १७८३।

(आ) ढोला रहो तो हूँ रांधूं खीचड़ी।

—पद्मविजय कृत 'जयानंद' : सं १८५८।[३]

लोक-गीतों में तो 'ढोला' का प्रयोग अत्यधिक है। दाम्पत्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाला शायद ही कोई ऐसा गीत मिलेगा जिसमें 'ढोला' शब्द की उपस्थिति न हो। इस प्रकार 'ढोला' शब्द का अर्थ एव प्रयोग प्राय: भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्राप्त होता है। विशेषकर अति प्रचलित और साभिप्राय अर्थ नायक, पति, प्रेमी और वीर रहा है और इन्हीं अर्थों में यह अधिक व्यव्हृत हुआ है। इस कथानायक के लिये यह शब्द व्यक्ति वाचक बनकर आया है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'ढोला' शब्द के संस्कृत के 'दुर्लभ' शब्द से ही व्युत्पन्न होने की अधिक संभावना बनती है। 'ढोला' वास्तव में प्रियता-वाचक लघु सम्बोधन के रूप में घरवालों या इष्टजनों द्वारा प्रयुक्त किया जाता रहा होगा और कालान्तर में 'ढोला' के प्रेमी, निष्ठावान पति और वीर व्यक्ति होने के कारण जन-व्यवहार में 'जाति वाचक' संज्ञा बन गया, जैसा कि पहले दिये गये उद्धरणों से सुस्पष्ट है। जिस प्रकार कृष्ण का प्रयोग रीतिकाल और उसके बाद एक रसिक नायक के रूप में प्रतिष्ठित हो गया, उसी भाँति 'ढोला' शब्द भी रूढ़ और व्यापक बन गया और इसी परिवर्तित स्वरूप में व्यवहार में लिया जाने लगा।

(२) मारू :

भारत के पश्चिमी रेगिस्तानी भू-भाग के लिये 'मरु' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में होता आया है। इसी से इस प्रदेश को 'मरूदेश' भी कहते हैं। अमरकोश में 'मरू' के लिये लिखा है—म्रियन्ते पिपासया जलं विना प्राणिनो यत्र।[४] पहले इसका नाम 'द्रुमकल्प' था।[५]जलशुष्क होने पर 'मरूकान्तर' नाम पड़ा। महाभारत

---

१. भाग १: संपा० डॉ० भोला शंकर व्यास : पृ० १२९।
२. प्राकृतपैंगलम् : भाग १ (निवेदन) : डॉ० भोलाशंकर व्यास : पृ० ५।
३. जैनगुर्जर कविओ : भाग ३ : पृ० १९१५।
४. द्वितीय काण्ड (भूमि वर्ग) : श्लोक ५।
५. रामायण (वाल्मीकि) : युद्ध काण्ड : सर्ग २२, श्लोक ३३।

में उत्तंक की कथा के मध्य 'मरू' देश का उल्लेख प्राप्त हुआ है। जब उसे पानी की प्राप्ति नहीं हुई तो उसने उस प्रदेश का नामकरण 'मरू' कर दिया। संस्कृत के इस 'मरू' शब्द से ही 'मारू' शब्द बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है' 'मरू' का' अथवा 'मरू की'। पाइअ-सद्द-महण्णवो में 'मारुअ' शब्द का अर्थ 'मरु देश का' और 'मरू सम्बन्धी' उदाहरण सहित स्पष्ट उल्लिखित हैं।[1] प्राकृतपेंगलम् में 'मारू' शब्द का 'मारने' के अर्थ में प्रयोग मिलता है—

दिग मह गह अंधार आण खुरसाणक ओल्लो।
दरमरि दमसि विपक्ख मारू, ढिल्ली मह ढोल्ला ॥ १-१४७ ॥[2]
गते चम्मा मारू कामा लिज्जे कित्ती।
सोई देओ सुक्खं देओ तुम्हा भत्ती ॥ २-१२३ ॥[3]

प्रस्तुत काव्य के शीर्षक में प्रयुक्त 'मारू' शब्द स्त्रीलिंग है जो ढोला की मरू-प्रदेश निवासिनी पत्नी के लिये प्रयुक्त हुआ है। विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में इसके लिये मरवण, मारूणी, मारूई, मारूवी, मारवी, मारूवाणी, मारवणी, मारूड़ी इत्यादि रूपान्तरित शब्दों का भी प्रयोग प्राप्त होता है, जो मूल 'मारू' शब्द के ही परिवर्तित-परिवर्द्धित विभिन्न प्रयोग-रूप हैं। 'मारू' मुख-सुख से भरा शब्द है।

राजस्थान में स्थान एवं जाति से सम्बन्ध स्थापित करके नामों को बहुधा पुकारा जाता है, यथा—चित्तौड़, मेवाड़, जोधपुर, बीकानेर के रहने वाले को क्रमश: चित्तोड़ाह, मेवाड़ो, जोधाणो, बीकाणो कहा जाता है और भाटी, सोढा, मेड़तिया राजपूत जाति की स्त्री को क्रमश: भटियाणी, सोढीजी तथा मेड़तणी। मारू का नाम भी इसी दृष्टि से यहाँ व्यव्हृत है। इसी काव्य की सहनायिका 'मालवणी' का नामकरण भी राजस्थानी-व्यवहार की दृष्टि से ही 'मालवा की निवासिनी' के रूप में ग्रहण किया गया है।[4]

'ढोला' शब्द की भाँति 'मारू' शब्द भी प्राचीन है और लोक तथा अभिजात साहित्य में इसका अत्यधिक प्रयोग हुआ है। प्रचलन एवं प्रयोगाधिक्य के कारण कालान्तर में यह शब्द भी व्यक्तिवाचक संज्ञा से जातिवाचक संज्ञा बन गया और नायिका, पत्नी तथा स्त्री के अर्थ में प्रयोग में लिया जाने लगा। इतना ही नहीं वर्तमान में 'मारू' शब्द नायक (पुंल्लिग) के रूप में भी रूढ़ हो गया है। निम्नलिखित उदाहरणों से घटित अर्थ-परिवर्तन स्पष्ट हो जायगा—

मारूजीनो वांण अंगारी कस चंगा, सुथण सावड़ मारूजी।
—जयरंग कृत 'कयवन्ना' : सं. १७२१।

मारूजी सार्थीड़ा रे साथे धण रे हाथे मद पीयो म्हारा माणीगर मारूलो।

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो : कर्त्ता पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद शेठ : पृ० ८५१।
२. प्राकृतपेंगलम् : भाग १ : संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास : पृ० १२६।
३. प्राकृतपेंगलम् : भाग १ : संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास : पृ० २४३।
४. मालविणी एक लिपि विशेष भी है।—पाइअ-सद्द-महण्णवो : पृ०

—मोहन विजय कृत 'चंदरास' : सं. १७८३ ।

मारू राय नरवर तेड़उ रे सायबा।

—समय सुन्दर कृत 'नल' : सं. १६७३ ।

मारू राय नइ चरणे नेउर साहिबा।

—लक्ष्मीवल्लभ कृत 'पंचदण्ड' : सं १७२८ ।

मारूजी हो अवर नदी रे माहरी वहेनड़ी हो राज ।

—उदयरत्न कृत 'भुवनभानु रास' : सं. १६६६ ।[१]

लोकगीतों में भी 'मारू' शब्द का पुल्लिग प्रयोग अनेक जगह मिलता है—

मारूजी झाला दियै वदली
होलै मत वरस्यै ठाढां मत वरस्यै
तो दूधां झड़ी अे लगायै वदली
मारूजी झाला दियै वदली ॥[२]

कहीं २ पर मारू शब्द ढोला के साथ मिलकर एक ही नाम रूप वन गया है—

ढोलामारू घड़ी एक करहो जोकार हो ।

—मोहन विजय कृत 'चंदरास'-सं. १७८३ ।[३]

कहीं-कहीं मारू शब्द अन्य नामों के साथ भी जोड़ दिया गया है जैसे पन्ना-मारू, जल्ला मारू आदि । लोकगीतों से तो इस प्रकार के असंख्य उदाहरण रखे जा सकते हैं । अन्य राजस्थानी लोककथाओं में भी 'मारू' नाम की नायिकाएँ मिलती हैं यथा वात मारू सुथारी री ।[४] 'निहालदे सुल्तान' जनकाव्य में भी यही 'मारू' अवतरित हुई है ।[५] 'मारू' नाम की एक राग विशेष भी है, काठियावाड़ में मरू देश से जाकर वसने वाले गोहिल राजपूत भी 'मारू' कहलाते हैं ।[६] अन्य जातियों में भी 'मारू' गौत्र मिलता है । इस प्रकार मारू के अनेक अर्थ एवं अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं । इस काव्य के शीर्षक में प्रयोग किया गया 'मारू' शब्द 'मारवणी' का लघुता-वाचक एवं प्रियता सूचक संक्षिप्त रूप है । इसका स्पष्ट अर्थ 'मरू प्रदेश की निवासिनी नारी' से ही प्रस्तुत ग्रंथ में ग्रहण किया गया है ।

(३) रा :

राजस्थानी भाषा में संज्ञा और सर्वनाम के साथ विभक्तियों के अर्थ में प्राय:

१: जैन गुर्जर कविओ : भाग ३ : संपा० मोहनलाल दलीचंद देसाई : पृ० १६८६ से उद्धृत ।

२. राजस्थान भारती : १/१ : पृ० ६६ से उद्धृत ।

३. जैन गुर्जर कविओ : भाग ३ : संपा० मोहनलाल दलीचंद देसाई : पृ० १६१५ ।

४. वरदा : ७/१ : पृ० १५ पर डॉ० मनोहर शर्मा का 'एक अन्य मरवण' लेख ।

५. (i) निहालदे सुल्तान : भाग १,२,३ : संपा० डॉ० कन्हैयालाल सहल ।
(ii) इसके कथानक को लेकर श्रीयुत लक्ष्मीनिवासजी विड़ला ने 'निहालदे सुल्तान' शीर्षक से एक उपन्यास भी लिखा है ।

४. राजस्थानी शब्द कोश (अप्रकाशित) : संपा० श्री बदरीप्रसाद साकरिया ।

परसर्ग का प्रयोग किया जाता है। 'रा' राजस्थानी का ऐसा अति प्रचलित शब्द है जिसका पृथक् एवं स्वतन्त्र शब्द के रूप में संज्ञा या सर्वनाम के साथ प्रयोग होता है।

पश्चिमी राजस्थानी में सम्बन्ध कारक का चिन्ह 'रो' है। प्राचीन वर्तनी में यह 'रउ' या 'रौ' लिखा मिलता है। राजस्थानी में सम्बन्धकारक के अन्य प्रत्यय इस प्रकार हैं—

पुल्लिग एक वचन : तणौ, रौ हरौ, कौ, रो, का, को, चो, चा, च, तण।

पुल्लिग वहु वचन : तणै, रै, रा, हरा, हर, के।

स्त्री लिंग : तणी, री, हरी, की, ची,।[1]

अपने उत्तर-पद के अनुसार वहुवचन, स्त्रीलिंग, पुल्लिग आदि के विचार से ये रूप प्रयोग में लिये जाते हैं।

पाइअ-सद्द-महण्णवो के अनुसार 'रा' एक अकर्मक धातु है जिससे तात्पर्य है श्लेप करना, आवाज करना।[2] व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह प्राकृत के 'केरो' और अपभ्रंश के 'केरउ' से व्युत्पन्न माना जाता है। यह पश्चिमी राजस्थानी में रौ, रउ का रूप धारण करके व्यव्हृत हुआ है। वीम्स और हार्नली इसे 'कृतम्, केरो वा केरक' से व्युत्पन्न मानते हैं।

प्राकृत में 'इदं' (सम्बन्ध) के अर्थ में 'केरओ, केरिअ, केरक, केर' आदि थे। 'रासो' आदि प्राचीन हिन्दी काव्यों में 'केरा', 'केरौ' आदि परसर्ग मिलते हैं जिनमें 'के' के लोप के कारण 'रा', 'रो' की प्राप्ति स्वभावतः ही हो जाती है। यदि इसका सम्बन्ध 'कृत' से जोड़ा जाय तो भी 'रा' शब्द सुगमता से बन जाता है यथा—कृतः-करितो-करिओ-केरको-केरओ-केरो—और 'क' के लोप से 'रो' या 'रा' का होना संभव है। पिशेल ने 'कार्य' शब्द से 'केर' की व्युत्पत्ति मानी है, जिससे रूपान्तरित होकर 'रउ' या 'रओ' का विकास माना जा सकता है।

इस शीर्षक में 'रा' शब्द 'दूहा' (पुल्लिग वहुवचन) के सम्बन्ध कारक की छठी विभक्ति के रूप में आया है। 'रा' हिन्दी सम्बन्ध कारक 'के' के पर्याय में है। 'ढोला और मारू के दोहे' अर्थ में 'रा' शब्द की स्वाभाविक वर्ण-योजना हुई है।

(४) दूहा :

काव्य के शीर्षक में प्रयुक्त यह शब्द मूल एवं परम्परागत 'दोहा' शब्द का राजस्थानी रुपान्तर है।[3] यह एकवचन में 'दूहो' और वहुवचन में 'दूहा' होता है।

---

१. राजस्थानी व्याकरण : श्री सीताराम लाळस : पृ० ३६।
२. कर्ता : पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ : पृ० ८७६।
३. प्राचीन साहित्य में 'दोहा' नाम का प्राचीनतम प्रयोग 'दोहा' ही प्राप्त होता है—दोहा कोष (सरह, ८ वीं शती) ; सावयधम्म दोहा (देवसेन, सं. ६६०); दोहा कोष (काण्ह, १०वीं शती) ; बौद्धगान औ दोहा (संपा० श्री हरप्रसाद शास्त्री); दोहा पाहुड़ (रामसिंह, ११वीं शती) आदि। इसके विशेष अध्ययनार्थ शोध पत्रिका : वर्ष १८ अंक १ : पृ० १ से २४ पर डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत का " 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति" शीर्षक लेख पठनीय है।

यह व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द है जो एक छन्द विशेष के लिये प्रस्तुत कृति के शीर्षक में व्यवहार में लिया गया है। यहाँ शीर्षक में यह बहुवचन पुल्लिग रूप में आया है। राजस्थानी साहित्य में 'दोहा' शब्द का जातिवाचक प्रयोग भी छन्दों या श्लोकों आदि के लिये लोक-काव्यों में पाया जाता है। 'दोहा' के अतिरिक्त दूहो, दुहा, दूहा, दुहो, दोहरा, दोहरो, दोधक, दोग्धक, दोहक, दोहअ, दोहय, दोहउ, दोहड़ा आदि अनेक शब्द इस छन्द-नाम के लिये प्रयुक्त हुए मिलते हैं।

संस्कृत और प्राकृत के छन्द-ग्रन्थों में इसकी गणना नहीं की गयी है। कवि-दर्पणकार (समय १२ वीं–१३ वीं शती) ने 'दोहक' छन्द को प्राकृत छन्दों में अवश्य अपनाया।[१] परन्तु इसका प्रयोग जन–प्राकृत में पाया जाता है जिसके उदाहरण कालिदास ने अपने नाटकों में दिये हैं–

> मइँ जाणिअ मिअ–लोअणि णिसअरु को इ हरेइ।
> जाव ण णव–तलि–सामलो धाराहरू वरिसेह॥[२]

विद्वानों ने कालिदास का समय प्रथम शती ई. पूर्व से चतुर्थ शती ई. पूर्व माना है।[३] अपभ्रंश-युग में इस छन्द को अत्यधिक मान मिला। कवियों ने इसका अपने-अपने काव्यों में प्रचुर प्रयोग किया। इसीलिये अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है।[४] प्रयोगाधिक्य के कारण जिस तरह 'श्लोक' संस्कृत का और 'गाथा' प्राकृत का प्रतीक बन गया, उसी तरह दोहा भी अपभ्रंश का प्रतीक बन गया।

अनेक थातियों की तरह यह छन्द भी राजस्थानी को अपभ्रंश से विरासत में मिला जिसकी प्रयोग-प्रचुरता अपभ्रंश के समान ही राजस्थानी में भी प्राप्य है। 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। श्री जैकोबी ने यूनानी छंद 'डोई',[५] श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'दोहरा'[६] तथा सर्व. श्री नित्यानंद शास्त्री,[७] पी. डी. गुणे,[८] रामचन्द्र वर्म्मा,[९] सीताराम लालस[१०] संपादक-त्रय,[११] डॉ. ओमानन्द रू. सारस्वत[१२] आदि ने इसे संस्कृत शब्द 'दोधक' से

---

१. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ : पृ० ६८५।
२. विक्रमोर्वशीय : चतुर्थांक : ७।
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री बलदेव उपाध्याय : पृ० १६०।
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ० ९९।
५. छन्द-शिक्षा : श्री परमेश्वरानन्द : पृ० ४।
६. छन्द : प्रभाकर : पृ० ८३।
७. शोध पत्रिका : १४/१ : पृ० १७।
८. भविसत्तकहा : भूमिका।
९. मानक हिन्दी कोष : तीसरा खण्ड : पृ० १२८।
१०. राजसथांनी सबद कोष : दूसरा खण्ड।
११. ढोला मारू रा दूहा : परिशिष्ट : पृ० १७०।
१२. शोध पत्रिका : १४/१ : पृ० २१।

व्युत्पन्न माना है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे द्वि-पद, दो-पथ, 'दो-गाथा'[१] से, और डॉ० कन्हैयालाल सहल[२] तथा श्री नरोत्तमदास स्वामी 'द्विधा' से[३] उत्पन्न ठहराते हैं। हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादकों के अनुसार दोहा दो (सं. द्वि) + हा (प्रत्यय) से बना है।[४] मानक-हिन्दी-कोष संपादक इसे 'द्विपदा' से भी व्युत्पन्न मानते हैं।[५] डॉ० भोलानाथ तिवारी[६] और डॉ० शिवनन्दन प्रसाद[७] इसकी उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'द्विपथक' से समीचीन समझते हैं। 'वाणी भूषण' के टीकाकार ने 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति के लिये 'दोग्धि चित्रमिति दोहा' कहा है।[८] इसकी उत्पत्ति 'दोहग' शब्द से भी कल्पित की गयी है।[९] प्राकृतपैंगलम् के टीकाकारों ने 'द्विपदा' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति का अनुमान किया है।[१०] प्रो. मोहनवल्लभ पन्त 'द्विपदी' से दोहा बनने के मत का समर्थन करते हैं।[११] पाइअ-सद्द-महण्णवो में 'दुहा' अव्यय माना गया है जो संस्कृत के 'द्विधा' से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ दो प्रकार का, दो तरफ का आदि दिया गया है।[१२] डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने 'द्विवयह' शब्द से 'दोहा' शब्द बनने का अनुमान किया है।[१३]

उपर्युक्त मतों का निर्देश इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में किसी सर्वमान्य हल का संकेत नहीं करता। एक ही छन्द के इतने भिन्न-भिन्न नाम भाषा-भेद के कारण बन गये। इस कारण उसकी व्युत्पत्तिक व्याख्या संदिग्ध बन गई है और इसके सम्बन्ध में इदमित्थं कुछ नहीं कारण दिया जा सकता। इस सम्पूर्ण शब्द के विषय में जो भी कहा जाय परन्तु 'दो' अक्षर यहाँ संख्या अथवा भुजा अथवा गति का ही बोध कराता है, यह बहुत सभाव्य लगता है। 'हा' की निरुक्ति अवश्य संदेहास्पद बनी हुई है।

---

१. बिहारी की वाग्विभूति : पृ० ७४–५।
२. शोध पत्रिका : ११/१ : पृ० ७९।
३. (i) राजस्थान रा दूहा : प्रस्तावना : पृ० २०।
   (ii) हिन्दुस्तानी : १९३३।
४. पृ० १६४३।
५. तीसरा खण्ड (थ-प) : पृ० १२८।
६. हिन्दी नीति काव्य : पृ० ३९८।
७. मात्रिक छन्दों का विकास : पृ० ३८७।
८. मरु भारती : ५/३ : पृ० ७८।
९. मानकृत राजविलास : श्री मेनारिया : पृ० २२१।
१०. राजस्थान रा दूहा : प्रस्तावना : श्री नरोत्तमदास स्वामी : पृ० २०।
११. शोध पत्रिका : १४/१ : पृ० १३।
१२. कर्त्ता पंडित ह० त्रि० शेठ : पृ० ५८६।
१३. शोधपत्रिका : १४/ १ : पृ० १४।

(आ) रूप, रूपान्तर, पाठान्तर :

'ढोला मारू' की प्रणय-गाथा को विभिन्न साहित्यिक विधाओं में निवद्ध किया गया है। इसके विविध रूप, रूपान्तर एवं पाठान्तर पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

क : रूप :

'ढोला मारू' की हस्तलिखित प्रतियाँ पुष्कल परिमाण में मिलती हैं। इन प्रतियों के अध्ययनोपरान्त मुझे 'ढोला मारू' के अनेक साहित्यिक-रूप मिले जो इस प्रकार हैं—

१—शुद्ध दोहा रूप,
२—शुद्ध गद्य रूप,
३—दोहा-गद्य मिश्रित रूप,
४—दोहा-चौपाई रूप,
५—दोहा-चौपाई-गद्य रूप,
६—चौपाई-गद्य रूप,
७—सभ्झाय रूप,
८—पद रूप,
९—लोकगीत रूप,
१०—मिश्रित रूप आदि।

१. शुद्ध दोहा रूप :

'ढोला मारू' काव्य का यह रूप प्राचीन है एवं इसकी अनेक हस्त-लिखित प्रतिलिपियाँ उपलब्ध हैं, यद्यपि 'चौपाई' रूप की प्रतियों की तुलना में ये कम हैं। संपादक-त्रय ने भी इस रूप को ही प्राचीनतम स्वीकार किया है।[1] यह धारणा समीचीन भी है। मूल प्रति की अनुपलब्धि के कारण तो ऐसा नहीं माना जा सकता,[2] परन्तु अन्य सूत्रों से यह धारणा स्वतः पुष्ट होती है। स्वयं कुशललाभ ने "दूहा घणा पुराणा अछई। चउपई वन्ध कियौ मैं पछई।" लिखकर इन दोहों की प्राचीनता की ओर संकेत किया है।[3] सं० १५३० में इसके रचित होने की सूचना देने वाला दोहा भी इस रूप की अनेक प्रतियों में विद्यमान है। 'ढोला मारू' का 'वात' रूप अर्वाचीन है पर उसमें पुराने दोहों का प्रयोग मिलता है। अतः उसका दोहा रूप ही सव रूपों में प्राचीन है। इसकी दोहामयी कुछ प्रतियाँ पूर्ण हैं, कुछ अपूर्ण। किसी-किसी में पुष्पिकाएं हैं, किसी में नहीं। काल और स्थान भेद से कुछ प्रतियों में कथान्तर भी है। कुछ प्रतियों में प्रारंभ में धुरसम्वन्ध या प्रस्ताविक के रूप में पिंगल एवं उमादेवड़ी

१—ढोला मारू रा दूहा : भूमिका. पृ. १ एवं ८।
२—ढोला मारू के कुशल लाभ विरचित 'चौपई' रूप की प्राचीनतम प्रति सं. १६३९ की उपलब्ध है—श्री बृज मोहन जावलिया संग्रह, उदयपुर।
३—ढोला मारुई चइपई : सु. सा. पु., जोधपुर।

के विवाह की तथा ढोला एवं मारू के जन्म की कथा है।[1] किसी प्रतिलिपि में उसका प्रतिलिपि-काल भी दिया गया है और कुछ में नहीं।

२. शुद्ध गद्य रूप :

शुद्ध 'गद्य' रूप की प्रतियाँ बहुत कम देखने को मिलीं। भाषा की दृष्टि से सभी अर्वाचीन प्रतीत हुईं। आकार की दृष्टि से ये भी पूर्ण हैं, कुछ अपूर्ण। इनके रचना-कार एवं रचना-काल के सम्बध में पता नहीं चलता। किसी-किसी के प्रारम्भ में भरत वाक्य के रूप में एक दोहा प्राप्त होता है। मनोरंजनार्थ किसी ने इन्हें संकलित कर लिया-ऐसा लगता है।

३. दोहा-गद्य-मिश्रित रूप :

गद्य-पद्य मिश्रित 'ढोला मारू' का वात रूप भी काफी मिलता है। इसमें गद्य के बीच-बीच में सुन्दर भावपूर्ण दोहे रखे गये हैं। इसे 'चम्पू' रूप माना जा सकता है। इनसे कथानक में तारतम्य बना रहा है और रोचकता में अभिवृद्धि हुई है। लूणपाल मेहडू और महादान मेहडू की लिखी हुई वातें भी देखने में आईं।[2] कुछ आलोचकों ने इन्हें भ्रमवश 'ढोला मारू' का कवि ही ठहरा दिया। इन बातों की विशेषता यह है कि ये वार्ता-कार स्वयं पात्रों के रूप में अपनी-अपनी वातों में उपस्थित होते हैं एवं मारू का ढोला के सम्मुख नख-शिख वर्णन करते हुए पाये जाते हैं। कहीं-कहीं वातों के प्रारंभ में प्रस्तावना के रूप में पिंगल एवं उमादेवड़ी का विवाह और ढोला तथा मारू की जन्म-कथा है। प्रस्तावना गद्य में भी है और दोहों में भी। दोहों की भाषा अवश्य प्राचीन है पर गद्य १८-१९ वीं शती का है। दोहा-गद्य मय यह रूप अत्यन्त प्रिय एवं प्रसिद्ध रहा। निम्नांकित दोहा इसी ओर इंगित करता है—

सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री वात।
जोवन छायी धण भली, तारां छायी रात॥

इस रूप से जो महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात हुए हैं उन्हें यथा स्थान इस विवेचन में सम्मिलित किया है। ये प्रतियां भी पूर्णता-अपूर्णता एव पुष्पिकाओं की विद्यमानता-अविद्यमानता से युक्त हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में लिपिकाल मिलता है और कहीं-कहीं पर नहीं भी।

४. दोहा-चौपाई रूप :

प्राचीन परम्परा से प्राप्त 'ढोला मारू' के दोहों को जैन कथा-वाचक कुशललाभ ने जैसलमेर के रावल श्री हरराज के विनोदार्थ सं. १६०७ में चौपाई-बद्ध किया था—

यादव रावल श्री हरिराज, जोड़ी तास कतूहल काज।

---

१. धुरसम्बंध में उल्लिखित तथ्यों को इसके ऐतिहासिक-विवेचन में कसौटी पर कसा गया है।

२—प्रथम परिच्छेद के 'कृतिकार-निर्णय' खण्ड में इनके कृतित्व पर विचार किया गया है।

हरराज

दूहा घरणा पुराणा अछइ, चौपई बंध कीयउ मइ पछइ ।
संवत सोलह सतोतरइ, आखा त्रीज दिवस मन खरई ।[1]

कुशललाभ रचित 'ढोला मारू' का यह दोहा-चौपाई स्वरूप बहुतायत से मिलता है। कदाचित ही कोई ऐसा ग्रंथ-भंडार होगा जिसमें इस स्वरूप की प्रति विद्यमान न हो। इनमें से कई प्रतियों का लिपिकाल भी प्राचीन है, परन्तु कुशललाभ के समय के निकट की प्रति लिपिबद्ध हुई प्राप्त नहीं होती। इन प्रतियों का पाठ सामान्यतः एक-सा ही है। कहीं-कहीं अवश्य तनिक पाठ-भेद मिलता है। शुद्ध दोहा-रूप से इस दोहा-चौपाई रूप में पर्याप्त कथान्तर है।[2] कुछ प्रतियों में लिपिकारों ने अपनी ओर से भी चौपाइयाँ रचकर मिला दी हैं। प्रतियों में कुछ खंडित हैं एवं कुछ पूर्ण। लिपिकाल तो लगभग सर्वत्र लिखा मिलता है। पुष्पिकाएँ भी दी गयी हैं। 'ढोला मारू' काव्य के शुद्ध 'दोहा' रूप के बाद यह मिश्रित रूप पाठ एवं रूप की दृष्टि से लगभग समान है, अतः विश्वसनीय है। इस रूप का पाठ, रचनाकार, रचनाकाल आदि कुछ हेर-फेर के साथ सामान्यतः तय-सा ही है।

५. दोहा-चौपाई-गद्य रूप :

'ढोला मारू' की कथा की दोहा, चौपाइ एवं गद्य के मिश्रित रूप की अनेक प्रतियाँ भी मेरी दृष्टि में आयीं। इनको दृष्टि-पथ से निकालने के पश्चात् यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसी प्रतियां दोहा रूप एवं चौपाई रूप के बाद की हैं। दोहे नये-पुराने हैं तथा गद्य अर्वाचीन है। चौपाइयाँ कुशललाभ की हैं। कुछ चौपाइयाँ प्रक्षिप्त हैं। कथा में अन्तर भी परिलक्षित होता है। अनेक नये पात्रों की अवतारणा भी इनमें हुई है। राजस्थान के भिन्न-भिन्न भागों में इस प्रकार की प्रतियों में बहुत अन्तर है जिसका कारण स्थानीय लोक-तत्वों से बहुत प्रभावित होना है।

६. चौपाई-गद्य रूप :

कुशललाभ का 'चौपाई' रूप पर्याप्त प्रख्यात एवं प्रचलित रहा। जब किसी को यह चौपाई स्वरूप पूर्ण हाथ नहीं लगा तो उसने बीच-बीच में गद्य रखकर इसे पूर्ण बनाने की चेष्टा की। शोध-काल में मुझे ऐसी भी अनेक प्रतियाँ देखने को मिलीं। ये प्रतियाँ बाद की हैं। अतः शोध की दृष्टि से विशेष महत्व की नहीं लगीं। इनमें भी कुछ त्रुटिपूर्ण, खंडित एवं कुछ पूर्ण हैं। जहाँ लिपिकाल निर्देशित है, वह १९-२० वीं शती का है।

७. सज्झाय रूप :

सज्झाय शब्द 'स्वाध्याय' से विनिर्मित है। इस स्वरूप की मुझे दो प्रतियाँ मिलीं।[3] यहाँ यह सुस्पष्ट करना उचित रहेगा कि राजस्थानी साहित्य में 'ढोलामारू'

---

१. ढोला मारुइ चउपइ : सु. सा. पु. जोधपुर।
२. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ० १०-१८।
३. (i) गुटका नं. १ : ग्रं. ४ : ढोला री सज्झाय : विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जयपुर।
(ii) ग्रं. २५१५ : मारुवनी सज्झाय : रा. शो. सं. चौपासनी जोधपुर।

का नायक- नायिका रूप में रूढ़-प्रयोग अनेक जगह किया गया मिलता है। मुझे इन प्रतियों में ढोला एवं मारू का इसी रूप में प्रयोग हुआ लगना है। ये दो अत्यन्त छोटे-छोटे विरह गीत हैं जिनमें नायिका की विरह-व्यंजना है एवं नायक से लौट आने का आग्रह। 'ढोला मारू' की कथा से इनका सम्वन्ध नहीं लगता। इनका लिपिकाल भी नहीं दिया हुआ है, परन्तु ये प्रतियाँ १९ वीं शती की हैं। इनके अध्ययन से रचयिता का भी पता नहीं चलता। इनके अंत में किसी प्रकार की सूचनाप्रद पुष्पिका भी नहीं दी गई है।

८. पद रूप :

साहित्य-रसिक जोधपुर-नरेश महाराज मानसिंह (माघ शुक्ला ११ सं. १८३९-१९००) के कुछ पद[1] उन द्वारा स्थापित 'पुस्तक प्रकाश'[2] संग्रहालय में ऐसे मिले जिनमें ढोला एवं मारू का उल्लेख है। कथा की दृष्टि से इन पद्यों में शृंखला-वद्धता नहीं है। यही समुचित प्रतीत होता है कि ढोला एवं मारू का इनमें नायक-नायिका रूप में ही रूढ़-प्रयोग हुआ है। विषय-दृष्टि से ये पद संयोग-वियोग से सम्वन्धित हैं एवं पदों की भाषा व्रज मिश्रित राजस्थानी है।

९. लोकगीत रूप :

'ढोला मारू' की कथा लोक-पूजित रही है। विभिन्न लोकगीतों के रूप में भी यह अति प्रसिद्ध कथा प्राप्त हुई। इसके लिखित एवं मौखिक दोनों स्वरूप मिलते हैं। जैसलमेर की ओर पाया जाने वाला इसका रूप प्राचीन है एवं इस काव्य के कुछ प्राचीन दोहे भी उसमें सुरक्षित हैं। कोई गीत आकार में वड़ा है और कोई छोटा। गीत-रूप में सम्पूर्ण कथा न होकर मारू की विरह-व्यंजना ही अधिक है। गीत इसी कथा से सम्बन्धित है, यह निश्चित कहा जा सकता है।

१०. मिश्रित रूप :

इस कमनीय काव्य की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी मिलीं जिनमें दोहा, चौपाई, गद्य, सोरठा, चंद्रायणा, संस्कृत के श्लोक आदि अनेकों छन्दों का मिश्रण है। संस्कृत के अनेक श्लोक सूक्ति रूप में यत्र-तत्र लिखे गये हैं। ऐसी प्रतियों में परस्पर पर्याप्त भेद है। आकार में भी ये वड़ी हैं। प्रारम्भ में इनमें नल-दमयंती की कथा दी गयी है। जयपुर और अलवर की ओर के संग्रहालयों[3] में इस प्रकार की प्रतियाँ अधिक मिलीं। ये प्रतियाँ पुरानी भी नहीं हैं एवं वहुत प्रक्षिप्त लगती हैं।

कुछ अन्य शीर्षकों से भी 'ढोला मारू' काव्य उपलब्ध होता है यथा-ढोला मारू प्रवन्ध,[4] ढोला नो रास[5] आदि। इन प्रतियों के अवलोकन करने के पश्चात मुझे

---

१. ग्रं. ११३८ : पु प्र., जोधपुर।
२. 'पुस्तक प्रकाश' की स्थापना पौष वदि १ सं. १८६१ को की गई थी—मारवाड़ का इतिहास : द्वितीय भाग : पं. विश्वेश्वर नाथ रेऊ : पृ० ४०५।
३. ग्रं ३३५ : ढोला मारू की वारता : रा. प्रा. वि. प्र. शा., अलवर आदि।
४. ग्रं. २७७१ : ला. द. भा. सं. वि., अहमदावाद।
५. ग्रं. ६१७० : ला. द. भां. सं. वि., अहमदावाद।

कुशललाभ वाला दोहा-चौपाई स्वरूप ही इनमें प्राप्त हुआ है, केवल शीर्षक में ही बदलाव है।

ख : रूपान्तर :

'ढोला मारू' के उपर्युक्त विभिन्न रूप प्रेम-कथा साहित्य में इसकी अप्रतिद्वन्द्वता प्रदर्शित करते हैं। विविध रूपों के प्रचार-प्रसार के कारण लिपिबद्ध होते समय उनमें पर्याप्त अन्तर आ गया है। एतदर्थ यहाँ 'ढोला मारू' के दोहा-रूप में प्राप्त रूपान्तरों पर विचार करना समीचीन होगा।

'ढोला मारू' का आदि-दोहा-रूप अनिश्चित है। पहले संकेत दिया जा चुका है कि इसकी प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं होती। इससे समस्या और भी उलझ गयी है। ढोला का प्राचीनतम उल्लेख जैनाचार्य हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' के 'अपभ्रंश भाग' में है।[1] यह कृति सं० ११९२ के लगभग रची गयी।[2] कुछ विद्वानों ने विचार-विमर्श के मध्य इन्हें मूल 'ढोला मारू' काव्य का अंश ही मानने का विचार व्यक्त किया। परंतु ये दोहे अणहिलवाड़ा के चावड़ा नरेश दुर्लभ से सम्बंधित हैं और हेमचद्र विरचित 'द्वाश्रय काव्य' (प्राकृत) के हैं।[3] 'द्वाश्रय काव्य' की रचना सं० १२१७ के आसपास हुई।[4] यदि हेमचन्द्र के दोहे अणहिलवाड़ा के दुर्लभराज के लिए ही लिखे गये हैं तो ढोला शब्द भी 'दुर्लभ' विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ उससे पति या नायक अर्थ निकालना युक्ति संगत नहीं है जैसा कि अनेक विद्वानों ने ऐसा अनेक जगह लिखा है। व्युत्पत्ति में भी 'दुर्लभ' से ढोला बनने की बात इससे पुष्ट होती है।

'ढोला मारू' का दोहों में ही आदि-रूप निर्मित हुआ—इस प्रकार की अपनी धारणा मैं अनेक साक्ष्यों के आधार पर पहले ही सिद्ध कर चुका हूँ।[5] इस दोहा रूप की जो प्रतियाँ है, उनके दोहों की संख्या भिन्नता लिये हुए है। शोध-अवधि में विभिन्न प्रतियों के अवलोकन के अनन्तर इस काव्य के इस स्वरूप में १४१[6] से ७७३[7] तक दोहे मिलते हैं। यह संख्या हर ऐसी दोहामयी प्रति के साथ बदली हुई मिलती है। नयी सर्जना एवं प्रक्षिप्त अंशों के फलस्वरूप ही यह रूपान्तर आया है। ऐसी परिस्थिति में इस स्वरूप की निश्चित संख्या निर्धारण करना कठिन है। सं० १५३० के आसपास अथवा पहले की प्रति जब तक हस्तगत नहीं होती, तब तक यह समस्या सुलझेगी नहीं। मैंने प्रामाणिक दोहा रूप की प्राप्ति का प्रयास किया, पर ऐसी कोई

१. सिद्ध हेम शब्दानुशासन : बूच-पटेल : ८-४-३३०-१, ३३०-२, ४२५-१।
२. सिद्ध हेम शब्दानुशासन : बूच-पटेल : प्रास्ताविक : पृ० ४।
३. काव्यानुशासन : द्वितीय खंड : भूमिका : रसिक लाल पारीक : पृ०CXXXIII।
४. ओझा निबंध संग्रह : प्रथम भाग : श्री गौ० ही० ओझा : पृ० ४१।
५. द्रष्टव्य—शुद्ध दोहा रूप का विवेचन।
६. ग्रं. ६१४ एवं ७६२ : ढोला मारू वार्ता : श्री पृथ्वीराज कृता : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर।
७. ग्रं. १ : ढोला मारू रा दूहा : श्री मूलचंद 'प्राणेश' संग्रह : बीकानेर।

प्राचीन लिपिवद्ध प्रति हाथ नहीं लगी। कुछ दोहे समान रूप से ऐसे निकल आयेंगे जो हर प्रति में मिलते हैं। 'ढोला मारू' पर अनेक व्यक्तियों ने कलम चलाई है। लिपिवद्ध करते समय अपनी ओर से भी वहुतों ने योगदान दिया है। इस रूपान्तर के मूल में यही कारण है।

ग : पाठान्तर :

'ढोला मारू' के दोहों में पाठान्तर भी अनेक प्रतियों में दृष्टिगोचर होता है। ऐसे पाठान्तर वाले दोहों की भाषा में भी थोड़ा भेद दृष्टिगोचर होता है। कहा भी है—चार कोस पर वदले पानी, आठ कोस पर वानी। अतः न्यूनाधिक भाषा सम्वंधी भेद हर दोहामयी प्रति में मिलता है। लिपिकाल में अंतर रहने के कारण भी भाषान्तर आया है। जो प्रतियाँ प्राचीन हैं उनके दोहों में शब्दान्तर न्यून है, परंतु जो प्रतियाँ वाद की लिपिवद्ध हैं, उनमें अनेक नये शब्दों ने अपना स्थान वना लिया है। इस तरह भू-भागों का अंतर और लिपिकाल का अंतर दोहों की भाषा-शब्दावली में किंचित हेर-फेर ला सके हैं। भाषा के साथ-साथ प्राचीन-अर्वाचीन प्रतियों की लिपि में भी भेद है। समय के साथ-साथ लिपि में भी परिवर्तन आया। संख्या ४,५, ८,६ एवं शब्दों की छोटी-वड़ी मात्राएं अलग-अलग प्रतियों में अलग-अलग मिलती है। उच्चारण-वैभिन्य के फलस्वरूप भी अनेक प्रतियों में दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ हो गया है। रूपांतर से एक ही शब्द कई प्रकार से भी लिखा हुआ मिलता है। इस तरह पाठ, लिपि एवं वर्तनी का अन्तर भी इन प्रतियों में पाया जाता है।

संक्षेप में निष्कर्ष इस प्रकार रखा जा सकता है कि 'ढोला मारू' की कथा दोहा, गद्य, दोहा-गद्य, दोहा-चौपाई, दोहा-चौपाई-गद्य, चौपाई-गद्य, सझ्भाय, पद, लोकगीत आदि स्वतंत्र एवं मिश्रित, अनेक रूपों में उपलब्ध होती है। 'ढोला मारू' का दोहा स्वरूप प्राचीन तो है परन्तु उसकी कोई वहुत प्राचीन लिपिवद्ध प्रति नहीं मिलती। इस दोहा रूप की उपलव्व प्रतियों में भी दोहों की संख्या में काफी भेद है। इस कारण इसका मूल स्वरूप निर्धारित करना दुष्कर है। अनेक कारणों से इन प्रतियों की भाषा, लिपि एवं वर्तनी में भी भिन्नता दृष्टिगत होती है।

(इ) कृतिकार-निर्णय :

'ढोला मारू' जन-मानस द्वारा जितना ही समादृत हुआ, इसकी आत्मा तो अक्षुण्ण रही, परन्तु उतने ही इसके इतर पक्षों पर प्रश्न-चिह्न लग गये। इन प्रश्नों में इसके रचयिता का प्रश्न भी सम्मिलित है। विरह-व्यंजना से आपूरित यह कमनीय कृति किस कुशल कवि का कृतित्व है—यह प्रश्न सुधी-समीक्षकों के सम्मुख पहेली वना हुआ है। इस सम्वन्ध में विभिन्न विद्वद्जनों के अनेक मन्तव्य प्रकट हुए हैं। उनका निरूपण निम्नलिखित रूप में इस प्रकार है—

१. कल्लोल :

'ढोला मारू' के रचयिता के रूप में कल्लोल का नाम सर्वाधिक चर्चित रहा है। इस मान्यता का मूलाधार इस काव्य का यह दोहा है—

गाहा गूढा गीत गुरण, कवित कथा कल्लोल ।
चतुर तणा चित रंजवरण, कहइ कवि कल्लोल ।।

इस दोहे के चतुर्थ चरण को लेकर कल्लोल की कवि रूप में कल्पना की गई है । 'कल्लोल' को 'ढोला मारू' के कवि की मान्यता देने वाले सर्व श्री मिश्रबन्धु,[1] मो. द. देसाई,[2] विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[3] परशुराम चतुर्वेदी,[4] डॉ० मोती लाल मेनारिया,[5] पं० विश्वेश्वर नाथ रेऊ,[6] जगदीश सिंह गहलोत,[7] डॉ० हीरालाल माहेश्वरी,[8] डॉ० नारायन सिंह भाटी,[9] डॉ० गोवर्द्धन शर्मा,[10] डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव,[11] डॉ० सियाराम तिवारी[12] आदि हैं। डॉ० ओमानन्द रु० सारस्वत ने 'कल्लोल' को इसका मूल रचनाकार न मानकर इन दोहों का संकलन-कर्त्ता माना है ।[13] इनके विपरीत सर्व श्री संपादक-त्रय,[14] डॉ० माता प्रसाद गुप्त,[15] शंभुसिंह मनोहर,[16] डॉ० मनोहर शर्मा,[17] डॉ० शिव सहाय पाठक,[18] घनश्याम देव तैलंग,[19] कृष्ण प्रसाद गौड़[20] आदि 'कल्लोल' को इसका रचयिता अनेक कारणों से नहीं ठहराते ।

संपादक-त्रयी ने उक्त दोहे में प्रयुक्त 'कल्लोल' शब्द पर विचार करते हुए लिखा

---

१. मिश्रबन्धु विनोद : पृ० ६६२ ।
२. जैन गुर्जर कविओ : भाग ३, खण्ड २ : पृ० २११२-१३ ।
३. हिन्दी साहित्य का अतीत : भाग १ : पृ० ८६ ।
४. हिन्दी काव्य धारा में प्रेम-प्रवाह : पृ० २६ ।
५. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० १३४ ।
६. एब्सट्रेक्ट ऑफ दी स्टोरी एण्ड नोट्स ऑन पेन्टिंग्ज ऑफ ढोला-मारवरण : पृ० ६ ।
७. राजपूताने का इतिहास : भाग १ : पृ० ६७२ ।
८. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० २०१ ।
९. परम्परा : भाग ६-७ : पृ० २५ ।
१०. (i) डिंगल साहित्य : पृ० १८० ।
(ii) प्राचीन राजस्थानी गीत : भाग ६ : पृ० ८३–५ ।
११. डिंगल साहित्य (पद्य) : पृ० ७३ ।
१२. हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य : पृ० २४३ ।
१३. परम्परा : भाग १५–१६ : पृ० १२९ ।
१४. ढोला मारू रा दूहा : पृ० २८ ।
१५. निजी पत्र : ३१–१–६६ ।
१६. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० २० ।
१७. परम्परा : भाग १५–१६ : पृ० १६५ ।
१८. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य : पृ० ४३६ ।
१९. राष्ट्रदूत : २६ अक्तूबर, १९६४ का अंक ।
२०. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण : प्रथम खण्ड : पृ० ३८२ ।

है कि धुर-सम्बन्ध में प्राप्त यह दोहों वाला भाग आरम्भ में मूल-कथा का भाग नहीं था; अब तक की खोज से 'कल्लोल' नाम के किसी कवि का पता नहीं चलता; यह नाम किसी व्यक्ति का होना सम्भव भी जान नहीं पड़ता। अतः उक्त दोहे में कल्लोल का सीधा-साधा अर्थ आमोद-प्रमोद-पूर्ण अर्थात् उमंग के साथ कहीं हुई मनोरंजक रचना लेना ही ठीक जान पड़ता है।[१] इसमें सन्देह नहीं कि धुर-सम्बन्ध वाला भाग ऐतिहासिक असंगतियों के कारण बाद का रचित ही जान पड़ता है। साथ ही यह भी सही है कि अब तक की खोज में 'कल्लोल' नाम के किसी कवि के जीवन एवं कृतित्व के विषय में किसी प्रामाणिक साक्ष्य का पता नहीं चलता। परन्तु यह भी नहीं माना जा सकता कि यह नाम किसी व्यक्ति का होना संभव नहीं। मुहता नैणसी ने अपनी 'ख्यात' में दिल्ली के १२२ वें हिन्दूपति कलोल सिंह का नामोल्लेख किया है जिन्होंने ८ वर्ष ४ मास राज्य किया।[२] उपाध्याय लब्धि कल्लोल (समय :१७ वीं शती उत्तरार्द्ध),[३] सुमति कल्लोल (समय १७ वीं शती उत्तरार्द्ध)[४] आदि जैन कवियों के नामों में भी 'कल्लोल' शब्द की उपस्थिति है। अतः 'कल्लोल' नाम किसी व्यक्ति का होना असम्भव नहीं है।

प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने उक्त दोहे की भाषा-विज्ञान तथा तुक-प्रयोग के आधार पर समीक्षा की है। उनके अनुसार "कल्लोल का नाम जिस दोहे में मिलता है, उसके चरण की शब्दावली बदली हुई है ; दूहे के पहले चरण का तुक कल्लोल है इसलिये यह प्रमाणित है कि वह दूसरे चरण का तुक नहीं हो सकता।"[५] दोहों का तुक प्रायः समान-शब्दी नहीं मिलता। परन्तु इसके अपवाद स्वरूप दोहे भी प्राप्य हैं। स्वयं 'ढोला मारू रा दूहा' से ही उद्धरण प्रस्तुत करता हूं जिनमें समान-शब्दी तुकान्त है—

सारसड़ी मोती चुणइ, चुणइ त कुरलइ काँइ।
सगुण पियारा जउ मिलइ, मिलइ त विछुड़इ काँइ ।।३८६ ।।
सुन्दर सील् सिगारसजि, गई सरोवर पाल्।
चंद मुलक्यउ, जल हंस्यउ, जलहर कंपी पाल् ।।३६४।।[६]

इतना अवश्य है कि इस कल्लोल वाले दोहे की शब्दावली यत्किंचित बदली हुई मिलती है। इस पर आगे लिखा गया है।

श्री शंभुसिह मनोहर ने प्राचीन राजस्थानी साहित्य में कल्लोल अर्थात् उमंगया उल्लास से कथा कहने की मंगलाचरण रूढ़ि मानते हुए उक्त दोहे में प्रयुक्त 'कल्लोल'

---

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ० २८।
२. भाग ३ : संपा० श्री ब. प्र. साकरिया : पृ० १६०।
३. परम्परा : भाग १५-१६ : पृ० ८०।
४. परम्परा : भाग १५-१६ : पृ० ८२।
५. व्यक्तिगत पत्र : ३१-१-१६६६।
६. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय। इनके अतिरिक्त दो. सं. २६३,३७०, ४१२, ५१८ आदि भी ऐसे ही दोहे हैं जिनमें समान-शब्दी तुक है।

शब्द को ऐसा ही रूढ़ प्रयोग माना है ।[१] अपने तर्क की सिद्धि हेतु श्री मनोहर ने निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं:—

समरूं श्री सरसत्ति, सद्गुरु पिण सानिधि करउ ।
आपो वचन उकत्ति, कहूं कथा कल्लोल सूं ॥
—समय सुन्दर कृत 'पुण्यसार चरित्र चउपाई' ।

सरस कथा नव रस सहित, वीर श्रृंगार विशेष ।
कहस्युं कवित कल्लोलस्युं, पूरव कथा संपेख ॥
—लब्धोदय कृत 'पद्मिनी चरित्र चौपाई' ।[२]

कल्लोल वाले दोहे पर यहाँ अन्य तरह से विचार करना सार्थक होगा । अनेक हस्तलिखित प्रतियों में इस दोहे की शब्दावली में अन्तर पाया जाता है यथा—कहइ कवि कल्लोल ,[३] कहिया कवि कल्लोल,[४] कहीयै कवित्त कल्लोल,[५] कीरत कथा कल्लोल[६] आदि । अनेक प्रतियों में उक्त दोहे के द्वितीय और चतुर्थ चरण पूर्णतः बदले हुए भी प्राप्य हैं:—

गाहा गुढ़ा गुण कवित, वचन विनोद विसाल ।
चतुर तणा चित रंजवा, करूं कवित रसाल ॥[७]
गाहा गूढ़ा गीत गुण, उक्ति कथा इलोल ।
चतुर तणा चित रींझवण, कहीयै कवित्त कलोल ॥[८]
गाहा गुड्ढा गीत छन्द, कवित दुहा इल्लोल ।
चतुरां रा चित रीझवण, कहजै कवि कल्लोल ॥[९]

यहाँ यदि हम कुशललाभ के 'चउपई' रूप का अध्ययन कर कुछ निष्कर्ष निकालें तो वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायगी और 'कल्लोल' विषयक भ्रम का निराकरण भी । 'कल्लोल' शब्द-संयुक्त यह दोहा कुशललाभ विरचित 'चउपई' के मंगलाचरण का दोहा ही लगता है । यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यही दोहा 'ढोलामारू' के शुद्ध 'दोहा' रूप की हस्तलिखित प्रतियों में भी मिलता है । इसका उत्तर यह है कि 'दोहा' रूप प्राचीन अवश्य है परन्तु हस्तलिखित प्रतियों में वह कुशललाभ के चौपाई-रूप के बाद का ही लिपिबद्ध मिलता है । कुशललाभ से पूर्व की दोहामयी

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० २० ।
२. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० २० ।
३. ढोला मारूई चउपई : श्री सु. सा. पु., जोधपुर ।
४. ढोला मारू रा दूहा : बाबू जयपाल सिंह संग्रह, बीकानेर ।
५. ग्रं. ४६ (क) ढोला मारू री चौपई : अ. सं. ला., बीकानेर ।
६. ग्रं. २२०७ एवं ५०८४ : ढोला मारू री वार्ता एवं ढोला मारू (सचित्र) : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर ।
७. ग्रं. १०६४ : ढोला मारू चोपई : रा. शो. सं. चौपासनी, जोधपुर ।
८. ग्रं. १३८१ : ढोला मारू री चौपाई : रा. शो. सं. चौपासनी, जोधपुर ।
९. ग्रं. १८३ : ढोला मारू री चौपाई : रा. शो. सं. चौपासनी, जोधपुर ।

हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती। इस कथन पर भी थोड़ा सन्देह व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु दूसरा पुष्ट प्रमाण भी यहाँ प्राप्त है और वह है शैली की समानता का। कुशललाभ ने एक अन्य प्रेमाख्यान 'माधवानल कामकन्दला चउपई' की रचना सं. १६१६ की फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी, रविवार को की।[1] 'ढोला मारुई चउपई' और 'माधवानल कामकन्दला चउपई' में बहुत शैलीगत-साम्य है। 'माधवानल कामकन्दला चउपई' में इसी प्रकार का एक दोहा आया है—

गाहा गूढ़ा चउपई, कवित्त कथा संबंध।
कामकंदला कामिनी, माधवानल संबंध ॥[2]

'कल्लोल' वाला दोहा इससे स्पष्टतः शैलीगत-साम्य रखता है। अतः 'कल्लोल' शब्द-युक्त यह दोहा कुशललाभ की ही सम्पत्ति है। इस धारणा की पुष्टि शैली-साम्य के एक और दृष्टांत से भी की सकती है:—

रावल माल सुपट्ट धर, कुंवर श्री हरराज।
विरची ए शृंगार रस, तासू कतूहल काजि ॥
गाहा साढ़ी पांचसइ, ए चउपइ प्रमाण।
सुणतां भणतां सुख दीयइ, जे नर चतुर सुजाण ॥
—माधवानल कामकन्दला चउपई।[3]

गाह सातसइ एह प्रमाण, दोहा नइ चउपई वखाण।
यादव रावल श्री हरराज, जोड़ी तासु कतूहल काजि ॥
—ढोला मारुई चउपई।[4]

ये उदाहरण इस बात को बताने के लिये पर्याप्त सक्षम है कि 'कल्लोल' शब्द वाला दोहा कुशललाभ प्रणीत ही है। 'ढोला मारू' के 'चउपई' रूप की रचना कुशललाभ ने अपने आश्रयदाता 'चतुर' श्री हरराज के 'चित रिझवण' तथा 'कतूहल काजि' ही की थी। दूसरे शब्दों में उसका उद्देश्य ही आनन्द-प्रमोद-पूर्ण रचना प्रस्तुत करने का रहा था। 'कल्लोल' शब्द इसी अभिप्राय से यहाँ प्रयुक्त हुआ है। संपादक-त्रय का यह कथन कि उक्त दोहे में 'कल्लोल का सीधा-सादा अर्थ आमोद-प्रमोद पूर्ण अर्थात् उमंग के साथ कही हुई मनोरंजक रचना'[5] लेना ही वस्तुतः उक्त दोहे में भाव

१. ग्रं. ९०४ : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर—
संवत सोल सोलोतरइ, जेसलमेर मझारि।
फागुण सुदि तेरसि दिवसि, विरची आदित्यवार ॥ ५० ॥
२. ग्रं ९०४ : माधवानल कामकन्दला चउपई : रा. प्रा वि. प्र, जोधपुर।
३. (i) ग्रं. ९०४ : माधवानल कामकन्दला चउपई : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर।
(ii) यह ग्रंथ श्री मजूमदार द्वारा संपादित होकर माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध : वाल्यूम I में ओरिएन्टल, इंस्टीट्यूट, बड़ौदा से सन् १९४२ में प्रकाशित भी हो चुका है।
४. ढोला मारुई चउपई : श्री सु. सा. पु., जोधपुर।
५. ढोला मारू रा दूहा : पृ० २८।

की दृष्टि से उचित ठहरता है। श्री शंभुसिंह मनोहर ने प्राचीन राजस्थानी साहित्य में कल्लोल अर्थात् उमंग या उल्लास से कथा कहने की जो मंगलाचरण-रूढ़ि मानी है वह भी तथ्याश्रित है।[1] अन्य कवियों ने भी 'कल्लोल' शब्द का इसी तरह व्यवहार किया है। खरतरगच्छ की पिप्पलक शाखा के वाचक धर्मसमुद्र ने सं. १५७३ में रचित अपनी कल्पित रचना 'प्रभाकर गुणाकर चौपई' में इसी तरह लिखा है:—

कवि कल्लोल कही ए कथा, मन कल्पित कीधी स कथा।[2]

इस तरह 'कल्लोल' को कवि मानने की संभावना तर्क-हीन प्रतीत होती है और उसमें किंचितमात्र भी सार नहीं लगता।

एक संभावना पर यहाँ और विचार करना भी आवश्यक है। 'ढोला मारू रा दूहा' की दोहामयी प्रतियों में उसके सं. १५३० में रचित होने का एक दोहा प्राप्त होता है:—

पनरहसै तीसै वरस, कथा कही गुण जांण।
वदि वैशाखे वार गुरु, तीज जांण सुभ वांण।।[3]

यहाँ जब कवि अपनी रचना का रचनाकाल सं. १५३० अपनी कृति में दे रहा है तो उसने अपना नाम भी रचना में अवश्य दिया होगा—यह प्रबल संभावना बनती है। ऐसी प्रतियों में सिवाय 'कहियइ कवि कल्लोल' अथवा 'कथा कही गुणजाण'[4] के अन्य कोई दोहा उपलब्ध नहीं होता जिसमें कवि का संकेत मिलता हो। परन्तु 'ढोला मारू रा दूहा' की ऐसी हस्तलिखित प्रति की कोई पुष्पिका 'कल्लोल' नाम का समर्थन नहीं करती। यह ऊहापोह भी तब तक बनी रहेगी जब तक कि कुशललाभ के समय से प्राचीन 'ढोला मारू' की कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त न हो जाय।

तार्किक तुष्टि हेतु 'कल्लोल' पर अन्तिम निर्णय भी उस समय तक स्थगित रखा जा सकता है; पर मेरी सम्मति में कल्लोल के कवि न होने की ही संभावना अधिक उचित और संगत है। उपलब्ध सामग्री की दृष्टि से भी इसकी ही पुष्टि होती है।

२. कुशललाभ :

डॉ० रामकुमार वर्मा कुशललाभ को ही इन दोहों का रचयिता मानते हैं।[5] जैन कवि कुशललाभ ने परम्परा से प्राप्त प्राचीन दोहों को चौपई-बन्ध ही किया था, स्वयं रचा नहीं। उसने यह तथ्य स्पष्ट भी किया है—

दूहा घणा पुराणा अछइ, चोपई बंध कियौ मई पछइ।[6]

अतः डॉ० वर्मा का मत भ्रामक है और उससे सहमति प्रकट नहीं की जा सकती।

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० २०।
२. परम्परा : भाग १५-१६ : पृ० ६३।
३. ग्रं. ५८९६ : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर एवं अन्य प्रतियां।
४. 'गुणजाण' शब्द पर आगे विवेचन प्रस्तुत किया गया है।
५. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ० ३२५।
६. ढोला मारूई चउपई : श्री सु. सा. पु., जोधपुर।

३. हरराज :

सर्व श्री मिश्रबन्धु,[१] डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ,[२] डॉ० गुरुदेव प्रसाद वर्मा,[३] डॉ० प्रेमदत्त शर्मा,[४] डॉ० सियाराम तिवारी[५] आदि ने इन दोहों को हरराज विरचित माना है।

वाचक कुशललाभ की 'चउपई' से यह भली भाँति प्रकट है कि उसने अपने 'चउपई' रूप का सृजन अपने आश्रयदाता जैसलमेर-नरेश रावल हरराज के मनोरंजनार्थ किया था—

यादव रावल श्री हरिराज, जोड़ी तासु कतूहल काज।[६]

इस तरह हरराज के कवि होने का मत निराधार ठहरता है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट में भी हरराज के कवि होने का उल्लेख प्रकाशित हो चुका था जिसे बाद में संशोधित किया गया।[७] हरराज को कवि मानने का आधार शायद यह रिपोर्ट ही रही हो जो वस्तुतः तथ्यों के विपरीत है।

४. गुणजाण :

'ढोला मारु' काव्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में रचनाकाल विषयक यह दोहा आया है:—

पनरहसै तीसे वरस, कथा कही गुणजाण।
वदि वैसाखे वार गुरु, तीज जांण सुभ वांण॥

इस दोहे के द्वितीय चरण से किसी 'गुणजाण' के कवि होने की संदिग्ध ध्वनि निकलती है। श्री घनश्याम देव तैलंग ने इस नाम की ओर संकेत दिया है।[८] अपने शोधकार्य के मध्य डॉ० सत्येन्द्र ने भी मुझे इस नाम पर विचार करने का परामर्श दिया था।[९] इस दोहे से युक्त 'ढोलामारु' की अनेक हस्तलिखित प्रतियों का मैंने अवलोकन किया। सबमें मुझे यही शब्दावली मिली। परन्तु किसी प्रति की पुष्पिका में 'गुणजाण' शब्द पर कोई टिप्पणी नहीं पाई गई। अब तक की शोध से किसी 'गुणजाण' नामक कवि का अस्तित्व भी सामने नहीं आया है। राजस्थानी साहित्य में कई जगह कवि के लिये 'गुणियण' शब्द का प्रयोग अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ तो 'गुणजाण' शब्द है। इस प्रकार 'गुणजाण' को कवि मानने

१. मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग : पृ० २३४।
२. हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य : पृ० १५।
३. हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेमकाव्य : पृ० ११।
४. राजस्थानी भाषा और साहित्य : संपा० श्री मनोहर प्रभाकर : पृ० ५२।
५ हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य : पृ० २४३।
६. ढोला मारूई चउपई : श्री सु. सा. पु., जोधपुर।
७. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण : प्रथम खण्ड : संपा० श्री कृष्ण प्रसाद गौड़ : पृ० ३८२।
८. राष्ट्रदूत : २६ अक्तूबर, १९६४ का अंक।
९. विचार-विमर्श : २२-४-१९६६।

का पुष्ट आधार नहीं बनता। भाव-दृष्टि से 'कथा में गुण जान कर ही उसे कहने' का भाव इस पंक्ति में व्यक्त हुआ है।

५. पृथ्वीराज :

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में अनेक प्राचीन ग्रंथों की प्रति-लिपित प्रतियाँ हैं। इनमें 'ढोलामारु वार्ता' की पूर्ण १४१ दोहामयी प्रति देखने को मिली जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति ढोला मारू वार्त्ता श्री पृथ्वीराज कृतं"।[१]

ये दोहे अस्त-व्यस्त हैं और इनमें कथा का क्रम टूटा हुआ भी है। इन दोहों में अन्य प्रतियों में प्राप्त दोहे भी सम्मिलित हैं और कुछ नवीन भी। राजस्थानी में पृथ्वीराज नामक अनेक कवियों की कृतियाँ मिलती हैं।[२] संभव है कि प्राचीन दोहों को लिपिबद्ध करते समय अपना कृतित्व भी किसी पृथ्वीराज नामक कवि ने उनके संग मिला दिया हो। प्रतिष्ठान में उपलब्ध इस प्रति के लिपिकर्त्ता श्री पं० विश्वेश्वरदत्त जी श्रीमाली थे जिनके निधन से इस प्रतिलिपित प्रति की मूल प्रति का विवरण ज्ञात नहीं हो सका। न इस मूल प्रति के विषय में कोई सूचना भी वहाँ दी गई है। वैसे अन्य किसी भी प्रति में पृथ्वीराज विषयक कोई टिप्पणी नहीं मिलती। यह कोई लिपिकार ही होना चाहिये। मूल प्रति के अभाव में इससे आगे इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

६. कवि चन्द :

श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा संपादित आनन्द काव्य मौक्तिक–७ में 'ढोला मारु' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों का परिचय है। इस मौक्तिक में श्री मोहन लाल झवेरी का भी एक निबन्ध है जिसमें श्री झवेरी ने 'ढोला मारु' की एक अपूर्ण प्रति की चर्चा करते हुए लिखा है—"सं. १५०३ वैसाख सुदी तीज, गुरुवार, जैसलमेर ना चंद कवि नी बनावी छै।"[३] इस सूचना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस प्रति के विषय में वहाँ नहीं लिखा गया है। मुझे सं. १५०३, वैसाख सुदी तीज, गुरुवार सम्बन्धी सूचना 'पनरेसै तीसे बरस' वाले दोहे का रुपान्तर ही प्रतीत होती है। रही इसके चन्द कवि विरचित होने की बात—सो यह धारणा भी कल्पित ही लगती है। 'ढोलामारु' की किसी भी हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में अथवा मूलकाव्य में मुझे ऐसा अन्तर्बाह्य साक्ष्य नहीं मिला जिससे यह चन्द कवि का कृतित्व सिद्ध हो। जैसलमेर की ओर के किसी चन्द कवि का परिचय भी कहीं हस्तगत नहीं हुआ। इस तरह सुदृढ़ आधार के अभाव में इन दोहों को चन्द कवि विरचित मानना तर्क-सम्मत नहीं है।

७. लूण करण खिड़िया :

श्री सीताराम लालस के अनुसार 'जोधपुर के सिवाना नामक ग्राम में एक

१. ग्र. ६१४ एवं ७७२ : रजिस्टर संख्या क्रमशः ६/२ एवं ६/३।

२. पृथ्वीराज राठौड़, पृथ्वीराज सांदू आदि।

३. पृ० १५१।

जैन यति के पास से प्राप्त प्रति में इसके रचयिता का नाम लूणकरण खिड़िया लिखा है।'[1] मूलतः यह प्रति लूणपाल मेहडू की 'वात' की है। लूणकरण खिड़िया कुछ मुद्रण-दोष के कारण ही मुद्रित हो गया। लूणपाल मेहडू एक प्रसिद्ध चारण-रत्न हुआ है जो महाराणा कुम्भा का समकालीन था। लूणपाल मेहडू की 'ढोलामारू' की 'वात' की अनेक प्रतियाँ प्राप्त होती हैं।[2] ऐसी ही 'ढोला मारू' की 'वात' महादान मेहडू की भी मिलती है।[3] इन 'वातों' में गद्य के बीच-बीच में दोहे हैं और यह गद्य-भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

इस तरह लूणकरण खिड़िया का नाम मुद्रण-त्रुटि से ही मुद्रित हो गया है। रहा लूणकरण मेहडू और महादान मेहडू का प्रश्न —सो इन्हें वार्त्ताकार ही माना जा सकता है; दोहों का मूल रचनाकार नहीं।

८. मगर और वल्ह :

'ढोला मारू' की अनेक प्रतियों में मगर और वल्ह नामक दो ढाढ़ी भाइयों का जिक्र आता है जिन्होंने मारू का संदेश ढोला तक पहुँचाया। इनका नाम 'ढोला मारू' के वात[4] एवं दोहा[5] दोनों रूपों में मुझे मिला।

रचनाकार के सम्बन्ध में निर्णय लेते हुए इन नामों पर भी विचार करना अत्यावश्यक है। राजस्थानी की श्रीवृद्धि में अनेक ढाढियों ने अपने कृतित्व से योग दिया है।[6] मगर और वल्ह ढाढी भी राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिन्होंने राजाओं की 'निसाणियाँ' लिखी हैं।[7] 'ढोलामारू' की रचना एवं संवर्द्धना में ढाढ़ी जाति के गुणी व्यक्तियों का हाथ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है जैसा कि आगे संभावना प्रकट की गयी है। परन्तु फिर भी किसी प्राचीन प्रति की अनुपलब्धि पर बात आकर रुक जाती है। मगर और वल्ह के इसके कवि होने का उल्लेख किसी हस्त-लिखित प्रति की पुष्पिका में भी देखने को नहीं मिला। फिर इनका समय निर्धारिण करना भी एक समस्या है। 'ढोलामारू' के पूर्वार्द्ध में ढाढ़ी छाये हुये से हैं। यह भाग ढाढ़ियों द्वारा निर्मित होने की पूर्ण संभावना है। परन्तु वे हैं कौन ? क्या मगर और वल्ह का भ्रातृ-युगल है ? इनके ढाढी होने से इस बात की संभावना होते हुए भी अतिरिक्त पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इदमित्थं कुछ निर्णय नहीं दिया जा सकता।

९. अन्य :

---

१. राजस्थांनी सबद कोस : भूमिका : पृ० ९३।
२. ग्रं. ४८ : अ. सं. ला., बीकानेर एवं अनेक संग्रहालयों में।
३. परम्परा : भाग ३-७ : पृ० २५९ पर श्री उदयराज उज्ज्वल की टिप्पणी।
४. परम्परा : भाग ६-७ में ऐसी 'वात' प्रकाशित हुई है।
५. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : दो. सं. १८४।
६ उदाहरण के लिये बादर, मनभोलिया, मीरिया, मीठा, देवा, मंगरो, कानिया, लिखमी, डाहो, पीरिया, नानियो, फूसियो, अमियो आदि।
७. ए डेस्क्रिप्टिव केटेलाग ऑफ बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल मेन्युस्क्रिप्ट्स : सेक्सन II, बार्डिक पोइट्री : पार्ट I, बीकानेर स्टेट : डॉ० एल. पी. टेसीटरी : पृ० ५।

कहीं-कहीं अज्ञात रचयिताओं के संकेत भी अन्य प्रतियों में मिले हैं। दो-एक हस्तलिखित प्रतियों में ऊमर[1] और मीरवदा[2] नाम मिले। इन प्रतियों को देखने के पश्चात् इन नामों में रचनाकार सम्बन्धी विश्वास नहीं जमता। वास्तव में ये कुशल-लाभ के 'चउपई' रूप की प्रतियों के प्रतिलिपिकर्त्ता ही थे। प्रतिलिपि के पश्चात् अपना नाम इन्होंने छन्द में रखकर प्रति के अन्त में रख दिया।

डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने सं. १६५७ में रचित 'ढोलामारू री वात' की भी चर्चा की है।[3] इसके दोहे सं. १५३० में रचित प्रतियों तथा कुशललाभ के 'चउपई' रूप में प्राप्त हैं। इस प्रति[4] के अन्त में जो यह दोहा आया है—

प्रि ढोलो धण मारूई, ढोला मारूनि वात।
संवत सोल सतावने, बात पुरि पात।। ४३७ ।।

वह इसका लिपिकाल ही मानना चाहिये। अनेक प्रति लिपिकारों ने अपना नाम और लिपिकाल इस तरह छन्द बना-बना कर हस्तलिखित प्रतियों में रख दिया है।

१०. सामूहिक कृतित्व:

किसी कवि-विशेष के नाम की अनुपलब्धि से प्रेरित हो संपादक-त्रय ने 'सामूहिक रागात्मक अभिरुचि' को ही इस काव्य का जनक माना है। उनका अनुमान है—"अतएव हमारा अनुमान है कि व्यक्ति विशेष का इसके बनाने में कुशल हाथ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हुए भी सामूहिक भावनाओं की एकता और सहानुभूति एकत्रित होने के कारण कवि का व्यक्तित्व समूह में लुप्त हो गया है और अन्त में मौखिक परम्परा से चला आता हुआ यह काव्य हमको किसी व्यक्ति विशेष कवि की कृति के रूप में नहीं मिला बल्कि जनता के काव्य के रूप में उपलब्ध हुआ है।"[5] इससे समानता रखने वाला विचार डॉ. शम्भूनाथ सिंह,[6] डॉ. हरिशंकर शर्मा 'हरीश',[7] डॉ. सियाराम तिवारी[8] आदि का भी रहा है।

यह काव्य लोक की सामान्य भावनाओं को व्यक्त अवश्य करता है, परन्तु

---

१. ग्रं. ७७४७ : **ऊमर नाम गीते कह्या, गाया मारू ढोल।**
ससनैही ढोलातणा, कल मै रहीया बोल।।
—ढोला मारुनी वात : रा. प्रा. वि. प्र. शा., उदयपुर।

२. ग्रं. १९६३ : **पंनी लुखमांन तुम बांचीओ, ढोला ईह प्रमंण।**
मीर वदा कहै तुम चीरजी रहो,ज्यु जुग में जीवंण जंण।।
—ढोला मरवण री वारता : रा. प्रा. वि. प्र. शा., उदयपुर।

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० २०५।

४. (i) ग्रं. २७ : ढोला मारू : फार्बस गुजराती सभा, बम्बई।
(ii) गुजराती साहित्य : खंड ५ मो : श्री क. मा. मुंशी : पृ० ४१३-१७।

५. ढोला मारू रा दूहा : पृ० २७।

६. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : पृ० २२५।

७. त्रिपथगा : ६-७ : पृ० ५७ पर 'ढोला मारू रा दूहा' शीर्षक लेख।

८. हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य : पृ० ३८०।

इससे ही सामूहिक कृतित्व के विचार को इस पर लागू करके उसे मान्य नहीं ठहराया जा सकता। यह तो कवि की विशेषता है कि उसने लोक-मानस से उद्भूत भावनाओं का ऐसा सजीव चित्रण अपने काव्य में किया है। सामूहिक कृतित्व का सिद्धान्त तो आदिम रचनाओं पर ही उचित लगता है। यह कृति आदिमकाल की रचना नहीं है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। लोक-हृदय के सन्निकट होने के कारण यह काव्य अत्यन्त लोकप्रिय हो गया और जन-मुख पर जीवित रहता हुआ चलता रहा। लिखित रूप नष्ट हो गया। पुनः जब लिपिबद्ध हुआ तो बहुत समय निकल चुका था। अतः कवि अज्ञात बन गया। वर्तमान में इसकी हस्तलिखित प्रतियों में इसके कवि से सम्बन्धित कोई उल्लेख नहीं मिलता, यह अवश्य है। परन्तु केवल इस बात से ही इसे सामूहिक कृतित्व कैसे माना जाय? अनेक अज्ञात कवियों की ऐसी अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। अपने उपर्युक्त कथन में स्वयं संपादक-त्रय इसकी रचना में कुशल हाथ का होना स्वीकार करते हैं। कुशल व्यक्ति का इसके बनाने में स्पष्ट हाथ दृष्टिगोचर होते हुए भी इसे जनता द्वारा निर्मित काव्य मानने की धारणा स्वयं अन्तर्विरोधी है। इसे किसी कुशल तथा पारंगत कवि द्वारा निर्मित मानना ही पड़ेगा।

क्या समय-समय पर इसमें जोड़े गये प्रक्षिप्त अंशों के कारण यह सामूहिक कृतित्व माना जाय? इस कारण इसे प्रक्षिप्त काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा, सामुदायिक कृतित्व नहीं। हर प्राचीन काव्य में प्रक्षिप्त अंशों की बहुलता मिलेगी। इन अनेक दृष्टियों से इसे समष्टि-मनीषा की उपज नहीं माना जा सकता।

जिन नामों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें से किसी की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हैं। इसमें प्रक्षिप्तांश का भी बाहुल्य है। मूल रूप में तो इसकी रचना एक सुयोग्य कवि ने की है, परन्तु वर्तमान उपलब्ध प्रतियों में अनेक व्यक्तियों की सर्जना का सम्मिश्रण है। एक प्राचीन लिपिकार ने ऐसा कहा भी है—

दूहा घणा कवीअण कह्या, दीठो सोय प्रसंग।
कवीता कहैं सूरता सूणे, ऊपजै मन अतिरंग।। ४०।।[१]

इससे स्पष्ट है कि इसकी संरचना में अनेक हाथों का समय-समय पर हाथ रहा है। पर वे कौन थे और कब हुए यह कहना इस समय असंभव है। प्राचीन प्रति की अनुपलब्धि और इसकी अत्यधिक लोक-प्रियता के कारण यह प्रश्न पेचीदा बन गया है। ऐसी परिस्थितियों में मूलकवि को ढूंढ निकालना कठिन ही नहीं असंभव सा प्रतीत होता है। समय की परत के नीचे वह दफन है।[२] अधिक से अधिक इसका पुनः वैज्ञानिक सम्पादन करके प्रामाणिक पाठोद्धार ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मुझे डॉ० माताप्रसाद गुप्त का यह कथन उल्लेख्य लगा—"मूल रचयिता और उसका समय तो अब अज्ञात ही नहीं अज्ञेय-सा है क्योंकि मूलतः रचना एक लोक-

१. ग्रं. : ७७४७ : ढोला मारूनी बात : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर।
२. डॉ० कालिकारंजन कानूनगो (स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री : पृ० २२) और डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव (भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य : पृ० १६५) आदि रचनाकार को अज्ञात ही मानते हैं।

गाथा थी।"[१] वर्तमान तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप यही धारणा बनायी जा सकती है।

जाति :

इस प्रेमाख्यान में हमें स्थान-स्थान पर कवि का ढाढ़ी जाति के प्रति व्यामोह मिलता है। इन अन्त:साक्ष्यों को लक्ष्य करके सर्व श्री संपादक-त्रय,[२] देवीलाल सामर[३], शंभुसिंह मनोहर,[४] डॉ० हरिशंकर शर्मा 'हरीश',[५] डॉ० शम्भुनाथ सिंह,[६] रामप्रसाद दाधीच[७] आदि ने ढाढ़ी होने की संभावना प्रकट की है।

अनेक प्रमाणों के आधार पर इनकी यह धारणा पुष्ट होती है। इस काव्य के पूर्वार्द्ध का महत्कार्य है ढोला को मारू का सन्देश देना तथा उसे पूगल लिवा लाना। पिंगल-पटरानी इसके लिये पुरोहित को न भेजकर ढाढ़ियों को ही भेजने का आग्रह करती है।[८] यह सामान्यतया सामन्तवर्ग के आचरण के प्रतिकूल है। ढाढ़ी किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ तो जा सकते हैं, परन्तु एकत: उन्हें किसी सामन्त परिवार के सदस्य को लिवा लाने हेतु नहीं भेजा जाता। इतना ही नहीं, रानी इस अ-सामान्य आग्रह तक ही न रहकर स्वयं उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी करती है—

जे भेदक गीताँ तणा, वात करइ सुविचार ।। १०४ ।।

पिंगल राजा तत्काल ही गुणी ढाढ़ियों को बुलाकर साल्हकुमार तक संदेश पहुँचाने एवं उसे लिवा लाने का गुरुतर भार उन्हें सौंपते हैं।[९] आगे चलकर मारवणी अपना सन्देश, जो इस काव्य की आत्मा है, ढाढ़ियों को सम्बोधित करके कहती ही है। संदेश के हर दोहे में 'ढाढ़ी' शब्द की विद्यमानता में भी कवि के द्वारा अपने कुल के सगर्व उल्लेख की भावना ध्वनित होती है। संगीत निष्णात ढाढ़ी अन्ततः ढोला तक मारू का सन्देश पहुँचाने के महत्कार्य में सफल भी होते हैं।[१०] उन परिस्थितियों में ऐसे गुरूतर कार्य के सफल समापन का सेहरा ढाढ़ियों के सिर पर बांधा जाना भी सकारण लगता है। ढाढ़ियों की कार्य-कुशलता, प्रत्युत्पन्नमति, संगीत-पारंगतता आदि के लिये ढोला उन्हें पुरस्कृत भी करता है।[११] इस प्रकार ढाढ़ी इस काव्य

१. व्यक्तिगत पत्र : ३१-१-६६।
२. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ८।
३. राजस्थान का लोक संगीत : पृ० ७७।
४. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० २२।
५. त्रिपथगा : ६-७ : पृ० ५७।
६. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : पृ० २२४।
७. व्यक्तिगत चर्चा : २६-१२-६५।
८. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : दो. सं. १०३।
९. उपर्युक्त : दो. सं. १०५।
१०. उपर्युक्त : दो. सं. १८७ से २१० तक।
११. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : दो. सं. २०९।

की कथा को फल की ओर उन्मुख करने की मुख्यभूमिका अदा करने वालों के रूप में हमारे समक्ष आते हैं ।

स्वजाति के प्रति मोह स्वाभाविक है । अनेक कवियों द्वारा अपने वंश-गोत्र का गुणगान तथा सगर्व उल्लेख अपने कृतित्व में हुआ है । यही भावना इस काव्य में भी कवि द्वारा वाणी पाकर मुखर हो उठी हो तो कोई आश्चर्य नहीं । ऐसी लोक-प्रसिद्धि भी है कि 'ढोलामारू' लोक काव्य के रचयिता ये 'ढाढ़ी' ही थे । 'ढोलामारू' गाने में ये प्रवीण भी हैं । इसमें कोई इनकी समता नहीं कर सकता ।[1]

अतः रचनाकार के ढाढ़ी जाति का होने की संभावना को स्पष्ट संकेत अप्राप्य होने पर भी टाला नहीं जा सकता । यहाँ फिर मगर और वल्ह स्मरण हो आते हैं । परन्तु इसके लिये अभी और प्रतिक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि किसी प्राचीन प्रति से इसकी पुष्टि न हो जाय । तब तक इस सम्बन्ध में संभावना होने पर भी निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता । प्राचीन हस्तलिखित प्रति की अनुपलब्धि और इसकी अत्यन्त लोकप्रियता ने भी इस प्रश्न को और अधिक उलझाया ही है । फिर भी इस काव्य के वर्तमान में प्राप्त रूप के पूर्वार्द्ध को कम से कम ढाढ़ी विरचित मानने में संकोच नहीं होना चाहिये; चाहे उसका नाम अभी अज्ञात ही हो ।

निवास–स्थान :

जाति की तरह कुछ अन्य संकेतों के आधार पर कवि के निवास स्थान का अनुमान भी इस रचना के पारायण के पश्चात् लगाया जा सकता है ।

सर्व प्रथम ग्रन्थ का 'ढोला मारू रा दूहा' नाम ही राजस्थानी कवियों की ग्रन्थों के नामकरण की प्रवृत्ति को प्रगट करता है । काव्य की नायिका मारवणी एवं सहनायिका मालवणी को दिये गये नाम भी राजस्थानी सामन्त-परिवार से घनिष्ट परिचित एवं राजस्थानी काव्य परंपरा-पारंगत किसी राजस्थानी कवि की ही देन हैं । जिन-जिन प्रतियों में धुर-सम्बन्ध अथवा प्रस्तावना मिलती है, उसमें भी पूगल नरेश तथा उमादेवड़ी का विवाह और तत्पश्चात् मारू के जन्म की कथा पहले कही गयी है और ढोला के जन्म की कथा बाद में ।[2] यह नायिका एवं उसके प्रदेश के प्रति कवि की अपरोक्ष निजी अनुरक्ति का ही परिचायक है ।

काव्य में मारू प्रदेश के प्रति कवि का अन्तर-अनुराग अगाध रहा है और यह स्थान स्थान पर प्रतिभासित है—

बाजरियाँ हरियालियाँ, बिचि बिचि बेलाँ फूल ।
जउ भरि वूठउ भाद्रवउ, मारू देस अमूल ।। २५० ।।[3]

सौतियाडाह से उत्प्रेरित मारवणी एवं मालवणी संवाद में व्याजस्तुति का सहारा लेकर कवि ने अप्रत्यक्षतः मारू प्रदेश को ही श्रेष्ठ ठहराया ।[4] स्वयं कवि ने

---

१. राजस्थान का लोक संगीत : देवीलाल सामर : पृ० ७७ ।
२. गं. ७९ (त) : ढोला मारवणी दूहा : अ. सं. ला., बीकानेर तथा और प्रतियाँ ।
३. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय ।
४. ,, : ,, : दो. सं. ६५४ से ६३५ ।

नायक ढोला के द्वारा भी इस अनुभूति को प्रकट करा दिया है।[1] ढोला कहता है—

देस सुरंगउ, भुंई निजल, न दियाँ दोस थलाँह।
घरि घरि चन्द वदन्नियाँ, नीर चढइ कमलाँह ।। ६६९ ।।

सुणि सुन्दरि केता कहाँ, मारू देस वखाँण।
मारवणी मिलियाँ पछइ, जाण्यउ जनम प्रवाँण ।। ६७० ।।

कवि ने मारू के नख-शिख और मनसा-वाचा-कर्मणा सौन्दर्य-चित्रण में जो अपूर्वता का द्योतन कराया है,[2] यह भी अपरोक्षतः कवि का अपनी नायिका और उसके प्रदेश विशेष के सौन्दर्य के प्रति रुझान ही है।

मारू-प्रदेश के प्राकृतिक चित्रों का साकार चित्रण[3] इस प्रदेश के ही निवासी किसी कवि द्वारा संभव है। ऊँट का भी इतना सजीव और स्वाभाविक वर्णन किसी मरू-वासी कवि द्वारा ही हो सकता है जिसे इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो।[4]

इस धारणा की सबल-पुष्टि इस काव्य की भाषा प्रदान करती है। समयान्तर भाषा में परिवर्तन संभव है और होता भी है, परन्तु क्रियाओं का स्वरूप प्रायः नहीं बदलता। इस काव्य की भाषा में क्रियाओं का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह पश्चिमी राजस्थान अर्थात् वर्त्तमान जैसलमेर-बीकानेर क्षेत्र की ओर का है।

इस प्रकार यह संभव है कि कवि पूगल-प्रदेश का निवासी रहा हो। समस्त रचना के अनुशीलन के पश्चात् कवि का झुकाव तथा रुझान यही ध्वनित करता है। वैसे हर कवि ने अपने काव्य के नायक-नायिका के चित्रण में सर्वोच्च गुण-सम्पन्नता दिखाने का प्रयास किया है, पर इस काव्य को पढ़ते समय कवि मारू और मारू-प्रदेश में व्यक्तिगत रूचि लेता हुआ प्रतीत होता है। कवि का यह सूक्ष्म संवेदना-संकेत अपने प्रदेश एवं अपने प्रदेश की नायिका के प्रति तीव्र अनुराग को प्रगट करता है।

(ई) कृति का रचना-काल :

'ढोलामारू' काव्य का रचनाकाल भी एक उलझन भरी गुत्थी बना हुआ है और अद्यावधि अनिर्णीत है। इसके मूल रचना-काल को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अनेक मत एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। उनका संक्षिप्त सर्वेक्षण अधोलिखित है—

संपादक-त्रय के मतानुसार 'ढोला का समय सं. १००० के आसपास हैं और यही इसके रचनाकाल की ऊपरी सीमा है। रचनाकाल की निचली सीमा जैन कवि कुशललाभ का समय (संवत् १६१८ के आसपास) है जिसके समय में इस काव्य के अधूरे दूहे ही मिलते थे और जिसने कथा-सूत्र मिलाने के लिये बीच-बीच में चौपाइयाँ

---

१. ढोला मारू रा दूरा : सपादक-त्रय : दो. सं. ६६९ से ६७१।
२. ,, : ,, : दो. सं. ४५० से ४८८।
३. ,, : ,, : दो. सं. २४१ से २६७ तथा ६५४ से ६६८।
४. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : दो. सं. ३०८-९-१२-४३, ४२६-२८-३०-३३-९२-९७-९९, ५००, ६२९-३१ आदि अनेक दोहे।

जोड़ी थीं।………इन दूहों की रचना संवत् १४५० के बाद की नहीं हो सकती।'[१] राजस्थांनी-सवद-कोस-कार श्री सीताराम लालस के अनुमानानुसार अगर ढोला के शासनकाल में ही 'ढोलामारू' की रचना की गई हो तो इसका रचनाकाल सं. १००० के आसपास माना जा सकता है।[२] विद्वद्वर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इन दोहों का सबसे पुराना रूप ११ वीं-१२ वीं शताब्दी का मानते हैं।[३] रचनाकाल के सम्बन्ध में डॉ० ओमानन्द रू. सारस्वत अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि 'घणा पुराणा' से स्पष्ट ध्वनि तीन सौ वर्ष तक की माननी चाहिये क्योंकि सामान्यतया १००-१५० वर्ष प्राचीन वस्तु को हम 'पुरानी' कहते हैं। अतः 'अधिक पुरानी' वस्तु तीन सौ वर्ष की मानना उचित ही है। दूसरे, ढोला का समय सं. १००० का अनुमानित है, इसलिये नायक की मृत्यु के ३०० वर्ष बाद तक के समय में इसका निर्माण हो ही जाने की सभावना ठीक लगती है, ……… इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ढो. मा. रा दूहा' तत्कालीन लोक-भाषा में संवत् १३०० के आसपास रचा गया है।[४] डॉ० भोला शंकर व्यास इन दोहों का रचनाकाल विक्रम की १३ वीं-१४वीं शती में मानते हैं।[५] प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् श्री वेचरदास जीवराज दोसी 'ढोलामारू' की भाषा १३ वीं शती के प्रारंभ की मानते हुए लिखते हैं—"ढोलामारू रा दूहा' नी भाषा ने माध्यमिक राजस्थानी रूपे गणेली छे। तेनो समय तेरमा सैका थी शरु थाय छे।"[६] डॉ० शम्भु नाथ सिंह 'ढोलामारू' का विकास १३ वीं १४ वीं शताब्दी से मानते हुए इसके रचना-काल का अपरोक्ष संकेत इस प्रकार करते हैं–"हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की परंपरा का प्रारंभ १३ वीं-१४ वीं शताब्दी से ही मानना चाहिये जब कि 'ढोलामारू रा दूहा' का विकास होने लगा और 'नूरक चन्दा' जैसे काव्यों की रचना हुई।"[७] डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय इसके रचनाकाल पर अपने शोध-प्रबन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं– "हिन्दी में असूफी परम्परा का प्रथम काव्य 'ढोलामारू रा दूहा' बताया जाता है जिसकी रचना १००० ई. के लगभग हुई कही गई है। किन्तु कदाचित अपने किसी भी रूप में १४वीं शती ईस्वी के पहले की यह रचना नहीं हो सकती।…

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ८।

२. (i) राजस्थांनी सवद कोस की भूमिका : पृ० ६१।
   (ii) प्राचीन राजस्थानी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ (लेख) : परम्परा : भाग १२ : पृ० १८६।
   (iii) डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने भी राजस्थानी साहित्य की रूप रेखा : पृ० २१६ पर ऐसा विचार व्यक्त किया है।

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ६।

४. परम्परा : भाग १२ : पृ० १४३-४४।

५. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : प्रथम भाग (खण्ड २, अध्याय ४) : पृ० ४०४।

६. गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति : पृ० ६५४।

७. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : पृ० ४११।

'ढोलामारू' का 'दूहा' बन्द रूप संवत् १४०० के पहले का नहीं हो सकता।"[1] विश्रुत इतिहासविद् श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का इस सम्बन्ध में यह अभिमत है—"अनुमानतः 'घणा' का अर्थ सौ वर्ष पुराना तो होगा ही। इस अनुमान पर असली काव्य का समय सं. १५०० विक्रमी के लगभग होगा।"[2] डॉ० नामवर सिंह इसे १५ वीं शताब्दी ईस्वी में रचित मानते हैं।[3] श्री शम्भु सिंह मनोहर का रचनाकाल संबन्धी निष्कर्ष इस तरह है—"निष्कर्षतः हम 'ढोलामारू' का रचनाकाल १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध या इसके आसपास मानते हैं अर्थात् कुशललाभ से कोई सौ, सवा सौ वर्ष पहले।"[4]

'ढोलामारू रा दूहा' की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में यह दोहा भी मिलता है जो इसके रचनाकाल को प्रकट करता है—

पनरहसै तीसै बरस, कथा कही गुण जांण।
वदि वैशाखे वार गुरु, तीज जांण सुभ वांण।।[5]

उपरोक्त दोहे के आधार पर आचार्य प्रवर श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[6] डॉ० मोतीलाल मेनारिया,[7] डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित,[8] श्री मोहन लाल दलीचन्द देसाई,[9] डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव,[10] डॉ० सियाराम तिवारी[11] आदि इसका रचना-काल सं. १५३० ठहराते हैं। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी के कथनानुसार विक्रमी सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो में इसकी रचना हुई होगी।[12] डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ इसका रचनाकाल सं. १५००-१७०० के मध्य मानते हैं।[13] स्व. श्री जगदीश सिंह गहलोत इसका निर्माण-काल संवत् १६०३ देते हैं।[14] श्री गंगाराम गर्ग इसे सं. १६१७ (सन् १५६०) में रचित मानते हैं,[15] तो श्री विश्वेश्वर नाथ रेऊ इसे रावल

---

१. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान : पृ० ८९-९० ।
२. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : प्रवचन : पृ० ५ ।
३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० २५३ ।
४. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० २८ ।
५. ग्रं. ५८९६ : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर तथा अनेक प्रतियाँ ।
६. हिन्दी साहित्य का अतीत : पृ० ६२ ।
७. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० १३४ ।
८. वेलि क्रिसन रुकमणि री : पृ० ३६ ।
९. जैन गुर्जर कविओ (भाग ३) : पृ०. २११२-१३ ।
१०. डिंगल साहित्य (पद्य) : पृ० ३१ एवं ७३ ।
११. हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य : पृ० २४३ ।
१२. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० २०२ ।
१३. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य : पृ० १२-१८ ।
१४. राजपूताने का इतिहास : भाग १ : पृ० ६७२ ।
१५. संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड हिन्दी साहित्य परिचायक : पृ० ११७ ।

हरराज के समय वि. सं. १६७७ में रचित मानते हैं।[१] श्री फार्बस गुजराती सभा, बम्बई की 'ढोलामारू' हस्तलिखित प्रति से इसके सं. १६५७ में रचित होने की ध्वनि निकलती है।[२]

तद्विपरीत डॉ० कालिका रंजन कानूनगो कहते हैं कि प्रेम कविता के रूप में अकबर के समय से पूर्व ही यह (ढोलामारू) लोकप्रचलित था, परन्तु इसका उद्भव अज्ञात है।[३] डॉ० नारायण सिंह भाटी का भी ऐसा ही कथन है कि 'ढोलामारू' का समय अनिश्चित होने से इस सम्बन्ध में (रचना समय) प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है।[४]

इस समस्या का हल ढूंढने के लिये ढोला के समय पर सर्वप्रथम विचार करना अत्यनिवार्य है। ढोला नरवर के कछवाह-वंश का राजपुरुष था। कछवाह-वंश की वंशावलियों एवं ख्यातों में इसका उल्लेख विद्यमान है। अनेक प्राचीन इतिहास-ग्रंथों में भी ढोला एवं मारू पर टिप्पणियाँ उपस्थित हैं।[५] नरवर के किले में ढोल अहाता, ढोला का बाग तथा ढोला पोल भी उसके ऐतिहासिक अस्तित्व की साक्षियाँ हैं।[६] अतः ढोला के नरवर के कछवाहा राजवंश से सम्बन्ध होने तथा उसे ऐतिहासिक चरित्र मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

परन्तु इनसे ढोला के समय का पता नहीं चलता। अतः दूसरे साक्ष्यों के साहाय्य से वह निर्धारित अवश्य किया जा सकता है। कछवाहों के वंश-वृक्षों में ढोला का पुत्र लक्ष्मण और तत्पुत्र वज्रदामन बतलाया गया है।[७] ढोला इस तरह वज्रदामन का दादा हुआ। वज्रदामन का सं. १०६४ का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है।[८] इस तरह ढोला का १० वीं शताब्दी में विद्यमान होना स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। एक हस्तलिखित प्रति में तो 'ढोला-मारू' के पाणिग्रहण का समय भी मुझे लिखा मिला—

संवत नवे अठोतरै, हुवौ दुहुग्रह उछाह।
ढोला मारू परणीया, हुवौ ववेरै व्याह॥[९]

१. एब्सट्रेक्ट ओफ दी स्टोरी एन्ड नोट्स ओन पेन्टिग्ज ओफ ढोला-मरवण : पृ० ६।

२. ग्रं. २७ : प्रि ढोला धण मारुइ, ढोला मारूनि बात।
संवत सोल सतावने बात पुरिपात॥ ४३७॥

३. स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री : पृ० २२। ४. परम्परा : भाग ६७ : पृ० २५६।

५. नैणसी री ख्यात : भाग १ : संपा. श्री ब. प्र. साकरिया तथा अनेक हस्तलिखित वंशावलियाँ।

६. निजी-यात्रा। किशनगढ़ रियासत के नरवर स्थान पर ढोला की बावड़ी भी है; पर उसका इससे संबंध नहीं जोड़ा जा सकता।

७. नैणसी का ख्यात (द्वितीय खण्ड) : संपा० दूगड़ एवं ओझा : पृ० १–४।

८. (i) जरनल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल : भाग ३१ पृ० ३६३।
(ii) ग्वालियर राज्य के अभिलेख : हरिहर निवास द्विवेदी : अभिलेख २० : पृ०५।

९. ग्रं. २२३६ : रा. प्रा. वि. प्र. शा., उदयपुर।

विवाह के समय ढोला की आयु तीन वर्ष की कही गयी है।[१] इस तरह ढोला का जन्म सं. ९१५ में हुआ। मैं इसे सत्य के सन्निकट मानता हूँ। यदि एक मनुष्य की औसत आयु ६० वर्ष की मानी जाय तो ढोला का समय सं. ९१५ से ९७५ तक ठहरता है, संभावनाश्रित होते हुए भी इसका औचित्य स्वयं-सिद्ध है।

इस विवेचन को आगे बढ़ाते हुए 'ढोला' शब्द के नायक रूप में रूढ़ होने एवं प्रचलन पाने पर भी विचार कर लिया जाय तो असगत नहीं होगा। ढोला का नायक अथवा पतिरूप में प्राचीनतम उल्लेख कलिकाल सर्वस्व हेमचन्द्र सूरि के 'सिद्ध हेम 'शब्दानुशासन' में आये हुए ये उद्धरण हैं—

(क) ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी।
णाइ सुवण्णरेह कस-वट्टइ दिण्णी॥ ८।४।३३०-१॥

(ख) ढोला मइ तुहुं वारिया मा करू दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दड्वड़ होई विहाणु॥ ८।४।३३०-२॥

(ग) ढोल्ला एह परिहासड़ी अइ भण कंवणहिं देसि।
हउ झिज्जउं तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि॥ ८।४।४२५॥[२]

'शब्दानुशासन' का रचना-काल सं. ११९२ के लगभग माना जाता है।[३] उपर्युक्त उद्धरण अनहिलवाड़ा के चावड़ा राजा दुर्लभ से सम्बन्ध रखते हैं जो श्याम-वर्ण था। 'द्वाश्रय' काव्यानुसार यह चामुण्ड का द्वितीय पुत्र था जिसने वि. सं. १०६६ से वि. सं. १०७७ तक राज्य किया। महेन्द्र, जो मरू का राजा था, उसने इसको अपनी वहिन दुर्लभ देवी के स्वयंवर में बुलाया जहाँ दोनों का विवाह हो गया। उसके साथ उसका भाई नागराज भी था जिसका विवाह लक्ष्मी (दुर्लभ देवी की छोटी बहिन) से हुआ।[४]

इससे निष्कर्ष यह निकला कि ढोला का पति अथवा नायक-रूप सं. ११९२ तक प्रतिष्ठापित हो चुका था। इससे लोक में 'ढोला-मारू' की प्रणय कहानी के पर्याप्त विख्यात होने का संकेत भी मिलता है। कारण कि विख्यात पात्र ही आगे चल कर नायक-नायिका के रूप में रूढ़ बनते हैं यथा राम और सीता, कृष्ण और राधा का आदर्श पति-पत्नि रूप में लोक और शिष्ट साहित्य में प्रतिष्ठापन।

'बीसलदेव रासो' के आधार पर भी 'ढोलामारू' की प्रणय-गाथा के पर्याप्त प्राचीन और लोक-विश्रुत होने का प्रमाण-सूत्र मिलता है। 'बीसलदेव रासो' की राजमती का कथन है—

जनम मांगिउ स्वामी मारूकइ देसि।
....

१. दउढ़ वरस री मारूवी, त्रिहुं वरसाँरउ कंत। ९२॥
२. सिद्धहेम : संपा० श्री बूच व श्री ज. का. पटेल : ८-अध्याय।
३. सिद्धहेम : संपा० श्री बूच व श्री ज. का. पटेल : प्रास्ताविक : पृ० ४।
४. काव्यानुशासन : द्वितीय खण्ड : भूमिका : श्री रसिकलाल पारीख : C XXXIII।

अहरि प्रवालीय नइ दाड़िम दंति ।। ३४ ।।[1]

यहाँ राजमती मारू के देश में जन्म धारण करने की इच्छा व्यक्त करती है ।[2] 'वीसलदेव रास' का निर्माण १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अवश्य हो चुका था ऐसा डॉ० माताप्रसाद गुप्त मानते हैं ।[3] अन्य विद्वानों—डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (सं. १२७२),[4] श्री सत्यजीवन वर्मा (सं. १२१२)[5] तथा डॉ० तारकनाथ अग्रवाल (सं. ११०० से १३०० के बीच) का भी ऐसा ही मत है । इस उदाहरण में भी यही ध्वनित होता है कि 'ढोला-मारू' की कथा उस समय तक पर्याप्त विख्यात हो चुकी थी ।

१२ वीं शती तक का समय प्रयोग-प्रचलन के कारण अपभ्रंश युग ही माना जाता है । इस समय तक की प्रमुख साहित्यिक भाषा अपभ्रंश ही थी, परन्तु अनेक जन-भाषाएँ भी इस समय तक पर्याप्त विकसित हो चुकी थी । इतना ही नहीं तत्का-लीन लोकभाषाओं में साहित्य-सृजन भी होता था । उस युग भी एक अति प्रचलित प्रवृत्ति प्रेम की थी । प्रेमी-युगलों को लेकर अनेक पद्य रचे गये ।

मुंज और मृणाल, दुर्लभ और दुर्लभदेवी आदि प्रेमी-युगलों से सम्बन्धित दोहे उद्धरण-रूप में सिद्ध हेम शब्दानुशासन (हेमचंद्र),[7] कुमार पाल प्रतिबोध (सोमप्रभ सूरि),[8] प्रबन्ध चिन्तामणि (आचार्य मेरुतुंग)[9] आदि ग्रन्थों में सुरक्षित हैं । संभव है, उस समय 'ढोलामारू' के प्रेम को लेकर भी कुछ दोहों की सृष्टि हुई हो और वे इनमें सम्मिलित हों । उस समय के उपलब्ध लघु प्रबन्ध-काव्य संदेश-रासक (अब्दुर्रहमान) और वीसलदेव रास आदि में भी प्रेमाभिव्यक्ति (वह भी विप्रलम्भ संदेश प्रधान) ही प्रधान है । 'ढोलामारू' की आत्मा भी विप्रलम्भ संदेश

---

१. वीसलदेव रास : संपा० डॉ० माता प्रसाद गुप्त : पृ० ८४ ।
२. इसका अर्थ अनेक व्याख्याओं में इस प्रकार किया गया है—"मैंने अपना जन्म मारवाड़ के देश में मांगा ।" मेरी इस व्याख्या से विनम्र असहमति है । वस्तुतः 'मैंने अपना जन्म मारू के देश में मांगा'—ही अर्थ यहाँ संगत एवं समीचीन है। व्यवहार की दृष्टि से भी वाक्य यही कहा जायगा कि मैंने मारवाड़ देश में जन्म मांगा, न कि मैंने मारवाड़ के देश में जन्म मांगा ।
३. वीसलदेव रास : पृ० ५५ ।
४. ओझा निबंध संग्रह : द्वितीय भाग : पृ० १५३ ।
५. स्वसंपादित वीसलदेव रासो : पृ० ७ ।
६. यद्यपि डॉ० अग्रवाल इसके (वीसलदेव रासो) निर्माण-काल का निर्णय खतरे से खाली नहीं समझते (स्व संपादित वीसलदेव रासो : पृ० ५६) ; परन्तु इसकी भाषा सं. ११०० से १३०० के मध्य की अवश्य मानते हैं (वही : पृ० ६५) ।
७. रचना सं. ११९२ के लगभग ।
८. रचना-काल आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, रविवार, सं. १२४१, अनहिलपट्टन में ।
९. रचना-समय सं. १३६१ ।

प्रधान ही है। इससे उस काल में इसके रचित होने का स्पष्ट प्रमाण तो नहीं मिलता; परन्तु इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि 'ढोलामारू' में उस युग के विरह काव्यों की विशिष्ट विप्रलम्भ प्रेम-प्रवृत्ति परिलक्षित है। कल्पना की जा सकती है कि तत्कालीन लोक मरू भाषा[१] में किसी कवि ने मारू के विरह को लेकर संदेश काव्य की सृष्टि की हो जो अपनी मर्मस्पर्शी भावना के कारण अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। लिपिवद्ध हुआ होगा भी तो वह नष्ट हो चुका होगा और कहीं अवशेष रूप में सुरक्षित भी होगा तो प्रकाश में आने की उसे प्रतीक्षा ही है। उस समय का अधिकांश साहित्य विशेषत: लोकोन्मुखी साहित्य तो काल-कवलित हो चुका है और जो शेष है वह भी अद्यावधि अप्रकाशित है। 'ढोलामारू' का मूल रूप सन्देश काव्य होने की प्रवल संभावना भी व्यक्त की गयी है।[२] डॉ० नामवर सिंह ने तो इसे स्पष्ट 'मूलत: विरह गीत' माना है।[३]

अत: 'ढोलामारू' के प्राचीन ऐतिहासिक नायक-नायिका होने, उनकी प्रणय-कथा के विश्रुत होने, तत्कालीन साहित्य में प्रेमाभिव्यक्ति की प्रधान प्रवृत्ति होने तथा अन्य अनेक कारणों से ११ वीं १२-वीं शती में इसके रचित होने की भी कल्पना की गयी है। श्री सीताराम लालस ने ऐसी कल्पना करते हुए लिखा भी है कि ढोला ऐतिहासिक व्यक्ति था जिसका समय सं. १००० के आसपास माना गया है। अगर ढोला के शासनकाल में ही 'ढोलामारू' की रचना की गई हो तो इसका रचनाकाल सं. १००० के आसपास माना जा सकता है।[४] परन्तु अन्य किसी निश्चित प्रमाण के आधार के विना यह अववारणा काल्पनिक ही है; तथ्यों से अपुष्ट लेकिन प्रवल संभावना से युक्त।

अब रह जाता है केवल भाषा का आधार। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से यदि हम इसका रचनाकाल निर्धारण करना चाहें तो यह तथ्य अवश्य हाथ लगेगा कि इसकी भाषा १५ वीं-१६ वीं शती की ही ठहरती है। इससे पहले की भाषा पर अपभ्रंश-शब्दावली का अधिक प्रभाव था।[५] तो क्या इसकी हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त यह दोहा ही इसका सही रचनाकाल है—

१. ९ वीं शताब्दी में मरू भाषा विकसित थी। उद्योतन सूरि विरचित 'कुवलय-माला कथा' रचना समय सं. ८३५, जालौर, में १८ देशी भाषाओं में मरू भाषा की भी गणना है—अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मारूए तत्तो...... ॥
२. इसी प्रवन्ध के तृतीय परिच्छेद में इस पर विचार किया गया है।
३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० २५३।
४. परम्परा : भाग १२ : पृ० १८९ पर 'प्राचीन राजस्थानी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ' शीर्षक लेख।
५. 'ढोला मारू' की हस्तलिखित प्रतियों के अन्तस्थल में अपभ्रंश की अनेक प्रवृतियों का स्पष्ट न्यूनाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है—संज्ञाओं के अन्त में ड़, ड़ा, ड़ी का प्रयोग, दन्तव्य 'न' के स्थान पर मूर्द्धन्य 'ण' का प्रयोग, 'उ' कार बहुला प्रवृत्ति की विद्यमानता, व्यंजनों के स्थान पर स्वर के स्थापन की प्रवृति, ह्रस्व

पनरहसौ तीसै वरस, कथा कही गुण जांण ।
वदि वैसाखे वार गुरू, तीज जांण सुभ वांण ।।

ढोला के समय को देखते हुए तथा उपरोक्त अन्य कारणों से ऐसा नहीं माना जा सकता कि सर्वप्रथम इस विख्यात प्रेम-गाथा पर सं० १५३० में ही रचना की गयी हो। लेकिन 'ढोलामारू' की भाषा को देखते हुए तो इसे मान्यता देनी ही पड़ेगी । क्या इन दोहों के लिये कुशल लाभ का 'घणा पुराणा' संकेत इस सं. १५३० में रचित दोहा-मयी कथा की ओर ही था ? इस प्रश्न का उत्तर भी ढूंढ निकालना अब सहज नहीं रहा है ।

विभिन्न प्रतियों के अवलोकन-उपरान्त मेरी तो यही धारणा बनती है कि सं. १५३० में किसी कवि ने इस कथा पर काव्य-सृष्टि अवश्य की । दोहों की भाषा सं. १५३० के आसपास की निश्चित ही है-इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता । ये दोहे पहले से चले आ रहे दोहों का भी लिपिबद्ध-रूपान्तर हो सकते हैं । अपभ्रंश युग से चले आ रहे अनेक दोहों का रूपान्तर इस प्रकार देखने में आता है—

अपभ्रंश --	जइआ रावणु जाईयउ, दह मुहु इक्क सरीरू ।
	जणणि वियम्भी चिन्तवइ, कवणु पियावउं खीरू ।।
राजस्थानी --	राजा रावण जलमियो, दस मुख एक सरीर ।
	जणनी ने सांसो भयो, किण मुख घालूं खीर ।।
अपभ्रंश --	वायसु उडावन्तिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
	अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ।।
राजस्थानी --	काग उडावण धण खड़ी, आयो पीव भड़क्क ।
	आधी चूड़ी काग गल, आधी गयी तड़क्क ।।
अपभ्रंश --	पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुण कवणु मुएण ।
	जा वप्पी की भुंहड़ी, चम्पिज्जई अवरेण ।।
राजस्थानी --	बेटा जाया कवण गुण, अवगुण कवण मुएण ।
	जां ऊभा घर आपणी, गंजीजै अवरेण ।।
अपभ्रंश --	जइ भग्गा पारक्कड़ा, तो सहि मुज्झु पिएण ।
	अह भग्गा अम्हहं तण, तो तें मारिअडेण ।।
राजस्थानी --	जो भग्गा पारक्कड़ा, तो सखि मुज्झ पियेण ।
	जो भग्गा अन्हे-तणा, तो तिह जुज्झु पडेण ।।
अपभ्रंश --	नव जल भरिया मग्गडा, गयण धड़क्कइ मेहु ।
	इत्थंतरि जइ आविसिइ, तइ जाणीसिइ नेहु ।।
राजस्थानी --	आज धरा दिस ऊनम्यो, मोटी छांटां मेह ।
	भीजी पाघ पधारस्यो, जद जाणूंली नेह ।।

और दीर्घ का व्यत्यय, अनुस्वार की प्रवृत्ति का निर्वाह, वर्णों का संकोचन, सयुक्त 'र' का लोप आदि । इसकी भाषा पर पंचम परिच्छेद में प्रकाश डाला गया है ।

यदि हेमचन्द्र, सोमप्रभ, मेरुतुंग, सिद्धपाल आदि की रचनाओं में प्राप्त उस समय के छन्दों का अध्ययन किया जाय तो अनेक छन्दों का रूपान्तर 'ढोलामारू' के छन्दों में भी न्यूनाधिक उपलब्ध हो जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ढोलामारू रा दूहा' का वर्तमान प्राप्यस्वरूप संवत् १५३० का ही है, जिसके अंश मूल रचना के रूपान्तर, पाठान्तर या परिवर्द्धित आकार के कहे जा सकते हैं। अंतिम रूप से रचनाकाल पर यही अनुमान तर्काश्रित लगता है, वैसे इस काव्य की अति प्राचीन प्रति की प्राप्ति के पश्चात् ही रचनाकाल की निश्चित-तिथि का निर्णय हो सकेगा।

(उ) लोक-प्रियता :

प्रेम काव्यों की अन्यतम विशिष्टता है उनकी अत्यधिक सर्वप्रियता। प्रेम की शाश्वत भावना का हर हृदय के साथ अटूट सम्बन्ध जुड़ा है और इस कारण इसी प्रणय-भावना को अपने कलेवर में संजोये हुए ये प्रेम-काव्य अपनी अजस्र संवेदना-शक्ति के कारण सार्वकालिक बन जाते हैं। अमरता के घुंघरू पहन कर लास्य करते हुए इन काव्यों को न देश की सीमाएँ ही आबद्ध रख पाती हैं और न काल की अवधि ही इन्हें धूमिल बना सकने में समर्थ है।

'ढोला-मारू' की प्रणय-गाथा भी राजस्थान में अन्यतम लोकप्रिय हुई। इसका यहाँ के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं कला-जगत् में महत्वपूर्ण स्थान है। इन क्षेत्रों में 'ढोलामारू' के प्रति लोक-मानस के अटूट श्रद्धा-भाव की व्यापक विवृत्ति विद्यमान है।

'ढोला-मारू' की प्रणय-गाथा साहित्य में अनुकरणीय वर्ण्य-विषय रही है। इस कालजयी कमनीय कथा का दोहा, चौपाई, वात, गीत, पद, सज्झाय आदि विविध-काव्य रूपों में सर्जन हुआ है। इन रूपों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ साहित्य के क्षेत्र में इसकी अप्रतिम लोकप्रियता की साक्षी दे रही हैं। राजस्थान में कदाचित् ही कोई ऐसा ग्रंथागार होगा जिसमें यह स्वतंत्र, खण्डित या गुटके में पूर्ण अथवा आंशिक रूप से प्राप्त न हो। यूरोप तक के संग्रहालयों में इसकी प्रतियाँ यहाँ से पहुँची हैं। राजस्थान में इस 'वात' की अन्यतम लोकप्रियता ऐसी प्रशस्तियों में स्वरित है—

> सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री वात।
> जोबन छाई धण भली, तारां छाई रात।।

'ढोला-मारू' काव्य को राजस्थानी दोहामयी प्रेमगाथाओं का प्रवर्त्तक कहना असंगत नहीं होगा। इसके प्रादुर्भाव से एक सुदीर्घ प्रेम-काव्य-परम्परा का सूत्रपात हुआ। ज्ञात-अज्ञात परवर्ती रचनाकारों ने इस काव्य के विषय, भाव, भाषा एवं रूप-शिल्प का अनुकरण किया। जेठवा-ऊजली, रतन-राणा, बाघा-भारमली, नागजी-नागमती, हमीर-गुहली, खींवजी-आभल दे, निहालदे-सुलतान, सेणी-बीजाणद, जमाल-सुन्दर, जलाल-बूबना, उमा-अचलदास, काछबो-लांछा, मूमल-महेन्दरा, रतना-

हमीर, पन्ना-वीरमदे, आसा-डाभी; भेडर; सूहप, सोरठ, सामेरी आदि पद्य और गद्य की सहस्रों उल्लेखनीय कृतियों की एक लम्बी सूचनिका दी जा सकती है, जिनकी संरचना पर इसका प्रभाव स्पष्टतः लक्षित है। इन समस्त प्रेमी-युगल-कथाओं में विप्रलम्भ शृंगार की मार्मिकता व्यंजित है और इनके रूप-शिल्प पर 'ढोला-मारू' का न्यूनाधिक प्रभाव है।

'ढोला-मारू' राजस्थान तक ही सीमित नहीं रहा, अन्य निकट-दूर क्षेत्रों का मानस भी इससे आकर्षित हुआ। फलतः इससे प्रभावित-आकर्षित होकर कालान्तर में उन क्षेत्रों में भी इस कथा को लेकर अनेक रचनाओं का प्रणयन हुआ। सिंधी, पंजाबी, हरियानवी, व्रज, अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, मैथिली, मालवी, निमाड़ी, गुजराती आदि प्रान्तीय क्षेत्रों और बोलियों में लिखित-अलिखित, ज्ञात-अज्ञात, प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य 'ढोला-मारू' को लेकर रचा गया है।

कहानी और लोक-नाटक सामान्य-जन के मनोविनोद और मनोरंजन का प्रमुख साधन होते हैं। रात्रि-गोष्ठियों में 'ढोला-मारू' की 'बात' बड़े ही चाव से सुनी जाती है। लूणपाल मेहडू, महादान मेहडू आदि कहानीकारों की 'बातें' प्राप्त होती हैं। लोक-नाटकों में लोकरंजन का स्वरूप साधारण जनता को अधिक रुचिकर एवं ग्राह्य होता है। 'ढोला-मारू' जन नाटकों के रूप में भी अत्यन्त प्रतिष्ठित और विकसित हुआ है। राजस्थानी में चिड़ावा के नानूलाल राणा और कुचामन निवासी लच्छीराम कृत 'ढोला-मरवण' का 'ख्याल' एवं 'तमाशा' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उत्तर की ओर साँगीत परम्परा में टोडरमल कृत नलचरितामृत अर्थात् ढोला-मारू, मीर दाद चौधरी विरचित सांगीत ढोला-मारू का पूरा बातसवीर, नवल सिंह प्रधान कृत ढोला, छेदी लाल करकोली का नल चरित्र ढोला, गजाधर सिंह भूदेव का ढोला राह चिकाड़े में, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा से प्रकाशित ख्याल ढोला मरूवन आदि भी पर्याप्त लोक-प्रसिद्ध हैं। मालवा की तरफ बालमुकुन्द का ढोला मारूणी,[1] कालू राम उस्ताद कृत ढोला सुलतानी[2] आदि लोक-नाटक विख्यात हैं। भोजपुरी के सुदूर क्षेत्र तक में राजा ढोलन सिंह के हस्तलिखित[3] संग्रह तो प्राप्त हैं ही; महादेव प्रसाद सिंह विरचित राजा ढोलन का गीत आदि भी बहुत प्रख्यात हैं। गुजराती-क्षेत्र में किस्से-कहानियों, जन-नाटकों आदि के रूप में शांति ना० शाह कृत ढोला-मारू, मंगत दास जोइतराम कृत ढोला मारूनी वार्ता आदि पुस्तकें बहुत प्रचलित हैं। फिल्मों का अधिक प्रचलन होने पर भी इनकी सरसता कम नहीं हुई है। 'ढोला-मारू' का यह किस्सा-कहानी लोक-संगीत, लोक नाटक रूप प्रकाशित होकर बाजारों, मेलों आदि में बहुतायत से बिकता हुआ देखा जा सकता है। साथ ही इसका ग्रामीण-क्षेत्रों में मौखिक प्रचार भी अधिकाधिक है।

---

१. मालवी और उसका साहित्य : श्याम परमार : पृ० ४१।

२. मालवी लोकगीत : एक विवेचनात्मक अध्ययन : डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय : पृ० ४४४।

३. लोकगाथा परिचय : संपा आचार्य नलिन विलोचन शर्मा।

सहस्त्रों वर्षों की अवधि के व्यतीत हो जाने पर भी यह आज तक लोक एवं शिष्ट समुदायों द्वारा समान रूप से आदृत है।

इस बौद्धिकता प्रधान युगीन साहित्य में भी 'ढोला-मारू' साहित्यकारों एवं आलोचकों को प्रिय रहा है। श्री अनन्त चौरसिया ने 'ढोला-मारू' को आधुनिक कहानी का विषय बनाया है।[१] डॉ० मनोहर शर्मा ने "मरवण" नायक गीतिकाव्य में इसकी अनूठी भाव-सुषमा व्यंजित की है। डॉ० मनोहर शर्मा का 'मरवण' पर एक सुन्दर निबन्ध भी निकला है।[२] प्रसिद्ध गीतकार श्री भरत व्यास ने 'ढोला मारवण' नामक नाटक भी रचा है। 'ढोला-मारू' की कथा फिल्मायी भी चुकी है।

इसके व्यवस्थित संपादक एवं प्रकाश में आने के पश्चात् इस पर अनेक स्वतन्त्र अध्ययन भी हुए हैं। अनेक विद्वानों के स्फुट लेखों में भी इस पर विचार व्यक्त हुए हैं। अपने शोध के विषय-चयन के मूल में इसकी लोकप्रियता भी एक प्रमुख कारण रही है। इसके काव्य-सौष्ठव से प्रभावित हो इसे उदयपुर, जयपुर, जोधपुर आदि विश्वविद्यालयों के हिन्दी स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला है। डॉ० शार्लोत वॉदविल द्वारा इसका फ्रेंच भाषा में अनुवाद इसकी अभिनन्द्य लोकप्रियता का सूचक है।

साहित्य-क्षेत्र में ही नहीं, 'ढोलामारू' राजस्थानी संस्कृति का भी अभिन्न अंग है। आदर्श दम्पति के रूप में समाज में इनकी प्रतिष्ठा की गयी। राजस्थानी गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्धित हर पर्व-उत्सव और उस अवसर पर गाये जाने वाले हर गीत में राजस्थानी रमणियों ने ढोला और मारू का आदर्श और अनुकरणीय पति-पत्नि के पर्याय में प्रयोग किया है। हर विवाहित व्यक्ति 'ढोला' सम्बोधन से सम्बोधित हुआ है और ऐसा उदाहरण भी नहीं मिलेगा कि कोई नारी 'मारू' विशेषण से विभूषित न हुई हो।

कालान्तर में 'ढोला-मारू' साहित्य एवं लोक दोनों में आदर्श पति-पत्नि के रूप में रूढ़ होकर अगणित वार प्रयुक्त हुए हैं। कुरजां, पणिहारी, गांघण, पोदीनो, पीपली मेंहदी, मेवासी ढोला, निहालदे-सोढा आदि राजस्थान के प्रसिद्ध लोक-गीतों में 'ढोला-मारू' का इसी स्वरूप में चित्रण है। कुछ उद्धरण देना असंगत नहीं होगा—

(१) ढोला झबझब जोवूं बाटड़ी
कोई डवडव भरिया नैण सरदारां
साथै म्हाने लेता चालोजी
घर जावो गांघण आपणे।—गांघण

(२) आंबे तो बोली कोयली जी ढोला
बिन बादल बिन बीजली जी
हो मेवासी ढोला, हो धनवारो ढोला,
बेगा पधारो जी म्हारे पामणां।—मेवासी ढोला

---

१. मधुमती : ३-३ : पृ० २।
२. मरुवाणी : ७-८ : पृ० ५-७।

(३) अंग में नहीं मावे कांचली जी, ढोला हिवड़े नहीं मावे,
हिवड़े नहीं मावे हार, हो जी ढोला ।
अब घर आजा गोरी रा बालमा ओ जी ।।५।।—निहालदे-ढोला

(४) रोकड़ रुपयो भंवर जी मैं वणू जी
हां जी ढोला ! वण ज्याऊँ पीली पीली म्होर ।
भीड़ पड़े जद भँवर जी वरत ल्योजी ।
ओ जी म्हारी सैजां रा सिणगार
पियाजी ! प्यारी ने सागै ले चालोजी ।।५।।—पीपली

दाम्पत्य एव गार्हस्थ्य से सम्बद्ध हर लोकगीत से ऐसे उदाहरण रखे जा सकते हैं। ढोला और मारू को लेकर बालकों का नामकरण तक हुआ है। सिवाना के परमार-वंशीय राणा सजन के पुत्र रावल के वंश में मारू नामक उसके पुत्र का उल्लेख है।[1] आमेर-नरेश मलय सिंह (सं. ११५१-सं. ११०३) के ३२ पुत्रों में एक ढोला जी भी हुए जो निःसंतान गये।[2] इन्हें म्हार की जागीर मिली थी।[3] 'ढोला' नामक एक ग्राम भी है जो ज़िला पाली (राजस्थान) में है।

राजस्थान के वालक-बालिकाओं में दुल्ला-डुल्ली (गुड्डा-गुड्डी) का खेल अत्यन्त प्रिय है। यह खेल भी 'ढोला मारू' की कथा का ही एक रूपान्तर है। इस क्रीड़ा रूप में प्रचलित होकर वाल्यावस्था में ही यह आदर्श प्रणय-भावना का पाठ उन्हें पढ़ाता हो।

होली आदि त्योहारों पर 'ढोला मारू' की सवारी का भी कुछ क्षेत्रों में आयोजन किया जाता है, यद्यपि यह आयोजन वर्तमान समय में विकृत है।

'ढोला-मारू' विभिन्न कलाओं का भी प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। राजस्थानी चित्र-कला की विभिन्न शैलियों में 'ढोला-मारू' स्फुट चित्रों और चित्र-मालाओं में उतारा गया है जो व्यक्तिगत एवं राजकीय संग्रहालयों की शोभा एवं निधि है और पुष्कल परिमाण में उपलब्ध है। 'प्रेम इस कला (राजस्थानी चित्रकला) का मूल मन्त्र है।'[4] राजस्थानी शृंगार-सुमेरु 'ढोला मारू' फिर इन चित्रकारों की तूलिका से विलग कैसे रह पाता ? 'ढोला मारू' की रसस्यंदिनी कथा ने इन रंगों के जादूगरों को आकर्षित किया। इन चित्रों में मारू की ललित देहयष्टि, सुकुमार रूपमाधुरी और लावण्य चटकीले रंगों में भाव प्रकाशन की अपूर्व क्षमता लिये निखर उठा है। रेखा, वर्ण और भाव की यह समन्वित सजीव चित्रात्मक अभिव्यक्ति अभूतपूर्व है। 'भावों का अपूर्व मेघजल वरसाने वाली'[5] राजस्थानी चित्रकला इसके कारण विश्व की महान्

१. नैणसी की ख्यात : प्रथम भाग : सपा० रामनारायण दूगड़ : पृ० २५६।
२. पुस्तकांक ८३ : ऐतिहासिक नोट्स : पु. वि., बीकानेर।
३. ,, ८३ : ,, : ,, ,, ।
४. राजस्थानी साहित्य और संस्कृति : संपा० श्री मनोहर प्रभाकर : पृ० १२१ पर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन।
५. राजस्थानी साहित्य और संस्कृति : संपा० श्री मनोहर प्रभाकर : पृ० १२४ पर श्री कुमार स्वामी का कथन।

चित्र शैलियों में स्थान पाने की अधिकारिणी वन गयी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में 'ढोला मारू' सचित्र लिपिबद्ध हुआ है। अब भी विवाह इत्यादि मांगलिक अवसरों पर 'ढोला मारू' के चित्र दीवारों पर बनाए जाते हैं। 'ढोला मारू' के अनेक चित्र कला से सम्बद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं एवं संग्रहालयों के सूची पत्रों और अनेकों पुस्तकों के मुख पृष्ठ की शोभा भी बने हैं।

'ढोला मारू' चित्रकारों की तूलिका तक ही पूजित नहीं रहा, वह मूर्ति-कला की भी शोभा बना। अनेक मूर्तिकारों ने इस प्रेमी-युगल की प्रस्तर-प्रतिमाओं का निर्माण कर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा की है। मुझे अपने शोध-कार्य में इसकी भरतपुर, साँगानेर, आमेर, रैणी आदि स्थानों पर अनेक सुन्दर मूर्तियाँ देखने में आईं। इनमें रेणी (कल्याण जी का मंदिर) की मूर्ति पर सं. १६५२ का लेख भी है।

संगीतज्ञ-समाज का भी 'ढोला मारू' कण्ठहार बना रहा है। राजस्थान में ढोली व ढाढ़ी मारू राग की मधुर स्वर-लहरी में इनके दोहे गाते हैं। 'ढोला मारू' गाने में ये ढोली-ढाढ़ी अपनी सानी नहीं रखते। ब्रज, मालवा आदि क्षेत्रों के लोक-संगीत का भी 'ढोला मारू' अविभाज्य अंग है। निपुणता से ढोला गाने वाले कम मिलते हैं। इन्हें ढुलैया कहते हैं। इसे ढोलक और मजीरे के साथ वर्षा ऋतु में चिकाड़े (चिकारा अथवा सारंगी की आकृति का एक छोटा तन्तु-वाद्य) पर गाते हैं। 'सुरैया' नामक दूसरा गायक बीच-बीच में प्रमुख गायक को विश्राम देने के लिये सुर भरता है।[१] सिंध की ओर यह कथा 'मारवी ऊमर' संज्ञा से किंचित् परिवर्तन के साथ गायी जाती है।[२]

इस प्रकार साहित्य, संस्कृति और कला के क्षेत्र में इसकी लोकप्रियता की कोई सीमा नहीं रही है। अपनी मधुरता, सरसता एवं भाव-प्रवणता से जहाँ यह प्रेमीयुगल काव्य-रसिकों को उल्लसित करता रहा, वहाँ समाज ने इन्हें आदर्श दम्पत्ति के रूप में समादृत कर गले लगाया। पौराणिक युगलों को छोड़ कर अन्य कोई युगल ऐसा आहृत नहीं हुआ जिसकी प्रतिच्छाया सांस्कृतिक क्षेत्र में ऐसे अपूर्व रूप में उपस्थित हो। संगीत, चित्र, मूर्ति आदि कलाओं का भी 'ढोला मारू' से अभिषेक किया गया है। मानवीय भाव-दशाओं का अनूठा सन्निवेश, यथातथ्य चित्रण, आदर्श की प्रतिष्ठा आदि से साहित्य, समाज और कला-क्षेत्र के हर हृदय के साथ इसका अनायास ही तादात्म्य स्थापित हो गया। इसकी अनन्य लोकप्रियता के मूल में यही भाव-भूमि है। साधारण झोंपड़ी से राजमहलों तक इसने अनपढ़ एवं सामान्य व्यक्ति से लेकर साक्षर और अभिजात—हर वर्ग के समाज को समान रूप से रिझाया है।



---

१. हिन्दी साहित्य कोष : भाग १ : संपा० श्री धीरेन्द्र वर्मा आदि : पृ० ३१६।
२. बाँकीदास री ख्यात : संपा० श्री नरोत्तम दास स्वामी : पृ० २१०।

द्वितीय परिच्छेद

कथा एवं पात्र

द्वितीय परिच्छेद : कथा एवं पात्र

(अ) कथा-सार :

'ढोला-मारू रा दूहा' का प्रेम-कथानक संक्षेप में निम्न-लिखित है:—

किसी समय पूगल् (बीकानेर के समीप) में राव पिंगल् और नरवर (ग्वालियर के समीप) में राजा नल का राज्य था। पूगल् देश में अकाल पड़ा जिससे त्राण पाने के लिये पिंगल राव ने नल राजा के देश लिये 'ऊचाल्' किया। राजा नल ने पिंगल का राज्योचित मान-सम्मान एवं आदर-सत्कार किया।

राजा नल के ढोला (इतर नाम साल्हकुमार) नामक एक अनुपम राजकुमार था। राव पिंगल की रानी ढोला की रूप-राशि पर रीझ उठी। अपनी पद्मिनी कन्या मारू के लिए अनुरूप सुयोग्य वर देखकर उसने राव पिंगल से ढोला एवं मारू के विवाह का प्रस्ताव किया। पिंगल ने विपद्काल में कन्या के विवाह करने पर लोकोपवाद से भय खाने की बात कही; पर अन्ततः पिंगल पटरानी की ही बात रही। ढोला (आयु ३ वर्ष) और मारवणी (आयु १॥ वर्ष) विवाह-सूत्र में बाँध दिये गये।

देश में सुकाल आया और उसके शुभागमन के साथ ही पिंगल भी पूगल् लौट आया। मारवणी अभी सुकुमार बालिका ही थी; अतः उसकी अबोधावस्था देखते हुए उसे ससुराल नहीं छोड़ा गया। पिंगल अपने साथ ही उसे ले आया।

समय बीता। मारवणी वयस्का हुई। उसके तन और मन में तारूण्य का तेज फूटने लगा। यौवन की ऐसी अवस्था में सेज पर सोयी हुई मारू ने स्वप्न में साल्ह कुमार का दर्शन किया। स्वप्न-मिलन के पश्चात् नींद उचट जाने पर वह प्रियवियुक्ता निःश्वास भरने लगी। स्वप्न हृदय का चैन छीन ले गया। हृदय की वीणा पर स्वप्न की अँगुलियाँ फिरते ही स्नेह के स्वर बजने लगे। स्वप्न ने उसके तन और मन को कचोट दिया।

मारू की इस विरहावस्था का भान उसकी सहेलियों को हुआ। पूछने पर मारू ने स्वप्न में उस मनोज-मूर्ति से मिलने की बात अन्ततः सखियों पर प्रगट कर ही दी। सहेलियों से अपने विवाहिता होने तथा अपने पति का इस तरह ज्ञान हुआ, तो कामोद्रेक के फलस्वरूप उसे साल्हकुमार का विरह सालने लगा। सूर्य-वियुक्ता कमलिनी सदृश उदास मारू की दशा को उसकी मनभावनी सखियों ने उसकी माता के पास पहुँचा दिया। माँ ने भी मारू की हँसती हुई आँखों में उदासी की रेखा देखी। रानी ने राजा पिंगल को मारू की मनोव्यथा से परिचित कराया और साल्हकुमार को लिवा लाने का आग्रह किया। ढोला को लाने के प्रयत्न प्रारंभ हुए, परन्तु समय व्यतीत होता ही रहा और कोई भी प्रेषित संदेश-वाहक लौटा नहीं।

ऐसे समय में एक दिन एक घोड़ों का सौदागर पूगल आया और पिंगल से मिला। संयोगवशात् एक दिन सन्ध्या के समय सौदागर की दृष्टि सौन्दर्य-सुषमा से अभिमंडित, क्षीण-लंकिनी, कुरंग-नैत्री एवं कांचन-देहयष्टि वाली मारू पर पड़ी। खवास का विश्वास लेकर उस सौदागर ने इस सौन्दर्य-स्वामिनी के बारे में पूछा जिसके प्रत्युत्तर में खवास ने ढोला एव मारवणी के पाणिग्रहण का वृत्तान्त कह सुनाया। सौदागर ने राजा पिंगल से साल्हकुमार से अपनी भेंट एवं उसके इन्द्र के समान सर्वथा अनुपम स्वरूप, उसकी दानवीरता एवं उसके शौर्य का वर्णन किया। साथ ही यह भी रहस्योद्घाटन किया कि ढोला मालवगढ़ के राजा की सुन्दर पद्मिनी कन्या मालवणी के प्रगाढ़ प्रेम में अनुरक्त है। ढोला को मारवणी का संन्देश न मिल जाय इसलिये जो कोई भी पूगल से आता है, मालवणी उसे मरवा डालती है। ढोला से मारवणी के छिपी रहने का रहस्य मालवणी ही है।

अपनी समवयस्का सखियों के साथ मन्दिर जाती हुई मारवणी ने भी अपने प्रियतम की चर्चा सुनी। उसका मन संतप्त हो उठा। उसकी व्यथा और वेदना आँसू वनकर ढुलक पड़ी।

गम्भीर विचार-विमर्श के पश्चात् राजा-रानी ने ढाढ़ियों (एक याचक जाति) को नरवर भेजने का संकल्प किया। याचकों के इस प्रकार जाने का समाचार सुनकर मारू ने उन्हें अपने समीप बुलवाया और उनसे ढोला को अपना प्रेम-संदेश प्रेपित करने को कहा। मारू ने इस सन्देश में अपनी सारी विरह-वेदना उँडेल दी। सुध न लेने के लिये ढोला को उपालम्भ पर उपालम्भ दिये।

ढाढ़ी मालवणी के पहरेदारों से येन-केन-प्रकारेण वचकर नरवर पहुँचे। राजमहल के निकट उन्होंने आश्रय लिया। झिरमिर-झिरमिर हल्की-हल्की पड़ती हुई मेह की फुहारों से भीगी ठंडी रात्रि में ढाढ़ियों ने मल्हार राग में पाषाण को भी पिघला देने वाला मारू-संदेश गाया। मन्थर पवन के पंखों पर चले आते हुए विरह-सन्देश को ढोला ने सुना। व्याकुलता से सारी रात आँखों में ही कटी। प्रातः काल ढोला ने याचकों को बुलाकर पूछा। याचकों ने ढोला से उस मनोज्ञ मुख वाली, मराल-चोला, कोमल व दीर्घ केश-कलाप वाली एवं दीप्तवर्णी धन्या मारू को लिवा लाने का आग्रह किया। समस्त वृत्तान्त सुन लेने के पश्चात् ढोला मारू से मिलने हेतु अत्यन्त व्यग्र हो उठा।

सन्ध्या समय सोलह-शृंगार से सुसज्जित मालवणी प्रियतम के पास आई। मालवणी की आँखों से ढोला की उद्विग्न मनोदशा अ-जानी न रह सकी। कारण पूछने पर ढोला ने टालमटोल तो की, पर अन्ततः मारू को लिवा लाने का अपना मन्तव्य प्रकट कर ही दिया। मालवणी को मानो काठ मार गया। अप्रत्याशित एवं आगत विरह के वज्राघात से वह मूर्छित हो गयी। होश में आने पर उसने अत्यन्त कातर विलाप किया। उसने ग्रीष्म की भयानक तप्तता का, वर्षा की कीचड़ का एवं शीत की कठोरता का स्मरण दिलाकर ढोला को दो वर्ष पर्यन्त रोके रखा।

ढोला के धैर्य ने अन्ततः प्रतीक्षा करते-करते उत्तर दे दिया। ढोला के ऐसे दृढ-

निश्चय को देख मालवणी ने भी उसे राह दी। परन्तु निश्चय यह हुआ कि ढोला मालवणी को सुप्तावस्था में ही छोड़कर प्रस्थान करे। पन्द्रह दिनों तक मालवणी सोयी नहीं। आँखों में सजगता का दीप जलाए रखा। सोलहवें दिन प्रकृति से संघर्ष करते-करते वह हार गयी। उसे झपकी आगयी और उधर ढोला ने उसे सोयी हुई जान कर ऊँट पर आसीन हो पूगल की राह ली। ऊँट की आवाज़ से मालवणी जग पड़ी परन्तु तब तक ढोला बहुत दूर निकल गया था। मालवणी का करूण-क्रन्दन वहीं हवा में गूंजकर शान्त हो गया। मालवणी ने एक तोते को भी पीछे से ढोला के पास भेजा पर वह भी निराश खाली हाथ ही लौटा। ढोला पूगल की ओर बढ़ता ही गया।

मार्ग में ढोला को एक रैवारी एवं मारू पर ही अनुरक्त ऊमर-सूमरा का सिखाया हुआ एक चारण मिला। दोनों ने ढोला को मारू सम्बन्धी भ्रामक सूचनाएँ दीं। ढोला उदास हो गया। ऐसे मानसिक झंझावात के समय उसका वीसू नामक चारण से साक्षात्कार हुआ। वीसू ने ढोला को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। उसने मारू के अन्तर्वाह्य सौन्दर्य की अनुपमता का उसे आभास दिलाया। ढोला आश्वस्त हुआ। उसने वीसू से पूगल जाकर अग्रिम सूचना देने का आग्रह किया।

उधर मारू को फिर मिलन-स्वप्न आया। मिलन के दिन अनायास ही उसके शुभांगों में स्फुरण हुआ। वीसू ने भी इस बीच आकर बधाई दी और कुछ रात्रि व्यतीत होते-होते ढोला भी पूगल आ पहुँचा। ढोला के आगमन से मारू के आनंद एवं उल्लास का वारापार न रहा। उसका हृदय प्रफुल्ल होकर हिमालय के समान विशाल हो गया जो उसके तन रूपी पंजर में समा नहीं रहा था। आँखों में अमृत पैठ गया। सूखी मनोरथ-वल्लरी पल्लवित एवं पुष्पित हो उठी। सारा आँगन महकने लग गया।

शयनार्थ मारवणी के तन रूपी मण्डप को सजाया गया। दोनों का अपूर्व मिलन हुआ। मन मिल गये, तन गड़ गये।

पन्द्रह दिनों तक ढोला अपने ससुराल रहा। तत्पश्चात् राजा पिंगल ने विपुल दहेज देकर ढोला एवं मारू को नरवर के लिये आनंद एवं उत्साह के साथ विदा दी।

चलते चलते मार्ग में रात्रि पड़ने पर ढोला ने पड़ाव डाला। यहाँ एक अप्रत्याशित घटना घटी। मोहन-वल्लरी मारू के मुख से उच्छ्वसित कस्तूरी की सुवास से मोहित हो एक पीणा साँप उसे सुप्तावस्था में पी गया। पौ फटी, दिशाएं पीताभ हुईं; परन्तु उधर ढोला को मारू का शीतल प्राण-रहित शरीर मिला। ढोला का हृदय फट गया। वह अत्यन्त कारूणिक स्वर में विलाप करने लगा। इतना ही नहीं स्वयं अपनी भग्न-आशा लिये मारू के साथ चितारोहण को उद्धत हो गया। संयोग से उस समय एक योगी एवं योगिनी उधर आ निकले। योगिनी मारू को जानती थी। उसके अनुरोध से योगी ने मारू के मृत शरीर पर अभिमन्त्रित जल छिड़का। फलस्वरूप मारू पुनर्जीवित हो गयी। ढोला को अपार हर्ष हुआ मानों अंधियारी निशा में पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित हो गया हो।

ढोला ने मारू को लेकर शीघ्रातिशीघ्र नरवर पहुँचने का उपक्रम किया। परन्तु ढोला के दुर्भाग्य ने अभी तक उसका पीछा नहीं छोड़ा। मारू पर अनुरक्त ढोला के प्रतिद्वन्द्वी ऊमर-सूमरा ने घात लगाकर ढोला-मारू का पीछा किया। ऊमर सूमरा ने ढोला को रुकने और साथ- साथ मद्य पीने के लिये आमंत्रित किया। ढोला उसके कपटाचरण एवं बातों में आ गया। मार्ग में ही गोष्ठी लग गयी। प्याले एक के बाद एक खाली होने लगे। वहाँ मारू गाने वाली एक 'डूमणी' के संकेत से होने वाली अचिन्त्य हानि को समझ गयी। उसने ऊँट को छड़ी मारी। ढोला बिगड़ते ऊँट को संभालने के लिये मारू के निकट गया। मारू ने ढोला को धीरे से ऊमर सूमरा के कुचक्र की समस्त बात समझा दी। दोनों तत्काल ही ऊँट पर चढ़कर फुर्ती से निकल गये। ऊमर सूमरा ने भी घोड़ों पर जीन कसी, उन्हें पीछे दौड़ाया; पर ऊँट बहुत दूर निकल गया। ऊँट की गति के समक्ष उसका कुचक्र विफलता का ही वरण कर सका। अन्त में निराश हो ऊमर सूमरा ने घोड़ों की बाग मोड़ दी।

ढोला सकुशल नरवर पहुँच गया। नारियों ने मंगल गीत गाकर दोनों का स्वागत किया। उत्सव हुए। ढोला अपनी दोनों पत्नियों सहित सानंद सुखोपभोग करने लगा।

एक दिन दोनों सपत्नियों में अपने अपने भू-प्रदेशों को लेकर वाद-विवाद हो गया। ढोला के हस्तक्षेप से अन्ततोगत्वा यह कटु वाद-विवाद समाप्त हुआ। दोनों का मनोमालिन्य मिट गया। ढोला अत्यन्त आमोद-प्रमोद से उनके साथ दाम्पत्य का सुखोपभोग करता हुआ जीवन व्यतीत करने लगा—

आणंद अति, उछाह अति, नरवर मांहे ढोल।
ससनेही सयणां-तणां, कलिमां रहिया बोल॥ ६७४ ॥

(आ) कथा-संगठन :

इतिवृत्त की सुसंगठित आयोजना प्रबन्धत्व के विश्लेषण का प्रथम तत्व है। ढोला और मारू की प्रणय-गाथा ही इस काव्य का आधिकारिक वृत्त है। कथा के आदि, मध्य और अन्त की सुसम्बद्धता और शृंखलाबद्धता ही जीवन्त कथानक की कसौटी है। आलोच्य काव्य का कथानक भी इन तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है—

प्रथम चरण : प्रारम्भ से लेकर ढाढ़ियों के संदेश लेकर नरवर पहुँचने तक ;

द्वितीय चरण : नरवर से ढोला के संयोगार्थ पूगल् पहुँचने तक ;

तृतीय चरण : पूगल् से मारवणी को लेकर ढोला के नरवर पहुँचने तक।

इस काव्य के आधिकारिक इतिवृत्त के उपर्युक्त चरण ही संतुलित कथानक की आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओं के प्रतीक हैं। इस काव्य का कथानक सरल और संक्षिप्त है। कथानक के क्रमिक स्वरूप से सन्तुलित सामन्जस्य और मैत्री का निर्वाह हुआ है। कथानक में कल्पना का सुष्ठु प्रयोग द्रष्टव्य है। इससे कथावस्तु भावों की रंगीनता से सुशोभित है। विरह, सन्देश, नख-शिख आदि प्रसंगों में भावात्मक पक्ष प्रबल होने पर भी कथासूत्र का नैरन्तर्य नहीं टूटा। अतः वह उखड़ी-उखड़ी नहीं

प्रतीत होती। मर्मस्पर्शिता और मनोवैज्ञानिक शैली के आकर्षण से पाठक की जिज्ञासा वृत्ति और औत्सुक्य भी इन प्रसंगों के प्रवाह में बना ही रहता है। कथानक-रूढियों के कौशल से निर्मित कथावस्तु में नाटकीयता भी प्रचुर है जो मानसिक वृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ कथा को अग्रसर भी करती है। सीमित कार्य क्षेत्र और क्रमिक अवस्थाओं के सुन्दर विधान से सम्पूर्ण कथा एक इकाई बन गयी है। कथानक की सुनियोजित संघटना से और असम्बद्ध वर्णन के अभाव से लम्बे भावात्मक प्रसंगों में भी कथा-धारा लुप्त नहीं होती, उसका प्रवाह बना ही रहता है। कथानक में मोड़ भी हैं जिन्होंने कथानक के कलात्मक विकास-क्रम और सुनियोजित शृंखलाबद्धता के साथ-साथ संयम और जीवन्तता को भी उसमें प्रश्रय दिया है और इस तरह भाव-धारा सूत्र-बद्ध हो गयी है। भावात्मक प्रसंगों में भी अनावश्यक विराम की अनुपस्थिति से कथाप्रवाह अनवरूद्ध है।

प्रासंगिक कथाएँ :

१. सौदागर द्वारा ढोला-मालवणी विवाह और संदेशवाहकों को मालवणी द्वारा मार्ग में वध करा देने के रहस्योद्‌घाटन का इतिवृत्त खण्ड;
२. ढोला मारू के मिलन में बाधक मालवणी-ऊँट संवाद, मालवणी का शुक प्रेषण और मालवणी द्वारा मारू देश का निन्दा-वर्णन का खण्ड;
३. ऊमर सूमरा के षड़यन्त्र का प्रसंग;
४. पीवण सर्प द्वारा सुप्त मारू के दंशन और तदनन्तर योगी द्वारा योगिनी के आग्रह-स्वरूप मारू को पुनर्जीवित करने का इतिवृत्त प्रसंग;
५. मारू-सखी संवाद, ढोला-ऊँट संवाद, ढोला-शुक संवाद और गडरिया का वार्त्तालाप तथा ढोला-वीसू का संवादादि वर्णन। इनका अधिकारिक इतिवृत्त में वैचित्र्य-विधान के लिए ही प्रयोग हुआ है।

प्रासंगिक-कथाओं की पोषण प्रक्रिया द्विविध है—

१. नायक के चरित्र को स्पष्ट एवं उदात्त बनाना, और
२. कथा के प्रमुख कार्य को बल प्रदान करना।

ये प्रयोजन सिद्ध भी हुए हैं। कवि ने 'ढोला मारू रा दूहा' के कथानक को सरल एवं आकर्षक बनाने हेतु यथास्थान उपयोगितानुसार उपर्युक्त प्रासंगिक खण्ड-वृत्तों को आधिकारिक इतिवृत्त से सुसंश्लिष्ट किया है। मालवणी का इतिवृत्त खण्ड मारवणी के प्रधान कथानक से विरोध एवं प्रतिद्वन्द्विता से सम्बन्धित होकर संघर्ष के जनक-रूप में उपनिबद्ध हुआ है। सौदागर के अवतरण से कथा में एकदम त्वरा आती है और पाठक विभोर हो जाता है। अंग-वृत्तों को अंगीवृत्त के साथ यथा-वसर उपनिबद्ध करने के शिल्प में कवि प्रवीण है। मालवणी-ऊँट संवाद रसाभिव्यंजना में मालवणी के मोह एवं विक्षिप्तता का सूचक है। कुरझाँ, ऊँट, शुक, जाल आदि के प्रसंग में कवि ने मानवीकरण की आकर्षक छवि को प्रत्यक्ष कराया है। पीवण सर्प द्वारा मारू का दंशन और उसका पुनर्जीवन अतिमानवीय चरित्राराधन हेतु

कथानक में आया है। इसका आधार मरू का प्राकृतिक परिवेश है। मारू को हस्तगत करने हेतु ऊमर सूमरा का सुनियोजित षड़यन्त्र का प्रसंग ढोला-मारू को संघर्ष निरत करने का सुअसवर उपस्थित करता है। अवान्तर इतिवृत्त खण्डों में अन्य अनेक खण्ड कथानक-रूढ़ियों के पालनार्थ यथावश्यकतानुसार प्रयोग किये गये हैं।

(इ) कथा का अन्त :

काव्य-कथानकों के अन्त परिणाम की दृष्टि से द्विवर्गीय हैं—

(१) सुखान्त, (२) दुखान्त।

सुखमय अन्त वह होता है जिसमें काव्य की मुख्य फल सिद्धि सुखद रूप में दर्शायी जाती है। नायक-नायिका के सुखद मिलन में इसकी परिणिति होती है। जहाँ काव्य-कथा का अन्त दुखमय होता है वह दुखान्त कथानक होता है। इसमें नायक-नायिका में से एक अथवा दोनों का प्राणान्त दिखाया जाता है। यहाँ सिद्धि खंडित रहती है।

पाश्चात्य साहित्य की मान्यताओं के अनुसार द्वन्द्व और संघर्षमय कथानक ही वहाँ सफल माना गया है। अतः दुखभरी कथा अर्थात् ट्रेजेडी (Tragedy) वहाँ अधिक मान्य रही है। इसके विपरीत भारतीय कथानकों का अन्त प्रायः मगल-मय मिलता है।[1] यहाँ फल-सिद्धि नायक-नायिका के मधुर-मिलन में घटित होती है।

'ढोल-मारू' का अन्त नायक ढोला और नायिका मारवणी के मधुर मिलन में होता है।[2] इस प्रकार कवि ने मुख्यफल की सुखमय सिद्धि दिखायी है जिसमें भारतीय काव्यों के मंगलमय अन्त की परम्परा के पालन का आग्रह है। लक्ष्य की पूर्ति में भारतीयता की झलक है जो दर्शनीय है—

आणँद अति, उछाह अति, नरवर मांहे ढोल।
ससनेही सयणाँ-तणा, कलिमाँ रहिया बोल॥ ६७४॥

(ई) कथा-वस्तु का प्रकार :

घटनाओं की शृंखला ही किसी कृति के निर्माण का आधार वनती है। आनंदवर्धन ने इसे 'कथा-शरीर' कहा है।[3] भारतीय साहित्याचार्यों ने कथावस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्य में स्थूल कथानक ही उस काव्य की 'वस्तु' कहलाता है। इस कथा-वस्तु के मुख्य रूप से दो प्रकार माने गये हैं—

(१) आधिकारिक, एवं (२) प्रासंगिक।[4]

१. आधिकारिक कथावस्तु :

धनंजय के अनुसार अधिकार का अर्थ होता है फल का स्वामित्व। इस फल

---

१. राजस्थानी प्रेम-कथाओं में अनेक कथाएँ दुखान्त भी मिलेंगी।

२. जिम मधुकर-नइँ केतकी, जिम कौइल सहकार।
मारवणी-मन हरखियउ, तिम ढोलइ भरतार॥ ६७३॥

३. ध्वन्यालोक : ३-१०।

४. साहित्य दर्पण : इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं हरिकल्प्यते। आधिकारिकमेकं स्यात-प्रासंगिक मथापरम। ६-४२।

के स्वामी को अधिकारी कहा जाता है। उससे अभिव्याप्त कथावस्तु को आधिकारिक कथावस्तु कहा जाता है।[१] यह मुख्य कथावस्तु होती है। इसका नायक के जीवन से निकटतम सम्बन्ध होता है। यह कृति के आरंभ से उसके अन्त तक चलती है एवं नायक को फल-भूमि तक पहुँचाती है।

ढोला एवं मारू की प्रणय-कथा ही इस विवेच्य कृति की आधिकारिक-कथा है। ढोला 'मारू की प्राप्ति' रुपी फल का स्वामी होने के कारण इसका अधिकारी है। इस कथा का ढोला एवं मारु के जीवन से ही निकटतम सम्बन्ध है और यह इस काव्य में आरंभ से ही अंत तक चलकर नायक ढोला को फल-भूमि अर्थात् मारु की प्राप्ति तक पहुँचाती है।

२. प्रासंगिक कथा :

इसे आनुसंगिक कथावस्तु भी कहा जाता है।[२] काव्य में ऐसी कुछ गौण कथाओं की आयोजना भी रहती हैं जो विशेष प्रसंगों में आधिका रिक कथा की पोषिका एवं सहायिका होती है। इस प्रकार मुख्य कथावस्तु से ही जिसके स्वार्थ की सिद्धि हो अर्थात् प्रधान वस्तु का वह प्रासगिक साधक इतिवृत्त कथावस्तु कहलाती है।[३]

प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद किये गये हैं—

(क) पताका, (ख) प्रकरी।

क. पताका :

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार प्रासंगिक वृत्त में अधिक दूर तक व्याप्त रहने वाली कथा को पताका कहते हैं।[४] यह वह गौण कथा होती है जो मध्य से प्रारंभ होकर आधिकारिक कथा को गति देती हुई, अपने बल-वेग से पुष्ट करती हुई, नायक के चरित्र को विभिन्न प्रसंगों में प्रकट करती हुई उसको फल की ओर अग्रसर करती है।

मालवणी की कथा पताका कथा है। यह मध्य में प्रारंभ होकर अंत तक व्याप्त रहती है। यह ढोला एवं मारू की कथा को गति देती हुई, उसे पुष्ट करती हुई, ढोला के चरित्र को स्पष्ट करती है एवं उसे फल की ओर अग्रसर करती है।

ख. प्रकरी :

जब कोई प्रासंगिक कथा मध्य में प्रारंभ होकर मध्य में ही विलीन हो जाय तो उसे प्रकरी कहा जाता है।[५] इसकी सत्ता लघु होती है, स्वतन्त्र महत्व नगण्य होता है एवं यह मुख्य कथा के बहुत कम अंश में व्याप्त रहने वाली वह छोटी घटना होती है जो मूल कथा और कभी-कभी पताका को भी गति प्रदान करती है।

१. दशरूपक : १-१२। २. नाट्य शास्त्र : भरत।

३. साहित्य दर्पण : ६ : पृ० १७८।

४. साहित्य दर्पण : व्यापि प्रासंगिकम् वृत्तं पताकेत्यभिधीयते। पृ० १८२।

५. (i) साहित्य दर्पण : प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६-६८ : पृ० १८३।

(i) दशरूपक : १-१३।

प्रस्तुत काव्य में अनेक प्रकरी कथाओं की भी उपस्थिति है । सौदागर की कथा, ढाढ़ियों की कथा, पीणे सर्प की कथा, योगी-योगिनी की कथा, ऊमर सूमरा की कथा इत्यादि प्रकरी कथाएँ हैं । इनसे कथा-सूत्र गतिशील बना है, अग्रसर हुआ है । उसमें नाटकीयता एवं चमत्कार का भी अपूर्व संयोजन इनसे हुआ है ।

इतिवृत्त के स्रोत अथवा आधार की दृष्टि से कथावस्तु के प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र भेद किये गये हैं । ऐतिहासिक कथा प्रख्यात, कवि-कल्पित कथा उत्पाद्य एवं इतिहास और कवि-कल्पना समन्वित कथा मिश्र कहलाती है ।[1] इस दृष्टि से 'ढोला-मारू' की कथा मिश्र स्वरूप की है । 'ढोला-मारू'के पात्र तो ऐतिहासिक हैं, उनका परिणय-सस्कार भी इतिहास सम्मत है; परन्तु अन्य घटनाएं कवि-कल्पना प्रसूत ही हैं ।

दशरुपक-कार ने देव एवं मनुष्य योनि को दृष्टि में रखकर कथा के दिव्य तथा मर्त्य भेद भी किए हैं । दिव्य में देवताओं का वर्णन एवं मर्त्य में साधारण प्राणियों का वर्णन रहता है ।[2] इस दृष्टि से यह कथा 'मर्त्य कथा' हुई ।

कथा के शैली स्वरूप को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने दो प्रकार के कथानकों का उल्लेख किया है—सरल और जटिल ।[3] 'ढोला मारू' का कथानक जटिलता रहित है । सरल भाषा तथा प्रासंगिक कथाओं की न्यूनता से ही यह सहजता और सरलता आई है । जो प्रासंगिक कथाएँ आयी भी हैं उन्होंने सरल कथानक में नाटकीयता और चमत्कार उत्पन्न कर उसे आकर्षक और पाठक-प्रिय ही बनाया है ।

कार्य-व्यापार के सुख-दुखमय अन्त के अनुसार कथा के सुखान्त एवं दुखान्त भेद भी किये गये हैं। 'ढोला मारू' की कथा सुखान्त है । इसमें नायक (ढोला) फलार्जन (मारू की प्राप्ति) में सफल होता है ।

(उ) कथानक-रूढ़ियां :

अनुकरण मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों में से एक है । अनुकरण का नैरन्तर्य एक लीक डाल देता है जिस पर आगे परम्परा चल पड़ती है । क्या साहित्य और और क्या समाज—यह प्रयोग की प्रचुरता एवं अनुकरण की प्रवृत्ति विभिन्न रूढ़ियों की जनक बन जाती है । साहित्य में भी पूर्व परम्परा का पालन एवं घटना-निर्वाह होता है जिन्हें रूढ़ियाँ अथवा अभिप्राय कहा जाता है । कथानक-रूढ़ियाँ कथा से सम्बन्ध रखने वाली रूढ़ियाँ हैं जिनका घटना-संयोजन में अधिक हाथ रहता है । कथा के सुसंयोजन के लिए कृतिकार जहाँ अपने विवरण आदि से संतुष्ट नहीं होता तो वहाँ वह कथानक में विभिन्न प्रकार की रूढ़ियों का प्रयोग कर देता है, जिससे कथा-प्रवाह तो अक्षुण्ण रहता ही है, साथ ही कृतिकार का कार्य भी सरल हो जाता है ।

---

१. दशरूपक : १-१५ ।
२. दशरूपक : धनंजय : १-१६ ।
३. अरस्तू के काव्य सिद्धान्त : सपा० डॉ० नगेन्द्र : पृ० ७५ ।

शिप्ले के शब्दों में अभिप्राय (मोटिफ) छोटे से छोटा और पहचान में आने वाला वह तत्त्व होता है जिसके उपयोग से अपने आप में एक पूर्ण कहानी तैयार हो जाती है।[१] भारतीय कथानकों में विद्यमान ऐसे अभिप्रायों पर वे आगे लिखते हैं कि भारतीय कथाओं में ऐसे अनेक लघु-कथा-व्यंजक प्रतीकों के प्रयोग हुए हैं। कथाओं में प्रयुक्त होने वाले इन प्रतीकों को कथात्मक "मोटिफ" अभिप्राय या कथानक-रूढ़ि कहा जाने लगा है। धीरे-धीरे कथाओं में ऐसे अनेक सजातीय कथात्मक प्रतीकों के संयोग से कथात्मक "टाइप" बन जाते हैं।[२] कीथ के मतानुसार जिस प्रकार परम्परा-प्राप्त अलौकिक विचारों ने अनेक काव्य-सम्बन्धी अभिप्रायों को उत्पन्न किया, उसी प्रकार कथाओं में इससे कुछ अधिक व्यापक विचारों की प्राय: होने वाली आवृत्ति ने भारतीय काल्पनिक कहानियों में अनेक अभिप्रायों को जन्म दिया।[३] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एवं उनके सहयोगियों का विचार है कि प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यान्त्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है, इन सभी रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।[४] लोक-साहित्य के अनन्य शोधक डॉ० सत्येन्द्र ने रूढ़ि को इस प्रकार समझाया है—"रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय जिसे अंग्रेजी में "मोटिफ" कहते हैं, उस शब्द अथवा एक ढाँचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समान परिस्थतियों में अथवा समान मन: स्थिति में और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है।"[५] इस प्रकार किसी अभिजात अथवा लोक-साहित्य की कृति में कथा अथवा कथा का बोध कराने वाला अभिव्यंजक तत्व "कथानक-रूढ़ि" कहलाता है।

दीर्घ काल से ही हमारे देश के लोक एवं शिष्ट कथा-साहित्य में ये रूढ़ियाँ व्यवहृत हुई हैं। इनके मुख्य प्रयोजन निम्नलिखित हो सकते हैं—

(अ) कथा को सरस एवं रोचक बनाना,

(आ) कथा को प्रवाह, त्वरा एवं गतिशीलता प्रदान करना,

(इ) कथा को अभीप्सित मोड़ देना और उसमें इष्ट प्रभावोत्पादन करना,

(ई) कथा में संकेत से ही अधिक कह देना।

इन कथानक-रूढ़ियों को प्रधान रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

---

१. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर : पृ० २४७।

२. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर : पृ० २४८।

३. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर : पृ० ३४३।

४. हिन्दी साहित्य कोश : पृ० १८६।

५. लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ (डॉ० कन्हैयालाल सहल की पुस्तक की भूमिका): पृ० ६।

१. लोक-विश्वास पर आश्रित—इनका आधार निजन्धरी विश्वास और संभावना होता है।

२. कवि-कल्पना पर आश्रित—इनका आधार कवि-कल्पना होता है।

'ढोला-मारू रा दूहा' की सर्जना जहाँ एक ओर लोक-भूमि का आधार लेकर हुई है, वहाँ दूसरी ओर उसका हर 'दूहा' कवि-कल्पना-विलास से वेष्टित सौन्दर्य से प्रभावित है। इस प्रकार इसमें लोक-विश्वास पर आश्रित एवं कवि-कल्पना-प्रसूत दोनों कोटियों की कथानक-रूढ़ियाँ प्राप्त हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है—

क : लोक-विश्वास पर आश्रित :

१. संभावना पर आधारित :

(अ) पशु-पक्षियों का वार्त्तालाप : 'ढोला-मारु' में करहा, शुक आदि का वार्त्तालाप मिलता है। ढोला की करहा से 'मन की वातें' होती हैं। करहा ऐसा वाहन *सिद्ध होता है, जो न केवल ढोला को उसकी प्रियतमा से ही मिलाता है, वरन् मार्ग* में उसका सुख-दुःख का साथी भी है। मालवणी का करहा से निवेदन आत्मीयता का एक सुन्दर उदाहरण वन कर आया है।[1] आगे चलकर मालवणी की शुक से वातचीत भी इसी में अन्तर्भूत की जा सकती है।[2]

(आ) वृक्ष का वार्त्तालाप : संभावना पर आधारित कथानक-रूढ़ियों में 'जाल' वृक्ष का वार्त्तालाप भी सम्मिलित किया जा सकता है। मालवणी द्वारा उसके सहसा लहलहा उठने का कारण जानने पर वह वताता है कि यह आकस्मिक परिवर्तन ढोला के क्षणिक संसर्ग के फल-स्वरूप हुआ।[3]

२. अति मानवीय शक्ति एवं क्रिया-कलाप पर आधारित :

(अ) पुनर्जीवित करना : प्रेमियों में से किसी की मृत्यु दिखा कर पुनः उसे जीवित कराकर सच्चे प्रेमियों में उपलब्ध निष्ठा का दिग्दर्शन किया जाता है। 'ढोला-मारू' के कथानक में भी मारवणी के पीवर्ण साँप से डसे जाने पर योगी-योगिनी का आविर्भाव होता है। योगी द्वारा अभिमंत्रित जल के छिड़के जाने पर मारवणी पुनः जीवित हो उठती है।[4] कल्हण के 'राज-तरंगिणी' जैसे ऐतिहासिक ग्रंथ में भी मृत व्यक्तियों के पुनर्जीवित होने के उदाहरण मिलते हैं। तपस्या, योग, तंत्र, शक्ति-साधना तथा गुह्य-विद्याओं के कारण यह विश्वास लोक-मानस में घर वैठा था।

३. अलौकिक शक्ति पर आधारित :

(अ) अलौकिक शक्ति अथवा दैवी-पात्रों द्वारा कठिन कार्यों के सम्पादन में सहायता : अलौकिक शक्ति अथवा देवी, देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व आदि के आविर्भाव की योजना वनाकर उनके द्वारा नायक-नायिका के कष्टों का निवारण कराया जाता है। 'पद्मावत' में शिव रत्नसेन को सिद्धिगुटिका प्रदान करते हैं।

---

१. दो. सं. ३१६-२६।

२. दो. सं. ३६७।

३. दो. सं. ३६१-६२।

४. दो. सं. ६२१।

'ढोला-मारू' में मन्त्रों की अलौकिक शक्ति से सम्पन्न योगी ढोला की सहायता करता है। ढोला को सच्चा प्रेमी समझ योगी मंत्राभिषिक्त जल छिड़क कर मारू को सचेत कर देता है एवं ढोला पर पड़ी विपत्ति का निवारण कर देता है।[१]

(आ) शाप : शाप देना अथवा उसका भय दिखाना भी काव्यों में रूढ़ि बन कर आया है। मालवणी द्वारा ऊँट को लँगड़ा हो जाने की अनुनय-विनय होती है। ऊँट उस समय प्रत्युत्तर देता है कि अपनी ऊँटनी को मैंने अभी अकेली छोड़ा है, वह विलाप कर रही है (परन्तु क्या करें) यदि मालिक का कहा न मानें तो हे सुन्दरी, शाप के भागी हों।[२]

४. आध्यात्मिक और मनोविज्ञान पर आधारित:

(अ) भविष्य-सूचक स्वप्न : मानव मन की अतृप्त कामनाएँ स्वप्न में साकार रूप धारण कर लेती हैं—स्वप्न का मनोवैज्ञानिक आधार यही है। प्रिय ढोला से मिलने की मनोकामना मारू के मानस में है। ढोला के आगमन के पहले ही रात्रि में मारू को मिलन-सूचक स्वप्न आता है—

जिण दिन ढोलउ आवियउ, तिण अगलूणी रात।
मारू सुहिणऊ लहि कह्यउ, सखियाँ सूं परभात।। ५०१ ।।[३]

(आ) सपत्नी-ईर्ष्या : सपत्नी से डाह नारी का सहज स्वभाव है। 'ढोला मारू' में यह कथानक-रूढ़ि हमें कथानक के समाप्त होने से पहले वहाँ उपलब्ध होती है जहाँ एक दिन मालवणी और मारवणी एक-दूसरे के भू-प्रदेशों को लेकर आलोचना-प्रत्यालोचना करती हैं। सौतिया-डाह से भरा हुआ उनका यह वार्त्तालाप इस रूढ़ि का ही द्योतक है।[४] 'पद्मावत' में नागमती एवं पद्मिनी का भी ऐसा ही संवाद नियोजित है।

(इ) रूप-गुण श्रवण जन्य आकर्षण : सौन्दर्य अपनी ओर हठात् आकर्षित करता है। यह रूढ़ि मनोविज्ञान पर भी आधारित है। कवियों द्वारा इसका बहुत प्रयोग हुआ है। अतएव इसका विवेचन कवि-कल्पना-जन्य रूढ़ियों के अन्तर्गत ही किया गया है।

५. सिद्धि की अवरोधक कथानक-रूढ़ियाँ:

नायक-नायिका के सिद्धि-मार्ग में व्यवधान दिखा कर कथानक में संघर्ष का सृजन किया जाता है जिससे लक्ष्य में पात्रों की निष्ठा तो परिलक्षित होती ही है, साथ ही कथानक में पाठक का कौतूहल एवं उसकी जिज्ञासा भी बढ़ती है। लगभग हर प्रेमाख्यान में सिद्धि-मार्ग की बाधक कथानक-रूढ़ियाँ अवश्य मिलती हैं। पद्मावत

---

१. दो. सं. ६२१।
२. अवही मेली हेकली, करही करइ कलाप।
कहियउ लोपाँ सामिकउ, सुन्दरि लहाँ सराप।। ३२३ ।।
३. दो. सं. ५०१ से ५१४।
४. दो. सं. ६५४ से ६७०।

में रत्नसेन का समुद्र में भटक जाना, वेलि में शिशुपाल का कृष्ण-रुक्मिणी के परिणय में रोड़े अटकाना आदि ऐसी ही विघ्नरूप कथानक-रूढ़ियाँ हैं।

'ढोला मारू' में मालवणी का पूगल से आने वाले यात्रियों को मरवा डालना,[१] ढोला के पूगल प्रस्थान के समय ऊँट का लँगड़ा हो जाना,[२] पूगल के मार्ग में ऊमर-सूमरा के चारण द्वारा मारू के विषय में ढोला को भ्रामक सूचना देना,[३] पूगल से लौटते समय ऊमर सूमरा का षडयन्त्र[४] आदि अनेक विघ्नरूप कथाभिप्राय ही हैं।

६. निषेध और शकुन पर आधारित :

शकुन पर आदिकाल से ही मानव का बहुत विश्वास रहा है। यद्यपि इनका बौद्धिक आधार तो कोई नहीं होता, परन्तु फिर भी हर युग के मानव-मन में ये न्यूनाधिक रूप में घर किये हुए हैं और जब तक अनागत अदृष्ट रहेगा तब तक इनकी मान्यता भी रहेगी। लोकोन्मुखी साहित्य में इस विश्वास की अभिव्यक्ति अनिवार्य-सी मिलती है।

ढोला के पूगल-आगमन के पूर्व मारू को शुभ कार्य-सूचक शकुन होते हैं। अवश्य ही उसके प्रियतम ने उसके घर की ओर घोड़े किये हैं—ऐसा विश्वास उसके मन में जम जाता है।[५]

७. शरीर-विज्ञान से सम्बन्धित अभिप्राय :

इसके अंतर्गत अंगस्फुरण एवं मूर्छित होना आदि को स्थान दिया जा सकता है।

अंगों के फड़कने से शुभ-अशुभ कार्य के शकुन लिये जाते हैं। ढोला पूगल के मार्ग में है। उधर मारू के शुभांग यथा आँख, नाभि, भुजा एवं अधर फड़कते हैं। अंग-स्फुरण से उसे प्रिय-मिलन की अग्रिम सूचना मिलती है।[६] जनक-वाटिका प्रसंग में राम के अंगों का स्फुरण चित्रित है।

यों तो हमारे यहाँ मूर्छा को विरह की दस दशाओं में स्थान दिया गया है परन्तु है यह शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी कथानक-रूढ़ि ही। ढोला द्वारा पूगल प्रस्थान की इच्छा प्रकट करने पर आगत विरह के वज्राघात से मालवणी इस तरह खड़ी-खड़ी गिर पड़ती है मानो किसी भुजंग ने डस लिया हो—

मालवणी कउ तन तप्यउ, विरह पसिरियउ अंगि।
ऊभी थी खड़हड़ पड़ी, जाणे डसी भुजंगि॥ २३६॥

८. सामाजिक रीति-रिवाज एवं परिस्थितियों से संचालित अभिप्राय :

---

१. दो. सं. ६६।
२. दो. सं. ३३०।
३. दो. सं. ४४२-४३।
४. दो. सं. ६२६-२६।
५. दो. सं. ५१६।
६. दो. सं. ५१६-२०।

(अ) सांकेतिक भाषा : विभिन्न वस्तुओं अथवा शारीरिक चेष्टाओं और मुद्राओं द्वारा संकेत देकर सम्बन्धित पात्र को निजी अभिप्राय से अवगत कराने की रूढ़ि भारतीय साहित्य में बहुतायत से प्रयुक्त हुई है। रहस्य के प्रगट होने से खतरे की संभावना के कारण मनोभावाभिव्यक्ति में ऐसे कौशलों का सहारा लिया जाता है।

'ढोला मारू' में इस रूढ़ि का स्वरूप भी प्राप्य है। ढोला ऊमर-सूमरा के कपटाचरण से अनजान उसके साथ मद्यपान कर रहा है।[1] परन्तु ऊमर-सूमरा के कुचक्र को मारवणी के पीहर की डूमणी (डूम जाति की गायिका) बाजे में स्वर निकाल कर उसे समझा देती है।[2] फलस्वरूप दोनों बच कर ऊँट पर निकल जाते हैं।

(आ) रहस्योद्‌घाटन : इस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग भी कथा-काव्यों में बहुत बार हुआ है। 'ढोला मारू' में यह कार्य सौदागर द्वारा संपन्न कराया गया है। सौदागर पूगल् में आकर ढोला के द्वितीय विवाह एवं मालवणी द्वारा संदेश-वाहकों को मरवा डालने के तथ्य का रहस्योद्‌घाटन करता है।[3] इस सम्बन्ध में श्री शंभुसिंह मनोहर का यह कथन सत्य है—"शुक द्वारा परम्परा-रूढ़ तथ्य-सूचन के प्रसंग का यह राजस्थानी रूपान्तर ही है जो स्थानीय जीवन-परिवेश के सन्दर्भ में अधिक सजीव, स्वाभाविक और विश्वसनीय हो गया है। मध्ययुगीन राजस्थान में घोड़ों के सौदागरों का एक राज्य से दूसरे राज्य में घोड़े लिये हुए घूमना और राजाओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर उन्हें देश-विदेश की खबरों से सूचित करना—एक सामान्य जीवन व्यापार था।"[4]

(इ) सन्देश-प्रेषण : संन्देश-प्रेषण का कार्य ब्राह्मणों, ढाढ़ियों आदि ने तो किया ही है; मेघ, वायु एवं पशु-पक्षियों तक की सहायता इस कार्य में ली गई है। दूत-काव्य-परम्परा इसकी साक्षी है। वीसल देव रास में तथा वेलि में यह कार्य ब्राह्मणों द्वारा कराया गया है। 'ढोला मारू रा दूहा' में उत्तम जाति पुरोहित को न भेज कर ढाढ़ियों के हाथों संदेश भेजा जाता है।[5] मारवणी का प्रेम-संदेश ढाढ़ी ढोला तक येन-केन-प्रकारेण पहुँचा देते हैं।[6]

(ई) आत्महत्या की धमकी : उपेक्षित पात्र द्वारा प्रेमी का ध्यान आकर्षित करने एवं प्रेम-व्यापार में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए इस प्रकार की कथानक-रूढ़ि का प्रयोग भी किया जाता है। इसमें पात्र चिता में जल कर अथवा अन्न-जल ग्रहण न करके आत्महत्या की धमकी देता है। "पार्श्वनाथ चरित" में इस रूढ़ि का प्रयोग हुआ है।

ढोला द्वारा सुध न लिये जाने पर मारू भी ऐसी ही आत्मदाह की धमकी देती है—

---

१. दो. सं. ६३१।   २. दो. सं. ६३० से ६३३।

३. दो. सं. ६६। ४. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन: पृ० ११५।

५. राजा प्रोहित राखिजई, जिनकी उत्तम जाति।
मोकलि घर रा मंगता, विरह जगावइ राति ॥ १०३ ॥

६. दो. सं. १९४ से २०९।

फागुण मासि वसंत रुत, आयउ जइ न सुणेसि।
चाचरिकई मिस खेलती, होली झंपावेसि ॥ १४५ ॥

इसी तरह ढोला के सावण की प्रथम तीज पर[1] एवं काजलिया तीज[2] पर न आने पर भी मुग्धा मारवणी का प्राण-त्याग करने का अन्तर्भाव उसके कथन से ध्वनित है।

ख : कवि-कल्पना पर आश्रित :

'ढोला मारू' के कथा-निर्माण में कवि-कल्पना-जन्य कथानक-रूढ़ियों का भी सहारा लिया गया है। लोक और साहित्य असम्पृक्त हैं। अतः लोक-गृहित विश्वास साहित्य-क्षेत्र में भी समादृत होते हैं। इस प्रकार लोक-विश्वास पर आधारित कथानक-रूढ़ियों का शिष्ट-साहित्य में भी समावेश हो गया। इस सम्बन्ध में श्री बृजविलास श्रीवास्तव का कथन उल्लेखनीय है—"इस प्रकार की (कवि-कल्पना-जन्य) भारतीय कथानक रूढ़ियाँ अधिकतर मध्ययुगीन समाज के कवियों की देन हैं जिन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे सम्भावना पर जोर देकर अनेक ऐसी घटनाओं का नियोजन कथाओं में किया है जो कथा में गति और चमत्कार लाने की दृष्टि से उपयोगी होने के कारण बार-बार दुहराई जाकर रूढ़ि बन गई।"[3]

'ढोला मारू' में कवि-कल्पना-जन्य कथानक-रूढ़ियाँ निम्नलिखित हैं—

१. शुक रूढ़ि :

शुक-प्रसंग भारतीय कथा-साहित्य की एक सुपरिचित कथानक-रूढ़ि है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार शुक का प्रयोग तीन दृष्टियों से हुआ है—

(अ) कहानी कहने-सुनने वाले वक्ता-श्रोता के रूप में;

(आ) कथा की गति को अग्रसर करने वाले सन्देश-वाहक या प्रेम-संघटक के रूप में;

(इ) कथा के रहस्यों को खोलने वाले अनपराद्ध भेदिया के रूप में।[4] परन्तु इनके अतिरिक्त पथ-प्रदर्शक के रूप में, मनोविनोद करने वाले संगी के रूप में, अपने को खतरे में डाल कर उचित न्याय कराने वाले के रूप में, पंडित एवं ज्ञानी के रूप में आदि अनेक प्रकार से अन्य प्रसंगों में भी शुक आया है। कथा सरित्सागर में विदग्ध चूड़ामणि, चूड़ामन, हेमप्रभ आदि ऐसे अनेक शुक आये हैं। इसका बंगला साहित्य में भी खुल कर प्रयोग हुआ है। डॉ० दिनेशचन्द्र सेन लिखते हैं—"बंगाली लोक-कथाओं में विहंगम और विहंगमी अत्यत महत्वपूर्ण पात्र हैं।"[5]

---

१. जउ तूँ साहिब नावियउ, सावण पहली तीज।
बीजल तणइ झबूकड़इ, मूँध मरेसी खीज ॥ १४९ ॥

२. जइ तूँ ढोला नावियउ, काजलिया री तीज।
चमक मरेसी मारवी, देख खिदंताँ बीज ॥ १५० ॥

३. पृथ्वीराज रासो की कथानक-रूढ़ियाँ : पृ० ११८।

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ७५ :

५. दी फॉक लिट्रेचर ऑफ बंगाल : पृ० २७।

'ढोला मारू' में भी यह शुक-रूढ़ि मिलती है। ढोला मालवणी को सोती हुई छोड़ कर पूगल के लिए प्रस्थान कर देता है। मालवणी अपनी मृत्यु का संदेश देकर शुक को ढोला के पीछे भेजती है।[१] लेकिन ढोला मालवणी की चालाकी भाँप जाता है और लौट कर नहीं आता।

२. स्वप्न में प्रिय-दर्शन रूढ़ि :

स्वप्न में प्रिय-दर्शन के उपरान्त प्रेमारम्भ भारतीय प्रेम-कथाओं का अत्यन्त प्रचलित अभिप्राय रहा है। मानस में संजोई हुई इच्छाएँ और कामनाएँ अतृप्ति की दशा में स्वप्न में आकर साकार बनती हैं। मारवणी का मन प्रिय-दर्शन के लिए लालायित है। अतः उसे प्रिय-मिलन-सूचक स्वप्न भी आया है। 'ढोला मारू' में यौवनोन्मेष के फल-स्वरूप वयः-संधि की देहरी को लाँघती हुई मारवणी का मनोज-मूर्ति ढोला से स्वप्न-मिलन होता है। जागने पर वह प्रेमासक्ति के कारण निःश्वास भरने लगती है। प्रेम-रस-लुब्ध मुग्धा मारवणी शून्य-मनस्क भाव से अपने जीवनाकाश में सहसा उमड़ कर आये हुए इस विरह रूपी प्रलय-मेघ की थाह खोजती है—

ऊलंबे सिर हथ्थड़ा, चाहंदी रस लुब्ध।
विरह महाधण ऊमटचउ, थाह निहालइ मुब्ध ॥१५॥

३. कामना-सिद्धि हेतु देव-पूजा रूढ़ि :

मनोरथ-सिद्धि के लिए देव-पूजा का आयोजन, विशेषकर पति-प्राप्ति की कामना हेतु शिव-पार्वती की आराधना भारतीय साहित्य का चिराचरित कथा-अभिप्राय है। 'छिताई-वारता' की छिताई शिव-मंदिर में जाकर शिव-पूजा करती है। 'वेलि' की रुक्मिणी भी शिव-गौरी पूजनार्थ जाती है जहाँ कृष्ण उसका अपहरण करते हैं। 'रामचरितमानस' में तुलसी ने सीता को वाटिका में भवानी-पूजा के लिए भेजकर इस रूढ़ि का पालन किया है।

सौदागर राजा से अपनी ढोला के साथ हुई भेंट का वर्णन करता है। समवस्यका सखियों को साथ लेकर मन्दिर जाती हुई मारवणी प्रियतम की बातें सुनने के लिए सौदागर के निकट से निकलती है।[२] मारू के इस प्रकार देव-पूजा हेतु मन्दिर जाने में हमें इस रूढ़ि की झलक मिलती है।

४. रूप-गुण श्रवण-जन्य आकर्षण रूढ़ि :

भारतीय प्रेमाख्यानों की यह भी एक बहुप्रयुक्त रूढ़ि है। 'ढोला मारू' में यह रूढ़ि दो बार आई है। प्रथम तो उस समय जब ढाढ़ी नरवर पहुंचकर रूपाकृति में अप्सरा-मानिंद मारू का प्रेम-संदेश ढोला को सुनाते हैं। ढाढ़ियों द्वारा मारू की अनिंद्य देहयष्टि एवं अनन्य प्रेमासक्ति का गुणगान सुनकर ढोला मारवणी से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर हो उठता है। वह तो यहाँ तक कह देता है—

ढोलइ मनि आरति हुई, सांभलि ए विरतंत।
जे दिन मारू विण गया, दई न ग्यांन गिणंत ॥ २०८ ॥

१. दो. सं. ३९७ से ४११।
२. **सही समाँणी साथि करि, मंदिर कूँ मल्हपंत।**
सउदागर नेड़ी वहइ, सुणिवा प्रीतम वत्त ॥ ९८ ॥

दूसरी वार इस रूढ़ि का स्वरूप उस समय मिलता है जिस समय पूगल् जाते हुए मार्ग में पहाड़ी ढाल पर बैठा हुआ रैवारी एवं उससे थोड़ा आगे ऊमर-सूमरा का चारण मारू के लिए भ्रामक एवं असत्य बातें कह कर ढोला का मन खिन्न कर देते हैं।[1] यहाँ वीसू चारण आकर जब मारू के अंतरंग एवं बाह्य सौन्दर्य का सजीव चित्र उपस्थित करता है तो ढोला फिर मारू की ओर आकर्षित हो जाता है,[2] वीसू को 'लाखपसाव' देता है[3] एवं पूगल् जाकर स्व-आगमन की सूचना देने को कहता है।[4]

यद्यपि मारू के प्रति ऊमरा-सूमरा के आकर्षण का कारण तो स्पष्ट नहीं लिखा गया है, परन्तु वह भी मारू की अपूर्व रूपराशि को श्रवण करके ही विमोहित हुआ होगा एवं उसकी प्राप्ति के लिए षड़यंत्र की कुचेष्टा में लगा होगा—यह मानने में कोई आपत्ति नहीं। इस प्रकार ऊमर-सूमरा के आकर्षण में यही रूढ़ि ध्वनित है।

५. सर्प-दंशन की रूढ़ि :

अनेक प्रेम-कथाओं में सर्प-दंशन एवं तत्स्वरूप मृत्यु होने की कथानक-रूढ़ि भी मिलती है। राजस्थानी लोक-काव्य निहालदे-सुल्तान एवं सूफी प्रेमाख्यान चंदायन में भी इस रूढ़ि की उपस्थिति है।

प्रस्तुत काव्य 'ढोला मारू' में इस रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। द्विरागमन पर पूगल् से नरवर लौटते हुए मार्ग में पड़ाव डालने पर रात्रि में सुभटों के पहरे मध्य प्रियतम-कंठ से लगकर सोई हुई मोहन-वेलि मारवणी को पीवणा साँप पी लेता है।[5] पौ फटने पर ढोला प्रिया को टटोलता है तो उसे सुन्दरी मारू का शीतल शरीर ही मिलता है।[6]

६. प्रेम-परीक्षा :

यों तो सिद्धि-मार्ग के समस्त अवरोध ही प्रेम-परीक्षा के द्योतक हैं परन्तु कभी-कभी नायक अथवा नायिका की मृत्यु पर उसी के समान रूप धारण करके जाना अथवा उसी नायिका के समान रूप-गुण वाली से विवाह का प्रस्ताव रखकर प्रेमनिष्ठा की परीक्षा ली जाती है। कई कहानियों में यह कार्य कुट्टनी-प्रसंग लाकर किया जाता है जैसे पार्श्वनाथ चरित, मैनासत, वीसलदेव रास आदि में हुआ है।

'ढोला-मारू' में भी मारवणी की मृत्यु पर कारुणिक विलाप करते हुए ढोला को साथ के लोग मारवणी से तीन वर्ष बड़ी एवं चंपा के समान रूप वाली राजकुमारी से विवाह का प्रस्ताव करते हैं[7] परन्तु ढोला नहीं मानता। योगी भी ढोला को मारू

---

१. दो. सं. ४४४। २. दो. सं. ४५० से ४८६।
३. दो. सं. ४८६। ४. दो. सं. ४६०।
५. दो. सं. ६०१।
६. ग्रह फूटी, दिसि पुंडरी, हणहणिया हय-थट्ट।
ढोलइ धण ढंढोलियउ, सीतल् सुन्दर-घट्ट॥ ६०२॥
७. दो. सं. ६१३।

के साथ न जलने का परामर्श देकर जीवनोपभोग का लालच देता है,[१] परन्तु ढोला का दृढ़ प्रेम शिथिल नहीं होता। इस प्रकार इस रूढ़ि से यहाँ ढोला की प्रेम-परीक्षा का आयोजन हुआ है।

७. प्रकृति के माध्यम से विरह-निवेदन :

प्रकृति के उद्दीपन रूप का विरहाभिव्यक्ति में तीव्रता लाने की दृष्टि से बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके लिए कविगण षड्ऋतु-वर्णन तथा बारहमासा का आयोजन करते हैं। मानस के राम का उद्वेलित हृदय पावस में 'घमंन घड गरजत घनघोरा' से और भी उद्दीप्त है तो उधर पद्मावत के बारहमासा में नागमती की वेदना स्वयं बोल रही प्रतीत होती है।

'ढोला-मारू' में भी प्रकृति के माध्यम से मारवणी की विरह-वेदना को वाणी दी गई है। यद्यपि षड्ऋतु-वर्णन और बारहमासा जैसी आयोजना इसमें नहीं की गई है, परन्तु मारवणी एवं मालवणी की अपनी-अपनी विरह-व्यंजना प्रकृति की पृष्ठ-भूमि से पोषित है:—

चहुँ दिस दामिनी सघन घन, पिउ तजी तिण बार।
मारू मर चातग भये, पिउ-पिउ करत पुकार॥ ३७॥
ऊनमि आई वद्दली, ढोलउ आयउ चित्त।
यो वरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त॥ ४१॥
(मारवणी)

उत्तर आज स उत्तरउ, पड़सी वाहलियाँह।
उर ओले प्री राखियइ, मूंधा काहलियाँह॥ २८७॥
(मालवणी)

यह कथानक-रूढ़ि के साथ ही काव्य-रूढ़ि भी है और इसका उपयोग मुख्य रूप से अलंकृति के लिए ही किया जाता है।

८. नखशिख-रूढ़ि :

नायिका के सौन्दर्य-चित्रण के लिए इस रूढ़ि का सहारा लिया जाता है। नखशिख-रूढ़ि हर प्रेम-काव्य में सामान्यतः मिलेगी। यह कथानक-रूढ़ि के साथ-साथ वर्णन-रूढ़ि भी है। काव्य में इसका भी प्रयोग अलंकृति के लिए ही किया जाताहै।

'ढोला-मारू' में भी नायिका मारू का नखशिख-सौन्दर्य का वर्णन हुआ है।[२] ढोला से भेंट के समय ढाढियों के कथन में मारू नखशिख लघुरूप में समाविष्ट है।[३]

९. नायिका का अवरोध :

आगत विरह-व्यथा से बचने के लिये नायिका नायक को अनेक प्रलोभन तथा

---

१. दो. सं. ६१८।
२. दो. सं. ४४९ से ४८८।
३. दो. सं. १९७ से २०७।

विभिन्न ऋतुओं के यात्रा-संकट आदि का आभास देकर उसका प्रस्थान स्थगित करवाती है। पृथ्वीराज की रानियाँ उसे ऋतुओं में इसी तरह रोकती हैं।

'ढोला मारू' में भी सहनायिका मालवणी ढोला को ग्रीष्म, वर्षा और शीत—इन तीन ऋतुओं के यात्रा-संकट बता कर दो वर्ष पर्यन्त रोके रखती है।[1] ढोला उन मादक अधरों के अनुरोध को नहीं ठुकरा पाता और इस तरह रुक जाता है—

प्रेमइ बंध्यउ पी रहइ, जउ श्री चालणहार॥ २७५॥

१०. **वीड़ा उठाना :**

किसी साहसिक कार्य को स्वेच्छा से पूर्ण करने के लिए समाज में सूचकों द्वारा सार्वजनिक निमंत्रण देने की प्रथा रही है। काव्यों में इसका कथानक- रूढ़ि के रूप में प्रयोग हुआ है। 'आल्हाखंड' में ऊदल हर कठिन कार्य के सम्पादन का वीड़ा उठाता है।

ढोला प्रियतमा से शीघ्र मिलन-हेतु व्यग्र है और वह पूगल पहुँचने के लिए करहे को तड़ातड़ बेंतों से मार रहा है। करहा इन शब्दों में उसे मुग्धा मारवणी से मिलने का वीड़ा उठाता है—

सकती बाँधे वीटुली, ढीली मेल्हे लज्ज।
सरढी पेट न लेटियउ, मूँध न मेल्उ अज्ज॥ ५००॥

११. **प्रहेलिका-आयोजन :**

नायक-नायिका के परस्पर प्रेमाकर्षण को तीव्रतर बनाने हेतु पहेली बुझाने की कथानक-रूढ़ि का आयोजन भी किया जाता है।

ढोला एव मारू के प्रथम स्नेह-मिलन पर यह कथानक-रूढ़ि आयोजित हुई है। यहाँ ढोला पहेली पूछता है और मारू उसका उत्तर देती है।[2] ये पहेलियाँ अपभ्रंश की हैं जो अन्य अपभ्रंश काव्यों में भी मिलती हैं। इनका नियोजन राजस्थान के सामाजिक परिवेश को भी उद्घाटित करता है। यह प्रथा न्यूनाधिक आज भी प्रचलित है।

१२. **जल-केलि :**

इसका वर्णन भी काव्यों में रूढ़-सा हो गया है। ईश्वरदास की 'सत्यवती-कथा' में सखियों-सहित नायिका की सरोवर में जल-क्रीड़ा का वर्णन मिलता है।

जल-केलि का विस्तृत वर्णन तो यहाँ 'ढोला-मारू' में प्राप्त नहीं है पर मालवणी के इस कथन से यह रूढ़ि ध्वनित होती है –

ढोला, हूँ तुझ बाहिरी, झीलण गइय तलाइ।
ऊजल् काल्‌ा नाग जिऊँ, लहिरी ले ले खाइ॥ ३६३॥

---

१. सीयालइ तउ सी पड़इ, उन्हालइ लू वाइ।
वरसालइ भुइँ चीकणी, चालण रुत्ति न काइ॥ २०७॥

२. दो. सं. ५६७ से ५८० तक।

१३. पत्राचार :

प्रेमी-प्रेमिका का परस्पर पत्र लिखना भी काव्यों में रूढ़ि बन कर व्यवहृत हुआ है। मारू ढोला को पत्र न लिखने के लिये उपालम्भ देती है—

कागल् नहीं क मस नहीं, नहीं क लेखणहार।
सँदेसा ही नाविया, जीवुँ किसइ अधार ।। १४० ।।
कागल् नहीं क मसि नहीं, लिखतां आलस थाइ।
कइ उण देस संदेसड़ा, मोलइ वड़इ विकाइ ।। १४१ ।।[१]

फारसी काव्य में भी यह रूढ़ि प्रचलित रही है। निजामी का मजनूँ लैला को पत्र लिखता है।

१४. प्रेम-घटक के रूप में सखियों द्वारा कार्य :

सामान्यत: हर प्रेम-काव्य में प्रेम-घटक के रूप में सखियों द्वारा कार्य किये जाने की कथानक-रूढ़ि मिलती है। 'मधु-मालती' में जैतमाल सखी यह कार्य करती है तो 'रूप मजरी' में इन्दुमती।

'ढोला-मारू' में यह रूढ़ि दो स्थानों पर आई है। प्रथम बार तो उस समय जब मुग्धा मारू विरह के उठते हुए महार्णव की थाह खोज रही होती है। सखियाँ ही यहाँ रानी से मारवणी की विरह-व्यथा निवेदित करती हैं।[२] दूसरी बार ढोला के पूगल् आने पर मारवणी को उससे मिलनार्थ सखियाँ ही उसके शयन-कक्ष में पहुँचाती हैं।[३]

यह रूढ़ि यहाँ राजस्थानी परिवार का शील और संकोच भी प्रदर्शित करती है।

निष्कर्षत: कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से हमें इस प्रणयाख्यान में सौन्दर्य का संवर्धन एवं नाटकीयता का नियोजन करने वाली उपर्युक्त कथानक-रूढ़ियाँ ही मिलती हैं। कथानक-रूढ़ियाँ भी लोक-विश्वास पर आधारित और कवि-कल्पना-जन्य दोनों प्रकार की हैं। इनसे कथा-प्रवाह को पर्याप्त गति मिली है एवं उसमें चमत्कार और सरसता का संचार हुआ है। काव्य-कथा के रूप-शिल्प-निर्माण में इनका समुचित सहयोग है। ऐसे लघु-कथानक के विस्तरित होने का एक कारण इन कथानक-रूढ़ियों की विद्यमानता भी है। इससे ही संलग्न कथानक-रूढ़ियों के परिमाण-औचित्य ने जिज्ञासा, आश्चर्य, कुतूहल और सौन्दर्य तत्व का सम्यक् निर्वाह भी किया है। स्वप्न-दर्शय-जन्य प्रेमासक्ति की रूढ़ि-कथा में एकदम गति का संचार करती है तो सौदागर-आगमन एवं रहस्योद्घाटन की रूढ़ि उसे अनूठा मोड़ देती है। विरह-वर्णन, संदेश-प्रेषण एवं नखशिख की कथानक-रूढ़ियाँ मारवणी-मालवणी की मर्मस्पर्शी मनोभावना

१. अन्य दोहे-१४२ से १४४।
२. सखियाँ राँणी सूँ कहइ, तनह न् जावहि ताप।
साल्ह विरह तिल्-तिल् मई, मारू करइ विलाप ।। ७८ ।।
३. दो. सं. ५३६।

से संवलित होकर अपूर्व मनोहारिता एवं हृदय-द्रवणता ला देती है, तो सिद्धिमार्ग की बाधाएँ नाटकीयता, संघर्ष एवं कुतूहल का सृजन करती हैं। इस तरह इस प्रेमाख्यान के सरल लघु-कथानक को आद्योपान्त आकर्षक और चमत्कारिक बनाये रखने में इन कथानक-रूढ़ियों का भी स्पष्ट हाथ है। कथानक-रूढ़ियाँ तो चिराचरित तथा परम्परा-ग्रथित हैं परन्तु उनका अनोखा नियोजन काव्य में नवीनता एवं चारुता की सृष्टि कर देता है।

(ऊ) कथा पर प्रभाव :

१. गोरख-सम्प्रदाय और शाक्तों का प्रभाव :

डॉ० श्याम परमार का विचार है कि इस कथा पर गोरख-सम्प्रदाय और शाक्तों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।[1] यद्यपि इस मत की पुष्टि में उन्होंने विस्तृत विवेचन न करके केवल यही सीमित संकेत भर दिया है तथापि 'ढोला मारू रा दूहा' में योगी-योगिनी[2] के आविर्भाव को देख कर ही उनकी यह धारणा बनी ज्ञात होती है। परन्तु हम इससे सहमत नहीं हो सकते।

मध्य युगीन भारत में तांत्रिक सिद्धों और नाथपंथी योगियों का सामान्य जनता पर अत्यधिक प्रभाव था। उनकी समाज में प्रतिष्ठा थी। नाथ-संप्रदाय के योगी वस्तुतः शैव मतावलम्बी ही थे। शिव-पार्वती[3] की उपासना के साथ उन्होंने हठ योग की साधना का सफल समन्वय किया और तत्कालीन धार्मिक वातावरण में अपना प्रमुख स्थान बना लिया। राजस्थान में इनका विशेष प्रचार-प्रसार था।

'ढोला मारू रा दूहा' में जो योगी-योगिनी की लघु-कथा आई है, वह तत्कालीन लोक-विश्वास की ही अभिव्यक्ति है। इससे 'ढोला मारू रा दूहा' के कथानक पर इनका प्रभाव और वह भी 'स्पष्ट'—नहीं माना जा सकता। यदि यह कथा आधिकारिक कथा के बहुत बड़े अंश को प्रभावित करती, फल-प्राप्ति के प्रयासों को विशेष सार्थक बनाती, तब तो यह मान्यता उचित ही प्रतीत होती। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं हुआ है। 'ढोला मारू' की प्रणय-गाथा सामान्य प्रेम-कथा ही है। तद्युगीन साहित्य की मान्यता और सामाजिक मान्यता के कारण ही इन अलौकिक शक्ति-सम्पन्न पात्रों की सृष्टि इसके कथा-शरीर में हुई है। जोगी-जोगिन 'वीसलदेव रासो' में भी आये हैं। पद्मावत जैसे सूफी काव्य में भी इनकी उपस्थिति है।

अतः 'ढोला मारू रा दूहा' में इनकी विद्यमानता लोक-विश्वास को ही प्रकट करती है, किसी मत के प्रभाव को नहीं। युग-चेतना का काव्य के रूप-निर्माण में बहुत अधिक हाथ रहता है। 'ढोला मारू रा दूहा' में तद्युगीन लोक-मानस की मान्यताएँ मुखर हैं। योगी-योगिनी की कथा का आविर्भाव इसी लोक-विश्वास का प्रतिफल है। वह सम्पूर्ण कथानक पर आच्छन्न और उसे प्रभावित करती नहीं

---

१. हिन्दी साहित्य कोश : भाग २ : पृ० २१२। २. दो. सं. ६१६ से ६२४ तक।

३. 'ढोला मारू' के विभिन्न साहित्य-रूपान्तरों की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में योगी-योगिनी के स्थान पर शिव-पार्वती भी अवतरित हुए मिलते हैं।

लगती। उसका प्रभाव केवल कथा को फल की ओर अभिलषित मोड़ देने और कथानक में त्वरा लाने तक ही सीमित है।

२. जाटों का प्रभाव :

डॉ० शार्लोत वॉदविल ने अपने अनुवाद में इस आशय की संभावना प्रकट की है कि 'ढोला मारू' की कथा संभवतः जाटों से ली गई है क्योंकि इस काव्य में राजपूती परम्पराओं के दर्शन कम होते हैं।[1]

विदुषी लेखिका की यह मान्यता निर्मूल और भ्रान्त है। ऐसी निराधार मान्यता प्रकट कर उन्होंने राजस्थानी साहित्य और राजपूती-परम्परा से अपनी पूर्ण अनभिज्ञता ही प्रदर्शित की है। 'ढोला मारू रा दूहा' में चित्रित सामान्य जन-जीवन तक ही दृष्टिपात करके यदि इस प्रकार की वे अवधारणा वना लेती हैं, तो यह अनुचित है। सामान्य जन-जीवन केवल जाटों—दूसरे शब्दों में कृषकों तक ही सीमित नहीं है। फिर यह कथा तो स्पष्टतः एक राज-कुल से सम्बद्ध है जिसमें उस समाज की समस्त परम्पराओं का पालन किया गया है।[2] अतः हमारी आलोचक बुद्धि उस कारण को खोजने में असमर्थ है जिसके आधार पर यह भ्रामक और असंगत धारणा वनी है। श्री शंभूसिंह मनोहर का यह कथन तनिक अधिक स्पष्ट होते हुए भी सटीक और समुचित है—"डॉ० वॉदविल को राजस्थान के राजपूतों की परम्पराओं का कदाचित् कोई ज्ञान नहीं है, अन्यथा वे ऐसा असंगत अनुमान न करतीं। सच तो यह है कि 'ढोला मारू' है ही राजपूती परम्पराओं का अनूठा और सटीक आख्यायन-जो राजस्थान की धरती में ही विकसित और पोषित हुई है एवं राजस्थान के राजकुल उन परम्पराओं के पालने रहे हैं। अतः हमें इस कथा को इसके मूल स्थानीय स्रोतों से विच्छिन्न कर देखने की भ्रान्ति न होनी चाहिए।"[3]

निष्कर्षतः 'ढोला मारू रा दूहा' की कथा पर न नाथ-संप्रदाय तथा शाक्तों का पूर्ण प्रभाव है और न यह कथा जाटों से ही ली गई है। यह एक साम्प्रदायिक भावना से सर्वथा विमुक्त सीधी-साधी, सरल-सरस प्रणय-कथा है।

(ए) कथा के पात्र :

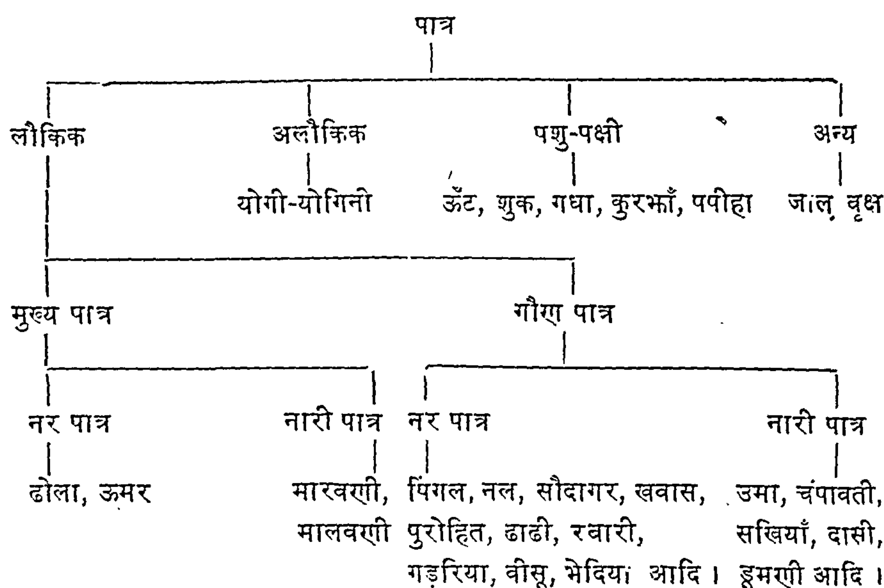
आलोच्य कृति 'ढोला मारू रा दूहा' के पात्रों में मानव, देव, प्राणी, वृक्ष आदि सभी का सम्मिश्रण है। इनमें मुख्यता तो मानव पात्रों की ही है, परन्तु अन्य पात्र भी विविध घटनाओं के परिपार्श्व में कथानक में यत्र-तत्र आये हैं जिनका घटना-चक्रों के संयोजन में अधिक सहयोग है।

क : पात्रों का वर्गीकरण :

'ढोला मारू रा दूहा' के पात्रों को इस प्रकार तालिका रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है—

---

१. लेस दूहा द ढोला मारू : भूमिका।
२. सामाजिक-चित्रण के विशद विवेचन के लिए संस्कृति से सम्बद्ध परिच्छेद देखिये।
३ ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० १०२।



ख : मुख्य पात्र :

इस काव्य के मुख्य पात्रों में ढोला, मारवणी, ऊमर सूमरा एवं मालवणी चार हैं । ढोला इसका नायक है एवं मारवणी इस काव्य की नायिका । ऊमर सूमरा खल-चरित्र के रूप में इस काव्य में आया है । मालवणी सहनायिका के रूप में आयी है ।

१. ढोला :

ढोला इस काव्य का नायक है, फल का अधिकारी, कथानक का केन्द्र एवं रस का प्रधान आलंबन । काव्य का समस्त इतिवृत्त ढोला के इर्द-गिर्द घूमता है । अन्य पात्र ढोला के व्यक्तित्व के ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रकाशक हैं ।

ढोला नरवर के राजा नल का अनुपम राजकुमार है । उसका अन्य नाम साल्हकुमार है । तीन वर्ष की अबोधावस्था में ही उसका पिंगल-पुत्री मारू से परिणय हुआ है । इस प्रथम विवाह से सर्वथा अपरिचित रखते हुए उसके माता-पिता नल और चंपावती उसका द्वितीय विवाह मालवणी से कर देते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार एक आदर्श काव्य-नायक दाता, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान, लोगों के अनुराग का पात्र, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर और सुशील पुरुष होता है।[1] ढोला में इन गुणों की विद्यमानता है, अतः वह नायक पद के सर्वथा योग्य है ।

नायक के चार भेद किये गये हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीरोद्धत, धीर प्रशान्त ।[2] धीर ललित नायक निश्चित, अति कोमल स्वभाव वाला और सदा नृत्य

---

१. साहित्य-दर्पण : ३-३० ।

२. साहित्य-दर्पण : ३-३१ ।

गीतादि कलाओं में अनुरक्त रहता है।[1] ढोला में भी प्रणय, विलासिता, कला-प्रेम गुण-ग्राहकता, कोमल स्वभाव, सुख-भोग में जीवन व्यतीत करने की लालसा, उत्साह लालित्य इत्यादि ललित गुणों का अधिवास है। इस शास्त्रीय भेद-दृष्टि से हम ढोला को धीर ललित नायक कह सकते हैं।

साल्हकुमार के प्रेम का आदर्श और उदात्त स्वरूप ढाढियों द्वारा प्रेषित मारू के संदेश के पश्चात् ही उसके व्यक्तित्व में नवीन मोड़ लेकर निखरता है। यहाँ वह एक आदर्श प्रेमी के रूप में हमारे समक्ष आता है जिसकी पृष्ठभूमि में अपनी परिणिता के प्रति कर्त्तव्य की भावना है। मारू का प्रेम-संदेश उसके हृदय में अपूर्व उत्साह का संचार करता है। उसकी देह तो नरवर में रही पर मन मारू के पास पहुंच गया।[2] मारवणी के बिना बीते दिन विधाता उसकी उम्र में न गिनें—

जे दिन मारू विण गया, दई न ग्यांन गिणंत ॥२०८॥

प्रेमी-हृदय की कैसी अनूठी याचना है! यदि मन बाज़ (पक्षी) हो जाय और उसके प्राण रूपी पंख लग जाँए तो वह इस महार्णव को पारकर प्रियतमा से जा मिले।[3] ढोला धीर पुरुष है, उसमें उतावलापन नहीं है। मालवणी का मन रखने के लिए वह उसकी अनुनय विनय पर वर्ष पर्यन्त रूक भी जाता है। ढोला के प्रेम में पर्याप्त गम्भीरता, एकनिष्ठता, गहराई, सच्चाई और उत्सर्ग की भावना है। मारू के पीणे सांप से दंशित होने पर वह उसके साथ ही प्राणोत्सर्ग करने को उद्यत हो जाता है।[4]

ढोला प्रेम-जन्य दृढ़-निष्ठा का सम्बल पाकर विघ्न-बाधाओं से जूझने में भी नहीं हिचकिचाता। वह ऊमर सूमरा के विश्वासघाती षड्यन्त्र को न समझ मद्यपान करने बैठ जाता है, पर मारू द्वारा रहस्योद्घाटन किये जाने पर पलभर भी नहीं ठहरता। उष्ट्रारोहण कर ऊमरा सूमरा को अँगूठा बता देता है। चारों ओर से घिरे हुए होने पर भी भारी विपदा से जूझने का उसका संकल्प उस जैसा साहसी ही कर सकता है।

उसके प्रेम में अनन्यता है और लक्ष्य-प्राप्ति के लिये अपूर्व लगन। वह क्रिया-निष्ठ नायक है। वह पवित्र प्रणय का एकनिष्ठ पुजारी है। लक्ष्य की ओर सतत उन्मुख रहना उसकी अन्यतम विशिष्टता है। बीहड़ मार्ग के अनेक संकटों और आपत्तियों-अवरोधों से जूझता हुआ संघर्षों के पश्चात् अंततः वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर ही लेता है। विषम परिस्थितियों में समरस भाव से लक्ष्य की ओर गतिशील रहना उसके चरित्र की उज्जलता पर भव्य प्रकाश डालता है। इस क्रिया में उसके अनेक गुण यथा कष्ट-सहिष्णुता, साहस, विनय, सौजन्य, दृढ़ता, अनन्यता, संवेदन-शीलता आदि प्रस्फुटित हुए हैं। प्रेम की अग्नि-परीक्षा में वह खरे कंचन-सा निखर कर बाहर आया है। उसके चरित्र में कर्तव्य-निष्ठा की भी सुन्दर समन्विति है। मारू से

---

१. साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ : ३-३४।

२. दो. सं. २१३।   ३. दो. सं. ६०१ से ६२०।

४. दो. सं. २११।

मिलने के पूर्व ढोला मारू से नितान्त अपरिचित था। उसने मालवणी को अपना प्रेम खुलकर लुटाया। उसका मालवणी से अतीव अनुराग और स्नेहसिक्त घनिष्ठ-प्रेम था।[१] ढाढ़ियों के संदेश-संप्रेषण से उसके समक्ष उपस्थित कर्त्तव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। वह अपनी प्रथम परिणिता के प्रति कर्त्तव्य निश्चित कर लेता है।

मारू-प्रेम की वात बताकर ढोला मालवणी के हृदय को भी नहीं दुखाना चाहता। इसलिए वह कभी देशाटन,[२] कभी ईडर-यात्रा,[३] कभी मुलतान-यात्रा,[४] कभी कच्छ से ऊंट खरीदने[५] और कभी गुजरात से 'दखणी चीर'[६] लाने का वहाना करता है और अन्त में अपना रहस्य खोल भी देता है। पत्नी से कुछ भी नहीं छिपाता। मालवणी के यह सुनकर मूर्छित होने पर वह गुलाब-जल के छींटे मारता व पंखे से हवा करता है[७] और अन्त में उसे सुप्तावस्था में छोड़ कर ही पूगल जाता है।[८] यह सव कार्य उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा के द्योतक है।

गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। अपनी पत्नियों के मनो-मालिन्य एवं वाद-विवाद[९] को ढोला वड़ी कुशलता से निपटाता है। सद्‌गृहस्थी की आधार-शिला है परस्पर विश्वास और अटूट प्रेम। ढोला के चातुर्य से मारू-मालवणी में नितान्त सौहाद-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया। वह कला-पारखी एवं गुण-ग्राहक है। याचकों के संगीत को सुनने के पश्चात् उसका यह कथन कितना मार्मिक वन पड़ा है—

> **दुख वीसारण, मनहरण, जउ ई नाद न हुंति।**
> **हियड़उ रतन-तलाव ज्यउं, फूटी दह दिसि जंति॥ १९० ॥**

संयोग के समय मारवणी ढोला से कोई गाथा, पहेली, गीत या गुणोक्ति सुनाने का आग्रह करती है।[१०] ढोला प्रत्युतर में पहेलियों की झड़ी लगा देता है।[११] यह सव वातें उसके साहित्यानुराग की द्योतक हैं। ऊंट-सवारी की कला में दक्षता तो उसकी यात्रा से सुस्पष्ट है। वह ऊंटों की विशेषताओं से अवगत है। रैवारी से हुए वार्त्तालाप से यह वात स्पष्ट है।[१२]

ढोला की अपनी मातृभूमि के प्रति अपूर्व भक्ति भी प्रकट हुई है। वह मारू से मिलनार्थ पूगल की लम्वी कष्टसाध्य यात्रा पर जा रहा है। वह नरवर को 'जुहार' करता है—

> **आस्यां तउ मिलस्या वले, नरवर कोट जुहार॥ ३४७ ॥**

---

१. दो. सं. ९४। २. दो. सं. २२१।
३. दो. सं. २२४। ४. दो. सं. २२६।
५. दो. सं. २२८। ६. दो. सं. २३२।
७. दो. सं. २४०। ८. दो. सं. ३४२।
९. दो. सं. ६५४-७१। १०. दो. सं. ५६७।
११. दो. सं. ५६९-८०। १२. दो. सं. ३०७-८।

ढोला शूरवीर है। वह लाखों सुभटों का अधिपति है।[1] उसकी शूरवीरता एवं चातुर्य ऊमरा सूमरा के कुचक्र से बच निकलने में प्रकट होता है।

ढोला दानवीर भी है। वह याचकों को लाखों का दान देता है।[2] पूगल के ढाढियों से मारू का संदेश मिलने पर उसने उन्हें स्वर्णाभूषण देकर उनका दारिद्र्य ही नष्ट कर दिया—

मांगणहारां सीख दी, ढोलइ तिणहि ज काल।
सोवन-जड़ित सिगार दे, नांख्यउ दलिद उलाल।। २०६ ।।

ढोला का बहुपत्नीत्व में विश्वास है। सामन्त-समाज में विलसित विलासिता की प्रवृत्ति ढोला में भी है। मारू के रूप-ढलाव का वर्णन सुनकर[3] उसका मन पीपल के पत्ते की तरह चंचल हो उठा।[4] उसकी इस चंचल मनःस्थिति से उसकी इन्द्रिय-लिप्सा, अतृप्त विलास-भावना प्रकट होती है। वह वीसू से मारू के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उस पर पुनः मुग्ध हो जाता है।[5] फिसलन और चांचल्य भरी यह भावना उसके अन्य गुणों के विपरीत है। उसकी विलासिता एवं रति-कौशल काव्य में वर्णित संभोग शृंगार में स्पष्ट है।[6] याचकों को दान देना, पसाव देना, अफीम लेना, मद्यपान करना, डूमणी से संगीत सुनना, दास-दासियाँ रखना, ऊंट और घोड़ों के अस्तबल रखना एवं सामन्ती समाज की प्रचलित प्रथाओं का पालन करना ढोला को उच्चकुलीन सामंत सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार इस काव्य का कथा-नायक ढोला कामदेव के समान सुन्दर व्यक्तित्व से विभूषित एवं शौर्य, औदार्य, कोमलता, सहिष्णुता, कर्त्तव्य-निष्ठा लिए सद् गृहस्थी, कार्य-निष्ठ आदर्श प्रेमी के रूप में कथाफलक पर उभरा है। वह मध्ययुगीन अभिजात-वर्ग का युवक है—उच्चकुलीन राजजनोचित उत्कृष्ट गुणों से युक्त, जिसमें अबुद्धिगम्य लोकोत्तर विशेषता नहीं है। उसमें ललित गुणों का अधिवास है तथा वह एक आदर्श प्रेमी के रूप में अपने अभीष्ट तक पहुँचने वाला क्रियाशील नायक है। वह आदर्श पति, उच्चकोटि का प्रेमी, गुण-ग्राहक और कला-प्रिय धीर ललित नायक है।

२. ऊमर सूमरा :

काव्य में खल-नायक की अवतारणा के मूल में कवि का उद्देश्य रहता है—नायक की गरिमा-अभिवृद्धि तथा कथानक में संघर्ष का उत्पादन। ऊमर सूमरा इस काव्य का खल-चरित्र है जो हमारे समक्ष काव्य-नायक ढोला के प्रतिद्वन्द्वी शठनायक के रूप में आता है। ऊमर सूमरा दुष्ट प्रवृत्ति का प्रतीक है। उसकी प्रतिद्वन्द्विता तथा छल-कपट एवं कुचक्र ढोला के मार्ग का अवरोधक है।

---

१. दो. सं. ६३।   २. लाखां बगसइ मांगणा ।। ६३ ।।
३. तिण मारू रा तन खिस्या, पंडर हुआ ज केस। ४४२ ।।
४. ढोलउ मन चलपत थयउ, ऊभउ साहइ लाज। ४४७ ।।
५. दो. स. ४५०-८८।   ६. दो. सं. ५५१-९०।

ऊमर सूमरा की स्थिति शक्ति एवं ऐश्वर्य से युक्त है। सर्वप्रथम उसका चारण ढोला को भ्रामक सूचना देकर उसे विचलित करने की चेष्टा करता है।[१] उसके पास भेदिये भी हैं जो उसे ढोला मारू की गतिविधियाँ आकर सूचित करते हैं।[२] ढोला मारू के भाग निकलने पर वह उनका पीछा अपनी चतुरंगिनी फौज के साथ करता है।[३] इन वर्णन संकेतों से उसकी शक्ति तथा ऐश्वर्य प्रकट होता है।

षड्यन्त्र की योजना करने में ऊमर सूमरा अपनी सानी नहीं रखता। सर्व प्रथम तो वह अपने चारण द्वारा ही मारू के शिथिल अंग, श्वेत केश एवं वृद्धावस्था की सफेद झूठ सूचना से पूगल जाते हुए ढोला का मारू के प्रति आकर्षण ही समाप्त कर देना चाहता है।[४] ढोला इस चारण द्वारा खींचे गये मारू के चित्र से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो भी जाता है,[५] परन्तु वीसू के प्रयत्न से ऊमर सूमरा की चाल विफल हो जाती है। चूकने पर ऊमर सूमरा दूसरी योजना बनाता है। वह अपने दूत तथा भेदियों को ढोला-मारू पर निगरानी रखने हेतु लगा देता है जो उसे उनकी गति-विधियों से परिचित कराते हैं।[६] तत्पश्चात् मार्ग में मद्यपान का आग्रह करके उसने अपने सुनियोजित षड्यन्त्र को कार्यान्वित भी किया जो अन्त में असफल तो रहा, परन्तु एक बार तो ढोला उसमें फँस ही गया।

ऊमर सूमरा ढोला के समीप पहुँच कर विश्राम करने मद्यपान करने एवं एक ही साथ नरवर चलने के लिए उससे आग्रह करता है।[७] प्रत्यक्ष में तो उसका यह आचरण शिष्टता की झलक प्रस्तुत करता है किन्तु उसके मन में ढोला को हानि पहुँचाकर मारू को हस्तगत करने का कुविचार था। कवि की अधोलिखित पंक्तियाँ उसकी मनःस्थिति तथा कुविचारणा को खोलकर रख देती हैं—

ऊमर साल्ह उतारियउ, मन खोटइ मनुहारि।
पग सूं ही पग कूंटियउ, मुहरी-झाली नारी॥ ६१६॥

अपने षड्यन्त्र को असफल होते देख कर ऊमर सूमरा के क्रोध की सीमा नहीं रहती। ढोला-मारू को भागते देख कर वह क्रोधित हो जाता है और बड़बड़ाता

---

१. दो. सं. ४४१-४४।

२. दो सं. ६२६।

३. ऊमर ऊतावलि करइ, पल्लाणियां पवंग।
खुरसाणी सूधा खयंग, चढ़िया दल चतुरंग॥ ६४०॥

४. जिण धण कारण ऊमह्यउ, तिण धण संदावेस।
तिण मारू रा तन खिस्या, पंडर हुवा ज केस॥ २४२॥
ढोला, मोड़ो आवियउ, गइ वाल्हापण वेस।
अब धण होई खोरड़ी, जाए कहा करेस॥ ४४३॥

५. दो. सं. ४४४-४७।

६. दो. सं. ६२६।

७. किउं, ठाकुर अलगा वहउ, आवउ अमल करांह।
म्हे पिण जास्यां नरवरइ, एकण साथ खड़ांह॥ ६२८॥

है[1] और तत्क्षण ही उनके पीछे अपने घोड़े छोड़ देता है। उसकी अहंवृत्ति प्रदीप्त हो उठती है। उसमें उदात्त भावों का अभाव है। उसके हृदय में कोमल वृत्तियों के लिये स्थान नहीं है। वह ढोला तथा मारू को कुंकुमवर्णी ऊँट पर जाते देख शक्ति-प्रयोग पर उतर आता है और आक्रमण की योजना बना खुरासानी से सुसज्जित चतुरंगिनी सेना से उनका पीछा करता है।[2] वर्र जैसी कटि तथा महादेव के सिर पर डहडहाते हुए फूल जैसी मारू को वह किसी कीमत पर जाने नहीं देता चाहता।[3] अतः अत्यन्त फुर्ती से आक्रमणार्थ उनके पीछे अपने घोड़े छोड़ता है।[4] परन्तु करहा के वेग के सम्मुख कोई भी बात नहीं चलती। फिर भी वह पीछा नहीं छोडता है। अन्त में चारण के यह कहने पर कि पैर बंधा हुआ ऊँट अरावली की महान् घाटी को पार कर गया है,[5] ऊमरा सूमरा मन में उदास होकर उसी मार्ग से वापस लौट जाता है।[6] ऊमरा सूमरा में अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, यद्यपि वह असामाजिक था, सतत् प्रयास करने की अटूट प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वह अपना वार चकता गया परन्तु फिर भी मारू को हथियाने के पीछे लगा रहा। वह हमारे समक्ष रूपा-सक्त, शक्ति एवं ऐश्वर्य-संपन्न, षड्यन्त्र-कारी, कपट-आचारी, उग्र स्वभाव वाला, आक्रामक एवं हिंसात्मक प्रवृत्ति वाला, असत्यभाषी, विश्वासघाती आदि असत् वृत्तियों को लेकर जाता है। उसके प्रेम में रूप-लोभ, अधीरता, उग्रता, उच्छृंखलता, असामाजिक आचरण एवं आतंक की भावना है। वासना की गन्ध से दूषित उसकी इस प्रवृत्ति से पवित्र प्रेम की गरिमा विनष्ट हुई है और समाजानुमोदित मानवीय शील-सौन्दर्य की सीमाएँ टूटी हैं।

३. मारू :

मारू इस काव्य की नायिका है। यह नायक का 'फल' है जिसकी प्राप्ति के हेतु नायक के समस्त प्रयत्न हैं। अपने प्रयासों में वह सफल होकर इस फल का अधिकारी बनता है। काव्य में मारू को लेकर ही घटनाओं का स्रोत फूटा है। मारू राजा पिंगल की पद्मिनी पुत्री है। उसका नरवर के राजकुमार ढोला से बाल्यावस्था में पुष्कर में विवाह हुआ है।

नायिका के अनेक शास्त्रीय भेदोपभेदों में से मारवणी स्वकीया, मुग्धा, नवोढा, ज्ञात-यौवना है और पद्मिनी नायिका है। ढोला से उसका प्रणय-संस्कार होने के कारण वह स्वकीया है। नवयौवन-संचार और लज्जाशील होने के कारण वह मुग्धा है,

---

१. दो. सं. ६४१।   २. दो. सं. ६४०।

३. ऊमर दीठी मारुई, डीभू जेही लंक्कि।
जाणें हर सिरि फूलड़ा, डाके चढ़ी डहक्कि॥ ६३९॥

४. दो. सं. ६४१।

५. ऊमर सुण मुझ बीनती, दउड़ी म मार तुरंग।
करहउ लंघियउ कूटियउ, आडावल् वड वंग॥ ६४७॥

६. ऊमर मन विलखउ हुयउ, चारण वचन सुणेह।
उणिहि ज पंथ पाछउ वलयउ, साल्ह निचंत करेह॥ ६५०॥

यौवन का ज्ञान होने के कारण वह ज्ञात-यौवना है और अपने रूप-सौन्दर्य तथा शारीरिक सुगन्धि के कारण वह पद्मिनी है। मारू यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव तथा भूषण से युक्त होने के कारण अष्टाँगवती है। वह उदात्त गुण सम्पन्न ३२ लक्षणों से युक्त गुणागार तथा २७ अलंकारों से अलंकृत नायिका है।

पूगल-पद्मिनी मारू सर्वप्रथम हमारे समक्ष यौवन की देहरी पर पाँव रखती हुई आती है। वह मराल-चाला, कदली-जंघा, सिंह-लंकिनी, चन्द्र-मुखी, खंजन-नयनी, श्रीफल-कुची एवं वीणोपम सुमधुर कंठ लिये हुए है।[1] उसके दाँत हीरों के समान, अधर मूंगे के सदृश और भृकुटि चन्द्र जैसी वक्र है।[2] मारवणी के घूंघट में कीर (नासिका), भ्रमर (भ्रू), कोकिल (वाणी), कमल (नेत्र), चन्द्र (मुख) के साथ फणीन्द्र (वेणी) विद्यमान है।[3] उसके वरं. की-सी कटि है।[4] वह चंपक-वर्णी है, नाक शलाका-सी, उर-स्थल सुन्दर मांसल और बोली ऐसी है मानो वीणा झंकृत हुई हो।[5] वह बत्तीस सुलक्षणों की खान है, भाल चन्द्रमा जैसा एवं देह कुंकुमी।[6] उसकी नासिका दीप की लौ के समान है।[7] उसके नयन 'सुचंग' हैं। कवि-मति में मारू जैसी प्रेयसी इस प्रकार रखी जानी चाहिए जिस तरह शिव गंगा को मस्तक पर धारण करते हैं।[8] उसके मुख की कांति सूर्य से भी समुज्ज्वल है। उसकी देह स्वर्णाभा-सदृश कान्तिमान है।[9] मारवणी के गुणों की सुगन्धि से सारा पूगल प्रदेश महक रहा है।[10] यह सद्गुणागार[11] मधुर द्राक्षा के समान है,[12] कस्तूरी और केवड़े की कली की महक के समान, दाड़िम पुष्प की भांति दिन-प्रतिदिन नवीन विकास पाती हुई।[13] ऐसी प्रियतमा की प्राप्ति तो शिव-आराधना से या हिमालय में गलने से ही प्राप्त हो सकती है।[14] वह मिष्टभाषिणी कटु वचन तो जानती तक नहीं।[15] बीसू कहता है कि मेरे इन नेत्रों ने मारू-सी कामिनी नहीं देखी। हाँ, सूर्योदय होते समय उसका थोड़ा-सा भ्रम होता है—

> मारू सी देखी नहीं, इण मुख दोय नयणांह।
> थोड़ो सो भोले पड़इ, दणयर उगहंताहं।। ४७८ ।।

---

१. दो. सं. १३। २. दो. सं. ४५४।
३. दो. सं. ४५५। ४. दो. सं. ४६०।
५. दो. सं. ४६२। ६. दो. सं. ४६६।
७. दो. सं. ४७६। ८. दो. सं. ४५३।
९. आदीता हूँ ऊजलो, मारवणी मुख ब्रन्न।
झीणा कप्पण पहिरणइ, जाँणि झँखइ सोव्रन्न।। ४६३ ।।
१०. थल भूरा, वन झंखरा, नहीं सु चंपउ जाइ।
गुणे सुगंधी मारवी, महकी सहु वणराइ।। ४६८ ।।
११. दो. सं. ४५६। १२. दो. सं. ४७०।
१३. कसतूरी कड़ी केवड़ो, मसकत जाय महक्क।
मारू दाड़मफूल जिम, दिन-दिन नवी डहक्क।। ४७६ ।।
१४. दो. सं. ४७७। १५. दो. सं. ४८४।

वीसू उस गुणागार का वर्णन करते अघाता नहीं, पर पार भी नहीं पाता। अतः अन्त में गुणकथन से थका-थका-सा कहता है—

तेता मारू मांही गुण, जेता तारा अम्भ।
उच्चलचित्ता साजणां, कहि क्यऊं दाखऊं सम्भ।। ४८७ ।।
एकणि जीभ किसा कहूँ, मारू-रुप अपार।
जे हरि दियइ त पांमियइ, उदियइ इण संसार।। ४८८ ।।

उसका वाह्य जैसा मोहक है, हृदयगत सौन्दर्य भी वैसा ही शालीन। शील एवं मधुरिमा से अभिमंडित उसके सौन्दर्य में अन्तर्वाह्य सुषमा का सुन्दर समन्वय है। वह तो चरित्र का प्रयाग है—

गति गंगा, मति सरसती, सीता सील सुभाइ।
महिलां सरहर-मारुई, अवर न दूजी काइ।। ४५१ ।।

उसकी चारित्रिक उज्ज्वलता की दीप्ति के कारण ही कवि ने उसके मुखमण्डल के लिए सूर्य का उपमान प्रस्तुत किया है।[१] वह शुद्धकुलवती[२] हर एक के साथ बोलती तक नहीं।[३] उसके आचरण में इस तरह अनन्यता एवं हिन्दू-नारी की सती-भावना का चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है।

स्वप्न-दर्शन उपरान्त अपने विवाहित होने का अपनी सखियों से आभास पाते ही उसे अपने प्रियतम का विरह सताने लगता है। पपीहे से खीझ भरी उक्तियाँ,[४] कुझों से निवेदन,[५] विजलियों पर झुंझलाहट[६] आदि में मारू के विरही–मन की अनूठी उद्‌भावनाएं व्यक्त हुई हैं। उसका प्रियतम दूर है, उससे बेखबर। वह विधाता से पंख मांगती है ताकि अपने प्रियतम से नित्यप्रति मिल आया करे।[७] वायु से उसका कातर निवेदन है कि वह प्रियतम का स्पर्श करके उसे आकर छुए, वही उसके लिए 'लाख पसाव' होगा।[८] कौवा उसके प्रियतम से उसे मिला दे तो वह उसे अपना कलेजा निकाल कर भोजन करा दे।[९] साल्हकुमार रूपी सूर्य के समीप न होने से वह कमलिनी कुम्हला गयी है।[१०]

---

१. दो. सं. ४७८।
२. दो. सं. १७४।
३. बांहड़ियां रूआलियां, धण वंके नयणेह।
जण जण साथ न बोलही, मारू बहुत गुणेह ।। ४८२ ।।
४. दो. सं. २६-३६।
५. दो. सं. ६२ से ७०।
६ दो. सं. ५०।
७. देह विधाता, पंखड़ी, मिलि मिलि आवऊं नित्त ।। ६९ ।।
८. उवां लगे मो लग्गसी, ऊही लाख पसाउ ।। ७४ ।।
९. काढि कलेजउ आपणउ, भोजन दिउंली तुझ्झ ।। ७५ ।।
१०. दो. सं. ७७।

ढाढियों से संदेश-प्रेषण में तो मारू ने अपनी समस्त वेदना को साकार ही कर दिया। यदि उसका प्रियतम न आया तो वह प्रेयसी जलकर कोयला हो जायगी।[१] उसकी आत्मा उसके प्रियतम के पास है,[२] पंजर में प्राण नहीं हैं, केवल उसकी लौ ही जल रही है।[३] मारू की आँख रूपी सीपियाँ प्रियतम की प्रतीक्षा में खुली हुई हैं।[४] मारू अपने यौवनोपभोग के लिए भी ढोला को निमन्त्रण देती है।[५] इससे बढ़-कर उसके पास अन्य निधि है भी क्या ?

मारू ढोला की याद में कनेर की छड़ी के समान सूख गयी है।[६] आँखों की नींद हराम है।[७] उसके पास प्रियतम का संदेश तक नहीं, वह किस आधार पर जिये ?[८] संदेश से ही मन की दशा जानी जा सकती है, यदि कोई कहना जाने।[९] पर वह वियोगिनी उसे पूरा कर सके तब न—

भरइ पलट्टइ, भी भरइ, भी भरि, भी पलटेहि।
ढाढी हाथ संदेसड़ा, धण विललती देहि॥ १८२॥

प्रियतम का संदेश आ गया तब भी नयन उसे पढ़ने देंगे तब न ?[१०] वह स्वयं घोड़े पर जाने का साहस कर बैठती है,[११] आत्मदाह तक की उसमें उत्सर्ग-भावना है।[१२] प्रियतम के बिना वह प्रेयसी इस तरह उदास फिरती है जिस प्रकार प्रत्यंचा के बिना लाल कमान।[१३] ऐसे समय भी प्रियतम नहीं आया तो बाद में आकर क्या उसके अस्थिपंजर पर कौए उड़ायेगा ?[१४] मन को रंजन करने वाला, शरीर को स्पर्श से उल्लसित करने वाला और चंदन, कपूर तथा गंगा के प्रवाह के समान शीतल गात वाला प्रियतम उससे कब मिलेगा ?[१५]

मारू कहती है—

यहु तन जारी मसि करूं, धूंआ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावइ अग्गि॥ १८१॥

वर्षा ऋतु में मोर शब्द कर रहे हैं। शिखरों से 'बीजुलियाँ' गले मिल रही हैं। कवि को लग रहा है कि मारू ही विरह में मर कर चातक बन गयी है और प्रिय को पुकार रही है—

---

१. दो. सं. ११२। २. दो. सं. ११४।
३. दो. सं. ११३।
४. **आँख्या सीप विकासियां, स्वाति ज बरसउ आइ॥ ११६॥**
५. दो. सं. ११५-३४।
६. **धण कणयर री कंब ज्यउ, सूकी तोइ सुरत्त॥ १३५॥**
७. दो. सं. १३६। ८. दो. सं. १४०।
९. दो. सं. १११। १०. दो. सं. १४४।
११. दो. सं. १४६। १२. दो. सं. १४५।
१३. दो. सं. १५५। १४. दो. सं. १५७।
१५. **चंदण देह कपूर रस, सीतल गंग प्रवाह।**
मनरंजण, तन उलहवण, कदे मिलेसी नाह॥ १६१॥

चहुँ दिसि दामन सघन वन, पाउ तजो तिण वार ।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार ।। ३७ ।।

प्रियतम की याद करती हुई और उसका मार्ग देखती हुई मारवणी कुंभ के वच्चे की तरह लम्वी गर्दन वाली[1] और लम्वे पैर वाली हो गई हैं ।[2] क्या आंगन और क्या दरवाजे—सारा घर मारवणी ने संदेशों से भर दिया ।[3] संपादक-त्रय के शब्दों में "क्षुब्ध हृदय के आंतरिक विक्षोभ को शाब्दिक यथार्थता में व्यक्त करना इससे अधिक स्पष्ट नहीं हो सकता ।"[4]

मारू एकनिष्ठ प्रेमिका और पत्नी है । उसकी सारी कामनाएँ और आशाएँ ढोला में ही निहित हैं । इस संदर्भ में कवि ने उसका जो महान् एवं सतीत्व-संयुक्त रूप प्रस्तुत किया है वह सर्वथा सराहनीय तथा स्तुत्य है । मारू प्रत्युत्पन्नमति है । प्रथम स्नेह-मिलन पर ढोला मन में खुनस रखकर पूछता है—

काया भबकइ कनक जिम, सुन्दर केहे सुक्ख ।
तेह सुरंगा किम हुवइ, जिण देहा बहु दुक्ख ।। ५४६ ।।

मारू प्रत्युत्पन्नमति का परिचय देती हुई नहले पर दहला रखती है—

पहुर हुवउ ज पधारियां, मौ चाहंती चित्त ।
डेडरिया खिण-मइ हुवइ, घण वूठइ सरजित्त ।। ५४८ ।।

ढोला अवाक् रह जाता है । डूमणी द्वारा ऊमर के षड्यन्त्र का तनिक संकेत पाते ही मारू निश्चय कर लेती है कि उसे क्या करना है ?

परस्पर विश्वास और सहिष्णुता आदर्श कुटुम्ब की नींव है । मारू ने अपने सरल निष्कपट और शीतल व्यवहार से पूगल-सहवास में ही ढोला का मन जीत लिया । ढोला द्वारा मन में 'खुनस' रखने पर भी वह क्षमा-निलय उस वात को पचा लेती है ! वह मालवणी से भी अपनी ओर से कटु वाद-विवाद में पहले नहीं उतरती । ढोला द्वारा बीच-वचाव से सौत के साथ मनोमालिन्य समाप्त कर गृहस्थी को सुचारू रूप से चलाती है । अशान्ति को निमन्त्रण नहीं देती ।

भारतीय समाज में पति से विलग नारी का अपना सामाजिक मूल्य नहीं । मारू को अपने विवाहित होने का भान हुआ तो उसके कर्तव्य-निर्धारण में समय नहीं लगा । वह अपने पति की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न-रत रही तथा अंततः उसने अपना काम्य प्राप्त कर ही लिया । नरवर के मार्ग में ऊमर सूमरा के सुनियोजित षड्यन्त्र का ढोला शिकार वन जाता है । ऐसी परिस्थिति में भी वह साहस और धैर्य से काम लेती है । उसने विपत्ति में ढोला का साथ नहीं छोड़ा और ऊँट पर सकुशल वच निकलने में अपूर्व साहस का परिचय दिया ।[5] राजकुमारी होने के नाते मारू अपने कुल-गौरवानुरूप ललित कलाओं में भी निष्णात है । क्षत्रिय कन्या होने के कारण वह घुड़सवारी में दक्ष है, चर्चरी नृत्य में पारंगत है[6] । ढोला से प्रथम भेंट में ही वह

१. दो. सं. २०४ ।
२. दो. सं. २०५ ।
३. दो. सं. २०० ।
४. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ८२ ।
५. दो. सं. ६३४-३८ ।
६. दो. सं. १४५-४६ ।

कोई गाथा, पहेली, गीत, गुणोक्ति अथवा कोई नवल कथा कहने का प्रस्ताव रख कर[1] वह अपने कला और साहित्यानुराग का परिचय देती है। ढोला द्वारा पूछी गयी पहेलियों के दिये गये उसके प्रत्युत्तर भी[2] उसकी कला-उपासना और साहित्य-अभिरुचि प्रकट करते हैं। मारू का अपनी जन्मभूमि के प्रति तीव्र अनुराग है। मालवणी को दिये गये प्रत्युत्तर में उसका जन्मभूमि प्रेम झलकता है। अपनी जन्मभूमि की कठोर जीवन-यापन की समस्याओं के होने पर भी उसके हृदय में उसके प्रति अनुराग का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। ऐसा अनुराग अभिनन्दनीय है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में स्त्रियों की प्रेमसम्बन्धिनी ईर्ष्या का भी शृंगार रस में एक विशेष स्थान है।[3] मालवणी द्वारा व्यंग्य कसे जाने पर वह असहिष्णु बन जाती है। उसकी सपत्नि-ईर्ष्या भभक उठती है और वह मालवणी को ऐसी खरी-खोटी सुनाती है कि मालवणी निरूत्तर हो जाती है।[4]

संक्षेप में मारू नारी-रत्न है। वह अनुपम सौन्दर्यमयी कुलांगना, उज्ज्वल चरित्र वाली, विरह की विमल विभूति, आदर्श नारीत्व की पुंजिभूत प्रतिमा, क्षमा निलय है और अपनी सच्ची लगन, निष्ठा, साहस, कर्त्तव्य-परायणता, लज्जाशीलता, सरसता, कोमलता आदि चरित्र के गुणों के कारण वह भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है।

४. मालवणी :

मालवगढ़ के राजा की पुत्री मालवणी इस काव्य की सहनायिका है। यह ढोला की द्वितीय पत्नी है। ढोला अपनी प्रथम विवाहिता मारवणी से सर्वथा अपरिचित रहता हुआ इससे अत्यन्त घनिष्ठ एवं प्रगाढ़ प्रेम रखता है। मालवणी में सहनायिका के प्रायः सभी गुण-धर्म मिल जाते हैं।

मालवणी की आकर्षक रूप-निधि एवं सौन्दर्य-सुषमा पर कवि ने उस तरह वर्णन प्रस्तुत नहीं किया जिस तरह मारू के नख-शिख चित्रण में। इतने पर भी हमें उसकी रूप-राशि का कवि द्वारा प्रयुक्त विशेषणों से सांकेतिक परिचय प्राप्त हो जाता है। कवि उसे 'पद्मिनी'[6] कह कर सर्वश्रेष्ठ नारी-रूप की संज्ञा से अभिहित करता है। सौदागर के शब्दों में ढोला की उससे अत्यन्त अनुरक्ति एवं घनिष्ठता है—

ढोलइ तिण वहु प्रीति छइ, अति रंग नेह घणेहि। ६४।

इस अनुरक्ति में मालवणी की सम्मोहक रूप-राशि का अवश्य हाथ रहा होगा। ढोला मध्युगीन नायक है। उसे मालवणी अपने रूप-सौन्दर्य की मोहक किरणों से वर्ष पर्यन्त रोके रखती है यद्यपि ढोला मारवणी की ओर उन्मुख हो चला था। ढोला के मन में उसके प्रति अत्यन्त आदर का स्थान है।[7]

१. दो. सं. १४५।
२. दो. सं. ५६७।
३. दो. सं. ५६६-८०।
४. जायसी ग्रंथावली : भूमिका : पृ. १२५।
५. दो. सं. ६६३-६६।
६. दो. सं. २१५।
७. दो. सं. २२१ एवं २३८।

मालवणी मन, वचन एवं कर्म से ढोला का मन जीत लेती है जिसके परिणाम स्वरूप ढोला उसमें अत्यन्त अनुरक्त और प्रगाढ़ प्रेमाबद्ध है। उसका समस्त आचार-व्यवहार पतिव्रता के अनुकूल है। उसके आचरण का ढोला पर इतना प्रभाव है कि एक बार तो ढोला अपनी मारू-मिलनोत्कंठा तथा तत्सम्बन्धी प्रणय-भावना को उसके सम्मुख खुलकर रख भी नहीं सकता।

वह ढोला के सुख में सुखी और दुख में दुखी रहती है। जब ढोला की मारवणी से मिलनार्थ आतुरता उसके चेहरे पर मंडरा रही होती है तब मालवणी भी 'प्रीतम देखि उदास' स्वयं दुखी होती है और इसका बारम्बार कारण जानना चाहती है।[1] इतने पर भी ढोला के हठ और आग्रह पर वह कुछ हिचक-झिझक के पश्चात् उसे सुप्त-दशा में छोड़कर जाने की आज्ञा भी दे देती है।[2] मालवणी के इस निश्चय में त्याग की भावना सराबोर है।

भावी असह्य विरह की आशंका एवं ढोला के प्रति प्रेमासक्ति के कारण मालवणी पन्द्रह दिन तक सोयी भी नहीं।[3] पति से विलग होने की असह्य वेदना से जूझने का यह कैसा अदम्य और कठोर साहस है ? ढोला को 'आप जावें' कहने की अपेक्षा अपनी जिह्वा के सौ-सौ टुकड़े होना वह अधिक पसन्द करती है।[4]

मालवणी के चरित्र की उज्ज्वल झाँकी हमें उसकी विरह-विदग्धावस्था में प्राप्त होती है। ढोला के पूगल प्रस्थान कर देने पर उसे विरह का दुसह्य दुर्निवार आघात लगता है। हृदय रूपी आकाश विरह के बादलों से आच्छादित है और नैत्रों से मेह टपक रहा है। उसके शरीर की समस्त संधियाँ शिथिल हो गयी हैं,[5] गले के नीचे पानी नहीं उतरता और हृदय में श्वास नहीं समाता।[6] उसे सारा घर जैसे काट रहा हो। वह उस महल का कोना-कोना ढूँढती है जहाँ शायद प्रियतम का कोई मीठा बोल लगा हो—

कोइक मीठउ बोलड़इ, लागो होसइ तेण ॥ ३५९ ॥

प्रियतम के बिना वह अपना कौड़ी मोल भी नहीं समझती ॥[7]

ढोला के बिना शृंगार कैसे मन को भाये ? मालवणी काजल, तिलक और ताम्बूल—तीनों का त्याग कर देती है।[8] चंपे का नौसर-हार उसे अंगार-सदृश लगता है।[9] उसके नैत्र हरिण की तरह ढोला के पीछे दौड़कर भी उसे पा नहीं रहे हैं; वे न दिन में लगते हैं और न रात में।[10] उसके लिये तो अमूल्य धरोहर है साल्हकुमार के प्रस्थान करते समय आँगन में बने पद-चिह्न, जिनकी धूलि मुट्ठियों में भर-भर कर वह अपने हृदय से लगाती है—

---

१. साहिब हँसउ न बोलिया, मुझसूं रीस ज आज।
अंतरि आमणदूमणा, किसउ ज इवड़उ काज ॥ २१८ ॥

२. दो. सं. ३०५। ३. दो. सं. ३४२।
४. दो. सं. ३४०। ५. दो. सं. ३४९।
६. दो. सं. ३५८। ७. दो. सं. ३७०।
८. दो. सं. ३५३। ९. दो. सं. ३६६।
१०. नयण कुरंगउ ज्यूं वहइ, लगइ दीह नइं रात ॥ ३६४ ॥

साल्ह चलंती परठिया, आँगण बीखड़ियाँह ।
सो मइं हियइ लगाड़ियाँ, भरि-भरि मूठड़ियाँह ।। ३६६ ।।

ये चरण-चिह्न ही कुए के कुहरे की तरह उसके हृदय में हो रहे हैं ।[१]

मालवणी के चरित्र की विशिष्टता है पति में अनन्य निष्ठा । इस कथन में जैसी निष्ठा प्रतिष्ठित है वैसी कहाँ मिलेगी—

सज्जण गुणे समुद्द तूं, तर-तर थक्की तेण ।
अवगुण एक न साँभरइ, रहूं विलंबी जेण ।। ३७६ ।।

ऐसी विरहावस्था में यदि उसके नेत्रों के शोकाभिभूत होने से उसका चीर और उसकी कंचुकी अश्रु-आर्द्र होकर निचोड़ने योग्य बन जाय,[२] तो कथन में ऊहात्मकता लग सकती है, पर व्यंजना की एकरूपता से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

प्रिय की कामना-सिद्धि ही उसका अभीष्ट है ।[३] ढोला ने तो मतवाले की सुराही की तरह पान करके उसे छोड़ दिया,[४] पर वह चित्त से ढोला को नहीं विसारती ।[५] इस प्रकार मालवणी के हृदय की विशालता, पवित्रता और संवेदनशीलता का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है जिसमें कर्त्तव्यनिष्ठ भावना का समावेश है । उसका निम्नोक्त कथन तो पातिव्रत्य की पराकाष्ठा ही है—

हइ रे जीव निलज्ज तूं, निकस्यू जात न तेहि ।
प्रिय विछुड़त निकस्यउ नहीं, रह्यउ लजावण मोहि ।। ३७२ ।।

यहाँ इस स्थल पर एकनिष्ठ पति-प्राण भारतीय गृहिणी मालवणी का चरित्र-कमल अपना पूरा परिमल विखेर रहा है । कवि ने उसके विरह में उसकी अस्थिर मनोदशा में उठती हुई भाव-लहरियों में एक के बाद एक कितने ही प्रेमी-मन के उद्गार लहराये हैं । इनमें मालवणी का चरित्र शुचिता के परम उत्कर्ष पर पहुँचा है एवं इस वियोग-दशा की व्यंजना द्वारा ढोला के प्रति गूढ़-गम्भीर प्रेम की व्यंजना हुई है ।

मालवणी में अपने मालव-प्रदेश के प्रति अनन्य अनुराग है । मारू प्रदेश की निन्दा में उसके मालव-प्रदेश की अच्छाई निहित है[६] और उससे व्यंजित होता है मालवणी का अपने प्रदेश के प्रति अपूर्व अनुराग ।

मालवणी में चतुराई और व्यवहार-कुशलता कूट-कूट कर भरी है । ढोला को मारू सम्बन्धी किंचित् भी सूचना न मिले, उसके लिये पूगल से आने वाले मार्गों की उसकी नाकेबन्दी कितनी चातुर्य भरी है ? ढोला के चेहरे पर शिकन देखते ही वह सशंक हो उठती है ।[७] ढोला की बहानेबाजी का वह ऐसा दो टूक उत्तर देती है कि

---

१. दो. सं. ३६७ । २. दो. सं. ३५७ ।
३. दो. सं. ३४० । ४. दो. सं. ४१८ ।
५. नयणे तो वीसारिया, तूं मत विसरै चित्त ।। ४२१ ।।
६. दो. सं. ६५४–६२ ।
७. जेहा सज्जण काल्ह था, तेहा नांहीं अज्ज ।
नायि त्रिसूलइ, नाक सल, काई विणट्ठा कज्ज ।। २१६ ।।

ढोला का सारा तर्क बह जाता है और उसे मन की बात कहनी ही पड़ती है।[१] ढोला को रोकने के लिये वह अपनी समस्त व्यवहार-कुशलता को दाँव पर लगा देती है। ऊँट से लंगड़ा होने की अनुनय विनय करना,[२] ढोला से सुप्तावस्था में छोड़कर जाने का वचन ले लेना[३] और ढोला के इस प्रकार चले जाने पर पीछे से शुक द्वारा मृत्यु-सन्देश भेजकर[४] उसने हर बात में चतुराई प्रकट की है।

सपत्नी-द्वेष नारी स्वभाव का विशिष्ट अंग है। मालवरणी भी उससे अछूती नहीं है। पूगल से आने वाले मार्गवाहियों को मरवा तक देना, ढोला को प्रलोभन देकर दो वर्ष पर्यन्त रोके रखना इत्यादि में ईर्ष्या-प्रवृत्ति का अंश भी है। मालवरणी का नारीत्व प्यार में विभाजन नहीं चाहता। अखण्ड एवं अविभाज्य प्रेम-कामना ही उसे इष्ट है।

मालवरणी में स्वार्थ की भावना भरी हुई है जिससे प्रेरित होकर वह पूगल से आने वाले राहगीरों को मौत के घाट उतरवा देना,[५] अकारण ही गधे को दाग लगवाना[६] जैसे अमर्यादित आचरण तक कर बैठती है। मारू से अनायास ही अकारण वाद-विवाद में उलझना भी उसका अविवेकपूर्ण माना जायगा! मालवरणी के इन कार्य-कलापों में स्वार्थ की अतिरेकता है और उसका यह असंयत एवं अमर्यादित आचरण उसके चरित्र को कालिमा-युक्त बना देता है।

इतना होने पर भी पाठक की सहानुभूति उसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। कारण कि उसका चरित्र एक ओर आदर्श भारतीय नारी को संप्रकाशित करता है तो दूसरी ओर वह स्त्री-सुलभ दुर्बलताओं से युक्त यथार्थ की ठोस भूमि पर भी टिका हुआ है। पति में ऐसी अनन्य निष्ठा कम देखने को मिलेगी। वह ढोला की एक निष्ठ पुजारिन है। प्रबल प्रेम के आवेग में उसने जो कुछ भी करणीय-अकरणीय किया, उस पर भावोत्कर्ष की दृष्टि से ही विचारना अधिक संगत होगा, साधारण धर्म-नीति की कसौटी पर कसना न्याय संगत नहीं होगा।

ग : गौण-पात्र :

इस काव्य की कथा-वस्तु में अनेक गौणपात्र भी आये हैं। चरित्र-गठन की दृष्टि से इन गौण-पात्रों का इतना महत्व नहीं जितना कथानक में गतिशीलता लाने, नाटकीयता का सृजन करने, कौतूहल बनाये रखने और घटना-संयोजन में है। इनका परिचयात्मक आलेख इस प्रकार है—

पिंगल राव कथा-नायिका मारवणी के पिता हैं। पत्नी की प्रेरणा से इन्होंने पुत्री का विवाह सुयोग्य वर ढोला के साथ कर दिया। विपत्ति में भी नहीं झुकने की प्रवृत्ति इनमें विद्यमान है। लोकभीरू भी ये कम नहीं हैं। ढोला के पिता **नल** राजोचित परम्पराओं के पालक हैं। पूगल नरेश पिंगल का इन्होंने यथोचित सत्कार

१. दो. सं. २३८।
२. दो. सं. २१७-२८।
३. दो. सं. ३०५-६।
४. प्रीतम वाँसइ जाइ नइँ, मुई सुणावे मुज्झ ॥ ३९८ ॥
५. दो. सं. ९६।
६. दो. सं. ३३३।

किया और अपने पुत्र का विवाह मारू के साथ कर दिया। घोड़ों का **सौदागर** ढोला के समाचार प्रेषित करके कथा की गति में नवीन मोड़ लाता है। इसके फलस्वरूप कथा में अद्भुत नाटकीयता का संचार हो जाता है। **खवास** राजा पिंगल का विश्वासपात्र सेवक है जो सौदागर को ढोला व मारवणी के विवाह की सूचना देता है। **गुणी ढाढ़ी** पिंगल के संदेश-वाहक बन कर ढोला को पूगल लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करते हैं। वे संगीत द्वारा सभी प्रकार की बाधाओं को दूर करने में सफल होते हैं। उनके इस कार्य में सामन्त-समाज की सन्देश-प्रेषण की की परम्परा सुरक्षित रही है। **रैबारी** ऊँटशाला का आरक्षक व ऊँटों का निपुण परीक्षक है। वह ढोला के लिए तीव्रगामी ऊँट तैयार करके लाता है जो नागरवेल खाने वाला और गंगा का पानी पीने वाला है। **गडरिया** प्रेम-मार्ग की बाधा के रूप में उपस्थित होकर ढोला को मार्ग में रोकता है पर ढोला ऊँट की प्रेरणा से बढ़ता ही जाता है। गडरिये की उपस्थिति से काव्य में राजस्थान के प्राकृतिक वातावरण का सही चित्र उपस्थित हो जाता है। **ऊमर सूमरा का चारण** प्रेम-मार्ग की दूसरी बाधा के रूप में आकर मारवणी के जराग्रस्त होने की सूचना देता है। इससे ढोला की रूपलिप्सा की परीक्षा हो जाती है। **वीसू चारण** ढोला के चंचलचित्त को मारवणी के सौन्दर्य का बखान करके शान्त करता है। कथा को आगे बढ़ाने में वीसू महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। अतः इसे इस कथा का प्रमुख गौण-पात्र कहा जा सकता है।

पिंगल की रानी व मारू की माता **उमा** ही ढोला की सुन्दरता से प्रभावित होकर मारवणी के साथ उसका विवाह कराती है। पिंगल उसी की प्रेरणा से ढोला को सन्देश भेज कर बुलवाता है। दाम्पत्य-जीवन में उमा का सर्वोपरि स्थान असंदिग्ध है। **चंपावती** ढोला की माता है। यह बड़ी चतुर व चालाक स्त्री है। इसके अतिरिक्त मारवणी की **सखियाँ, दीपधारिणी, डूमणी** आदि नारी पात्र भी हैं जो कथा में बीच-बीच में प्रकट होकर कोई नवीनता का आकस्मिक मोड़ उपस्थित कर देते हैं।

घ : पशु-पक्षी पात्र :

'ढोला मारू रा दूहा' में ऊँट, शुक, गधा, कुरझें, पपीहा आदि मानवेतर प्राणी भी कथानक में नवीनता लाने या कथा की गति के अवरोध को दूर करने में सहायक हुए हैं। ढोला का **ऊँट** उसके कार्य में कष्ट सह कर भी सहायक बनता है। निराश होने पर वह ढोला को आशा बँधाता है। वह सत्परामर्शदाता के प्रतीक के रूप में इस कथा में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। **शुक** गुणवान संदेश-वाहक की भूमिका निभाता है। इस कार्य में शुक परंपरागत प्रतीक की तरह प्रयुक्त हुआ है। **गधा** मालवणी के षड्यन्त्र से दागा जाता है। **पपीहा** अपनी वाणी से मारवणी के विरह में तीव्रता ला देता है। **कुरझें** मारवणी के विरह-दुःख की सह-भागिनी बनती हैं, परन्तु उसके सन्देश को ले जाने में प्रयुक्त होकर सभी प्राणियों में समान सहानुभूति-सूत्र की विद्यमानता को प्रमाणित करती हैं और इस प्रकार एक अखंड जीवन समष्टि का आभास कराती हैं।

च : अलौकिक पात्र :

कई अलौकिक पात्रों की उपस्थिति से इस कथा में आकस्मिक मोड़ आ गया

है। मारू की परिचिता एक **योगिनी** और **योगी** आते हैं। योगिनी के आग्रह से योगी मंत्राभिषिक्त जल पिला कर मारू को सचेत कर देते हैं। इस घटना से कथा में नाटकीय परिवर्तन आ जाता है। काव्य की कुछ प्रतियों में योगी-योगिनी के स्थान पर **शिव-पार्वती** का आगमन होता है। ऐसी घटनाओं का संयोजन करके प्रेम की शाश्वत भावना को दिखाना और उसमें अलौकिक शक्तियों के योगदान को प्रकट करना ही कृतिकारों का उद्देश्य होता है।

छ : अन्य पात्र :

अन्य पात्रों में **बूर** (घास) और **जाल** (झाड़ी) का नाम लिया जा सकता है। ये विरह के उद्दीपन के रूप में काव्य में आये हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' के चरित्र गतिशील तथा गतिहीन, दोनों प्रकार के हैं। ढोला, मारवणी, मालवणी एवं ऊमर सूमरा के चरित्रों में यथावसर उनके विभिन्न पक्ष, कहीं-कहीं अन्तर्द्वन्द्व, परस्पर संघर्ष, उससे होने वाले रूपान्तर और विकास का चित्रण हुआ है। इनके चरित्र में प्रधान गुण प्रेमानुभूति का है। विभिन्न परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से अन्य चारित्रिक गुण भी प्रसंगतः उभर आये हैं। अतः उनका चरित्र जीवन-संघर्ष में परिस्थितियों के अनुसार बदलता हुआ तथा फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता जान पड़ता है।

कथानक में जो अन्य गौण पात्र पिंगल, नल, उमा देवड़ी, चंपावती, सौदागर खवास, वीसू चारण, रैवारी आदि आये हैं, उनके चरित्र का एक ही पक्ष एक ही रस-रूप में चित्रित हुआ है। ये चरित्र गतिहीन श्रेणी के हैं। कथानक में घटनात्मक-संयोजन के समय ही ये पात्र हमारे समक्ष आते हैं। आदि से अन्त तक इनका चरित्र एक-सा ही बना रहता है। इस पर भी इनके अवतरण से कथानक में जो नाटकीयता की सृष्टि हुई है वह अत्यन्त कलात्मक बन पड़ी है।

समालोच्य ग्रंथ के पात्रों की जो चरित्र-परक विशिष्टताएँ उपलब्ध होती हैं उन्हें दृष्टिगत रखते हुए हम 'ढोला मारू' के चरित्र-विधान को इन रूपों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. आदर्श रूप में; २. जाति-स्वभाव के रूप में;
३. सामान्य स्वभाव के रूप में, और ४. व्यक्ति-स्वभाव के रूप में।

इसके कथा-कलेवर की अत्यल्प पात्रों द्वारा संसृष्टि हुई है। कथा-फलक के इस प्रकार सीमित होने के कारण उसमें घटनाओं के स्थान पर मार्मिक अनुभूतियों की अपेक्षाकृत अधिक व्यंजना हुई है। इन परिस्थितियों में कवि-कर्म और भी कठिन हो जाता है; परन्तु 'ढोला मारू' का कवि पात्रों के अन्तरंग से परिचित है, उन्हें पहिचानता है। उसमें वस्तु, परिस्थिति एवं चरित्र के सूक्ष्म-विश्लेषण प्रस्तुत करने, रहस्योद्घाटन करने तथा समझने के लिये जिस अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा है, वह इस कृतिकार में प्रत्यक्ष है। इस कारण ही पात्रों की मार्मिक अनुभूतियाँ सफलता से व्यंजित हुई हैं और विशेषता यह है कि इससे कथानक की गति में मन्थरता एवं एकरसता का अंश-मात्र नहीं।

पात्रों का चरित्र निरूपण भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दोनों रीतियों से किया गया है। इससे स्पष्टता एवं तीव्रता आई है। पर इस काव्य का सौन्दर्य परोक्ष चरित्र-चित्रण में ही निहित है। वस्तुतः काव्य में कलात्मकता भी परोक्ष चित्रण द्वारा ही आती है। विभिन्न घटनाओं, कार्य-कलापों और अन्य पात्रों के घात-प्रतिघात द्वारा प्रमुख पात्रों के चरित्र निर्मित हुए हैं। अतः उनमें मौलिकता का अंश एवं सजीवता आ गयी है जो एक सुन्दर कलात्मक कृति का अनिवार्य और आवश्यक गुण है।

चरित्र-चित्रण के प्रसंग में औचित्य पर भी लिखना उचित रहेगा। विना औचित्य के प्रभावोत्पादकता नहीं आ सकती। पुरुष चरित्र में पौरुषिक गुणों की अभिव्यक्ति एवं नारी चरित्र में नारी-सुलभ गुणों का आकलन समीचीन होता है। 'ढोला मारू रा दूहा' के पात्र अपने-अपने सृष्टि-भेद के अनुसार अपने-अपने वर्ग तथा अपनी-अपनी पृष्ठ-भूमि का प्रतिनिधित्व करते हैं। ढोला एक मध्ययुगीन सामन्त है जिसमें सामन्त-व्यवस्था से पोषित संस्कार हैं। दूसरी ओर नारीपात्रों में उनके स्वाभाविक गुण यथा सरलता, निष्कपटता, अगाध विश्वास, पातिव्रत्य, भावुकता, सौकुमार्य, सौतिया-डाह आदि विद्यमान हैं। यहाँ कथा में राजा, रानी, सामन्त, नौकर-चाकर, चारण, दासी, पुरोहित, ढाढ़ी आदि सामन्त-व्यवस्था की विविध हलचलों में भाग लेने वाले पात्र भी यथास्थान कार्य-रत हैं।

भारतीय काव्यों में वहुधा-अलौकिक और पशु-पक्षी चरित्र भी कार्य-कलापों में स्वयं हिस्सा लेते हुए या कार्य-व्यापारों को प्रभावित करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस काव्य में भी लोक-विश्वास के अनुरूप योगी-योगिनी तथा ऊँट, शुक आदि पशु-पक्षी कथा को अग्रसर करते हुए मिलते हैं।

चरित्र जीवन के अनुकूल भी होने चाहिये। इस काव्य के पात्रों का चरित्र-निदर्शन अत्यन्त स्वभाविक ढंग से हुआ है। कवि का उद्देश्य उनके चरित्रांकन में आदर्श प्रतिष्ठापक व्यवहारों का प्राधान्य दिखाना नहीं है। सभी पात्र संवेदनशील प्राणी हैं; मानव-मन की अच्छाइयों-बुराइयों से युक्त। आदर्श एवं यथार्थ की झिलमिली से वे अत्यन्त स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक वन पड़े हैं।

चरित्र-योजना की सवसे उल्लेखनीय वात यह है कि पात्र हिन्दू-गृहस्थ-जीवन से आये हैं। अतः उनके चरित्र में उच्छृंखलता नहीं अपितु शालीनता है, मात्र आदर्श नहीं वरन् लौकिकता है। पात्रों का चरित्र हिन्दू-दाम्पत्य-जीवन के आदर्शो तथा तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं से पूर्ण सामन्जस्य रखता है। ये गार्हस्थिक-प्रेम के पथिक हैं, सूफी साधक नहीं। इस विभेद के कारण 'ढोला मारू रा दूहा' के पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का समावेश है।

'ढोला मारू' के पात्रों में चरित्र-वैविध्य की अवश्य कमी है। इसका कारण कथा-फलक की कमजोरी नहीं वल्कि आकारिक लघुता है। रसानुभूति की ओर झुकाव होने से कथा में विविध चरित्रों का जमघट नहीं दिखाई पड़ता।



तृतीय परिच्छेद

काव्य-स्वरूप

तृतीय परिच्छेद : काव्य-स्वरूप

(अ) प्रबन्धात्मकता :

'बन्ध' में 'प्र' प्रकृष्टता बोधक उपसर्ग से निर्मित हुए 'प्रबन्ध' से तात्पर्य है 'पद्य जो बन्धान में है' अर्थात् 'पद्यों की परस्पर सुनियोजना'।

आचार्य वामन ने ऐसे काव्य को 'निबद्ध' अर्थात् पूर्वापर-सम्बन्ध-युक्त कहा है और उसे 'माला' कहा है जबकि अनिबद्ध अर्थात् पूर्वापर-सम्बन्ध-रहित काव्य को मुकुट।[1] इससे यह तात्पर्य निकलता है कि प्रबन्ध में माला के समान सुसम्बद्धता और संगठन होता है जिसके विपरीत मुक्तक में मुकुट के समान स्वतंत्रता और विशृंखलता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसीलिये कहते हैं कि यदि प्रबन्ध काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।[2]

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-काव्य के आवश्यक तत्वों पर विचार करके उसके अधोलिखित आवश्यक तत्त्व निरूपित किये हैं—

१. विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर, (वृत्त-पूर्वघटित अर्थात्) ऐतिहासिक अथवा (उत्प्रेक्षित अर्थात्) कल्पित कथा-शरीर का निर्माण;
२. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी इसके प्रतिकूल स्थिति (कथांशादि) को छोड़कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण ;
३. केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं ; अपितु (शुद्ध) रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यंगों की रचना ;
४. यथावसर (रसों के) उद्दीपन तथा प्रशमन (की योजना) और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान (स्मरण रखना) ;
५. (अलंकारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण) शक्ति होने पर भी (रस के) अनुरूप ही (परिमित मात्रा में) अलंकारों की योजना।[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की प्रबन्ध-कल्पना पर विचार करते हुए दो आवश्यक बातें बतलायी हैं— इतिवृत्तात्मकता तथा रसात्मकता। इतिवृत्तात्मकता से तात्पर्य एक ऐसी मुख्यकथा से है जो आदि से अन्त तक चलती है तथा रसात्मकता से तात्पर्य उन प्रासंगिक वर्णनों से है जिनमें जीवन दशा के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं और जो हृदय को रमाने में समर्थ होते हैं।[4]

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : १/३/२७-२८ ॥
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० २४७।
३. ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत : १०-१४।
४. जायसी ग्रंथावली : भूमिका : पृ० ६८।

समग्रतः प्रवन्ध काव्य के निम्नलिखित तत्व हुए—

१. सानुवन्ध प्रवाहपूर्ण इतिवृत्त,
२. सुसम्वद्ध प्रासंगिक कथा-योजना,
३. रसाभिव्यंजना,
४. मार्मिक स्थलों का चयन,
५. वस्तु-वर्णन,
६. अलंकृति और गुणोत्कर्ष,
७. सम्वन्ध-निर्वाह, तथा
८. कार्य की दृष्टि से एकरूपता।

सानुवन्ध प्रवाहपूर्ण इतिवृत्त और सुसम्वद्ध प्रासंगिक कथा-योजना पर हम द्वितीय परिच्छेद में 'कथा-संगठन' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत विचार कर चुके हैं।

रसात्मकता सफल प्रवन्धत्व का प्राण है। इसी के कारण काव्य अमर बनता है। 'ढोला मारू' रसाभिव्यंजना की दृष्टि से अनूठा काव्य है। इसका अंगीरस है शृंगार और इसमें भी विप्रलम्भ का ही विस्तृत चित्रण है।

ढोला के स्वप्नदर्शनजन्य विरह में मारवणी की अन्तर्वेदना सर्वप्रथम मारवणी-सखी संवाद में प्रत्यक्ष होती है और तनिक सौदागर की कथा से दिये गये विराम के पश्चात् पुनः संदेश में अभिव्यक्त होती है। इस प्रसंग में वियोग-शृंगार की मार्मिक एवं अन्तः स्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। मारवणी की मिलनोत्कण्ठा का काव्य में अत्यन्त मार्मिक वर्णन है। यह उत्कंठा विरह कोटि की मानी जा सकती है क्योंकि ढोला का मारवणी से परिणय हो चुका था। इसकी आलम्वन-गत अनेक काम-दशाएँ यहाँ सुन्दर रूप से व्यक्त हुई हैं यथा गुण-कथन (दो. सं. ११५ से १३२), मरण अभिलाषा (दो. सं. ११२, १४६ से १५२) आदि। यहाँ उसकी सन्ताप, पाण्डुता, दुर्वलता, अधीरता, अनालम्वता, उन्माद, मूर्च्छा, तन्मयता, मरणाभिलाषा आदि अनेक कामदशाएँ और निःश्वास, उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन आदि चेष्टाऐं इस प्रसंग में दो. सं. ३४८ से दो. सं. ४२१ तक व्यक्त हुई हैं।

पीवण सर्प द्वारा मारवणी के प्राण-हरण प्रसंग में करुण विप्रलम्भ शृंगार की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इसमें ढोला के शोक-संवलित रतिभाव की अभिव्यंजना हुई है। इसके आलम्वन विभाव एवं अनुभावों की अभिव्यक्ति हमें दो. सं. ५९९ से दो. सं. ६१२ तक मिलती है।

'ढोला मारू रा दूहा' में संयोग शृंगार—पूर्व रागान्तर संयोग और करुण विप्रलम्भान्तर संयोग—इन दो स्वरूपों में अनुभूतिगम्य होता हुआ दिखाई देता है। पूर्वरागान्तर संयोग ढोला के पूगल पहुँचने पर दो. सं. ५४३ से ५९३ तक के दोहों में प्राप्य है। करुण विप्रलम्भान्तर संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति मारवणी के पुनर्जीवित हो जाने के प्रसंग में और मारवणी को लेकर ढोला के नरवर गढ़ पहुंचने तक के वृत्त खण्ड में हुई है। यह शृंगार अंशतः अस्पष्ट रूपेण ही काव्य में अभिव्यक्त हुआ है।

उपर्युक्त शृंगार अवस्थाओं की सुनियोजना प्रबन्धत्व की रसात्मकता की पूर्ण परिचायिका है। कवि ने अत्यन्त कौशल से भाव-विभाव-अनुभावों को व्यक्त किया है। रसात्मकता के लिये कवि ने कथा प्रवाह को मोड़ा है और कल्पना का सहारा लेकर सजीव बना दिया है। रसाभिव्यंजना के कारण 'ढोला मारू रा दूहा' 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का मूर्त्तरूप है।[1]

मर्म-स्पर्शी स्थलों के चयन में 'ढोला मारू रा दूहा'-कार ने अपनी प्रबन्ध-पटुता का सुन्दर कलात्मक परिचय किया है। इस काव्य के निम्नांकित प्रसंग अत्यन्त अंतःस्पर्शी, सरस एवं भावविभोर करने में सक्षम हैं—

१. स्वप्नगत ढोला-मिलन के उपरान्त पूर्वराग विप्रलम्भ शृंगार की काम-दशाओं के वर्णनांतर्गत मारवणी की विरहोक्तियाँ;
२. मंजिष्ठा पूर्वराग से आर्द्र मारवणी के विरह सदेश में उसकी विरह-व्यथा और अंतर्वेदना का निदर्शन;
३. प्रवास विप्रलम्भ की वियोगावस्था में मालवणी की विरह संवेदना का भावमय चित्रण;
४. करुण विप्रलम्भ शृंगार की वियोग अवस्था में मारू की मृत्यु पर ढोला का विलाप;
५. पूगल यात्रा से पूर्व मालवणी-ढोला संवाद में ऋतु-चित्रण;
६. ढोला-मारू के मिलन प्रसंग में संयोग शृंगार की कामदशाओं एवं रसानुभावों का रत्युत्पादक तथा मार्मिक स्थल;
७. उपर्युक्त स्थल में परिहासमूलक उभयपक्षात्मक संवाद-योजना;
८. वीसू का हृदयहारी नख-शिख वर्णन।

मार्मिक प्रसंगों के सुचयन से सारा इतिवृत्त ही रस-रत्नाकर बन गया है। एक भी अनपेक्षित वर्णन काव्य में नहीं मिलता जिसने कथानक की अनावश्यक कलेवर-वृद्धि के साथ शुष्कता और असम्बद्धता की सृष्टि की हो। जीवन के मोहक और अनुरंजक प्रेम का कुशल कवि ने सुन्दर और आकर्षक चित्र खींचने में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। उसके हृदय का समस्त रस इन रसमय मर्मस्पर्शी स्थलों में हमें प्राप्त होगा। यही कारण है कि ये प्रसंग हमारी रागात्मक वृत्ति को जाग्रत करते हैं और हमारे समक्ष चित्र-सा खिंच जाता है। इनमें भावनाओं का नैसर्गिक सौन्दर्य और प्रच्छन्न प्रवाह तो मिलेगा ही, साथ ही ये प्रसंग कवि की कला-कुशलता के भी परिचायक हैं। कवि विरह का कुशल चितेरा है—ये प्रसंग इसकी साक्षी देते हैं। ये रसात्मक स्थल मुख्य उद्देश्य-पूर्ति में सहायक हैं और कथा को विशृंखलित भी नहीं करते। ये मार्मिक प्रसंग साहित्य-जगत् की शाश्वत निधि हैं। 'सारे प्रबन्ध में ये रसात्मक स्थल हार के बहुमूल्य मुक्ताफलों की तरह पिरोए हुए हैं और इतिवृत्त का

---

१. इस काव्य की रस योजना पर चतुर्थ परिच्छेद में विस्तृत विचार किया गया है।

पतला-सा सुवर्णसूत्र इन मोतियों को एक लड़ी के रूप में पिरो देने के लिये व्यवहृत हुआ है।"[१]

वस्तु-वर्णन प्रबन्ध-पटुता एवं प्रबन्ध-शिल्प का महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्त्व है। इसके सुसंयोजन से रागात्मक वृत्ति झंकृत होती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "उसमें (प्रबन्ध काव्य में) घटनाओं की सुसम्बद्ध शृंखला के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिये। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता।"[२] अतः काव्य के घटनाचक्र के अंतर्गत वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण ऐसा विविध रूपात्मक, कलात्मक और प्रभविष्णु होना चाहिये कि वह रसाभिव्यक्ति एवं भावोद्रेक में पूर्ण समर्थ और सहायक बनकर काव्य की शोभा बने।

'ढोला मारू रा दूहा' में ऐसे अनेक आह्लादकारी प्रसंग हैं जो रसोद्‌बोधन में समर्थ हैं और जिसके फलस्वरूप समस्त काव्य में रसात्मकता और सौन्दर्य का संचार हुआ है। वे अधोलिखित हैं—

१. देश-काल चित्रण,
२. नख-शिख चित्रण,
३. प्रकृति वर्णन,
४. करहा वर्णन,
५. यात्रा वर्णन।

१. देश-काल चित्रण :

'ढोला मारू' का घटना-देश नरवर और पूगल है। इन दोनों ही भू-खण्डों से सुपरिचित कवि ने स्थानीय प्राकृतिक वातावरण और तद्‌युगीन समाज का सजीव चित्रण आलोच्य काव्य में प्रस्तुत किया है। मारवणी और मालवणी के वाद-विवाद[३] में तो यह नेत्रों के समक्ष साकार हो उठता है। सामाजिक जीवन और प्राकृतिक पर्यावरण का ऐसा हूबहू चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।[४] ऋतुएँ, वनस्पति, जीवन-चर्या, रहन-सहन आदि सभी कुछ हूबहू चित्रित मिलेंगे। श्री घनश्याम दास बिड़ला ने सत्य लिखा है कि "यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी कि यह पहली पुस्तक होगी जिसमें राजस्थान की आत्मा का हूबहू चित्र पाया जाता है।..................वह कितना स्वाभाविक एवं कितना सच्चा है। पांच सौ साल पहले का किया हुआ वर्णन ऐसा मालूम होता है मानो आज का ही हो।"[५]

---

१. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ० ४५-४६।
२. जायसी ग्रन्थावली : भूमिका : पृ० ६६-७।
३. दो. सं. ६५४-६७।
४. इसके सुविस्तृत अवलोकनार्थ सांस्कृतिक निरूपण का परिच्छेद देखिये। विस्तार-भय से यहाँ केवल संकेत ही दिया गया है।
५. ढोला मारू रा दूहा : प्रवचन : पृ० ६।

२. नख-शिख चित्रण :

नारी का रूप सौन्दर्य काव्य में भी अद्‌भुत सौन्दर्य की सृष्टि करता है। अतः 'ढोला मारू' के कवि ने भी रूप-वर्णन के किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया। नायिका मारवणी का रूप-वर्णन हमें निम्नलिखित प्रसंगों पर प्राप्त होता है—

क. वयः सन्धि,[१]

ख. सौदागर-खवास वार्त्तालाप,[२]

ग ढोला-ढाढी संवाद,[३]

घ. ढोला-वीसू वार्त्तालाप,[४]

ढोला और वीसू के संवाद में यह वर्णन सविस्तर प्राप्त होता है। यद्यपि यह वर्णन नख-शिख की विशिष्ट प्रणाली के अनुरूप साँचे में ढला हुआ नहीं है, परन्तु इसमें रूप-शील की सम्पूर्ण छटा का हमें आभास मिल जायगा।[५] इस चित्रण में भारतीय साहित्य के चिरपरिचित उपमानों का अवलम्बन तो है ही, अनेक मौलिक एवं अछूते उपमानों की सरसता भी मिलेगी। भाषा का सहज प्रवाह एवं सरलता, चित्ताकर्षक शैली आदि के सफल समन्वय से यह सौन्दर्य-चित्र सजीव और आकर्षक हो उठा है। इसमें हमें कवि ने अन्तर्वाह्य मधुरिमा से मंडित सौन्दर्य का अत्यन्त निपुणता, कलात्मकता एवं अपूर्वता से हमें परिचय कराया है। रूप-शील चित्रण की हर पंक्ति एक-दूसरे से बढ़कर है। यह प्रसंग इस काव्य की अनुपम निधि तो है ही, अन्य वर्णनों से भी किसी अवस्था में न्यून नहीं है।

मालवणी के नख-शिख का वर्णन कवि का अभीष्ट नहीं रहा। अतः वह काव्य में नहीं के बराबर आया है।

३. प्रकृति वर्णन :

'ढोला मारू रा दूहा' में प्रकृति वर्णन की भी अपनी विशिष्टता है। उसमें प्रकृति-वर्णन की षड्ऋतु अथवा बारहमासा जैसी नियोजना नहीं है लेकिन ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत ऋतु—इन तीन ऋतुओं का वर्णन मिलता है। इनका वर्णन पूर्वराग विप्रलम्भ, प्रवास विप्रलम्भ और संभोग शृंगार के उद्दीपन विभाव रूप में हुआ है। इस वर्णन पर स्थानीयता का गहरा रंग है।[६]

४. करहा वर्णन :

इस मरु-प्रदेश का मुख्य पालतू पशु है ऊँट, जो यहाँ के मनुष्यों के स्वभावानुसार दीक्षित होकर यहाँ के जन-जीवन का पूरक ही बन गया है। ऊँट के स्वाभाविक और सर्वांग चित्रण बिना 'ढोला मारू' का वस्तुवर्णन भी अपूर्ण और निर्जीव रहता और उसके बिना कथानक को त्वरा भी नहीं मिलती। ऊँट-विषयक कवियों की उदासीनता का परिहार हमारे कवि ने इस राजस्थानी काव्य में किया है।

---

१. दो. सं. १३। २. दो. सं. ८६-८।

३. दो. सं. १९७-२०७। ४. दो. सं. ४५१-८८।

५. विशेष विवेचन के लिये द्वितीय परिच्छेद और चतुर्थ परिच्छेद देखिये।

६. पंचम परिच्छेद में इस पर विस्तार से विवेचन किया गया है।

अमर कोश में इस विचित्र और विशालकाय पशु के उष्ट्र, क्रमेलक, मय, महांग, वक्रग्रीव, लम्बोष्ठ, कंटकाशन आदि अनेक पर्याय दिये गये हैं[१] जो इसकी शारीरिक विशेषताओं के द्योतक हैं। अन्य भाषाओं में इसे कामलोस (ग्रीक), मेलुस (लेटिन), कैमेल्ल (फ्रेंच), केमल (अंग्रेजी), गामाल (हिब्रू), जमल (अरबी) आदि कहते हैं।[२] भारत में प्रायः ५०० ई. पूर्व से ८०० ई. पूर्व के मध्य ऊँट के इतिहास पर टिप्पणियाँ मिलती हैं।[३] मॉनियर विलियम्स के अनुसार ऊँट के अर्थ में क्रमेलक के उल्लेख के लिये पंचतंत्र प्राचीनतम संस्कृत ग्रंथ प्रतीत होता है।[४]

राजस्थान में यह धरती का करौत और घर की शोभा माना गया है। श्रेष्ठ ऊँट की कसौटी है—

ओछी गोडी, नेस कड़, वहै उलालां वग्ग।
वो ओठी वो करहलो, आथण होय अलग्ग ।।[५]

अर्थात् जिसकी टाँगें छोटी हों और जिसके नेस (दाँत) निकल आये हों, ऐसा ऊँट लम्बी मंजिलें पार कर सकता है। इस प्रकार के ऊँट पर जो सवारी करता है उसे प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक पीठ से उतरने की आवश्यकता नहीं। ढोला की दृष्टि में जीन रखने के बाद हवा होने वाला और घड़ी भर में योजन चलने वाला[६] तथा नागर वेल चरने वाला ऊँट सर्वोत्तम है।[७]

ऊँटों को बाँधने के लिये अलग ऊँटशाला भी ढोला ने बनवा रखी थी।[८] मालवणी तो ऊँट को दाख और बिजारे तक चरने को देती थी।[९] ऊँट के खाने की अन्य वस्तुओं में फलियों सहित हरे मूँग,[१०] नागर वेल,[११] ऊँटकटारा,[१२] फोग,[१३] आक,[१४] करील[१५] आदि का उल्लेख कवि ने किया है। चरने के बाद ऊँट की जुगाली करने की क्रिया भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं रही—

तन्त तणवकइ, पिउ पियइ, करहउ ऊगालेह ।। ६३१ ।।

ऊँट की एक चाल विशेष को 'ढाण' कहते हैं। ऊँट ढोला से आग्रह करता है कि वह रुके नहीं—

१. काण्ड २ : वैश्य वर्ग ६ : श्लोक ७५ ।
२. मुक्ता : अंक ६० : पृ० १२८ पर श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के 'ऊँट' विषयक निबन्ध से उद्धृत ।
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : वर्ष ६३ अंक ३-४ : पृ० २६८।
४. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : पृ० ३२० ।
५. राजस्थानी कहावतें : डॉ० कन्हैयालाल सहल : पृ० २५२ से उद्धृत ।
६. पलाणियउ पवने मिलइ, घड़िए जोइण जाय। ३०८ ।।
७. दो. सं. ३०६ ।
८. दो. सं. ३०७।
९. दो. सं. ४२६ ।
१०. दो. सं. ३१६।
११. दो. सं. ३२० एवं अन्य ।
१२. दो. सं. ४२७।
१३. दो. सं. ४२८ ।
१४. दो. सं. ४३२।
१५. दो. सं. ४३१ ।

क्रम क्रम ढोला, पंथकर, ढाण म चूके ढाल । ४४० ।।

अरब देशों में तो ऊँटवालों का गीत विशेष है 'हुदाये अरब' जिसे सुनकर ऊँट मुदित होकर तेज चलने लगता है।

ऊँट को 'भेकार' कर उसका एक अग्र पैर मोड़कर बाँध दिया जाता है। इस क्रिया को 'कूँटना' कहते हैं। इस काव्य में इसका उल्लेख आया है—

पग सूं ही पग कूँटियउ, मुहरि भाली नारि ।। ६२६ ।।

ऊँट के बीमार होने पर 'दागने' से उसकी चिकित्सा करने का व्यवधान है। ढोला अपने ऊँट के लँगड़ाने पर उसे दागना चाहता है।[१]

ऊँट बरसात में 'तिसल्' जाता है। अतः मालवणी ढोला से बरसात में ऊँट पर यात्रा करने से रोकती है।[२] ऊँट गन्दले पानी पर 'ढूकता' नहीं। इस ओर कवि का संकेत है—

छीलरियउ ढूकिसि नहीं, भरिया केथि जहेसि।

पलाँण मांडने अथवा ऊँट की सवारी करने पर बलबलाहट (अङ्ङाना) का यह दृश्य कितना स्वाभाविक बन गया है—

करहइ किया टहूकड़ा निद्रा, जागी नारि ।। ३४५ ।।

'ढोलामारू' में कसबी,[३] पलाण,[४] कसणा,[५] मोहरी,[६] नकेल,[७] पागड़ा,[८] टापर,[९] छड़ी[१०] आदि ऊँट सम्बन्धी अनेक उपकरण भी आये हैं।

ऊँट की विशेष अवसरों पर सजावट भी की जाती है। ढोला ने भी पूगल-प्रस्थान के समय घुंघरू बाँधकर अपने करहा की सजावट की—

ढोलउ करहउ सज कियउ, कसबी घाति पलाँण।
सोवन-वानी घूघरा, चालण-रइ परियाँण।। ३४३ ।।

ऊँट को तेज चलाने के लिये छड़ियों से चटाचट पीटा जाता है। चलाने-वाले की इस क्रिया का स्वाभाविक चित्रण और उस पर ऊँट की खीझ दर्शनीय है—

सड़-सड़ वाहि म कंवड़ी, राँगाँ देह म चूरि ।। ४९२ ।।

इस काव्य में इस प्रकार ऊँट का हमें अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है जिसमें ऊँट अपने स्वभाव, आचार-व्यवहार, आकृति और वेशभूषा में हमारे समक्ष साकार हो जाता है! निस्सन्देह, इसमें अत्युक्ति नहीं कि "राजस्थान में ऊँट से यात्रा करने वाले हर व्यक्ति को इसमें अपने नित्य प्रति के सामान्य अनुभवों की

---

१. **ढोइल मन चिंता हुई, दीजइ केइक दग्ग ।। ३३० ।।**

२. **नदियाँ, नाला, नीभरण, पावस चढिया पूर।**
करहउ कादिम तिलकस्यइ, पंथी पूगल दूर।। २५६ ।।

३. दो. सं. ३४३। ४. दो. सं. ३२९ आदि।

५. दो. सं. ३४६। ६. दो. सं. ३१३, ६२९ आदि।

७. दो. सं. ३१२। ८. दो. सं. ३०४, ४११ आदि।

९. दो. सं. २७९। १०. दो. सं. ४९४, ६३३ आदि।

प्रतिध्वनि सुनाई देती है।"[1] राजस्थानी जीवन का यह अभिन्न सहचर, सी. एच. स्टाकले शब्दों में "उन इनेगिने भारवाही पशुओं में से है जो तब तक चलता जाएगा जब तक कि वह मरकर गिर न पड़े।"[2] ऊँट को पूगल् से अन्त समय तक विशेष लगाव रहता है। कहावत है कि 'ऊँट मरे जद पूगल् कानी।'

५. यात्रा वर्णन :

यात्रा-प्रसंग भी प्रबन्ध काव्यों के वस्तु-वर्णन का एक अभिन्न अंग है। आलोच्य काव्य में भी ढोला द्वारा की गयी यात्रा का वर्णन कवि ने किया है। इस यात्रा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

प्रथम चरण : नरवर से पूगल्;[3]
द्वितीय चरण : पूगल् से नरवर।[4]

ढोला की मारवणी-मिलनार्थ पूगल्, यात्रा ही इस काव्य की प्रमुख यात्रा है। यह दीर्घ निर्जन यात्रा मरुभूमि की है। अतः ऊँट द्वारा की गयी है। ऊँट को मरु-भूमि का जहाज कहा जाता है। वाहन की दृष्टि से इस तरह इसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। यहाँ यह ऊँट ढोला का वाहन ही नहीं, उसका सखा एवं विश्वास-पात्र अनुचर भी है।

ढोला की यात्रा मनुष्य-कृत एवं दैव-कृत अनिष्टों से युक्त है। मानवीय अवरोधों में मालवणी का विरोध, एवाल, ऊमर सूमरा का चारण, ऊमर सूमरा आदि के प्रसंग हम ले सकते हैं और दैव-कृत अनिष्ट में मारवणी की मृत्यु और पुनःजीवित होने की घटना। यह मार्ग देशोद्भव कष्टों एवं असुविधाओं से पूर्ण है। इस यात्रा में ढोला संघर्ष-निरत और आपदा-ग्रस्त दृष्टिगोचर होता है और मारवणी-मिलन का जो प्रमुख लक्ष्य है, उसके लिये समान उत्कंठित और आतुर है। कवि ने यहाँ मार्ग के प्राकृतिक-पर्यावरण को न छूकर घटना-क्रम पर ही दृष्टि को केन्द्रित किया है जो इस भावना-प्रधान काव्य के सर्वथा अनुरुप है।

निष्कर्षतः 'ढोलामारू' का वस्तु-वर्णन अल्प मात्रा में होकर भी अनूठा है। इसके रससिद्ध कवि ने सर्वत्र औचित्य का ध्यान रखते हुए इसे भावसंश्लिष्ट रुप में चित्रित किया है। इससे वह अंगी-वृत्त के साथ मिलकर एक प्राण हो गया है। यायावरीय राजशेखर की टिप्पणी है कि जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सन्ध्या और चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होने पर भी अधिक मात्रा में न होना चाहिये तथा प्रस्तुत प्रसंग एवं रस के विरुद्ध भी न होना चाहिये।......................कविगण नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी एवं रथ आदि के वर्णनों में जो प्रयत्न करते हैं; वह उनकी काव्य-रचना शक्ति का प्रचार मात्र है। मर्मज्ञ विद्वान उसे बहुत अच्छा नहीं समझते।"[5] इस वस्तु वर्णन में न तो परिगणनात्मक प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : श्री शम्भुसिंह मनोहर : पृ० ६१।
२. मुक्ता : अंक ६० : पृ० १३० से उद्धृत।
३. दो. सं. ३४६-५२६।
४. दो. सं. ५९६-६५१।
५. काव्य मीमांसा : नवम् अध्याय : पृ० १११।

और न ही वह प्रस्तुत प्रसंग एवं रस-विरुद्ध ही है । समस्त वर्णन प्रसंगोचित, स्वाभाविक और सन्तुलित हैं । वस्तु-वर्णन संयत है, उसमें व्यर्थ का वैचित्र्य और विस्तार नहीं । इससे रसात्मकता आद्यन्त व्याप्त रही है ।

रसानुरूप अलंकृति एवं गुणोत्कर्ष भी प्रवन्धत्व के तत्वों में अपना स्थान रखते हैं । इनके सुप्रयोग से काव्य का रस-रूपी आत्मा से युक्त कथानक रूपी सप्राण शरीर कंचनवर्णी होकर देदीप्यमान हो जाता है । वस्तु-वर्णन अलंकारों से सुस्पष्ट, प्रभावोत्पादक एवं चमत्कृत हो जाता है । इस काव्य में अलकारों का प्रयोग साध्य नहीं है । वह साधन मात्र है और रसानुकूल है जिससे काव्य सहज अलंकृति से सुशोभित हो गया है । शृंगार की संयोग-विप्रलंभ अवस्थाओं, नख-शिख वर्णन आदि मर्मस्पर्शी प्रसंगों में अनेकशः अलंकारों का स्वभाविक और सुन्दर प्रयोग स्तुत्य है । अनेक नवीन उपमाओं की मौलिक उद्भावना इस काव्य के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती है । अलंकारों के स्वाभाविक एवं सुष्ठु और औचित्य-संयुक्त प्रयोग से काव्य रमणीय अर्थ वाला वन गया है । रस और अलंकृति के समन्वय से समस्त काव्य रसार्द्र, भावानुभूति-प्लावित एकार्थ काव्य वन गया है । ध्वनि, गुण आदि की उपस्थिति से भी काव्य चमत्कृत वना है । 'ढोला मारू' 'गुणीभूत व्यंग्य' श्रेणी का काव्य है क्योंकि इस काव्य में व्यंग्य-सौन्दर्य के आकर्षण की अपेक्षा वाच्य सौन्दर्य अधिक प्रवल है । मार्मिक प्रसंगों में वाच्यार्थ प्रधान है और व्यंगार्थ गौण, पर व्यंग्यार्थ तिरस्कृत भी नहीं है । इस काव्य की रमणीयता का रहस्य वाच्यालंकारों में अन्तर्लीन वस्तु अथवा अलंकार रूप व्यंग्यार्थ में है । शास्त्रज्ञों ने गुणों को रस का धर्म माना है । गुणों के अस्तित्व का जव हम इस काव्य में अन्वेषण करते हैं तो हमें माधुर्य गुण प्रधान दिखाई देता है । माधुर्य का क्षेत्र भी शृंगार, करुण और शान्त रस है । आनंदवर्धन ने लिखा भी है कि माधुर्य संभोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में और विप्रलम्भ शृंगार की अपेक्षा करुण रस में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लगता है क्योंकि सहृदय के हृदय की आर्द्रता (द्रवीभावमयता) संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ में और विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में अधिक वढ़ा करती है । इस काव्य में विप्रलम्भ ही प्रधान है, अतः माधुर्य ही सर्वत्र प्राप्त होता है । यथावसर अन्य गुण भी उपस्थित हैं ।[१]

कथा में अनवरूद्ध और सहज प्रवाह की रक्षार्थ **सम्बन्ध-निर्वाह** की कुशलता अपेक्षित होती है । कुशल कवि संकेत, अनुमान, स्वप्न, स्मृति आदि नाटकीय उपकरणों का आश्रय लेकर सम्वन्ध की अटूटता की रक्षा करता है । 'ढोला मारू' का कथानक भी भावात्मक और रसात्मक है । भावात्मक प्रसंगों की प्रधानता के कारण यहाँ विराम भी निस्सन्देह आ गये हैं परन्तु ये रसात्मक स्थल अत्यधिक आकर्षक होने के कारण रागात्मक तत्व से सरावोर हैं । फलतः लम्वे होने पर भी पाठक को ऊव नहीं होती । मुख्य वृत्त और अवान्तर प्रसंगों के सूत्रों को कवि ने ऐसी निपुणता के साथ

१. अंलकार, गुण, ध्वनि, शव्द-सौष्ठव आदि पर इस शोध प्रवंध के पंचम परिच्छेद में विशद विवेचन उपलव्ध है ।

क्रमवद्ध और संगुम्फित किया है कि विशृंखलता का आभास तक नहीं होता। कथानक की टूटती शृंखला दूर जाकर पुनः जुड़ी है और यह सब अस्वाभाविक नहीं लगता। नाटकीय उपकरणों की सहायता से कवि ने कथा-शृंखला की निरन्तरता और अटूटता बनाये रखी है। इस लघु कथा में त्वरा, गति एवं मोड़ के लिये जिन सहायक प्रसंगों का सृजन हुआ है उन्हें इस तरह सुसम्वद्ध किया गया है कि वे अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं और मुख्य कथानक के अभिन्न अंग हैं।

कार्य की दृष्टि से **एकरूपता** अथवा **कार्यान्विति** भी प्रवन्धात्मकता का प्रमुख तत्व है। कार्य-संकलन से समस्त कथा अपने लक्ष्य और मुख्य प्रयोजन की ओर उन्मुख दिखलाई पड़ती है। मुख्य कार्य के पोषक अनेक क्रिया-व्यापारों की अन्विति से प्रवन्धात्मक-निवद्धता सफल होती है। इसी प्रयोजन को दृष्टि में रख कर हमारे यहाँ नाटकीय संधियों की आयोजना और पश्चिम में कार्य-संकलन की आवश्यकता पर वल दिया गया है। 'ढोला मारू' का मुख्य कार्य है ढोला-मारू का मिलन, और जितने भी प्रसंग प्रसंगावशात् आये हैं, वे कथा को इसी ओर ले जाते हैं। सभी सूत्र मुख्यार्थ के प्रेरक और संयोजक हैं और उद्देश्य पूर्ति के उद्वोधक। अतः प्रमुख उद्देश्य से असम्वद्धता के कहीं दर्शन नहीं होते। आदि, मध्य और अवसान की सुस्पष्टता से कार्य सम्वन्धी एकता का निर्माण हुआ है जो कवि के प्रवन्ध-कार्यान्विय-कौशल का प्रमाण है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रवन्धत्व की दृष्टि से 'ढोला मारू रा दूहा' एक पूर्ण सफल काव्य है। इसमें प्रकथन पूर्ण सानुवन्ध कथा है *जिसके आदि, मध्य और अवसान स्पष्ट हैं, सुसम्वद्ध प्रासंगिक कथा योजना है और* मर्मस्पर्शी रसात्मक स्थलों का प्राधान्य है। वस्तु-वर्णन संश्लिष्ट है और उससे भी कवि उदासीन नहीं रहा है। 'ढोला मारू' में मार्मिक प्रसंगों का सम्वन्ध-निर्वाह और कार्यान्विति भी दर्शनीय है। इस तरह इसका प्रवन्धत्व सुनियोजित है जिससे शास्त्रीयता के निर्वाह के साथ-साथ सरसता एवं सजीवता भी अक्षुण्ण रह गयी है।

प्रवन्धात्मकता को लेकर शास्त्रीय ग्रंथों में काव्य के निम्नलिखित भेद किए गये हैं—महाकाव्य, काव्य, खण्ड काव्य। 'ढोला मारू रा दूहा' में इन काव्य-भेदों के लक्षणों की उपस्थिति पर अव आगे विचार किया जाता है।

क : महाकाव्य की दृष्टि से :

चिर-विश्लेषण-रत भारतीय मनीषा ने साहित्य-शास्त्रों में 'महाकाव्य' को लेकर जितना विचार-विश्लेषण, सूक्ष्म-छानवीन और मनन-मन्थन किया है; उतना काव्य के अन्य स्वरूपों पर नहीं। आचार्यों की इस दीर्घ परम्परा में भामह (काव्यालंकार : १/१९-२३), दन्डी (काव्यादर्श : १/१४-२०), रूद्रट (काव्यालंकर सूत्र : १६/२-१९), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन : ८), विश्वनाथ (साहित्य दर्पण : ६/३१५-३२८) आदि ने महाकाव्य विपयक सुविस्तृत एवं सर्वांग विवेचना की है। पाश्चात्य आलोचना-क्षेत्र में भी अरस्तू, ल वस्सु, केम्स, डिक्सन, हॉब्स, रैसाँ, डेवनॉट, एवर क्रॉम्वी, सी. एम. वावेरा, केर, वाल्टर पेटर आदि गणमान्य आलोचकों ने महत्वपूर्ण विचार-विवेचन किया है। अतः यह कथन सही है कि संसार में जितने कवि हैं,

महाकाव्य की सचमुच ही उतनी परिभाषाएँ हैं और महाकाव्य-रचना के उतने ही नियम हैं।[१] बाह्यान्तर चाहे जो रहा हो, फिर भी डिक्सन के शब्दों में "महाकाव्य सभी देशों में एक जैसा है। पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—सर्वत्र उसकी आत्मा और प्रकृति में एकता है।"[२]

महाकाव्य के कतिपय शाश्वत तत्त्व इस प्रकार निरूपित किये जा सकते हैं—

१. महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा,
२. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व,
३. महत्कार्य और युग-जीवन का समग्र चित्र,
४. सुसंगठित जीवन्त कथानक,
५. महत्त्वपूर्ण नायक,
६. गरिमामयी उदात्त शैली,
७. तीव्र प्रभावान्विति और गंभीर रस-व्यंजना।[३]

महाकाव्य एक नैतिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीय मूल्य के प्रतिष्ठापन के महदुद्देश्य की संजीवनी से अनुप्राणित काव्य होता है। फलतः उसमें महत्ता एवं तज्जन्य विराटता रहती है। 'ढोला मारू' का उद्देश्य है नायक का नायिका प्राप्ति। अतः मानवीय हृदय में निहित प्रेम-प्रवृत्ति का परिचायक होते हुए भी यह व्यष्टिगत उद्देश्य है, समष्टिगत नहीं। इसलिये अपनी संकुचित सीमा और संकीर्ण परिधि से इसमें विराट चेतना का अभाव है जिससे कारण यह लोकानुरंजन से आगे नहीं बढ़ सका। लेकिन व्यक्तिगत जीवन का यह उद्देश्य भी महत्त्वपूर्ण है और नायक-नायिका की सामाजिक-कर्त्तव्य-निष्ठा का द्योतक। कर्त्तव्यसिद्धि की प्रेरणा इसके कथानक में तीव्रता से अभिव्यक्त हुई है और वह आद्यन्त व्याप्त है तथा कवि की काव्य-प्रतिभा की पुष्टि करने वाली। कवि ने मार्मिक स्थलों की नियोजना में नीर-क्षीर विवेक की हंस-प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय देते हुए स्वाभाविक अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति से इसे अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है।

'ढोला मारू' में आदर्श स्थापना, गंभीर जीवन दर्शन, उत्कृष्ट विचार-वैभव आदि भी नहीं है जो महाकाव्य का अभिन्न अंग हैं। इसके उपरान्त भी 'ढोला मारू' में हृदय-तत्त्व की ऊँचाई और भावनाओं की गहराई है कि हर सामाजिक क्षेत्र में यह अपनाया गया और ढोला तथा मारू आदर्श दाम्पत्य के श्रद्धा-पात्र बने। 'ढोला मारू' में प्रेम की मर्यादा का आदर्श निर्वाह है। सर्वत्र संतुलित उद्गार हैं, अमर्यादित प्रदर्शन नहीं।

महत्कार्य की सिद्धि और युगजीवन का समग्र चित्रण भी महाकाव्य का एक अत्यावश्यक लक्षण है। वह युग जीवन का प्रतिनिधि होता है; कारण कि उसमें युग

---

१. विदेशों के महाकाव्य (दी बुक आफ एपिक का अनुवाद) : भूमिका : श्री गोपीकृष्ण गोपेश : पृ० १३।
२. इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोएट्री : पृ० २२।
३. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : डॉ० शम्भुनाथ सिंह : पृ० १०८-१२१।

की प्रतिच्छाया होनी है। 'ढोला मारू' के नायक-नायिका अपने अदम्य साहस, अपरिमित उत्साह आदि चारित्रिक गुणों के कारण क्रिया-शील, संघर्ष-रत और जीवनानुरक्त दृष्टिगोचर होते हैं। सम्पूर्ण युगजीवन के तत्व का इसमें आंशिक निर्वाह ही हो पाया है। इसमें जीवन तथा जगत के विविध पक्षों और विशद व्यापारों का वैविध्यपूर्ण चित्रण भी अप्राप्य है। इतना होने पर भी 'ढोला मारू' अपने सीमित कलेवर में मध्ययुगीन सामन्त-समाज के दाम्पत्य जीवन का सजीव चित्र साकार करता है। जीवन के इस एक पक्ष से पूर्णतया सम्बद्ध होते हुए भी उसमें तद्युगीन अन्य पक्षों का यथावसर और प्रसंगानुसार सीमित-सांकेतिक संश्लिष्ट चित्र है। कथानक के जीवन के एक पक्ष प्रेम-पक्ष से ही सम्बन्धित होने के कारण उसी की तीव्र और सशक्त अनुभूति हमें होती है।

महाकाव्य का **कथानक** पूर्णतः सुसंगठित, सुशृंखलित, अन्विति युक्त और कलात्मक होना चाहिये। 'ढोला मारू' का कथानक नरवर और पूगल के राजकुलों की प्रेम गाथा है। यह कथानक लघु है जिसके कलेवर में कल्पना के मणिकांचन समन्वय से वृद्धि हुई है। 'ढोला मारू' के कथानक के भी आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट हैं तथा कथा-विन्यास के शास्त्रीय तत्व अर्थ-प्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएँ और सन्धि-सन्ध्यंग यत्र-तत्र मिलते हैं। अवान्तर प्रसंग भी आधिकारिक वृत्त से पूर्ण अन्वित हैं। लेकिन गम्भीर जीवन दर्शन के अभाव से उसमें कलात्मक कसावट नहीं आ पाई है। भाव-व्यंजना और वस्तु वर्णन में समानुपात भी नहीं है। भावाभिव्यक्ति के स्थलों पर कथानक गौण और शिथिल भी गया है लेकिन दूर जाकर पुनः सूत्रबद्ध भी हो जाता है।

वाग्भट्ट ने बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, औदार्य, गांभीर्य, धैर्य, माधुर्य, कला कुशलता, विनय, निरोगता, शुचिता, स्वाभिमान, प्रियवादिता, जनानुरागिता, वाग्मिता, महावंशत्व आदि गुणों का नायक में अधिवास माना है।[१] ये धीरोदात्त नायक की चारित्रिक विशेषताएँ हैं और ऐसा नायक ही महाकाव्य का नायक होता है। 'ढोला-मारू' का नायक, नायक का द्वितीय भेद 'धीर ललित'[२] नायक है जो ललित गुणों से युक्त है। वह सामन्त कुलोद्भव होकर भी सामन्त जीवन के गुणों के साथ-साथ सामान्य प्रवृत्ति का है। अतः सम्पूर्ण युग-प्रतिनिधित्व से वह वंचित है।

गरिमामयी उदात्त शैली भी महाकाव्य में अपेक्षित है। उसमें सफल एवं सांग रस परिपाक, नाटकीयता, विवरणात्मकता, उच्चकोटि का शब्द-विधान, छन्दों का सुष्ठु प्रयोग, भावानुकूल एवं भावोत्कर्ष विधायक अलंकृति, रीति-वृत्ति एवं गुण-युक्तता आदि साहित्यिक और शास्त्रीय वैधानिक रूढ़ियों की भी सुनियोजना होना चाहिये। 'ढोला मारू' में नव-रसाभिव्यक्ति नहीं है। इसका अंगीरस है शृङ्गार और उसमें भी विप्रलम्भ शृंगार की प्रमुखता। कवि ने नाटकीयता भी प्रदर्शित की है जिससे कलात्मकता की श्रीवृद्धि हुई है। अन्य अभिव्यक्ति-सौष्ठव लाने वाले उपकरण यथा ध्वनि, रीति, वृत्ति,

१. काव्यानुशासन : अध्याय ५ (नायक प्रकरण)।
२. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ : ३। १४०॥

गुण छन्द, अलंकार आदि भी 'ढोला मारू' में उपस्थित हैं।' ढोला मारू' का शब्द-विधान लोकभाषा से गृहीत है। कवि ने लोक-भूमि पर स्थित होकर इस कृति का प्रणयन किया है। अतः 'ढोला मारू' की अलंकृति भी इतनी शास्त्रीय न होकर निश्छल है, यत्न साध्य न होकर सहज है। इस काव्य के रससिद्ध और प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने शास्त्रीयता का किंचित सम्वल लेकर भी अभिव्यक्ति में नैसर्गिक सौन्दर्य और सौष्ठव का प्रस्फुटन अपनी इस कृति में किया है। 'ढोला मारू' की सुदूर लोकप्रियता के मूल में इसकी निश्छल अभिव्यक्ति ही एकमात्र कारण है जो हर हृदय से तादात्म्य स्थापित करने में सफल हो सकी।

रसात्मकता और प्रभावान्विति महाकाव्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके कारण ही हर हृदय रस से विभोर हो जाता है, प्रभावित होता है और महाकाव्य जातीय जीवन का प्रतीक वन जाता है। महाकाव्य में नवरसाभिव्यक्ति की गम्भीर नियोजना होती है और नाना भावनाओं का वैविध्य पूर्ण चित्रण, कि हर हृदय उसमें अपनी धड़कन देखता है। 'ढोला मारू' में नवरसों की योजना दृष्टिगत नहीं होती। इस काव्य का अंगीरस है शृंगार और उसकी भी विप्रलम्भ अवस्था। इसमें सर्वत्र रतिभाव की ही पूर्ण और पुष्ट व्यंजना है। यह शृंगार शान्त में पर्यवसित है। संयोग शृंगार में स्थूलता है और दो-एक दोहों में मांसलता उभर आयी है। पर यह मानना पड़ेगा कि विप्रलंभ शृंगार इस काव्य की अनमोल निधि है। उसमें विरही आत्मा का करुण क्रन्दन और व्यथा की करुण कथा है जिससे अनुभूति में निश्छलता और सहज-स्वाभाविक प्रवाह आ गया है। विप्रलंभ के अन्दर परिपाक में व्यथा की धारणी और वेदना की प्रतिध्वनि है। इसमें वह चुम्बकीय शक्ति है जो हर सहृदय को आकृष्ट कर सकती है।

रसात्सकता प्रभावान्विति की जननी है। 'ढोला मारू' की रसात्मकता से प्रभावान्विति प्रवुद्ध पाठक की सुरुचि को अत्यन्त प्रभावित करती है। उसका चित्त अभिभूत होकर असाधारण भाव-लोक और कल्पना-लोक में विचरण करने लगता है। सच्चे काव्य की कसौटी भी यही है। काव्य आनन्दानुभव कराता है। मार्मिक स्थलों के सुचयन ने वहाँ कवि की क्षमता और संवेदनशीलता का परिचय दिया है, वहाँ सारे इतिवृत्त को ही रसात्मक वना दिया है। अतः कथानक आद्योपान्त पाठक के हृदय को स्पर्श किये रहता है। यह रसवत्ता शास्त्रीय गुणोपेत भी है और हृदय की निश्छल और नैसर्गिक वृत्तियाँ लिये हुए भी। विप्रलम्भ रसभाव के नैरन्तर्य से अंगी रस समष्टि रूप में व्याप्त है।

महाकाव्य में वह **अदम्य जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता** होती है कि अनेक युगों के झंझावातों में भी उसका प्राण-दीपक अक्षुण्ण और ज्योतिर्मय रहता है। महाकाव्य कालजयी कृति होती है। 'ढोला मारू' की आत्मा में भी यह अद्भुत जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता है। अनेक युगों से 'ढोला मारू' अपना रस-मकरन्द लुटा रहा है और संस्कृति, साहित्य और कला क्षेत्र में वन्दनीय है। इस रमणीक और ललित काव्य में हृदय को लुभाने की अद्भुत क्षमता आज भी है, जो किसी समय थी और

आने वाले समय में रहेगी भी। "मीठी चीज बराबर खाने पर भी मीठी ही लगती है। इस न्याय से मरुजन इसके रसपान से अघा जायेंगे, ऐसा भय नहीं है।"[१] यह अक्षरस: सत्य है। इसने जनजीवन में जिस गहराई तक प्रवेश किया है, उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। जीवनी शक्ति की परीक्षा का परीक्षक समय है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह का कथन है कि "काल जितना ही निष्ठुर है, उतना ही न्यायी भी है। वह अपने कन्धों पर उन्हीं काव्यों का बोझ ढोना पंसद करता है जिनमें उसके कन्धे पर चढ़ने की क्षमता और शक्ति होती है। जिनमें ऐसी जीवन्तता और योग्यता का अभाव होता है उनको काल शव-तुल्य समझकर विस्मृति की अंधेरी गुफाओं में दफना देता है।"[२] 'ढोला मारू' अमर काव्य पद का अधिकारी इसी जीवन्तता के कारण बना है और समय तथा स्थान की बाधाओं को अस्वीकार कर जीवित रहा है। महाकाव्य का यह तत्व इसमें पूर्णतः विद्यमान है।

महाकाव्य के अन्य शास्त्रीय लक्षणों का यथा सर्ग-बद्धता, मंगलाचरण, खल-निन्दा आदि का इसमें पूर्ण अभाव है। वैविध्य पूर्ण पात्र, उनका पूर्ण रुप से विकास, नवरस परिपाक, समाजगत धर्म एवं राजनीति का पूर्ण चित्रण, प्रकृति का रमणीक एवं भयावह चित्रण, दैव और आसुरी प्रवृत्तियों का भीषण संघर्ष, छन्द वैविध्य आदि इसमें नहीं है।

इस प्रकार 'ढोला मारू' में महाकाव्य के सूक्ष्म और स्थूल, अन्तरंग और बहिरंग लक्षणों की सुष्ठु झलक और आंशिक आभा अवश्य है।

डॉ० सत्येन्द्र ने 'ढोला' का एक 'लोक-महाकाव्य' की संज्ञा से अभिषेक किया है।[३] शास्त्रीय महाकाव्य की दृष्टि से इस कथन में अतिरंजना और अतिरेकता भले ही दृष्टिगत हो; परन्तु गार्हस्थ्य-दाम्पत्य के लघु कथा-कलेवर में भावों की निश्छलता, कलित कल्पना की आभा, शैली की मनोहारिता, हृदय को अभिभूत कर देने वाली मधुर रस-धारा, लोक-परिवेश का अभूतपूर्व चित्रण, प्रभावान्विति और इन सबसे बढ़कर अनवरूद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता आदि की सत्यता 'ढोला मारू' में है। डॉ० सत्येन्द्र का कथन इन्हीं भावनाओं से अभिभूत लगता है।

उपर्युक्त बातें किसी श्रेष्ठ कृति में होती अवश्य हैं पर मात्र इनकी उपस्थिति के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। साथ ही यह भी सत्य है कि परिभाषाओं की संकीर्ण सीमा और लक्षणों के आधार पर यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि अमुक विशेष काव्य महाकाव्य है अथवा नहीं। "किसी-किसी काव्य के सम्बन्ध में हमारी यह भावना होती है कि वह महाकाव्य है पर परिभाषायें और लक्षण उस भावना को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पाते।"[४]

यदि मात्र अनवरूद्ध जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता को ही महाकाव्य का एक

---

१. ढोला मारू रा दूहा : प्रवचन (३) : घनश्यामदास बिड़ला : पृ० ६।
२ हिन्दी महाकाव्य का स्वरुप विकास : पृ० ३२५-२६।
३. हंस : 'ढोला-एक लोक महाकाव्य' शीर्षक निबन्ध।
४. दी एपिक : एबर क्रोम्बी : पृ० ४०।

मात्र लक्षण मान लिया जाय तो 'ढोला मारू' के सम्बन्ध में भी सकारात्मक निर्णय लिया जा सकता है। पर 'ढोला मारू' में उस व्यापकता, उदात्तता, और विराटता का अभाव है जो एक महाकाव्य का प्राण होती है।

ख : काव्य (एकार्थ) की दृष्टि से :

'प्रबन्ध' की दृष्टि से द्वितीय काव्य-प्रकार आचार्य विश्वनाथ-द्वय (एक प्राचीन, दूसरे अर्वाचीन) के शब्दों में क्रमशः 'काव्य' अथवा 'एकार्थ काव्य' है। 'काव्य' शब्द की अत्यन्त व्यापकता के कारण यहाँ विवेचन में 'एकार्थ काव्य' संज्ञा ही व्यवहृत की जा रही है।

आचार्य विश्वनाथ ने श्रव्य-काव्यान्तर्गत 'काव्य' नामक विधा के निम्नांकित लक्षण दिये हैं—

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थ प्रवणै: पद्यै: संधिसामग्र्य वर्जितम् ।। ३२८ ।।

अर्थात् 'काव्य' पद्य-प्रवन्ध का वह प्रकार है जो संस्कृत, प्राकृत किंवा अपभ्रंश भाषा में निवद्ध किया जाया करता है। इसमें सर्गों का वन्ध आवश्यक नहीं, और न संधि-पंचक की सम्पूर्ण रचना ही अपेक्षित है। इसकी रूपरेखा 'एकार्थ प्रवण' अर्थात् एक वृत्त अथवा चरित से सम्बद्ध पद्य-कदम्ब से ही पूर्ण हो जाया करती है।[1] श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ऐसे 'काव्य' को 'एकार्थ काव्य' की संज्ञा से अभिहित करते हुए लिखते हैं, "हिन्दी में कुछ ऐसी रचनाएँ भी देखी जाती हैं जिनमें जीवन-वृत्त तो पूर्ण लिया गया है; किन्तु महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नहीं दिखाई देता। ऐसी रचनाओं में जीवन का कोई एक पक्ष विस्तार के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न देखा जाता है। 'एकार्थ' की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य और खण्डकाव्य के वीच की रचना होती हैं। इन्हें एकार्थ काव्य या केवल काव्य कहना चाहिये।"[2]

समग्रतः एकार्थ काव्य के अधोलिखित लक्षण हुए—

१. प्रबन्धात्मकता के रहते हुए भी सर्गवद्धता और संधि-पंचक का अविधान,
२. कथानक अविस्तृत, कम मोड़ लिया हुआ और अधिक व्यंजनात्मक,
३. नायक-नायिका के पूर्ण जीवन के एक पक्ष का ही प्रमुखतः चित्रण।

इन्हें यदि हम 'ढोला मारू रा दूहा' पर घटित करें तो हमें स्पष्ट होगा कि आलोच्य काव्य में ढोला और मारू के प्रणय की एक क्रमवद्ध कथा है। यद्यपि 'ढोला मारू' की प्रवन्धात्मकता उतनी 'शास्त्रीय' नहीं; फिर भी उसका प्रवन्ध-सौष्ठव उत्तम है। कथा के आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट हैं और कार्य समन्वय-कारी हैं जो प्रवन्ध के सुगठन की कसौटी है।

'ढोला-मारू' का कथानक विस्तृत नहीं है। उसमें घटनाओं और अवान्तर प्रसंगों की वहुलता भी नहीं है। यह काव्य भावना प्रधान है, घटना प्रधान नहीं। काव्य

१. साहित्यदर्पण : अध्याय ६।
२. वाङ्मय-विमर्श : पृ० १२।

में जो वस्तु-वर्णन भी हुआ ह, वह भो अत्यन्त संक्षिप्त है, प्रसंगानुसार है, स्वतन्त्र न होकर संश्लिष्ट है। इस कारण कथानक में विस्तार नहीं आ पाया है। रसात्मक स्थलों का चयन हृदयहारी और कवि के रचना-कौशल को प्रकट करने वाला है। प्रासंगिक घटनाएँ आधिकारिक वृत्त के साथ पूर्णतः जुड़ी हुई हैं और उसकी सहायिका हैं।

कथानक के सुविस्तृत नहीं होने के कारण कवि ने सर्ग-नियोजन की भा आवश्यकता नहीं समझी। कथानक भाव-व्यंजनात्मक अधिक है; परन्तु उसमें कवि ने यत्र-यत्र अभिलपित मोड़ देकर उसमें रोचकता और चारूता समाविष्ट की है। पाठक की उत्सुकता कथा के साथ निरन्तर प्रवृद्धमान होती रहती है।

विवेच्य काव्य 'ढोला मारू' है भी एक ही वृत्त अथवा चरित से सम्बद्ध। संपादित संस्करण में तो नहीं, परन्तु अन्य अनेक दोहामयी प्रतियों में ढोला और मारू के जन्म की कथाएँ हैं। इस तरह काव्यकार को पूर्ण जीवन वृत्त ग्राह्य ता हुआ है; परन्तु उस जीवन का कथा में एक ही उद्दीष्ट पक्ष प्रबल है और वह है प्रेम-पक्ष। 'ढोला-मारू' में दाम्पत्य-प्रेम की व्यंजना ही अधिक अभिव्यक्त हुई है। इस दाम्पत्य शृंगार की भी विप्रलम्भ अवस्था को सुविस्तृत स्वरुप प्रदान करने की कवि की दृष्टि रही है, संयोग अवस्था पर कम।

इस प्रकार 'ढोला-मारू' में क्रम-बद्ध कथानक होते हुए भी उसकी परिधि विस्तृत नहीं है। इसमें सर्ग बद्धता का अभाव है और इसकी रचना तद्युगीन लोक मरु-भाषा में हुई है। पूर्ण जीवन-वृत्त ग्रहण करके भी कवि ने उसके प्रेम पक्ष पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है अर्थात् इसमें 'एकार्थ' ही व्यक्त हुआ है। कथानक इतना लघु और अवान्तर कथाओं से शून्य भी नहीं है तथा उसमें मुख्य कार्योन्मुख मोड़ भी हैं। अतः इन तत्वों की 'ढोला मारू' में प्रधानता देखते हुए इसे 'एकार्थ काव्य' ही कहा जा सकता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का भी यही अभिमत है, "दोहा छंद प्रबन्ध का छन्द ही नहीं है। फिर भी उसमें (ढोला मारू) क्रम-बद्ध कथा है। इसलिये अधिक से अधिक उसे एकार्थ-काव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं। खण्ड काव्य इसलिये नहीं कि कथा अधिक संधियों वाली है। कुछ विस्तृत है।"[१]

ग : खण्ड-काव्य की दृष्टि से :

संस्कृत साहित्य में ऐसे काव्यों की बहुलता है जिन्हें खण्ड काव्य की समृद्ध और सुदीर्घ परम्परा में आसन्न किया जा सकता है लेकिन इस काव्य-विधा पर शास्त्रीय विवेचन का उतना ही अभाव है।

रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध काव्य के दो रूप महत् एवं लघु[२] में से 'लघु' काव्य के स्वरूप निर्धारण में हम खण्ड काव्य विषयक शास्त्रीय मान्यता की कल्पना का सूत्रपात समझ सकते हैं। रुद्रट ने 'लघु' काव्य का स्वरूप और लक्षण देते हुए लिखा है कि उसमें चतुर्वर्ग फल में से कोई एक फल और असमग्र रूप में अनेक

१. निजी पत्र : दिनांक ३-६-६६।
२. काव्यालंकार : १६/२॥

रस अथवा समग्र रूप में एक रस होता है ।[१] आचार्य आनन्दवर्धन ने विभिन्न काव्यरूपों की परिगणना में 'खण्ड कथा' काव्य की गणना की है जो किसी बड़ी कथा के एक देश का वर्णन करने वाली होती है ।[२]

इस अतिव्याप्ति और अनिश्चितता का अन्त किया विश्वनाथ कविराज ने । उन्होंने सर्वप्रथम 'खण्ड काव्य' शब्द का प्रयोग करते हुए इसमें प्रवन्धात्मकता का संकेत किया और इसके लक्षण निर्देशित किये—

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च । यथा मेघदूतादि ।[३]

अर्थात् खण्ड काव्य काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला होता है । 'एकदेशीयता' से कविराज का क्या तात्पर्य था, यह अस्पष्ट रह गया और इस सूत्र के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अर्थ लिये । कुछ ने इसे कविराज विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित 'काव्य' के एक अंश का अनुसरण करने वाले काव्य का अर्थ लिया तो कुछ ने इसे जीवन के एक पक्ष से सम्वद्ध काव्य माना और कुछ ने इसे काव्य अथवा महाकाव्य के कतिपय लक्षणों से युक्त पद्य-प्रबन्ध माना ।

हिन्दी आलोचना में भी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा,[४] डॉ० गुलावराय,[५] डॉ० सरनाम सिंह,[६] श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[७] डॉ० भगीरथ मिश्र,[८] श्री बलदेव उपाध्याय,[९] डॉ० हरदेव बाहरी,[१०] डॉ० सियाराम तिवारी,[११] डॉ० शकुन्तला दुबे,[१२] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत[१३] आदि ने खण्ड काव्य विषयक विवेचन किया है । इनके अनुसार निष्कर्षतः खण्ड काव्य के कथानक के लिये प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, काल्पनिक-यथार्थ, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक आदि का कोई वन्धन नहीं है ! इसमें जीवन का विशद और सर्वांगीण चित्र न होकर किसी एक रोचक और मार्मिक प्रसंग का भी उद्घाटन हो सकता है । अभिजात कुल का सद्गुणालंकृत कोई भी पुरुष इसका नायक हो सकता है । एक रस अंगी, अतः समग्र रूप में और शेष असमग्र रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं । सर्गवद्धता आंशिक रूप में ग्रहण की

---

१. काव्यालंकार : ने लाघवो विज्ञेया येऽव्ययतमो भवेच्चतुर्वर्गात् ।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ता : ।। १६/६ ।।
२. ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत : कारिका ७ ।।
३. साहित्यदर्पण : ६/३२९ ।।
४. हिन्दी साहित्य कोश : पृ० २४८ ।
५. काव्य के रूप : पृ० २७ ।
६. हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव : पृ० २८ ।
७. वाङ्मय-विमर्श : पृ० ३९ ।
८. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास : पृ० ४२१ ।
९. संस्कृत आलोचना : द्वितीय खण्ड : पृ० ६२ ।
१०. हिन्दी की काव्य-शैलियों का विकास : पृ० ५ ।
११. हिन्दी के मध्य कालीन खण्ड काव्य पृ० ४०९-१० ।
१२. काव्य-रुपों के मूल स्रोत और उनका विकास : पृ० ४३-१४७ ।
१३. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : भाग २ : पृ० ६४ ।

भी जा सकती है और नहीं भी। इसके लिये न तो छंद-वैविध्य का ही प्रतिबन्ध है और न चतुर्वर्ग-फल, मंगलाचरण, खल निंदा, ग्रंथ-रचना का उद्देश्य आदि देना अनिवार्य। वह संवेदना-प्रधान होता है और उसमें महाकाव्य के गुणों का आंशिक और एकदेशीय निर्वाह किया जाता है।

जहाँ तक इन तत्वों का प्रश्न है इनमें से अनेक की 'ढोला मारू' में विद्यमानता है। 'ढोला मारू' का कथानक स्थूल ऐतिहासिक है और उसके कलेवर में कलित कल्पना की रंगीन आभा भी। नायक धीर ललित नायक है। कथा सर्गों में विभाजित नहीं है। छन्दों की अनेक रूपता भी इसमें लगभग नहीं है। शृंगार (विप्रलम्भ पक्ष प्रमुख रूप से और संयोग गौण रूप से) रस ही कवि ने अंगीकार किया है। प्रकृति का भी संश्लिष्ट चित्रण है, स्वतंत्र नहीं। अन्य काव्य-रूढ़ियों में मंगलाचरण, खल-निंदा, सज्जन-प्रशंसा, आत्म-परिचय, ग्रन्थ-रचना-हेतु, रचनाकाल आदि का भी अभाव है। इन तत्वों की न्यूनाधिक उपस्थिति से प्रेरित हो, 'ढोला मारू' को गार्हस्थ्य प्रेम मूलक खण्ड काव्य, विकसनशील लौकिक खण्ड काव्य आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। श्री शम्भुसिंह मनोहर,[१] डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव,[२] डॉ० सियाराम तिवारी,[३] डॉ० कृष्ण विहारी सहल,[४] डॉ० दशरथ शर्मा[५] आदि की ऐसी ही मान्यता है।

परन्तु इस अवधारणा से सहमति प्रकट करना शास्त्रीय नियमों की अवहेलना होगी। प्रबन्धत्व को आधार मानकर ही श्रव्य काव्य के तीन भेद महाकाव्य, काव्य या एकार्थ काव्य और खण्ड काव्य भेद किये गये हैं। प्रबन्ध काव्य में प्रवाहपूर्ण प्रकथन परमावश्यक है। तात्पर्य यह है कि इस विभाजन के मूल में कथानक-योजना है, अन्य कोई तत्व नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं कि साहित्य-दर्पणकार की 'एक देशीयता' का सबने अपनी-अपनी कल्पना से अलग-अलग अनुमान लगाया है। साहित्य-दर्पणकार ने जो खण्ड काव्य का 'मेघदूत' के दृष्टान्त-रूप में उल्लेख किया है वह भी आलोचनात्मक दृष्टि से ओझल ही रखा गया है।

'ढोला मारू' की 'वस्तु' ढोला और मारवणी का प्रेम वृत्तान्त है। इस कथानक को 'मेघदूत' के समकक्ष रखें तो दोनों में बहुत असमानता मिलेगी। 'ढोला मारू' की प्रणय कथा के संगठन और विकास में हम स्पष्ट देख चुके हैं कि उसमें कथा-विन्यास के महत्वपूर्ण अंगों की समुपस्थिति है। कथा का कलेवर निजन्धरी विश्वास पर आश्रित एवं कवि-कल्पना-प्रसूत कथानक-रूढ़ियों से भी बढ़ाया गया है।[५] यही कारण है कि कथानक आकार में बड़ा हो गया है जो ६७४ दोहों में निबद्ध है। यह कथानक सौदागर, पीवणा सर्प, ऊमर सूमरा, वीसू चारण, मालवणी, ऊँट, शुक आदि की अनेक

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० ५३।
२. डिंगल (पद्य) साहित्य : पृ० ८०।
३. हिन्दी के मध्य कालीन खण्ड काव्य : पृ० २४२।
४. ढोला मारू रा दूहा : एक विवेचन : पृ० १५।
५. ,, ,, ,, ,, : ,, ,, : पृ० १५।
६. इसकी कथानक-रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन द्वितीय परिच्छेद में देखिये।

अवान्तर कथाओं से संवृद्ध है जिनकी नियोजना कथानक में वैचित्र्य और नाटकीयता लाने के लिये कवि द्वारा हुई है। 'ढोला मारू' को गार्हस्थ्य प्रेम मूलक खण्ड काव्य मानने वाले डॉ० सियाराम तिवारी स्वयं लिखते हैं कि "खण्ड काव्यों में अवान्तर कथाएँ नहीं होती। कथा में निबद्ध अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक हुआ तो सूचना भर दे दी जाती है।"[१] पता नहीं इतनी अवान्तर कथाओं की अवहेलना करके भी उन्होंने उपर्युक्त मत कैसे निर्धारित किया ? 'ढोला मारू' के कथानक में आदि, मध्य और अवसान—तीनों अंग सुस्पष्ट हैं जो अरस्तू के अनुसार एक जीवन्त कथानक के प्रमुख तत्व है। इस प्रकार 'ढोला मारू' का कथानक खण्ड काव्य का कथानक नहीं रहता।

'मेघदूत' जीवन के एक पक्ष प्रेम से सम्बद्ध काव्य है जिसमें वियोग-जन्य पीड़ा को वाणी दी गयी है। 'ढोला मारू' भी जीवन की प्रेम-प्रवृत्ति से ही सम्बन्धित है। दोनों ही विप्रलम्भ प्रधान काव्य हैं। यदि प्रेम प्रवृत्ति को व्यापक अर्थ में लें तो यह ठीक है, परन्तु दोनों की प्रेम-प्रवृत्तियों में गहरा अन्तर है। 'मेघदूत' में जीवन के प्रेम पक्ष की एक संवेदना मात्र है। इसके विपरीत 'ढोला मारू' में जीवन का प्रेम पक्ष पूर्ण रूप से चित्रित है। उसमें संभोग शृंगार भी है और यथावसर वात्सल्य, क्रोध, करूण आदि भावों की भी अवस्थिति। इस प्रकार प्रेम-प्रवृत्ति की पूर्णता के कारण वह खण्ड काव्य नहीं ठहरता, 'एकार्थ काव्य' ही ठहरता है। यहाँ फिर डॉ० सियाराम तिवारी का कथन उद्धृत करना उचित है जो उन्होंने एकार्थ काव्य और खण्ड काव्य का विभेद स्पष्ट करते हुए लिखा है, "कोई एक अर्थ अथवा प्रयोजन की सिद्धि उसका (एकार्थ काव्य) उद्देश्य होता है। उसमें कथा नायक का उतना ही जीवन और वे ही प्रयास वर्णित होते हैं जिनमें और जिनसे उसको किसी उद्देश्य विशेष की सिद्धि होती है। इससे यह न समझना चाहिये कि इसमें खण्ड काव्य की तरह नायक का खण्ड जीवन ही अंकित हो पाता है बल्कि उसमें समाविष्ट जीवन अपने रूप में पूर्ण जीवन ही होता है। इस बात को उदाहरण से और स्पष्ट किया जा सकता है। प्रेमाख्यानकों में प्रायः देखा जाता है कि नायक-नायिका के जन्म से कथा आरंभ होती है और परस्पर मिलन के उपरान्त दोनों की जीवन लीला की समाप्ति दिखाई जाती है। निश्चय ही इसमें नायक का पूर्ण जीवन आ गया है लेकिन वस्तुतः यह एक लक्ष्य-साधन में लगा हुआ उसका जीवनांश ही है।"[२] कथन विस्तृत होते हुए भी इसलिये दोहराया गया है कि हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जाय। क्या ऐसे प्रेमाख्यान से 'ढोला मारू' भिन्न है ? क्या उसके नायक-नायिका का प्रेम रूपी एकार्थ लक्ष्य साधन के लिये जीवनांश प्रयत्नशील नहीं है ? यहाँ नायक-नायिका भी अकेले नहीं हैं। खल नायक, सह नायिका आदि अनेकों पात्र हैं जो इसके प्रेम मार्ग के सहायक-अवरोधक हैं।

इस तरह वस्तु-पट की दृष्टि से यह एकार्थ काव्य के अधिक निकट है, खण्ड

---

१. हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य : पृ० ४०९-१०।
२. हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य : पृ० ४०-४१।

काव्य नहीं। एकार्थ काव्य की जो प्रतिपाद्य वस्तु है उसके एक अश का अनुसरण करने वाला ही खण्ड काव्य है। यदि एकार्थ काव्य में नायक के जीवन के एक पक्ष विशेष की सारी घटनाएँ संयोजित हैं तो खण्ड काव्य में जीवन के किसी पक्ष विशेष की एक ही घटना। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ढोला और मारू के जीवन के प्रेम-पक्ष की अनेक घटनाएँ हमारे आलोच्य काव्य में समाविष्ट नहीं हैं ?

वस्तुतः खण्ड काव्य के उज्ज्वल दृष्टान्त 'मेघदूत' को आलोचना-दृष्टि में रख कर ही हम 'ढोला मारू' का प्रबन्ध की दृष्टि से उचित स्थान निर्धारित कर सकते हैं। 'ढोला मारू' में जीवन की प्रेम-प्रवृत्ति प्रबल है और सारी घटनाएँ इसकी पुष्टिकारक हैं। इसमें वर्णित प्रेम की एक संवेदना मात्र ही उपस्थित नहीं है और यहाँ एकघटना ही न होकर अनेक घटनाएँ हैं। इस तरह 'ढोला मारू' की महाकाव्य और खण्ड काव्य के बीच की स्थिति है ।

(आ) मुक्तक काव्य की दृष्टि से :

'ढोला मारू रा दूहा' अनेक विद्वानों के मतानुसार प्रबन्ध न होकर मुक्तक है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का इस सम्बन्ध में मत है कि "ढोला-मारू के दोहे यद्यपि कथानक रूप में लिखे गये हैं, परन्तु वे वस्तुत : मुक्तक ही हैं। इसी कथानक सूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच बीच में चौपाई जोड़कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था।"[१] डॉ० नामवर सिंह का कथन का भी इसी की पुष्टि करता है—"इस तरह का एक और लोक-काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' (१५ वीं शताब्दी ईस्वी) है, जो सन्देशरासक और वीसलदेव रास की तरह मूलतः विरह गीत ही है, परन्तु समय-समय पर उसमें दाव-पेच भरी हुई कथाओं की चिप्पियाँ लगाकर उसे मुक्तक से आख्यानक काव्य बना देने के प्रयत्न हुए हैं।"[२] डॉ० शभुनाथ सिंह की दृष्टि में यह मुक्त प्रबन्ध काव्य है अर्थात् इसके दोहे अलग-अलग भी काव्य सौन्दर्य और उक्ति चमत्कार की दृष्टि से स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं, परन्तु एक साथ मिलकर वे प्रबन्ध काव्य का रूप धारण कर लेते हैं।[३] डॉ० सरला शुक्ल,[४] श्री जितेन्द्र नाथ पाठक,[५] श्री जय किशन प्रसाद[६] ने भी इसे मुक्तक-परम्परा में ही स्थान दिया है। डॉ० प्रेमसागर जैन के मतानुसार कुशल लाभ ने इसके बीच-बीच में अपनी चौपाइयाँ मिलाकर प्रबन्धात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास किया था।[७]

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० १०१।
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० २५३।
३. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : पृ० २२४।
४. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य : पृ० १७३-७४।
५. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास : पृ० ७,२८,२४।
६. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृ० ६३।
७. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि : पृ० ११५।

आचार्य वामन ने काव्य के पद्य भेद को पूर्वापर सम्बन्ध की दृष्टि से अनिवद्ध काव्य (मुक्तक) और निवद्ध काव्य (प्रबन्धात्मक) दो भागों में विभक्त किया है,[१] और इन्हें क्रमशः मुकुट और माला के समान कहा है।[२] विश्वनाथ कविराज ने मुक्तक के लक्षण देते हुए लिखा है कि "मुक्तक (वह है) जिसके पद्य (अपने अर्थ में) अन्य किसी पद्य की आकांक्षा से 'मुक्त' अथवा स्वतन्त्र हुआ करते हैं।"[३] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य को एक वनस्थली माना है और मुक्तक को एक चुना हुआ गुलदस्ता।[४] आचार्य गुलाबराय के शब्दों में मुक्तक के समस्त छन्द स्वतः पूर्ण होते हैं और वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते।[५]

इससे भली भाँति स्पष्ट होता है कि मुक्तक के छन्दों में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता और वे सर्वथा स्वतन्त्र, निरपेक्ष और विशृंखलित होते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है मुकुट के समान और वे माला के समान सुसंगठित और सुसम्बद्ध नहीं होते। प्रबन्ध और मुक्तक में रमणीयता, अभिव्यक्ति सौष्ठव और चमत्कार योजना की दृष्टि से कोई मौलिक भेद नहीं होता। साहित्य में रस-सृष्टि की दृष्टि से मुक्तकों का भी विशिष्ट महत्व है। इस सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन की यह उक्ति स्मरणीय है—"रसास्वाद की दृष्टि से 'मुक्तक' रचनाएँ प्रबन्ध काव्य की भाँति महत्वपूर्ण हैं। अमरुक के मुक्तकों में बहने वाली शृंगार-मन्दाकिनी का जिसने आनन्द लिया हो, उसे प्रबन्ध काव्यों के क्षीर सागर से क्या प्रयोजन ?"[६]

'ढोला मारू रा दूहा' की मुक्तक रूप में कल्पना करना असंगत है क्योंकि इसके लिये ऐसे प्रमाण नहीं हैं कि इस अवधारणा की पुष्टि हो सके। न तो ऐसी कोई प्राचीन प्रति ही मिली है और न ऐसा कोई विश्वसनीय संकेत ही। ढोला के समय और तत्कालीन साहित्यिक मान्यताओं को देखते हुए इसके सन्देश-काव्य के रूप में रचित होने की कल्पना की गई है। सन्देश-काव्य के रूप में रचित होने पर भी उसमें कथा-सूत्र अवश्य रहा होगा, चाहे वह क्षीण ही हो। उस युग के सन्देश और विप्रलम्भ काव्य सन्देश रासक और वीसल देव रास में भी कथातत्व हैं[७] और इस तरह जिस तरह ये काव्य मुक्तक नहीं है, 'ढोला मारू' भी मुक्तक नहीं हो सकता।

इन विद्वानों ने 'ढोला मारू' के कुशललाभ विरचित 'चौपई' रूप की इन पंक्तियों का आश्रय लेकर ही अपना मत निर्धारित किया है, ऐसा प्रतीत होता है—

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : १/३/२७ ।।
२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : १/३/२८ ।।
३. साहित्य दर्पण : ६/३१४ ।।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० २४७।
५. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० १८४।
६. ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत।
७. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य को न मानकर 'ढोला मारू रा दूहा' को हेमचन्द्र और बिहारी के मध्य की कड़ी माना है।—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ६।

दूहा घणा पुराणा अछइ । चउपइ बंध कियउ मैं पछइ ॥

यहाँ ज्ञातव्य रहे कि कुशललाभ के 'चउपई रूप' से भी प्राचीन और सं. १५३० में रचित अनेक दोहामयी हस्तलिखित प्रतियाँ इस काव्य की प्राप्त होती हैं जिनमें शृंखलाबद्ध कथानक है और जो कुशललाभ से प्राचीन है। संपादक-त्रय ने भी लिखा है —"पर दूहों वाला रूप सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। उसकी कई प्रतियाँ अनुसंधान करने पर हमें प्राप्त हुई। सबमें दूहों की संख्या लगभग समान हैं और कथासूत्र बराबर मिलता है। कहीं खण्डित नहीं होता।"[1] कुशललाभ के रचना-रूप में प्राप्त दोहे इन दोहामयी प्रतियों में भी ज्यों के त्यों उपस्थित हैं। अतः केवल इस आधार पर ही इसकी मुक्तक रूप में कल्पना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ती।

इसके दोहा छन्द में रचित होने ने भी इसके प्रबन्धत्व में सन्देह और शंका का प्रादुर्भाव किया है। 'दूहाविया' अपभ्रंश से दोहा छन्द को अन्य लोकभाषाओं में भी रचना-प्रकार रूप में अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली। मध्ययुग का साहित्य भी इसकी साक्षी देता है कि शृंगार रस के भाव-वैविध्य के लिये दोहा एक श्रेष्ठ छन्द के रूप में मान्य रहा। डॉ० चन्द्रकान्त मेहता के अनुसार मध्यकाल के साहित्य प्रकारों में मुक्तक का सर्वोपरि स्थान है।[2] उन्होंने उस काल में मुक्तकों के संस्कृत मुक्तक, संस्कृत मुक्तकों के भाषान्तर तथा स्वतन्त्र देशी मुक्तक—ये तीन प्रकार विशेष रूप से प्रचलित माने हैं। इन भाषान्तर और देशी मुक्तकों में दोहे का सर्वाधिक प्रयोग उस काल में होता था, ऐसी उनकी मान्यता है।[3] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी दोहा छन्द को प्रबन्ध के योग्य ही नहीं मानते—"सच पूछिये तो दोहा मुक्तक काव्य का ही सफल वाहन है। वह प्रबन्ध या कथानक के लिये उपयुक्त छन्द नहीं मालूम होता।"[4] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का भी कुछ ऐसा ही विचार है कि दोहा छन्द प्रबन्ध का छन्द ही नहीं है।[5] निस्सन्देह दोहा छन्द का मुक्तकों में सर्वाधिक प्रयोग मिलता है परन्तु दोहा प्रबन्ध काव्यों में भी स्थान ले चुका था। ऐसे अनेक प्रबन्धकाव्य मिलते हैं जिनमें दोहों का खुलकर प्रयोग हुआ है। इतना ही नहीं अनेक प्रबन्धात्मक काव्यों की तो मात्र दोहा छन्द में ही रचना हुई है। आमोद (आम्रपद) जिला बड़ोच के निवासी, कायस्थ जाति के नरसा के पुत्र गणपति ने संवत् १५७४ में 'माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध' दोहों में ही रचा।[6] राजस्थानी में ऐसे अन्य भी प्रबन्ध काव्य मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दोहों वाले प्रबन्धों की एक परम्परा ही चली है। इस प्रकार 'ढोला मारू' के दोहाबद्ध होने से ही इसे मुक्तक मानने की मान्यता को उचित नहीं ठहराया जा सकता। श्री शम्भूसिंह मनोहर का कथन यद्यपि इसके दोहामय स्वरूप को अभिनय प्रयोग ही ठहराता

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ६।
२. मध्यकालना साहित्य प्रकारो : पृ० १।
३. मध्यकालना साहित्य प्रकारो : पृ० ५।
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० १०१।
५. निजी पत्र : दिनांक ३-६-६६।
६. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : पृ० २०६।

है, फिर भी उल्लेखनीय है—"जब विरह ही जीवन की एक मात्र कथा हो तो उसको कहने के लिये किस पूरक कथा की आवश्यकता रह जाती है ? हमारे परम्परा-रूढ़ काव्य रूपों में यदि इन गीतों में ढुलकी अश्रु मयी कहानियों के लिये कोई उपयुक्त अभिधान न हो तो क्या ये विरह की कहानियाँ ही नहीं रहेंगी ? आँसुओं के मोती तो छलके ही हैं—एक पर एक—अब, उनकी माला न बनी तो क्या वह नयनों से उमड़ा हुआ अविरल अश्रु-प्रवाह देख कर भी अनदेखा कर दिया जाएगा ? कुछ ऐसी ही स्थिति है इन राजस्थान के विरह-गीतों की, और फिर 'ढोला मारू' तो एक लोक गाथा है—कथा-सूत्र में पिरोई आँसुओं की पूरी लड़ी। फिर भी, यदि इसकी दूहा-छन्दो-बद्धता को लेकर तार्किक-तुष्टि आवश्यक ही हो तो क्यों न इसे प्रबन्धगत छन्दोचयन की दिशा में एक अभिनव प्रयोग मान लिया जाये ?"[1] वस्तुतः यह 'अभिनव प्रयोग' मात्र नहीं है; यह एक सुदृढ़ दोहामयी प्रबन्ध काव्य-परम्परा का अनमोल रत्न है।

'ढोला मारू' के समस्त दोहों में वह निरपेक्षता और पूर्वापर-असम्बद्धता भी नहीं है जो मुक्तक का अनिवार्य गुण है। मार्मिक प्रसंगों के कुछ दोहे और अन्य स्थानों पर सूक्त्यात्मक उल्लेख उदाहरण के लिये मुक्तक का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं, पर इससे भी उनकी समग्र प्रभावान्विति कम हो जायगी। ये तो समुचित सुसंगठित रुप में ही सुरुचि-जनक हैं और रस-सृष्टा हैं। एतदर्थ इस मान्यता में भी कोई तथ्य नहीं लगता कि यह मुक्त प्रबन्ध काव्य है।

इस प्रकार 'ढोला मारू' को प्रबन्ध काव्य तो मानना ही पड़ेगा क्योंकि इन दोहों में पूर्वापर सम्बन्ध है और इनकी आयोजना ही प्रबन्ध को बिन्दु मानकर की गयी है।

(इ) लोक-काव्य की दृष्टि से :

कतिपय विवेचकों ने 'ढोला मारू रा दूहा' को लोक-काव्य माना है तो दूसरी ओर अनेक ने इसे अभिजात कृति भी ठहराया है। यहाँ इस पर विचार किया जाता है।

क : लोक काव्य या शिष्ट काव्य :

'लोक साहित्य' का 'लोक' शब्द यहाँ अपने विस्तृत और व्यापक अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक वर्ग विशेष और समुदाय विशेष का संकेत करता है। "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का इससे तात्पर्य है—ग्रामों और नगरों में फैली हुई समूची जनता, जिसका आधार पोथियाँ नहीं है।[3] इसी की अभिव्यक्ति है लोक साहित्य और इसका वर्ण्य हुआ लोक वर्ग और उसका जीवन।

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० ३१।
२. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन : डॉ० सत्येन्द्र : पृ० ३।
३. जनपद : त्रैमासिक : अंक १ में 'लोक साहित्य का अध्ययन' शीर्षक निबन्ध।

डॉ० सत्येन्द्र ने लोक साहित्य की परिभाषा इन शब्दों में दी है—"लोक साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें—

(अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों;

(आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो;

(इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोकमानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसको व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध करते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।[1]

डॉ० श्याम परमार ने इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है कि "आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में लोक का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर साधारण जन-समाज जिसमें पूर्व-संचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोसरत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।

भारतीय लोक साहित्य इसी क्षेत्र का साहित्य है जो नवीन प्रवृत्तियों के रूप में भावी भारत के लिये मंगल का सन्देश लेकर आ रहा है, जो युगों से भगवती भागीरथी की तरह प्रवहमान होते हुए भी (लोक के भीतर व्याप्त होकर) विद्वज्जनों के समक्ष उपेक्षा की वस्तु बना हुआ था, पर अब 'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' मन्त्र अध्येताओं के लिये नया दृष्टिकोण लेकर आ रहा है। 'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'—अथर्ववेद का यह सूक्त आज के मनीषियों की आत्मा में 'लोक' के सन्नैकट्य के प्रति प्रेरणा का संचार कर रहा है।"[2]

'शिष्ट काव्य' का 'शिष्ट' पद यहाँ अभिजात, कुलीन, सभ्य और सुसंस्कृत समाज के गुणों का बोधक है। 'शिष्ट काव्य' समस्त पद का तात्पर्य हुआ 'शिष्ट है जो काव्य,' 'शिष्ट समाज का काव्य' या 'शिष्ट समाज के लिये काव्य'।

तो क्या लोक काव्य अशिष्ट होता है? लेकिन तथ्य यह प्रकट नहीं करते। शिष्टता एक ऐसा सामाजिक गुण है जो सर्वत्र समादृत होता है समाज के हर वर्ग का अपना-अपना शिष्टाचार है व और तो और अशिष्टता को तो अशिष्ट व्यक्ति भी नहीं चाहता। इससे निष्कर्ष निकला कि अपनी प्रेषणीयता और रसाभिव्यंजना से अभिजात वर्ग का कोई काव्य भी लोकरंजक और लोक-समादृत हो सकता है। अनेक काव्य अनेक कारणों से हर वर्ग का आदर प्राप्त किये हुए हैं। इस स्वीकृति से तो लोक काव्य और शिष्ट काव्य में कोई तात्विक भेद ही नहीं रह जाता।

वस्तुतः तथ्य यह है कि शिष्ट काव्य शास्त्रीय गुणों एवं लक्षणों से युक्त रहता है और इसके विपरीत लोक-काव्य लोक-तत्वों से यथा लोक-विश्वास, लोक-रूढ़ियों

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन : पृ० ३-४-५।

२. भारतीय लोक साहित्य : पृ० ११।

और लोकानुभूतियों से आर्द्र रहता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उपलव्ध काव्य-कृतियाँ लोकानुभूति से शून्य हैं ? जव सहजानुभूति ही काव्यानंद की व्यंजक है तो यह अन्तर क्यों ?

लोककाव्य साधारण, जन-समाज का सहजोच्छ्वास है। इस हृदय की कविता में भावनाओं का नैसर्गिक उच्छलन है, स्पन्दन है जिनमें धड़कनें वोलती हैं। वह वहु-मूल्य मुक्ताफल है परन्तु तराशा हुआ नहीं; अनगढ़ और अलंकृति शून्य। क्या 'ढोला मारू' इस स्तर का काव्य है ?

लोक साहित्य की परिभाषाओं के अनुसार उसमें आदिम मानस के अवशेष उपलव्ध होते हैं। इस तथ्य को हम 'ढोला मारू' में खोजें तो निराशा ही हाथ लगेगी। इसमें आदिम मानस के मनोरागों की झलक मात्र तक नहीं। इसमें सामन्तयुग का परिष्कृत दाम्पत्य प्रेम है।

लोक साहित्य मौखिक क्रम से उपलव्ध श्रुति-परम्परा में आता है और वह किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं होती। 'ढोला मारू' का यह दोहामय स्वरूप पीढ़ी दर पीढ़ी श्रुति परम्परा से हस्तान्तरित होता रहा हो, यह भ्रम है। जव 'ढोला मारू' आदर्श दम्पत्ति के रूप में रूढ़ हो गये तो उनकी प्रणय कहानी लोकप्रिय होकर सुनी-सुनायी जाने लगी। ढाढ़ियों ने अपने जीविकोपार्जन का इसे साधन वनाया क्योंकि हमारी सम्मति में यह किसी सुयोग्य ढाढी कवि की ही कृति थी। इस जाति द्वारा इसे अत्यधिक अपनाये जाने का यही रहस्य है। परन्तु यह इसका 'वात' रूप ही था जो इस तरह हस्तान्तरित हुआ। इस 'वात' रूप के वीच-वीच में दोहे भी होंगे। ये दोहे वही रहे होंगे जो अपनी भाव सरसता के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। अनेक ढाढ़ियों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने के पश्चात् मेरी यही धारणा वनी कि अन्य कहानियों की तरह 'ढोला मारू' की भी प्रेम-कहानी मौखिक परम्परा से चलती रही। लोक प्रचलित कहानियाँ प्रायः इसी तरह जीवित रहती हैं। प्रेम व्यंजना के कुछ दोहे इसके वीच-वीच में स्मृति अनुसार इन लोगों ने सजाये। 'ढोला मारू' के इस दोहावद्ध सम्पूर्ण स्वरूप की वात तो दूर, मारवणी के विरह के कुछ दोहे ही मुझे ढाढ़ियों को कंठस्थ मिले। अतः यह दोहामय स्वरूप अपने पूर्ण रूप में मौखिक सम्पत्ति कभी नहीं रहा। शेष रहा कृतिकार निर्णय। प्राचीन हस्तलिखित प्रति के अभाव में इसका यशस्वी कवि अनिर्णीत है परन्तु इसका कोई कवि ही नहीं रहा हो, यह मानना तो सत्य से आँख मूँदना होगा। और तो और महादान मेहड़, लूणपाल मेहड़ आदि की लिखी 'ढोला मारू की वात' तक मिलती है। 'ढोला मारू' की कहानी के अत्यधिक लोक प्रचलित होने के कारण ही इसके हर साहित्य-रूप को लोक साहित्य के अन्तर्भूत मान लिया गया।

लोक साहित्य की यह प्रमुख विशेपता भी कही गयी है कि वह किसी का कृतित्व हो परन्तु लोक मानस के तत्वों से युक्त हो। यह विशेषता ऐसी विशदता को लिये हुए है कि हर साहित्यिक कृति को इसकी परिधि में समेटा जा सकता है। लोक मानस के मूल तत्व ही परिष्कृत और सुसंस्कृत होकर शिष्ट समाज की धारणाएँ

बन जाते हैं। ऐसी कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं है कि इन तत्वों का लोक और शिष्ट वर्गीकरण किया जा सके। शिष्ट मानस के तत्वों के पीछे मूल में लोक मानस के तत्त्व ही हैं। इनके स्वरूप में अवश्य अन्तर है। साधारण समाज की जो सहज अनुभूतियाँ और धारणाएँ हैं वे ही लोक साहित्य में मुखरित हुई हैं। परन्तु इन अनुभूतियों पर जनसाधारण का ही तो एकाधिकार नहीं। ज्ञात-अज्ञात अनेक रचनाकारों की समादृत कृतियों में लोकजीवन की विशिष्टताएँ मिलती हैं। तुलसी, सूर, मीराँ आदि का साहित्य तो लोक मानस के अत्यन्त सन्निकट है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसे लोककाव्य की श्रेणी में स्थानान्तरित कर दिया जाय। 'ढोला मारू' में लोक-विश्वास और अन्य लोक-तत्त्व खूब मिलते हैं। पर क्या लोक तत्वों को लेकर कोई अपनी कृति को सहज और स्वभाविक बनाने के लिये सजा नहीं सकता। जायसी के 'पद्मावत' में लोक-तत्त्व भरे पड़े हैं और केवल इन तत्वों को लेकर ही कुछ विद्वानों ने आलोचनात्मक ग्रन्थ तक लिखे हैं, परन्तु केवल इस आधार पर ही उसे लोककाव्य कतई नहीं ठहराया जा सकता। बात यह है कि लोककाव्य की अभिव्यक्ति भी अनगढ़ ही होनी चाहिये। यदि लोकमानसीय प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति शुद्ध साहित्यक गुणयुक्त है तो वह अन्य लोक-साहित्य से इन गुणों के कारण ऊँची उठ जाती है। उसका स्वरूप सँवर जाता है और इस तरह वह 'लोक' की संज्ञा खो बैठती है।

'ढोला मारू रा दूहा' एक लोक प्रचलित इतिवृत्त को लेकर रचित हुआ काव्य है। यह काव्य कला-पारंगत एक सिद्धहस्त कवि की कृति है। कवि कहता भी है—

जोताँ नवरस एणि जुगि, सविहूँ धुरि सिणगार।
रागइँ सुर नर रँजियइ, अवला तस आधार।।

यह कृति शास्त्रीय लक्षणों से शून्य नहीं है। इसमें काव्य के सभी शास्त्रीय मूल्यों का सफल निर्वाह हुआ है।

'ढोला मारू' का आधिकारिक वृत्त 'ढोला और 'मारू' की प्रणय-गाथा है जिसके आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट है। अवान्तर प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा की सहायिका और पोषिका बनकर आई हैं। कथानक-रूढ़ियों की चमत्कारिक नियोजना ने कथा को रोचक बना दिया है। पात्र सजीव हैं और उनकी कार्यशीलता एवं घटनाओं में गत्यात्मकता सप्रयोजन है। पात्र आदर्शोन्मुख नहीं हैं। साधारण मानव की रागात्मक वृत्तियों सहित वे अच्छाइयों और निर्बलताओं के मिश्रित पुंज हैं।

'ढोला मारू' का अंगीरस है शृंगार रस। यह रस इस कृति में अपनी समस्त विशेषताओं से युक्त होकर आया है। इसमें भी विप्रलम्भ शृंगार का पलड़ा भारी है। पूर्वराग, प्रवास और करुण विप्रलम्भ शृंगार, पूर्वरागान्तर और प्रवासान्तर संयोग शृंगार की रस धारा इस काव्य में सहज अनुभूतिगम्य है। काव्य का पूर्वराग मंजिष्ठा राग है। 'ढोला मारू' वस्तुतः विशुद्ध विरह काव्य है। इस कारण इसे विस्तार भी मिला है। कवि ने इस विरह का अन्त संयोग की पृष्ठभूमि पर किया है परन्तु काव्य में उसे विस्तार नहीं दिया है। शृंगार रसामृत से परिप्लुत ये मार्मिक

प्रसंग अत्यन्त मर्मस्पर्शी बनकर आये हैं। कवि केवल भावना में ही यहाँ नहीं बहा, उसने रसौचित्य का भी पूर्ण निर्वाह किया है। हमें इसमें भावसन्धि, भावोदय और भावशवलता मिलेगी। कामदशाओं और संचारियोंकी भी यथास्थान सुन्दर आयोजना की गयी है।

इस काव्य का अभिव्यक्तिपक्ष शास्त्रीय लक्षणों से पूर्ण और पुष्ट है। इसकी भाषा लोक व्यवहृत जनभाषा है परन्तु शब्द-विन्यास की सादगी अनूठी और रुचिकर है। अलंकारों का प्रयोग रसानुकूल है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक, अत्युक्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, विरोधाभास, भ्रान्ति, स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग द्रष्टव्य है। ध्वनि की दृष्टि से यह काव्य प्रमुखतः 'गुणीभूतव्यंग्य प्रकार' का काव्य है। काव्य का वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट है, अतः प्रधानतया अभिधामूलक विविक्षता वाच्यध्वनि के अन्तर्गत हम इसे स्थान देंगे। 'ढोला मारू' में प्रसंगानुसार तीनों रीतियों की प्रयुक्ति दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु इनमें वैदर्भी रीति की प्रधानता है। इस काव्य में तीनों गुणों की भी यथास्थान विद्यमानता है। विरह वर्णन के प्रसंगों में माधुर्य गुण की छटा अवलोकनीय है। शब्द-शक्तियों की दृष्टि से भी काव्य सम्पन्न है। यथावसर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का सुष्ठु प्रयोग किया गया है। इनमें से अभिधा मूला व्यंजना का अधिक प्रयोग हुआ है।

'कवि प्रौढोक्ति सिद्धेन वस्तुना अलंकार ध्वनिः' और 'कवि प्रौढोक्ति सिद्धेन अलंकारेण वस्तु ध्वनिः का प्रयोग भी इस काव्य की विशेषता है। 'कवि निबद्ध वक्तृप्रौढोक्ति सिद्धेन वस्तुना वस्तु ध्वनिः' और 'कवि निबद्ध प्रौढोक्ति सिद्ध अलंकारेण अलंकार ध्वनि' प्राचीन कवि समय और कवि-रूढ़ियों का प्रयोग भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है। इसमें शब्द प्रधान भारती-वृत्ति की प्रमुखता है; यद्यपि कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी उपलब्ध होती है। वक्रोक्ति प्रहेलिका आयोजन में प्रयुक्त हुई है। इसमें दोहा, चन्द्रायणा, सोरठा और गाहा छन्दों का प्रयोग हुआ है।

संस्कृति की दृष्टि से यह समृद्ध काव्य है। संकेत मात्र से ही सही, इसकी पंक्ति-पंक्ति में राजस्थानी जन-जीवन अपनी समस्त विविधताओं और विशेषताओं के साथ मुखर हो उठा है। राजस्थान की प्रकृति की रंगीन अभिव्यक्ति और चित्रोपमता से यह सांस्कृतिक निरूपण और भी हृदय स्पर्शी हो उठा है।

इस प्रकार की भावाभिव्यंजना और अभिव्यक्ति-सौष्ठव किसी अभिजात कृति में ही प्राप्त होता है, साधारण लोक साहित्य में नहीं। 'ढोला मारू' का बहुप्रचलित आख्यान और जन जीवन की सजीवता से अभिव्यक्ति ही इसे लोक काव्य की संज्ञा देने के भ्रम का मूल कारण है। कवि द्वारा ऐसे आख्यान को वर्ण्य बनाने से ही यह भ्रान्ति हुई है। कवि की इस चेष्टा का फल यह हुआ कि रचना स्वान्तः सुखाय होकर भी लोकः सुखाय बन गयी। भला दोहों की साहित्यिकता से कौन इंकार कर सकता है? डॉ० सत्येन्द्र स्वयं लिखते हैं कि 'इन सबके साथ प्रभूत कवित्वरस से प्रत्येक दोहा

आप्लावित है।'[१] रही लोक तत्वों की उपस्थिति। इसके समाधान के लिये हमें मध्ययुगीन साहित्य पर दृष्टि डालनी चाहिये। लोक जीवन का सजीव चित्रण समस्त मध्ययुगीन साहित्य और विशेष कर प्रेमाख्यानों की अन्यतम विशेषता है। सूफी काव्य और जैन चरित काव्य इसकी साक्षी देते हैं। इनमें लोक पक्ष की चित्रात्मक अभिव्यक्ति है। लोक जीवन के मार्मिक चित्र, लौकिक वातावरण, उत्सव, विश्वास, आचार-व्यवहार, लोक प्रचलित मुहावरे, सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ आदि सभी सम्पूर्ण विशिष्टताओं के साथ काव्य-फलक पर उतरे हैं। फिर भी क्या ये लोक काव्य कहे जा सकते हैं? प्रश्न स्वयं उत्तर देता है। इसका आन्तरिक स्पन्दन लौकिक होते हुए भी यह एक अभिजात साहित्यिक कृति है। डॉ० कन्हैयालाल सहल इसकी साहित्यिक विशेषताओं के कारण इसे शिष्ट साहित्य के अन्तर्गत ही स्थान देते हैं।[२] श्री घनश्याम देव तैलंग के मत में भी इसे यदि शिष्ट काव्य ही कहा जाय तो अधिक समीचीन होगा।[३] इसकी शिष्टता इसके शास्त्रीय-शिल्प एवं भावपक्षीय सर्वांगीणता के कारण स्पष्ट है।

ख : लोक-गाथा की दृष्टि से :

'ढोला मारू' लोक-मानसीय प्रवृत्तियों को आत्मसात् किये हुए है। अपनी इस विशिष्टता के कारण यह काव्य लोक-मानस द्वारा अत्यन्त समादृत हुआ। इसकी प्रवृत्ति, विशेष स्थिति तथा प्रचार-प्रसार को दृष्टिगत रखते हुए श्री संपादक-त्रय,[४] आ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[५] डॉ० माता प्रसाद गुप्त,[६] डॉ० कालिका रंजन कानूनगो,[७] डॉ० शम्भुनाथ सिंह,[८] श्री शम्भुसिंह मनोहर,[९] डॉ० कृष्ण कुमार शर्मा,[१०] डॉ० श्याम मनोहर पाण्डे,[११] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य,[१२] डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय,[१३] डॉ० सत्यव्रत

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : श्री शम्भुसिंह मनोहर : प्राक्कथन : पृ० १०।
२. राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन : पृ० १६२।
३. राष्ट्रदूत : २६ अक्टूबर, १९६४।
४. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ३१-४४।
५. (i) हिन्दी साहित्य का अतीत : पृ० ६४।
(ii) व्यक्तिगत पत्र : दिनांक ३-६-६६।
६. व्यक्तिगत पत्र : दिनांक ३१-१-६६।
७. स्टडीज़ इन राजपूत हिस्ट्री : पृ० २२।
८. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : पृ० २२४।
९. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या एवं विवेचन : पृ० ३७।
१०. (i) अध्ययन और अन्वेषण : पृ० ६८।
(ii) परम्परा : भाग ११-२२ : पृ० १६०।
११. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान : पृ० ८६।
१२. हिन्दी साहित्य कोश : पृ० २८६-८७।
१३. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन : पृ० १४२।

सिन्हा,[१] डॉ० नामवर सिंह,[२] श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई[३] आदि ने इसे एक स्वर से लोक-गाथा माना है।

'लोक गाथा' अनेक विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार से परिभाषित हुई है। फ्रेंक सिजविक ने बैलेड की कोई सुनिश्चित परिभाषा देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए इसे अमूर्त वस्तु के अनेक गुणों से युक्त एक विशेष वस्तु कहा है।[४] प्रो. किटरिज के अनुसार यह वह गीत है जो किसी कथा को कहता है अथवा दूसरी दृष्टि से विचार करने पर बैलेड वह कथा है जो गीतों में कही गयी हो।[५] श्री जोसेफ टी. शिप्ले के शब्दों में साहित्यिक क्षेत्र में यह एक लघु, सरल गये कथानक होता है।[६] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार इंग्लेण्ड में बैलेड उस काव्य-रूप का नाम है जिसमें सीधे-सादे छन्दों में कोई भी सीधी सरल कथा कही गयी हो।[७] श्री डवल्यू. पी. केर के शब्दों में बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है जो या तो लोक में ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोक काव्य के सामान्य रूप-विधान को लेकर किसी विशिष्ट कवि द्वारा रचा जाता है जिसमें गीतात्मकता और कथात्मकता दोनों ही होती हैं और जिसका प्रचार जन साधारण में मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता रहता है।[८] श्री सी. होगार्ट इसमें कथा और गीत तत्व के साथ मौखिक परम्परा का होना अनिवार्य लक्षण बतलाते हैं।[९] ऐसे ही श्री जीरोल्ड भी बैलेड में कथा और गेयता को महत्व देते हैं।[१०] डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित मानविकी पारिभाषिक कोष में इसके सम्बन्ध में यह लिखा गया है—"साहित्य और संगीत दोनों क्षेत्रों में अब इस के कई अर्थ हैं। साहित्य में इससे अभिप्राय छोटे छोटे सरल कथात्मक गीतों का होता है। प्रचलित अर्थ में इसके अंतर्गत वह सब परम्परागत गेय काव्य आ जाता है जिसमें भावपूर्ण आख्यान की प्रधानता हो।[११]"

लोक गाथाओं में कुछ समान तत्व पाये जाते हैं। प्रो० गूमर इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि परम्परा, विषय प्रधानता तथा व्यक्तित्वहीनता से युक्त इन गाथाओं में कथानक भी होता है।[१२] श्री डवल्यू० पी० केर ने इसके गीतात्मकता, कथात्मकता,

१. भोजपुरी लोक गाथा : पृ० २५।
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० २५५।
३. जैन गुर्जर कविओ : भाग ३ : पृ० १७७५।
४. दी बैलेड : पृ० ८।
५. इंगलिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स : भूमिका : पृ० ११।
६. डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर : पृ० ६३।
७. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका : पृ० २६४-६५।
८. फॉर्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री : पृ० ३३।
९. दी बैलेड्स : पृ० १०।
१०. अध्ययन और अन्वेषण : पृ० ६२ से उद्धृत।
११. साहित्य खण्ड : पृ० २६।
१२. दी बेलेड : फ्रेंक सिजविक : पृ० ११ से उद्धृत।

विशिष्ट कवि द्वारा रचित और मौखिक हस्तान्तरण प्रमुख तत्व माने हैं।[1] श्री जोसेफ टी० शिप्ले ने इसके अत्यावश्यक तत्व इस प्रकार गिनाये हैं—कथात्मक प्रस्तुतीकरण, सरलता, आत्म-विवेक का अभाव, अनुप्रास-पद्यकता आदि।[2] फ्रेंच विद्वान मोशिए ऑपरे ने इसके प्रमुख लक्षण दिये हैं—'अन्त्यानुप्रास' के स्थान पर ध्वनि साम्य का प्रयोग, पुनरुक्ति (कथोपकथन में), तीन-पाँच-सात आदि संख्याओं का वार-वार प्रयोग, तथा दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने रुपे की कहना।[3] जॉन एफ० एम्ब्री भी अपनी कृति 'जापानीज़ पीजेन्ट साँग्ज' में इसके नाम रहित, सर्वजनीन समूह के सामाजिक मूल्य को व्यक्त करने वाले और उपदेशात्मक' लक्षण दिये हैं।[4] मानविकी पारिभाषिक कोष में लोकगाथा के इन तत्वों की ओर संकेत किया गया है—सरल और भाव पूर्ण आख्यान, परम्परागत-गेयता, सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति, प्रेम, युद्ध, शिकार, प्रेत आदि की विषय प्रधानता आदि।[5] प्रसिद्ध भारतीय विद्वान सर जदुनाथ सरकार ने सच्चे लोकगीत की नितान्त आवश्यक विशेषताएँ इस प्रकार व्यक्त की हैं—प्रबन्ध की द्रुतगति, शब्द-विन्यास की सादगी, विश्वव्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोराग, सूक्ष्म भाव विश्लेषण के बजाय व्यापार की प्रधानता, स्थूल किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र चित्रण, क्रीड़ास्थली अथवा देश-काल का स्थूल अंकन, साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा वहिष्कार।[6]

इस प्रकार लोक गाथा की जो निजी प्रकृत विशिष्टताएँ उसमें समाविष्ट हैं,—उनका समष्टि-स्वरूप अधोलिखित है—

१. अनगढ़पन और अकृत्रिमता,
२. सामूहिक भाव-भूमि,
३. अज्ञात रचयिता,
४. रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव,
५. प्रामाणिक मूल पाठ की अप्राप्ति,
६. मौखिक प्रवृत्ति,
७. सुदीर्घ कथानक और अनेक रूपात्मकता,
८. उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव,
९. स्थानीयता की प्रचुरता,
१०. संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य,
११. संदिग्ध ऐतिहासिकता,
१२. टेक पदों की पुनरावृत्ति,

---

१. फॉर्म एण्ड स्टाइल इन पोएट्री : पृ० ३३।
२. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर : पृ ६३-४।
३. भारतीय लोक साहित्य : श्याम परमार : पृ० ५९ से उद्धृत।
४. भारतीय लोक साहित्य : श्याम परमार : पृ० ६१ से उद्धृत।
५. साहित्य खण्ड : संपा० डॉ० नगेन्द्र : पृ० २९।
६. ढोला मारु रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ० ३१ से उद्धृत।

१३. साम्प्रदायिक मनोभावना से विलगता।

श्री नित्यानन्द तिवारी की सम्मति में तो वैलेड शब्द की व्युत्पत्ति और उसकी सामान्य विशेषताओं की दृष्टि से हिन्दी के ये वर्णनात्मक पँवारे समान नहीं हैं। इन भारतीय पँवारों में कुछ ऐसी विशिष्टता है, जिसे 'वैलेड' के अध्ययन के आधार पर सब समय पूरी तरह समझ सकना कठिन है।[1] परन्तु ये विशेषताएँ और तत्त्व हर गाथाओं में समान रूप से प्राप्य हैं। अतः इनके आधार पर भारतीय लोकगाथाओं की समालोचना असंगत नहीं होगी।

१. अनगढ़पन और अकृत्रिमता :

अलंकृत कविता प्रयत्न साध्य और मस्तिष्क की कविता है और गाथा जनता की सहज हृदयोद्भूत साहित्यिक कृत्रिमताओं से शून्य कविता। इसमें पिंगल-शास्त्र की भूल-भुलैया नहीं होती। ग्रियर्सन लिखते हैं कि गाथाओं में छन्दों की पकड़ ढीली रहती है।[2] 'ग्रामगीत और महाकवियों की कविता में अन्तर है। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत में रस है, महाकाव्य में अलकार। रस स्वाभाविक है और अलंकार मनुष्य निर्मित।'[3] रावर्ट ग्रीव्ज का भी मत है कि कि गाथाएँ टेकनीक की दृष्टि से समृद्ध नहीं होती।[4] भाषा भी इनकी प्रचलित जन-भाषा होती है।

'ढोला मारू' की भाषा भी लोक-भाषा है पर छन्द, अलंकार, गुण रीति और शैली की दृष्टि से वह अनगढ़ नहीं है।[5] साहित्यिकता होते हुए भी वह नैसर्गिक सौन्दर्य से परिपूर्ण कविता है। यह ऐसे सिद्धहस्त कवि की रचना है कि इसकी अलंकृति अस्वाभाविक नहीं लगती है। इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति-सौष्ठव से, छन्दो बद्धता, कल्पना और नखशिख में अनूठी उपमाओं की झड़ी से कौन इनकार कर सकता है? इसमें अलंकृत शैली का अभाव न होते हुए भी सहज और स्वाभाविक प्रवाह अक्षुण्ण है और इसी कारण यह लोक-पूज्य बना।

२. सामूहिक भाव-भूमि :

लोक रूचि का आधार लेकर ही गाथाएँ विकसित-विवर्द्धित होती हैं। इसमें सार्वजनीन चेतना से सहज तादात्म्य स्थापित होने वाली उदात्त भावनाओं को प्रश्रय मिलता है। इसी कारण ये समाज-सम्पत्ति बन जाती हैं।

'ढोला मारू' की भावभूमि भी व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत है। किसी एकांगी भावना का आधार न लेकर यह प्रेम-भावना की पोषण-पुष्टि करता है जिसका हर हृदय में आवास है। यदि इसे केवल लोक-गाथा की ही विशेषता माना जाय, जो

---

१. हिन्दी अनुशीलन : वर्ष १४ अंक ३।
२. जरनल ऑफ रोयल एशियाटिक सोसायटी : भाग ५४ : पार्ट I।
३. ग्रामगीत रामनरेश त्रिपाठी : पृ० ६।
४. दी इंगलिश बेलेड: भूमिका : पृ० २०।
५. इसके अभिव्यक्ति सौष्ठव पर अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।

हमारी समझ में हर उदात्त काव्य की विशेषता है, तो वह 'ढोला मारू' पर अक्षरसः सही उतरती है।

३. अज्ञात रचयिता :

लोकगाथाओं के रचनाकारों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी बता सकना नितान्त कठिन है। गाथा की लोकप्रियता के कारण रचयिता का लोप कृतित्व में हो जाता है। इसकी मीमांसा करते हुए रोबर्ट ग्रीव्ज लिखते हैं कि आजकल के वर्तमान युग में किसी लेखक का अज्ञात नामा होना यह सिद्ध करता है कि वह अपनी कृति से लज्जित होने के कारण ऐसा करता है, परन्तु प्राचीन समाज में इसका अपने नाम के विषय में लेखक की लापरवाही ही समझनी चाहिये।[1]

लोकगाथा को नैसर्गिक प्रतिभा का सहज उत्सर्ग मानने में अनेक आपत्तियाँ है। डॉ० कृ. कु. शर्मा के शब्दों में 'अज्ञात शब्द स्वयं किसी रचयिता की सत्ता का द्योतक है। ज्ञात और अज्ञात तो विशेषण हैं। इसके साथ किसी व्यक्ति, यहाँ पर गाथाकार का रहना सिद्ध है।'[2] जैसा कि पहले विचार किया गया है 'ढोला मारू' के रचयिता को हम अज्ञेय नहीं मान सकते।[3] संवत् १५३० में रचित इस काव्य के रचनाकार का पता निश्चित रूप से पाठ-संपादन के पश्चात् लग जायगा। इससे पहले यदि रचना हुई हो, तो अवश्य कृतिकार के विषय में ज्ञातव्य असंभव है।

४. रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव :

गाथाकार का व्यक्तित्व समाज की अन्तर्लय में डूब जाता है जिसके कारण उसकी सत्ता उसकी कृति में भाषित नहीं होती। कीट्रिज व्यक्तित्व-हीनता को गाथा की प्रमुख विशेषता मानते हैं।[4] फ्रेंक सिजविक के मत में भी किसी लोक-गाथा की विशेषता उसके रचयिता के व्यक्तित्व की सत्ता में नहीं वल्कि उसके व्यक्तित्व के नितान्त अभाव में है।[5]

अभिजात साहित्य में व्यक्तित्व मुखरित होता है। यद्यपि मेरी दृष्टि में 'ढोला मारू' का यह स्वरूप अभिजात कृति है और किसी प्रतिभा सम्पन्न कवि की ही देन है, परन्तु लोकमानसीय भावनाओं के अत्यधिक सन्निकट होने के कारण उसका व्यक्तित्व इसमें एक हो गया है। यही कारण है कि जन-मानस ने इसे अपना समझ कर अपनाया।

५. प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव :

कृतिकार के रचनाशील हाथों से निकलकर जब गाथा समुदाय की निधि बन जाती है तो मूलगाथा में परिवर्तन, भाषा की विभिन्नता, स्थानीय घटनाओं के पुट से ऐतिहासिकता में अन्तर और भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के कारण विभिन्न पाठान्तर

---

१. दी इंगलिश बेलेड : पृ० १२।
२. अध्ययन और अन्वेषण: पृ० ९६।
३. प्रथम परिच्छेद का 'रचनाकार' शीर्षक खण्ड।
४. इंगलिश एण्ड स्कॉटिश पापूलर बेलेड्स : भूमिका : पृ० ११।
५. दी बेलेड : पृ० ११।

तैयार हो जाते हैं। फलस्वरूप उसका प्रामाणिक मूल पाठ अनुपलब्ध होता है। रावर्ट ग्रीव्ज का कथन है कि इसीलिये किसी गाथा का कोई वास्तविक एवं शुद्ध मूल पाठ नहीं होता। हम किसी भी एक पाठ के विषय में यह नहीं कह सकते हैं कि यही विशुद्ध पाठ है और अन्य सभी अशुद्ध हैं।[1] प्रो. किट्रिज भी लिखते हैं कि वास्तविक लोकप्रिय गाथा का स्थिर और मूलपाठ नहीं मिलता।[2]

'ढोला मारू' काव्य की दोहामयी अनेक हस्तलिखित प्रतियों के अवलोकन के पश्चात् मेरी यह धारणा बनती है कि उसका वर्तमान स्वरूप इतना विकृत नहीं हो गया है कि मूल स्वरूप पहचानना ही असंभव है। वैज्ञानिक पाठ-संपादन से उसका सं. १५३० में रचित स्वरूप तो सामने आ ही जायगा। जो कुछ भी परिवर्तन मिलता है वह सं. १५३० के बाद ही हुआ है। हेर-फेर भी कुछ ही दोहों तक सीमित है। अतः इसका प्रामाणिक मूल पाठ अप्राप्त नहीं है।

६. मौखिक प्रवृत्ति :

गूमर ने लिखा है कि मौखिक परम्परा किसी गाथा की प्रधान उपलब्ध कसौटी है।[3] मौखिक और श्रुति परम्परा में ही गाथा प्रवहमान रहती है। अक्षरों के शिकंजों में ये फँसी और लिपिबद्ध हुई कि इनका जीवनान्त हो जाता है। इस विषय में फ्रेंक सिजविक ने बहुत ठीक लिखा है कि इनको (गाथाओं) लिखना इन्हें मृत्यु के मुख में डालना है। फ्रेंच लोग कहते हैं कि गाथा तभी तक जीवित रह सकती है जब तक यह मौखिक साहित्य के रूप में है।[4]

'ढोला मारू' के दोहा और चौपाई रूप के साथ-साथ 'वात' रूप की भी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। यह 'वात' रूप और उसमें आये हुए थोड़े दोहे ही पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक प्रवृत्ति द्वारा पोषित होकर जीवित रहे हैं। यह उपलब्ध दोहामय स्वरूप नहीं।

७. सुदीर्घ कथानक और अनेक रूपात्मकता :

सुदीर्घ कथा और उसकी बहु-रूपात्मकता भी लोक-गाथा की बड़ी विशेषता है। प्रवेश के पश्चात कहानी में से कहानी निकलती ही जाती है और इस तरह कथा कलेवर बढ़ता ही जाता है। काव्योत्कर्ष में चाहे हलकी रहें परन्तु सुदीर्घता में ये महाकाव्यों की स्पर्धा करती हैं। मौखिक परम्परा के कारण समय के साथ-साथ इनके मूल रूप में परिवर्तन-परिवर्द्धन होता ही रहता है और इस कारण लोकगाथाएँ बृहदाकार हो जाती है।

'ढोला मारू' का कथानक इतना लम्बा नहीं है जितना कि अन्य लोकगाथाओं का, कि कहते हुए और गाते हुए उसमें सम्पूर्ण रात्रि ही व्यतीत हो जाय। इसके

---

१. दी इंगलिश बेलेड : पृ० १३।
२. इंगलिश एण्ड स्कॉटिश पापूलर बेलेड्स : भूमिका : पृ० १७।
३. ओल्ड इंगलिश बेलेड्स : भूमिका : पृ० २६।
४. दी बेलेड : पृ० ३६।

संपादित संस्करण में जो ६७४ दोहे हैं उनमें से मारवणी विरह,[१] मारवणी-संदेश,[२] ऋतु वर्णन,[३] मालवणी-विलाप[४] और मारवणी-नखशिख[५] के ३१० दोहे निकाल देने पर कितने दोहे बचते हैं ? इन्हीं मार्मिक प्रसंगों के वर्णन से ही 'ढोला मारू' के कथा कलेवर की वृद्धि है अन्यथा कथा के नाम पर शेषांश रह ही क्या जाता है ? 'ढोला मारू' के अन्य रूपान्तरों में लगभग ये ही दोहे किंचित पाठभेद के साथ उपस्थित-अनुपस्थित हैं। इस प्रकार लोकगाथा की यह विशेषता इस काव्य पर पूरी और खरी नहीं उतरती।

८. उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव :

लोक गाथाएँ उपदेशात्मक मनोवृत्ति Didactic Tendency से नितान्त शून्य रहती हैं। उसमें कथानक का सहज प्रवाह और उच्छलन ही रहता है, उपदेश कथन की प्रवृति नहीं। रॉबर्ट ग्रीव्ज इस सम्बन्ध में कहते हैं कि गाथा नीति या सदाचार की शिक्षा नहीं देती और न पृथक्त्व की भावना का प्रचार करती है।[६] लोकगाथाओं से किसी भी प्रकार की शिक्षा अवश्य ग्रहण की जा सकती हैं पर ऐसा उनका मुख्य उद्देश्य नहीं होता।

'ढोला मारू' में उपदेश-कथन की पद्धति नहीं अपनायी गयी है। कहीं-कहीं सरस सूक्तियाँ अवश्य आयी हैं पर वे सहज प्रवाह में ही। सायास नीतिक-थन के लिये नहीं। इन सूक्तियों की संख्या भी नगण्य है।

९. स्थानीयता की प्रचुरता :

लोकगाथा स्थानीयता की गन्ध से अनुप्राणित रहती है। चाहे कथानक किसी भी वर्ग से सम्बद्ध हो, उसमें प्रादेशिकता का समावेश निश्चयात्मक रूप से होता है।

'ढोला मारू' पर यह विशिण्टता अक्षरस : घटित होती है। उसका हर दोहा राजस्थानी रंग में रंगा हुआ है। निस्सन्देह संपादक-त्रय के शब्दों में "इसमें राजस्थानी की जातीय-कविता केन्द्रीभूत है।"[७] यहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान और आचार-व्यवहार का इसमें सजीव चित्रण मिलेगा। पर इसके साथ ही गौण-रूप से मालव-प्रदेश की आँचलिकता की भी इसमें झलक है। देश-काल-चित्रण काव्य के प्रमुख तत्वों में से एक है। अन्तर केवल यही है कि यह तत्व इस काव्य में विशेषोन्मुख हैं और इसलिये इसे राजस्थान का जातीय काव्य कहा जा सकता है।

१०. संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य :

लोकगाथा का मूल अभिप्राय ही गेय आख्यान है। अतः संगीत और नृत्य गाथा के धर्म हुए। रॉबर्ट ग्रीव्ज के शब्दों में संगीत के बिना लोकगाथा अपूर्ण है।[८]

---

१. दो. सं. २५ से ७६।
२. दो. सं. ११० से १८३।
३. दो. सं. २४१ से ३०३।
४. दो. सं. ३४८ से ४२२।
५. दो. सं. ४५१ से ४८८।
६. दी इंगलिश बेलेड : पृ० ८।
७. ढोला मारू रा दूहा : पृ० १०१।
८. दी इंगलिश बेलेड : पृ० १७।

प्राचीन योरप में चारण 'हार्प' नामक वाद्य पर धनी-मानी व्यक्तियों के यहाँ 'बेलेड' गाकर अपनी जीविका उपार्जन करते थे ।[१]

'ढोला मारू' के ये दोहे भी लय, राग और ताल के समवेत स्वरों में अन्य लोक-प्रचलित गाथाओं की तरह जंतर अथवा रावणहत्थे पर गाये तो जाते हैं पर उनमें समस्त कथानक नहीं आता ! ढाढी-वर्ग इसके कुछ दोहे–विशेषकर वियोगश्रृंगार के—अवश्य राग-रागनियों में मनोरंजनार्थ गाते हैं, पर ये सम्पूर्ण दोहे इस रूप में गाये जाते हों इसमें सत्यता नहीं है । फिर वे 'प्रकृत्या गेय'[२] कैसे हुए ? संगीत और नृत्य का वह साहचर्य यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता । अतः इस विशेषता की भी 'ढोला मारू' में अनुपलब्धि है ।

११. संदिग्ध ऐतिहासिकता :

अनेक कारणों से लोकगाथा के पात्र, स्थान और घटना की ऐतिहासिकता संदिग्ध रहती है । डॉ० कृष्ण कुमार शर्मा इसके लिये रचयिता के अनपढ़ होने को उत्तरदायी ठहराते हैं ।[३]

'ढोला मारू' की ऐतिहासिकता पर विचार करने के पश्चात् इसमें संन्देह नहीं रह जाता कि उनकी ऐतिहासिकता संदेहास्पद है । 'ढोला मारू' का हर दोहा किसी काव्य-कला-पारंगत कवि का कृतित्व है न कि अनपढ़ रचनाकार का । वस्तुतः तथ्य यह है कि कवि ने लोकव्याप्त कथा को ही इस काव्य की वस्तु बनाया है । अतः उसमें जो अपुष्ट ऐतिहासिक तत्व थे वे भी काव्य में उतर आये । कवि ने श्रुतिपरम्परा से प्राप्त इतिहास के ज्ञान को ही उपोद्घात में दिया है । वह कवि पहले है, इतिहासकार नहीं । इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि ऐतिहासिकता नाम तक ही सीमित है, शेष कवि-कल्पना की अनुरंजनात्मक रचना ही ।

१२. टेक पदों की पुनरावृत्ति :

अनेक विद्वानों ने टेक अथवा अन्य पदों की पुनरावृत्ति को लोकगाथा की प्रमुख विशेषता और आवश्यक धर्म माना है । इनके प्रयोग के मूल कारण हैं–गवैये को अवकाश देना, गीत की नीरसता को भंग करना और श्रोता समुदाय पर इच्छित प्रभावोत्पादकता डालना ।[४] गूमर ने इसे वृद्धिपरक आवृत्ति Incremental Repeataion कहा है और लोकगाथा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना है । यह पुनरावृत्ति गाथाओं की संजीवनी है । यह आवृत्ति तीन प्रकार की होती है–कोरस, रिफ्रेन, बर्दन ।

---

१. रेलिक्स ऑफ एन एन्शिएन्ट इंगलिश पोइट्री : भाग १ : भूमिका : बिशप पर्सी : पृ० २४ ।

२. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : श्री शंभुसिंह मनोहर : पृ० ३४ ।

३. अध्ययन और अन्वेषण : पृ० ९७ ।

४. दी बेलेड : फ्रेंक सिजविक : पृ० २७ ।

'ढोला मारू रा दूहा' में यह पुनरावृत्ति अनेक दोहों में दृष्टिगोचर होती है—

ढाढी एक संदेसड़उ …………दो. सं. ११२, ११४, ११७, १२०, १२१, १२२, १२३ आदि,

ढाढी जे प्रीतम मिलइ…………दो. सं. ११३, ११५, ११६, ११८, ११९ आदि,

जइ तू ढोला नावियउ…………दो. सं. १४६, १४७, १४९, १५०, १५४ आदि,

जिणि दीहे …………दो. सं. २७९, २८०, २८२, २८३ आदि,

उत्तर श्राज स उत्तरउ …………दो. सं. २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१ आदि,

सज्जण चाल्या हे सखी…………दो. सं. ३५१, ३५२, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७ आदि।

यह पुनरावृत्ति प्राचीन कविता की विशेषता है। पृथ्वीराज रासो आदि ग्रन्थों तक में यह प्रवृत्ति मिलती है।

'ढोला मारू रा दूहा' का यह रूप मध्ययुगीन लोक प्रचलित-आख्यान को लेकर ही किसी कवि द्वारा रचित हुआ। अतः उसमें वे सभी तत्त्व सहसा सम्मिलित हो गये जो प्रचलित आख्यान में थे। 'पद्मावती' के लोक प्रचलित कथानक को लेकर भी जो काव्य लिखे गये उनमें भी लोक-तत्त्व स्वतः उतर आये हैं। अतः ऐसे काव्य लोकोन्मुखी काव्य हैं। इस 'ढोला मारू' को एक पूर्ण लोकगाथा की मान्यता दिलाने में इसी भ्रम ने कार्य किया है। इस कार्य में दोहा छन्द ने भी बड़ा योग दिया है। रस से आप्लावित इस काव्य के कुछ दोहे इतने प्रसिद्ध हुए कि इनकी लोकप्रियता को देखकर ही इसे लोक-गाथा मान लिया गया। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। दोहा छन्द राजस्थान का प्रिय छन्द रहा है और अनेक विषयों के अनेक दोहे जन जिह्वा-पर आज भी आसन्न है। अतः लोकप्रियता को लेकर भी इसे लोक-गाथा मान लेना उचित नहीं। यह तो लोक प्रचलित प्रेमाख्यान पर रचित किसी अज्ञात कवि की विशिष्ट कृति है। ग्रंथागारों में इसकी दोहामयी हस्तलिखित प्रतियाँ ही पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि यह एक साहित्यिक कृति है। फिर क्या यह लोक गाथा केवल 'लोक' तक ही सीमित और प्रिय रही? समाज का अभिजात वर्ग भी इससे आनंद की प्राप्ति करता रहा है।

डॉ॰ दशरथ शर्मा अनेक कारणों से इसे लोक-गाथा नहीं मानते।[1] डॉ॰ कृष्ण देव उपाध्याय इसे उल्लेखनीय लोक-गाथा मानते हुए भी रस की दृष्टि से इसे अपवाद ही मानते हैं।[2] अतः उनका भी आंशिक समर्थन ही इसे प्राप्त है। इसके इस दोहामय वर्तमान स्वरूप को लोक गाथा नहीं माना जा सकता। इसमें लोक गाथा की कतिपय विशिष्टताएँ प्रतिच्छायित एवं अवशिष्ट हैं—यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

---

१. ढोला मारू रा दूहा : एक विवेचन : श्री कृ. वि. सहल : पृ॰ १४ से उद्धृत।

२. लोकसाहित्य की भूमिका : पृ॰ ३६।

(ई) शैली के आधार पर :

शैली को आधार बनाकर काव्यों के अनेक भेद किये गये हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' को हम पूर्व पृष्ठों में प्रबन्ध-काव्य स्वीकृत कर चुके हैं। अतः यहाँ शैली के उन्हीं रूपों का आधार लेकर विवेच्य काव्य पर विचार करना अभीष्ट है जिनका सम्बन्ध प्रबन्धात्मकता से है।

क : सन्देश-काव्य की दृष्टि से :

'सन्देश काव्य' विरह-व्यंजना का एक विशिष्ट काव्य-रूप है। कथानक ऐसे काव्यों में नाम-मात्र का होता है। शेष सारा काव्य मर्मस्पर्शी, तीव्र और गम्भीर विरहानुभूति से उद्वेलित रहता है। विरह भावना के अभिराम चित्रण की यह पद्धति अति-प्राचीन और पुरातन रही है। "हंस, शुक, कोकिल, चातक, पपीहा, कौआ, निःश्वास, पवन, मेघ, नदी आदि उड़नशील और प्रवाहशील चेतन और जड़ पदार्थों को असंख्य लोक-गीतों में प्रणय सन्देश सौंपकर विरही जन अपने हृदयों को हलका करते हुए देखे जाते हैं।"[१]

सन्देश काव्यों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

१. इनमें कथानक अत्यल्प या नाम-मात्र का होता है।
२. ऐसे काव्यों का अंगी-रस शृंगार होता है जिसमें विप्रलम्भ अवस्था ही प्रधान होती है। संयोग का उल्लेख आता भी है तो स्मृति रूप में ही।
३. इस विरहानुभूति की अभिव्यक्ति कोमल-कान्त-पदावली में नियोजित की जाती है। मधुर लय, गहन संवेदना-जन्य ध्वन्यात्मक संगीत तत्व आदि से ये गीतिकाव्य की सी मधुरिमा से अभिमंडित रहते हैं।
४. ये आकारिक लघुता लिये हुए खण्ड काव्य का उत्तम उदाहरण होते हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' में कथा का क्रमवद्ध, सुनियोजित निर्वाह हुआ है। इसके कथानक में हमें समस्त कार्यावस्थाएँ एवं कथा-विन्यास के अन्य महत्वपूर्ण आधार भी सहज ही प्राप्त होते हैं। इस काव्य की प्रबन्धात्मकता भी उत्तम है। नाना कथानक-रूढ़ियों के सुप्रयोग से कथा में अभिलषित मोड़, नाटकीयता आदि का संयोजन भी अपूर्व हुआ है।[२]

विवेच्य काव्य में शृंगार रस ही प्रधान है। मारवणी एवं ढोला के विरह के कारण समस्त काव्य में शृंगार की विप्रलम्भ अवस्था का ही प्राधान्य है परन्तु इसके साथ ही संयोग शृंगार भी वर्णित है। वीसू चारण द्वारा मारू का नखशिख वर्णन भी इस काव्य की विशिष्ट अलंकृति है। फिर, कवि शृंगार तक ही सीमित नहीं रहा। प्रसंगतः अन्य भावों आदि पर भी उसकी लेखनी चली है।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश : भाग १ संपा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : पृ० ८५८।
१. कथा और पात्रों पर इस प्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में विस्तृत विश्लेषण किया गया है।
३. द्रष्टव्य शोध-प्रबन्ध का चतुर्थ परिच्छेद।

'ढोला मारू' की भावाभिव्यक्ति सरल, आस्वाद्य जन-भाषा में हुई है। इस भाषा में माधुर्य की अभिनव मधुरिमा है। यह सायास प्रयास से एकत्रित की हुई कोमल-कान्त-पदावली नहीं है। भावों की तीव्र संवेदना-जन्य अनुभूति से समन्वित होकर इसके अभिव्यक्ति पक्ष में गीति-काव्य के विशिष्ट गुण भी प्राप्त होते हैं।

सन्देश काव्य आकार में लघु होते हैं। इसका कारण कथानक का अभाव और विप्रलम्भ अनुभूति के ही एक विशिष्ट भाव की नियोजना है। किन्तु प्रस्तुत काव्य सन्देश काव्यों की सी आकारिक लघुता लिये हुए नहीं है। वह कथानक के कारण विस्तृत भावाभिव्यंजना लिये हुए आकार में बड़ा है। अपने भाव-विशेष के कारण ये खण्ड काव्य का उत्तम उदाहरण होते हैं। सन्देश काव्यों में प्रधान मेघदूत को आचार्य विश्वनाथ ने खण्ड काव्य के उत्तम दृष्टान्त के रूप में रखा है।[1] लेकिन इस प्रकार की धारणा 'ढोला मारू रा दूहा' के साथ नहीं बनायी जा सकती।

आलोच्य काव्य में मारवणी का सन्देश उसकी विरहाभिव्यक्ति का एक विशिष्ट अंग बनकर आया है। इस सन्देश में भावना का गाम्भीर्य, विस्तार और औचित्य देखते ही बनता है। भाव-तरलता और कातरता से कूट-कूट कर भरे हुए इस काव्य-प्रसंग में शब्दों के कोमलीकरण के कारण सन्देश, सन्देश होकर सुनाई पड़ता है। नारी-हृदय की आन्तरिक सौन्दर्य-सुषमा के कारण यह सन्देश अत्यन्त प्रभविष्णु बन पड़ा है। इस सन्देश की एक-एक पंक्ति विरह की गीता है। इसकी मार्मिकता पर डॉ० नामवर सिंह की विस्तृत टिप्पणी इस प्रकार है—"ढोला के सन्देश कथन में भी विशेषता है। 'संदेश रास' में संदेश सर्वथा अपरिचित एक पथिक से कहा गया है; 'वीसल देव रास' में अपने राज्य के ही एक पण्डित को बुलाकर कहा गया है। लेकिन 'ढोला' में क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढ़ियों तक अपनी विरह-वेदना कही गई है। यहाँ संदेश-वाहक भी सहृदय हैं। क्रौंच-पक्षी से बढ़कर विरह-विदग्ध कौन होगा; दूसरी ओर गायक ढाढ़ी भी पथिक और पण्डित की तरह मात्र श्रोता नहीं हैं बल्कि सन्देश को अपनी रचना-शक्ति से अधिक मार्मिक बनाकर कहने वाले जीव हैं। ऐसी दशा में 'ढोला' के सन्देश-कथन में मार्मिकता कहीं अधिक है।"[2]

इस पर भी 'ढोला मारू रा दूहा' को उसके विस्तृत कथानक और आकार के कारण 'संन्देश काव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मारवणी का सन्देश 'सन्देश काव्य' की विशिष्टताओं से युक्त है पर उसे हम काव्य से सम्पृक्त कर देख नहीं सकते।

ख : अन्योक्ति काव्य की दृष्टि से :

प्रेम-मार्गी-शाखा की उल्लेखनीय कृति जायसी विरचित 'पद्मावत' से संपादक-त्रय ने 'ढोला मारू' की कहानी की समता-विषमता का विवेचन किया है।[3] आगे 'ढोला मारू के प्रेम-वर्णन में 'ढोला मारू' की कथा को 'रस के सौन्दर्य से मंजी हुई एक सीधी-सीधी प्रेम कथा' कहते हुए भी 'जिन लोगों को इस प्रकार की परोक्ष व्यंजना

१. साहित्य-दर्पण : ६-३२६।
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० २५४-५५।
३. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ६१-५।

के बिना पूरा स्वाद नहीं मिलता, वे चाहें तो इसमें ईश्वर भक्ति का गंभीर आभास भी आसानी से देख सकते हैं और कहानी को जीवात्मा के ईश्वरोन्मुख प्रेम में घटा सकते हैं',[1] लिखकर उसमें आध्यामिकता देखने का निमन्त्रण दिया है। यहाँ संपादक-त्रय ने ढोला अथवा मारवणी को प्रेम-पंथ की जीवात्मा, प्रेमपंथ को भक्ति मार्ग, मालवणी को सांसारिक मोह-माया, ऊमर सूमरा और उसके दुष्ट चारण को शैतान और अन्त में 'ढोला-मारू' के मिलन को मोक्षप्राप्ति जन्य ब्रह्मानन्द कहा है।[2]

डॉ० का. रं. कानूनगो भी ऐसा ही लिखते हैं कि यदि कोई इस कविता में अपरोक्ष सत्ता का आभास पाना चाहे तो वह ढोला को व्यग्र, प्रेमी आत्मा का प्रतीक, ऊँट को मार्ग दर्शन और श्रेष्ठ बुद्धि का प्रतीक तथा मारवणी को इष्ट मान सकता है जिसका निवास मानव-हृदय के 'थल' में—जीवन के उजाड़ में मरूद्यान—में है।[3]

यद्यपि इन कथनों से 'ढोला मारू रा दूहा' को अन्योक्ति-रूपक मानने का स्पष्ट समर्थन तो नहीं मिलता परन्तु उनका इस ओर झुकाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है। अतः यहाँ इस भ्रांति का निराकरण करना असंगत नहीं होगा।

भारतीय साहित्य के लिये 'अन्योक्ति-रूपक' प्रणाली का प्रयोग नया नहीं। अनेक काव्यों में यह व्यव्हृत हुई है। कारण कि भारतीय जीवन और साहित्य में आध्यात्मिकता का सदैव प्रभाव रहा है। कुछ विद्वानों की तो राय है कि हमारे यहाँ ऋग्वेदादि वैदिक ग्रन्थों में भी इसी रूपक प्रणाली का प्राधान्य है।[4] परन्तु यह स्पष्ट है कि यह सूफी-सन्तों द्वारा अपनायी गयी पद्धति से सर्वथा भिन्न है। जिस काव्य की द्वयर्थक कथा में निहित गूढार्थ को प्रतीकात्मक पात्रों और घटनाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है उसे रूपक, अन्योक्ति,[5] अन्योक्ति-रूपक[6] नामों से अभिहित किया गया है। पाश्चात्य साहित्य-संसार में ऐसे प्रतीकात्मक और अन्योक्तिमूलक काव्य को एलिगरी Allegory कहा जाता है।

रूपक काव्य की समस्त विशेषताओं का समन्वित रूप इस प्रकार रखा जा सकता है—

(क) कथानक—पूर्णतः कवि कल्पित एवं ठोस यथार्थता से दूर, तथा द्वयर्थक।

(ख) पात्र —निर्जीव एवं अमूर्त भावों के प्रतीक। मूर्त, अमूर्त तथा प्राकृतिक पात्रों का प्रयोग।

(ग) उद्देश्य —परोक्ष रूप से आध्यात्मिक एवं जीवन सम्बन्धी बातों को

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ७६-७।
२. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ७७।
३. स्टडीज़ इन राजपूत हिस्ट्री : पृ० ३७।
४. भारतीय साहित्य शास्त्र : द्वितीय खंड : डॉ० बल्देव उपाध्याय : पृ० २९७।
५. जायसी ग्रंथावली : भूमिका : श्री रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ५६।
६. मानविकी पारिभाषिक कोष : साहित्य खण्ड : संपा० डॉ० नगेन्द्र : पृ० १५।

सदैव समष्टि के लिये व्यष्टि का अन्वेषण करते हुए प्रस्तुत करना ।

(घ) शैली —आध्यात्मिक तत्व की प्रधानता के फलस्वरूप काव्य में सर्वत्र अध्यात्म और धर्म सम्बन्धी पदावली । धार्मिकता समन्वित उपदेशवृत्ति की प्रधानता और इस सांकेतिकता का आदि से अन्त तक निर्वाह ।

(ङ) यह सच्ची कविता नहीं होती ।

'ढोला मारू रा दूहा' में अन्योक्तिरूपकत्व की विद्यमानता मानने की तर्कना पर अनेक आपत्तियाँ हैं । भ्रम निराकरण की दृष्टि से उनका उल्लेख इस तरह उपयोगी सिद्ध होगा ।

'ढोला मारू' की प्रणय-गाथा ऐतिहासिक उपाख्यान है—सर्वथा कवि-कल्पित और ठोस यथार्थता से दूर नहीं । प्रासंगिक घटनाएँ अवश्य कल्पना-प्रसूत हैं । निजन्धरी विश्वास पर आधारित और कवि-कल्पना-प्रसूत कथानक-रूढ़ियाँ भी यहाँ विद्यमान हैं । परन्तु समग्र रूप में वे किसी अप्रस्तुत कथा का निर्माण नहीं करती । इसका कथानक द्वयर्थक भी नहीं । वह तो सीधा-साधा, सरल भावनाओं की इन्द्रधनुषी छटा एव सरस कल्पना का संस्पर्श लिये हुए है । साथ ही उसका प्रस्तुत अर्थ ही प्रमुख है, कोई अप्रस्तुत अर्थ ध्वनित नहीं होता । इस काव्य की कथा के आवरण में अध्यात्म, नीति अथवा प्रकृति-जगत् के सत्यों का दिग्दर्शन हुआ हो, ऐसा भी किंचित आभास नहीं मिलता ।

'ढोला मारू' के पात्र निर्जीव एवं अमूर्त भावों के प्रतीक नहीं है । वे लोक भूमि के सजीव पात्र हैं जिनमें सांसारिक रागात्मक वृत्तियों यथा प्रेम, क्रोध, घृणा, डाह आदि का प्राचुर्य है । फिर वे ऐतिहासिक भी हैं चाहे नाम मात्र के ; सर्वथा कल्पित नहीं । कवि ने इस काव्य में जातीय जीवन एवं सामूहिक भावनाओं का समावेश इन ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध करके किया है । ऊँट, शुक आदि जो अन्य पात्र हैं, उनकी विद्यमानता तो लोकोन्मुखी साहित्य की विशिष्ट प्रवृत्ति की प्रतीक है जो इस काव्य में भी आचरित है ।

'ढोला मारू' का वर्ण्य है दाम्पत्य शृंगार-भावना । इस लौकिक प्रेम का ही इसमें रागमय चित्रण है । यह लौकिक शृंगार शृंगार-रस के अवयवों, स्थितियों, प्रवृत्तियों आदि में अपूर्व मार्मिकता और सरसता के साथ उद्घाटित हुआ है । यह मध्ययुग के सामन्त कुटुम्ब के दाम्पत्य जीवन को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । इसमें विरह है, संयोग है, काम-भावना है, सौतिया-डाह है, छल-कपट है, सौन्दर्य का स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रण है । इस प्रेम-निदर्शन में आध्यात्मिकता का तनिक भी प्रवेश नहीं है । 'ढोला-मारू' तो लौकिक प्रेम का ही उत्स है ।

इस काव्य में उपदेश-वृत्ति का तो सर्वथा ही वहिष्कार किया गया है । यत्र-तत्र जो कहीं थोड़े से सुभाषित मिलते हैं, उनका तो प्रभावान्विति के लिये ही कवि द्वारा प्रयोग हुआ है । इसमें वर्णन में मार्मिकता बढ़ी है और प्रभावोत्पादकता

तीव्र हुई है। निश्छल प्रेम-चित्रण में यह सर्वथा स्वाभाविक है। अध्यात्म और धर्म-सम्वन्धी पदावली सम्पूर्ण काव्य में ढूंढने पर भी हाथ नहीं लगती।

इस मधुर प्रेममयी कविता में कवि ने भी कहीं ऐसा संकेत नहीं दिया जिससे उसका रूपकत्व का उद्देश्य एवं संकल्प व्यक्त होता हो। कहानी के प्रत्येक पात्र में भी ऐसा निश्चित प्रतीकार्थ एवं अन्योक्ति सन्निहित हो जाय, ऐसा कवि का प्रयोजन एवं प्रयास अल्पाँश में भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

एक सुन्दर काव्य की समस्त विशेषताओं से युक्त यह एक सच्ची कविता का उत्तम दृष्टान्त है। साधारण जन-भाषा में जन-भावनाओं का ऐसा सुन्दर उच्छलन विरल है।

अतः इस पर्यालोचन के पश्चात यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'ढोला मारू' की कथा न तो द्वयर्थक है और न नायक-नायिका ही आत्मा-परमात्मा के प्रतीकार्थक। वे तो साँसारिक प्रेमी युगल हैं—दाम्पत्य की मधुरिमा से अभिमंडित। इसमें अन्योक्ति-रूपकत्व की झलक देखना इस पर आध्यात्मिकता को वलात् आरोपित करने का प्रयास है। इसमें चित्रित प्रेम सर्वथा लौकिक है और उसे उसी मूल स्वाभाविक अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिये, वलात् आरोपित आध्यात्मिक अर्थ में नहीं। यों तो हर किसी भी प्रेमाख्यान के नायक-नायिका एवं प्रतिनायक-प्रतिनायिका को 'सांकेतिकता' देकर अन्योक्ति अर्थ में लिया जा सकता है क्योंकि प्रेम-मार्ग में प्रेम का प्रादुर्भाव, विकास, प्रयत्न, विघ्नवाधाएँ, संघर्ष एवं मिलन आदि विभिन्न स्थितियाँ आती हैं। 'ढोला मारू' की भाव-भूमि भी लौकिक गृहस्थ शृंगार है, आध्यात्मिकता से उसका दूर का भी सम्वन्ध नहीं। 'ढोला मारू' राजस्थानी प्रेमाख्यान-परम्परा का प्रवर्त्तक है, सूफी-धारा का अनुगामी नहीं। अतः इसमें अलौकिक अनुभूति और प्रतीकार्थकता खोजना असंगत होगा।

(उ) काव्य-स्वरूप पर अन्य दृष्टिकोण :

क : 'ढोला मारू रा दूहा' की विकास-यात्रा :

यहाँ हमारी विचिति का विषय है 'ढोला मारू' की अव तक की विकास-यात्रा का। इसके जन्म के पश्चात् युगीन साहित्य-धारा में इसके चरण-चिह्न अथवा विकास-सोपान इस प्रकार अनुमानित किये जा सकते हैं—

प्रथम सोपान :

ढोला और मारू के परिणय की यह घटना घटित होकर जव कहानी के रूप में ढल गयी तो किसी रससिद्ध कवि को आकर्षित कर वैठी और उसने अपनी रस-सिक्त लेखनी से इसका मूल काव्य-स्रोत प्रवाहित कर दिया।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है, हमारी कल्पित धारणा वनती है कि 'ढोला मारू' का मूल रूप में उद्भव ११ वीं १२ वीं विक्रमी शती में किसी विशिष्ट रचनाकार द्वारा हुआ। यद्यपि इस कल्पना को वल देने के लिये हमारे पास उस मूल रूप की प्रमाण-स्वरूप कोई हस्तलिखित प्रति नहीं है, परन्तु ढोला के समय को

देखते हुए यह कल्पना असंगत नहीं लगती। साथ ही स्वरूपाकार में वह लघु दोहामय 'सन्देश काव्य' रहा होगा यह भी अविश्वसनीय नहीं है। इस संभावना से सहमति प्रकट करने के भी अनेक कारण हैं। तद्‌युगीन साहित्य-परंपरा और विवेच्य काव्य की आत्मा तथा अभिव्यक्ति इस संभावना को बल देती है।

ढोला और मारू की यह प्रेम-घटना तथा उस पर विशिष्ट रचनाकार द्वारा लघु प्रबन्ध निर्माण ही इस तरह इस काव्य की विकास-यात्रा का प्रथम सोपान है। प्रथम चरण ही इसका अत्यन्त सफल रहा और यह लोकप्रिय होकर अपनी जड़ जमा बैठा।

द्वितीय सोपान :

लोक-भाषा में अपनी लौकिक भाव-भूमि को लिये हुए यह काव्य अत्यल्प समय में ही लोक-हृदय के सन्निकट जा बैठा और अत्यन्त लोकप्रिय होकर लोक-सम्पत्ति बन गया। इस लोकप्रियता के कारण इस काव्य के नायक-नायिका ढोला और मारू का निजन्धरी व्यक्तित्व में परिवर्तन हो गया। आचार्य हेमचन्द्र और प्राकृत पैंगलम् के रचनाकार की कृतियों में आये कतिपय उद्धरण इसे पुष्ट करते हैं।

विकास के इस चरण में 'ढोला मारू' एक लोक कहानी का स्वरूप ग्रहण कर बैठा। 'ढोला मारू' मूलतः लोकोन्मुख साहित्य-धारा का प्रतिनिधि है। अतः इस समय में उसे लोक मानस में आश्रय मिला। इस रचना के मूल दोहे भी इधर उधर फैले। जो कहानी का अंश मूल रचना में नहीं था, उसे भी जोड़ने का प्रयत्न यहाँ किया गया होगा। नये दोहे भी बने होंगे और कहानी को पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया होगा।

तत्कालीन अत्यन्त अराजकता-पूर्ण राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप हमें इस काव्य की उस समय की कोई हस्तलिखित प्रति हस्तगत नहीं होती। इतने पर भी हमारी अनुमानित स्थापना है कि यह काव्य इस द्वितीय अवस्था में अपने मूल स्वरूप को खो बैठा। पर साथ ही उसने अत्यन्त प्रचलन के कारण लोक-मानस का आदर और श्रद्धा-भाव प्राप्त कर लिया। फल यह हुआ कि वह एक लोक कहानी के रूप परिवर्तित हो गया। उस समय जो अन्य विश्रुत लोक-पात्र थे वे भी इसमें घुल मिल गये। अनेक तत्वों का, जो लोक गाथा या अनुश्रुति रूप में तत्समय प्रचलित थे, उनका इस कथा में प्रवेश हो गया। इस काल में मूल ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि धूमिल पड़ गयी और स्थानीय तत्वों के समावेश से अनेक पात्र और घटनाएँ इससे सम्बन्धित होकर इसमें जुड़ गयीं। ज्यों-ज्यों यह जनमानस में घर करता गया तो इस पर कल्पना का रंग भी चढ़ता गया।

लोकप्रियता[1] और अन्य तत्वों के समावेश से यह काव्य इस अवस्था में

---

१. अकबर और उसके आस-पास के समय में यह कथा खूब प्रचलित थी, ऐसा इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं।—स्टडीज़ इन राजपूत हिस्ट्री : डॉ० का. रं. कानूनगो : पृ० २२।

अपना मूल स्वरूप खोकर मिश्रित स्वरूप वाला बन गया। ढोला मारू के निजन्धरी व्यक्तित्व में परिवर्तन की दृष्टि से भी यह समय महत्वपूर्ण है।

तृतीय सोपान :

'ढोला मारू' की विकास-यात्रा का यह तृतीय सोपान अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किसी अज्ञात रससिद्ध कवीश्वर को शृंगार-परक रचना प्रस्तुत करनी थी—

जोताँ नवरस एणि जुगि, सविहूं धुरि सिणगार।
रागईं सुरनर रँजियइ, अबला तसु आधार॥
वचन विलास, विनोद रस, हाव भाव, तिहाँ हास।
प्रेम प्रीति, संयोग सुख, ए सिणगार अवास॥

अत: उसने 'ढोला मारू' के लोकप्रिय प्रणयाख्यान को ही अपना वर्ण्य बनाया और संवत् १५३० में अपनी रचना प्रस्तुत की—

पनरहसै तीसै वरस, कथा कही गुण जांण।
वदि वैशाखे वार गुरु, तीज जांण सुभ वांण॥

'ढोला मारू' का विश्वसनीय स्वरूप इसी काव्य रूप का मिलता है। इस काव्य का कलेवर उस कथा पर खड़ा किया गया था जिसमें घटनाएँ अनुश्रुतियों पर ही आधारित थीं और जिसमें नाममात्र की ऐतिहासिकता थी। बूँदी आदि स्थानों और ऊमर सूमरा आदि पात्रों की प्रविष्टि यही सिद्ध करती है क्योंकि इन स्थानों और पात्रों का आविर्भाव बाद का है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि इसकी कथा का स्वरूप द्वितीय चरण में पूर्णतः बदल गया था। तत्समय में प्रचलित जो आख्यान इस अनाम कवि के हाथ में आया तो उसने अपनी प्रतिभा, बुद्धि और विद्वता का उपयोग करते हुए इस ग्रंथ का निर्माण किया। ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि देने के लिये उपोद्घात भी लिखा। कथा को एक सूत्रात्मक रूप देने के लिये उसने जोड़ा-तोड़ा भी होगा। मूल दोहों को भी उसने अपने कृतित्व में मिलाया हो पर इसका हम अनुमान नहीं कर सकते क्योंकि भाषा इसकी साक्षी नहीं देती।

कवि इसका ढाढी रहा हो जैसी कि प्रबल संभावना है। इससे यह पेशेवर गायक जातियों की सम्पत्ति और जीविका का साधन बन गया। ढाढियों ने इसे खूब गले लगाया। फल यह हुआ कि लोकप्रियता इसकी बढ़ती ही गयी। इसके विरह अंश का गेय रूप में विकास भी इस समय हुआ। सम्पूर्ण रात पर्यन्त अन्य पवाड़ों की तरह यह गाया जाता रहा हो यह तो अनिश्चित है, पर जैसलमेर की ओर इसका बृहद् लोकगीत रूप मिलता है जिसमें विरह और सन्देश के अनेक दोहे हैं। इस साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इसका गेय रूप चाहे वह अंशतः ही हो, रहा अवश्य है।

इस रचना ने इसे और भी लोकप्रिय बनाया। फलतः इसका खूब प्रचार-प्रसार हुआ। इसी समय इसे लिपिबद्ध भी किया गया। इस काव्य के इस स्वरूप की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं जिनमें अधिक पाठान्तर नहीं है। जिन्हें मूल रूप इस काव्य का हाथ न लगा, उन्होंने अनुभूति के आधार पर ही इसे लिपिबद्ध

किया। ऐसी भी अनेक दोहामयी प्रतियाँ मिलती हैं। यह विकास राजस्थान में ही हुआ क्योंकि दोहों की भाषा यहीं की है।

चतुर्थ सोपान :

इस काव्य की विकास-यात्रा का चतुर्थ सोपान कुशललाभ के समय से है जब उसने परम्पराप्राप्त पुराने दोहों को लेकर अपनी चौपाइयों में बाँधा।

दूहा घणा पुराणा अछइ। चउपइ बन्ध कियउ मँइ पछइ॥

'ढोला मारू' काव्य के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से इस काल को स्वर्णकाल कहा जा सकता है। मगर वल्ह, लूणपाल मेहडू, ग हादान मेहडू आदि ने अपनी-अपनी 'ढोला मारू' की 'वातों' का निर्माण किया। लिपिवद्ध भी यह इस समय खूब हुआ क्योंकि इसी काल की लिपिवद्ध और चित्रित हस्तलिखित प्रतियाँ हमें प्राप्त होती हैं और वे भी वहुतांश में। इसका लिपिकरण अनेक रूपान्तरों में मिलता है। अज्ञात रचनाकारों ने सज्झाय आदि अनेक साहित्य-रूपों में भी इसकी रचना की।[1] जिसे जो भी इसका लिखित अथवा मौखिक स्वरूप मिला, उसे लिपिवद्ध किया गया। इसी समय में इसमें क्षेपक अंश का मिश्रण खूब हुआ। मूल काव्य की भाषा विविध रूपों में और स्वरूप में इस समय अनेक गायक जातियों का यह जीविकोपार्जन साधन भी यथेच्छ परिवर्तन हुआ। वना रहा हो। इसी समय में यह अन्य प्रान्तों में भी खूब फला-फूला जहाँ इस पर हस्तलिखित साहित्य प्राप्त होता है।[2] स्थान भेद के अनुसार इसका वहाँ वहुत रूप परिवर्तित हुआ। नाम वदले, स्थान वदले, घटनाएँ वदली और उन प्रदेशों के लोक-तत्वों का इसमें समावेश हुआ।

इस प्रकार चतुर्थ सोपान की अवस्था में अनेक प्रतिभाओं और उनकी लेखनी का योग पाकर यह काव्य अपने परवर्ती परिवर्द्धित और परिवर्तित स्वरूप में हमें प्राप्त होता है। इनके पश्चात् इस शती में इसका वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ होता है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण और छपाई आदि की सुविधा के कारण और वैज्ञानिकता के कारण इसका विकास रुक गया है पर यह साहित्य जगत् में अत्यन्त समादृत हो चुका है जहाँ अनेक गणमान्य विद्वान इसके अध्ययन-अन्वेषण में रत दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार 'ढोला मारू' के विभिन्न रूप-रूपान्तरों की हस्तलिखित प्रतियों के अवलोकन के पश्चात् इसके विकास की उपरोक्त अवस्थाएँ निर्धारित की जा सकती हैं जिनमें से इसे अव तक गुजरना पड़ा है। इसी विकास-यात्रा के कारण मूल काव्य-स्वरूप के निर्धारण में विद्वानों ने अनेकानेक अनुमान किये हैं।

ख : विकसनशील अथवा क्षेपक काव्य :

इसके साथ ही अव 'ढोला मारू' की विकसनशीलता के प्रश्न पर भी विचार कर लिया जाय। क्या 'ढोला मारू' सच्चे अर्थों में विकसनशील काव्य है अथवा

---

१. इस प्रवन्ध के प्रथम परिच्छेद के अंतर्गत इसके विभिन्न रूप-रूपान्तरों की चर्चा की गयी है।

२. देखिये—प्रथम परिच्छेद का 'लोकप्रियता' शीर्षक अनुखण्ड।

नहीं ? मध्ययुग के अनेक काव्य विकसित-विवर्द्धित होकर हमें मूल रूप से सर्वथा भिन्न और परिवर्तित रूप में प्राप्त होते हैं। 'ढोला मारू' की प्रतियों में भी अन्तर मिलता है। अतः इस प्रश्न के समाधान की आवश्यकता है। विकसनशील काव्य के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. इसके स्वरूप का विकास विविध युगों के थपेड़ों से विविध व्यक्तियों की प्रतिभा के सहारे होता है।
२. उनमें वीरता की भावना को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।
३. उनके पात्र एक ओर तो अद्वितीय योद्धा होते हैं और दूसरी ओर सरस या सहृदय प्रणयी। प्रणय उनकी वीरता प्रदर्शन का एक हेतु बना रहता है।
४. कथानक विस्तृत, अनियन्त्रित और असंयमित होता है। उनमें न तो प्रभावान्विति ही मिलती है, न कार्यान्विति ही दिखाई पड़ती है और न नाटकीय शैली पर वस्तु-विन्यास ही किया जाता है।
५. सरलता और स्वाभाविकता इन महाकाव्यों की सबसे बड़ी विशेषता होती है।
६. उनका रूप परिवर्तित होता रहता है इसलिये उनकी विविध प्रतियों में बहुत बड़ा पाठ-भेद दिखाई पड़ता है।
७. इस कोटि के काव्यों में वैधानिक नियमों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दिखाई पड़ती।[१]

विकसनशील काव्य एक निश्चित समय और एक निश्चित व्यक्ति की कृति नहीं होती। "विकास के महाकाव्यों की रचना होती नहीं, होती चलती है; उसकी रचनावधि भी निश्चित नहीं होती। अनेक रचयिताओं और विस्तीर्ण अवधि के फलस्वरूप धीरे-धीरे ऐतिहासिक तथ्य धूमिल पड़ते जाते हैं और उनकी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं रह जाती। फिर भी नाम और तिथि की दृष्टि से अनुपयोगी होने पर भी न केवल साहित्यिक इतिहास के लिये, प्रत्युत सांस्कृतिक इतिहास के लिये भी, ऐसे काव्य महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।"[२] 'ढोला मारू' की कथा की मर्मस्पर्शिता ने अनेक प्रतिभाओं को अपनी ओर आकर्षित किया, इसमें सन्देह नहीं। 'ढोला मारू' के इस दोहामय स्वरूप की विभिन्न प्रतियों में जो तनिक पाठ-भेद दिखायी पड़ता है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल कृतित्व में परवर्ती कृतित्व भी सम्मिलित है। ऐसा एक प्रतिलिपिकार ने स्वीकार भी किया है—

दूहा घणा कवीअण कह्या, दीठो सोय प्रसंग।
कवीता कहै सूरता सूणै, ऊपजै मन अतिरंग॥ ४०॥[३]

परन्तु इतना होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह संवत् १५३० में

१. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : भाग २ : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : पृ० ५५।
२. साहित्य का इतिहास दर्शन : श्री न. वि. शर्मा : पृ० २८६।
३. ग्र. ७७४७ : ढोला मारूनी वात : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।

रचित किसी अज्ञात कवि की सरस रचना है। जो दोहामयी प्रतियाँ उपलब्ध होती होती हैं वे इसी स्वरूप का परवर्ती तनिक परिवर्तित रूपान्तर है। अन्तर्बाह्य प्रमाणों के अभाव में मूल स्वरूप की तो केवल कल्पना भर ही की सकती है और वह हमने की भी है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि इसके विभिन्न दोहामय रूपान्तरों में आकार सम्बन्धी अनेकरूपता विशेष नहीं दिखायी देती। जहाँ दो-चार प्रतियों में ऐसी बात है, वहाँ मैं प्रतिलिपिकार की अपूर्ण सूचना और पूर्ण दोहों की अप्राप्ति को ही इसके लिये उत्तरदायी मानता हूं। ऐसी सब दोहा-प्रतियों में वही घटना-क्रम निर्वाह है, ऐसा उनके अवलोकन से सुनिश्चित होता है। केवल सन्देश में ही दोहों की घटा-बढ़ी है और एकाध घटना की भी। इससे अधिक अन्तर नहीं। यह रासो या आल्हखण्ड की तरह तिल का ताड़ नहीं बना कि मूल रचना का अस्तित्व ही विलुप्त हो जाय। इस प्रकार इसकी रचनावधि तो सं० १५३० निश्चित है ही और जहाँ तक रचनाकार का प्रश्न है उसका भी समाधान निकट भविष्य में ही होने की संभावना है।[१]

विकसनशील काव्य में वीर चरित्र और उसकी वीरत्व की भावना को ही प्रमुख स्थान दिया जाता है। प्रेम-प्रसंग आता भी है तो वीर भावना का पुष्टिकारक बनकर ही। वीर चरित्र अतिमानवीय शारीरिक और आत्मिक शक्ति से सम्पन्न, शत्रु के प्रति कठोर और साहसिक कार्यों में रत दिखाई पड़ता है। 'ढोला मारू' में प्रेम भावना को प्रमुखता से प्रश्रय दिया गया है। अतः विकसनशील काव्य की यह भाव-विशेषता 'ढोला मारू' पर लागू नहीं होती है।

विकसन शील काव्यों के कथानक का कलेवर अवान्तर कथाओं के आधिक्य और अलौकिक तथा अति प्राकृतिक तत्त्वों के समावेश के कारण वृहद् रहता है और वह साथ ही विशृंखलित, असंयमित एवं अनियन्त्रित होता है। 'ढोला मारू' में न तो इतनी उपकथाओं की भरमार है और न ही इसका कथानक विस्तृत, विशृंखलित और असंयत। अलौकिक और अति प्राकृतिक तत्त्वों का भी उसमें आधिक्य नहीं। कथानक के आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट हैं और कथा-विन्यास के शास्त्रीय आधार कार्यावस्थाएँ, अर्थ-प्रकृतियाँ आदि की उपस्थिति भी है। इसके कथानक में नाटकीयता का भी अपूर्व संयोजन हुआ है।[२] अतः विकसनशील काव्य का-सा इसका कथानक नहीं है।

अपने उद्देश्य की दृष्टि से विकसनशील काव्य किसी दर्शन विशेष का प्रतिपादन नहीं करते। लोकानुरंजन ही प्रधान उद्देश्य होता है। 'ढोला मारू' का उद्देश्य लोकानुरंजन तक ही सीमित नहीं। इसने गंभीर दाम्पत्य-प्रेम का पाठ भी पढ़ाया है। ढोला और मारू का आदर्श पति-पत्नि के रूप में प्रतिष्ठापन इसे अन्य मनोरंजक कथाओं की श्रेणी से अलग करता है।

---

१. इस शोध-प्रबंध के प्रथम परिच्छेद में इसके कवि पर विस्तृत विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

२. कथानक की विशिष्टताओं के लिये द्वितीय परिच्छेद का अवलोकन निवेदनीय है।

वस्तु-व्यापार वर्णन आदि की दृष्टि से विकसनशील काव्यों में जीवन के बाह्य रूपों का चित्रण अधिक मिलता है। 'ढोला मारू' में यह बात नहीं। 'ढोला मारू' तो आदर्श दाम्पत्य की प्रेम मनोभावना से ओतप्रोत काव्य है। उसमें वस्तु व्यापार-वर्णन की प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर नहीं होती। कहीं आये भी हैं तो प्रसंगवशात् संश्लिष्ट रूप में।

अनलंकृति विकसनशील काव्यों की प्रमुख विशेषता होती है। 'ढोला मारू' भी इस दृष्टि से शास्त्रीय विधिविधानों युक्त काव्यों की श्रेणी में नहीं आता। परन्तु वह अलंकृति-शून्य नहीं है। इसकी सरलता, सहजता और स्वाभाविकता ही इसकी विशिष्ट अलंकृति है। 'ढोला मारू' में कल्पना-सौष्ठव और चमत्कार है। अनेक मौलिक उपमाओं के साथ अन्य शास्त्रीय अलंकार उसमें हैं। दोहा जैसे लघु छन्द में कवि की सरल भाषा और शब्द-चयन की अपूर्व क्षमता तथा चातुर्य भी इसके आकर्षण का प्रमुख बिन्दु है। कवि भी इस तरह साधारण नहीं उच्चकोटि का है। तभी तो वह काव्य को एक ओर पाण्डित्त्य-प्रदर्शन और शास्त्रीयता के बोझ से बचा गया तो दूसरी ओर अपनी कला-क्षमता का निखार भी उसमें ले आया।[1]

विकसन शील काव्यों में वैधानिक नियमों की पालन-प्रवृत्ति कम दिखायी देती है परन्तु मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश, सज्जन-प्रशंसा आदि अन्य काव्य-रूढ़ियों का उसमें पालन किया जाता है। 'ढोला मारू' में इन सबका पूर्ण अभाव है। ऐसे काव्य में अधिकतर गेय और सुपाठ्य छन्दों का प्रयोग होता है। दोहा भी गेय छन्द है पर इससे भी ज्यादा उसका साहित्यिक प्रयोग हुआ है। 'ढोला मारू' में दोहा छन्द ही प्रमुख है और गाहा, सोरठा तथा चन्द्रायणा भी उसमें आए हैं। दोहा अपभ्रंश और राजस्थानी साहित्य का प्रिय और प्रचलित छन्द रहा है।

विकसन शील काव्यों का परिवर्तन-शील रूप होता है। उनका कोई सुनिश्चित पाठ नहीं होता और उनकी विविध प्रतियों में पाठभेद भी बड़ा दिखाई पड़ता है। 'ढोला मारू' के कथानक को लेकर विविध साहित्यिक विधाओं में रचना हुई[2] और उनकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं।[3] जहाँ तक आलोच्य दोहामयी प्रतियों का प्रश्न है, उनमें भी विविधता है। परन्तु ऐसी अनेक दोहामयी प्रतियों के अवलोकन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि उनमें पाठान्तर है, परन्तु वह इतना अधिक नहीं कि उनकी अधिकता से मूल रूप विकृत हो और उसे पहचानना कठिन हो। ज्यों-ज्यों इसे लिखा गया स्थानीय बोली के समावेश और मूल प्रति के अभाव में पाठान्तर होता गया। 'ढोला मारू' के विविध रूपों की सम्पूर्ण प्रतियों को एक साथ दृष्टि में रखकर उसे विकसनशील काव्य कहा जा सकता है। पर यह दृष्टिकोण वस्तुतः भ्रामक है। हमें एक स्वरूप ही पर दृष्टि को केन्द्रित करना होगा।

---

१. विशेष के लिये देखिये इस प्रबन्ध का 'अभिव्यक्ति' विषयक परिच्छेद।
२. द्रष्टव्य—प्रथम परिच्छेद का 'आ' खण्ड।
३. हस्तलिखित प्रतियों की विस्तृत सूची परिशिष्ट में दी गयी है।

विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैं—

१. वह प्रचलित लोक-गाथा, जो विकसित होती हुई महाकाव्य का रूप धारण कर लेती है ।

२. वह जिससे किसी ऐतिहासिक नायक का चरित्र विकसित होते-होते महाकाव्य का रूप धारण कर लेता है ।

३. तीसरे वे गेय जन-महाकाव्य होते हैं जिनका गायक कोई प्राचीन व्यक्ति होता है । कालान्तर में उसका नाम मात्र शेष रह जाता है । उसकी रचना जनता के कंठों में पड़कर नूतन रूप धारण कर लेती है ।[1]

डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने 'ढोला मारू' को तीसरी श्रेणी के विकसनशील काव्यों में स्थान दिया है जो सम्भवतः मूल रूप में विशिष्ट कवियों द्वारा रचे गये थे पर अपनी विशेषताओं और लोकप्रियता के कारण वे लोक-सम्पत्ति बन गये ।[2]

इस तरह अनेक दृष्टियों से मैं 'ढोला मारू' को विकसनशील काव्य न मानकर 'क्षेपक' काव्य मानता हूँ । दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है । दोहामयी प्रतियों का रूपान्तर इतना नहीं है कि मूल पाठ खोजा ही नहीं जा सके । इसके सं. १५३० में रचित पाठ का वैज्ञानिक रीति से संशोधन और संपादन करके उसका परिष्कृत और शुद्ध रूप निर्धारित किया जा सकता है । परिवर्तन-परिवर्द्धन इसके बाद के हैं । अतः मूल छन्दों को परवर्ती क्षेपक अंशों से अलग करना असंभव नहीं है । इसकी लोकप्रियता के कारण इसका लिपिकरण बहुत हुआ और इस तरह जिसको जिस रूप में जैसा भी यह काव्य सुनने और पढ़ने में आया, उसी रूप में वह लिपिबद्ध कर दिया गया । इसी से ही इसके रूपान्तर अधिक हो गये और एक रूप की प्रतियों में भी पाठान्तर मिलता है । इसके सं. १५३० में रचित मूल छन्द इन दोहामयी प्रतियों में सुरक्षित हैं । भाषा की दृष्टि से इनमें प्राचीनता के पर्याप्त लक्षण हैं और इन्हें क्षेपक अंशों से विलग किया जा सकता है । 'ढोला मारू' क्षेपक युक्त काव्य ही है, विकसन शील नहीं' ।



१. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : भाग २ : पृ० ५७ ।

२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : पृ० ३२८ ।

चतुर्थ परिच्छेद

अनुभूति-पक्ष

चतुर्थ परिच्छेद : अनुभूति-पक्ष

'ढोला मारू रा दूहा' एक रसात्मक रचना है। इसके अनेक स्थल मर्मस्पर्शी और रस की दृष्टि से उच्चतम कोटि के हैं। ये सहृदय के मन में तन्मयता की सृष्टि करने में सक्षम हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में रस के चारों अवयवों—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारीभाव की यथोचित अभिनिविष्टि मिलती है।

'ढोला मारू रा दूहा' का मुख्य रस श्रृंगार है जिसके स्थायीभाव रति की सम्पूर्ण काव्य में व्याप्ति है। यह भाव ढोला, मारवणी और मालवणी की पारस्परिक प्रीति के रूप में अनेकधा काव्य में उपस्थित है। शोक, उत्साह और क्रोध नामक स्थायीभाव भी 'रति' के सहायक होकर अभिव्यक्त हुए हैं। 'भय', 'विस्मय' आदि कुछ अन्य स्थायीभाव भी गौण रूप से इसमें स्थान पा चुके हैं; परन्तु इस काव्य में सभी स्थायीभाव नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि यह काव्य जीवन की विविधाताओं से समुपेत नहीं है। प्रमुख स्थायीभाव रति विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की यथेष्ट समाहिति पूर्वक रस कोटि तक पहुँचता है। इस काव्य में आदर, श्रद्धा, औदार्य, दया, स्नेह, असन्तोष, अविश्वास, मात्सर्य, दम्भ, ईर्ष्या, निर्णय, क्षमा, कौतूहल, विनय, संशय, धृष्टता, उदासीनता, सारल्य, दैन्य, उग्रता, चकपकाहट, विदग्धता, निराशा आदि शास्त्र में अनुल्लिखित कतिपय संचारी भी उपलब्ध हो सकते हैं।

(अ) प्रधान रस 'श्रृंगार' :

भाव की चरम परिणति ही रस है। 'ढोला मारू' में 'रति' भाव की प्रमुखता के कारण श्रृंगार रस ही इस काव्य का अंगी-रस है। कथा के आरंभ से लेकर अन्त तक यही रस छाया हुआ है।

'श्रृंगार' शब्द की रचना 'श्रृंग' तथा 'आर' इन दो शब्दों के योग से बनी है। श्रृंग का अर्थ है कामोद्रेक और 'श्रृ' धातु से व्यवस्थित आर शब्द गत्यर्थक है। अतः कामोद्रेक की गति अथवा प्राप्ति को श्रृंगार का वर्ण्य विषय मानने का कारण इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है।[1] धनंजय ने श्रृंगार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि परस्पर अनुरक्त युवा नायक-नायिका के हृदय में रम्य देश, काल, कला, वेश, भोग आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना 'रति' स्थायी भाव है। यही 'रति' स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकर श्रृंगार रस कहलाता है।[2]

श्रृंगार की परिधि अत्यन्त व्यापक है और इसी हेतु इसे रसराज भी कहा

---

१. रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण : डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित : पृ० ३१३।
२. दशरूपक : ४-४८।

गया है। प्रायः सभी संचारी भावों का इसमें अभिव्यंजन संभव है तथा अनुभाव आदि की भी प्रायः सभी स्थितियों का संस्थापन इस रस के द्वारा किया जा सकता है।

साहित्य-शास्त्रकारों ने सुखात्मक एवं दुःखात्मक प्रेम के आधार स्वरूप रसराज शृंगार के संयोग तथा वियोग—दो विभेद किए हैं।[१] 'ढोला मारू रा दूहा' में शृंगार की दोनों ही संयोग एवं विप्रलंभ स्थितियों का चित्रण है किन्तु प्रधानता विप्रलंभ को ही दी गयी है। संयोगावस्था का चित्रण वियोग की अपेक्षा अल्प है। यह दूसरी बात है कि रचनाकार ने काव्यान्त में संयोग की स्थिति प्रतिस्थापित करके संयोग शृंगार के रसास्वादन में ही सुखान्त किया है; किन्तु संभवतः यह भारतीय परम्परागत 'सुखान्त' की महत्ता का ही प्रभाव अधिक लगता है क्योंकि कृति के अधिकांश भाग में वियोग का ही विस्तृत साम्राज्य छाया हुआ है।

शृंगार का आलम्बन ढोला-मारवणी-मालवणी का त्रिकोण है, और प्रसंगानुसार आश्रय परिवर्तित होता रहता है। उद्दीपन के लिये रचनाकार ने वातावरण, ऋतुओं एवं परिस्थितियों आदि सभी का यथा-प्रसंग आधार लिया है तथा सभी प्रकार के अनुभाव एवं संचारी भावों का भी यथानुकूल संयोजन किया है।

क : विप्रलम्भ शृंगार :

विप्रलम्भ का तात्पर्य वियोग से है। भोज के अनुसार "जहाँ रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त करे, लेकिन अभीष्ट को न पा सके, तहाँ विप्रलम्भ शृंगार कहा जाता है।"[२] इसके चार भेद माने गये हैं—पूर्व राग, मान, प्रवास तथा करूण।[३]

पूर्वराग वियोग की वह प्रथम अवस्था है जहाँ नायक अथवा नायिका किसी अन्य माध्यम के द्वारा अपने प्रीतिभाजन के गुण अथवा सौन्दर्य का श्रवण करते हैं। मिलन की अभिलाषा मन में निरन्तर विकसित होती रहती है परन्तु दोनों एक-दूसरे के निकट नहीं आ पाते हैं।[४] **मान** की अवस्था में प्रिय तथा प्रेमिका के मन में परस्पर अनुराग तो रहता है परन्तु कारण-अकारण एक-दूसरे पर कुपित रहते हैं। इसके प्रणय-मान तथा ईर्ष्या-मान-दो भेद हैं। ईर्ष्या-मान तीन प्रकार का होता है—दृष्ट, श्रुत और अनुमित। पुनः अनुमित के आचार्यों ने तीन भेद किये किये हैं—उत्स्वप्नायित, भोगाङ्कानुमित एवं गोत्रस्खलन-कल्पित। **प्रवास** विप्रलम्भ में नायक तथा नायिका कार्यवश, दैवी शापवश, संभ्रमवश अथवा देशान्तर गमन के कारण परस्पर एक दूसरे

---

१. धनंजय ने शृंगार के तीन भेद किये हैं—संभोग, अयोग, विप्रयोग—दशरूपक : ४-५०।

२. सरस्वती कंठाभरण : ५-४५।

३. स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकचतुर्धा स्यात् : साहित्यदर्पण : विश्वनाथ : ३-१८७।

४. मात्र मिलन की उत्कट अभिलाषा और तदर्थ उत्साह के कारण ही अनेक विद्वान् पूर्वराग को विरह की श्रेणी में नहीं रखते क्योंकि पहले योग हो तब वियोग की स्थिति आती है।

से वियुक्त हो जाते हैं ।[१] यह तीन प्रकार का बताया गया है—कार्यज, संभ्रमजन्य और शापज । कालक्रम की दृष्टि से इसके तीन भेद और किये गये हैं—यास्यत्प्रवास (भावी प्रवास), गच्छत्प्रवास (वर्तमान कालिक) एवं गत-प्रवास (भूत कालिक) । नायिका-भेद का आधार लेकर भी इसके आगतपतिका, आगच्छत्पतिका, एष्यत्पतिका भेद किये गये हैं । करूण विप्रलम्भ की अन्तिम अवस्था है जिसमें प्रेमी-प्रेयसी में से किसी एक का शापवश संसार से गमन प्रस्तुत किया जाता है । साथ ही इसमें पुनर्मिलन की भविष्यवाणी भी कर दी जाती है ।

काव्यशास्त्रियों ने विप्रलम्भ शृंगार को दस दशाओं में विभक्त किया है जिन्हें 'काम-दशा' संज्ञा दी है । ये दशाएँ नायक-नायिका की विरह-जन्य पीड़ा के उत्तरोत्तर आधिक्य का परिचय देती हैं । वे इस प्रकार हैं—

अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण ।[२]

'ढोला मारू' में तीन प्रमुख पात्र हैं और वे ही प्रेम का त्रिकोणात्मक संघर्ष पैदा करके वियोग की सृष्टि करते हैं । अतः इस रचना के विप्रलंभ का निम्नलिखित तीन रूपों में अध्ययन करना समीचीन रहेगा—

१. मारवणी का वियोग,
२ मालवणी का वियोग,
३. ढोला का वियोग ।

१. मारवणी का विरह :

प्रस्तुत कृति में कथा-प्रारंभ की औपचारिकता का १०-१२ छन्दों के निर्वाह करने के पश्चात् तत्काल ही मारवणी के विप्रलंभ का व्यापक एवं विशद चित्रण किया गया है । लगभग १५० छंदों में परिव्याप्त इस विरह-वर्णन में दो स्थितियाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं—

१. प्रिय-मिलन के अभाव की छटपटाहट,
२. प्रिय-मिलन की नियताप्ति की मधुर-पीड़ा ।

इन दोनों ही स्थितियों में रसोद्रेक की सम्पूर्ण सामग्री अत्यन्त कुशलतापूर्वक संयोजित है ।

यौवनागम की अवस्था में मारवणी को स्वप्न में साल्हकुमार (ढोला) मिलता है[३] जिसका कामदेव के समान सुन्दर रूप वह नहीं भुला पाती[४] और वियोग के कारण निःश्वास भरने लगती है । प्रेम-रस-निमग्ना मुग्धा मारवणी विरह रूपी प्रलयकालीन मेघ की थाह खोजती है ।[५] प्रियतम के पथ को निहारना ही अब उसकी आराधना है । ऐसी 'तन्मार्ग दत्तेक्षणा' मारू की यह छवि—

उक्कंबी सिर हथ्थड़ा, चाहंती रसलुध्ध ।
ऊँची चढि चातृंगि जिउँ, मागि निहालइ मुध्ध ।। १६ ।।

---

१. साहित्य दर्पण : विश्वनाथ : ३-२०४ ।
२. साहित्य दर्पण : विश्वनाथ : ३-१६० ।
३. दो. सं. १४ । ४. दो. सं. १६ । ५. दो. सं. १५ ।

और उसकी उदास मुख-मुद्रा उसकी समवयस्क सखियों को आश्चर्य में उलझा देती है। सखियों के यह पूछने पर कि विना देखे ही तुम्हें अपने प्रियतम के प्रति अनुराग कैसे हो गया, मालवणी का निम्नलिखित उत्तर प्रेम की शाश्वत अनन्यता प्रकट करता है—

जे जीवण तिन्हाँ-तणा, तन ही माँहि वसंत।
धारइ दूध पयोहरे, वालक किम काढंत ॥ २१ ॥
ससनेही समदाँ परइ, वसत हिया मंझार।
कुसनेही घर आँगणई, जाँण समंदा पार ॥ २२ ॥

विरह-महोदधि में डूबी हुई मारवणी और पपीहा के स्वर-साम्य को कवि ने इस चित्र में संजोया है—

वावहियउ नइ विरहणी, दुहुवाँ एक सहाव।
जव ही वरसइ घण घणउ, तवही कहइ प्रियाव ॥ २७ ॥

मारवणी पपीहे की टेर पर खीझती है, उपालम्भ देती है—

वावहिया, तूँ चोर, थारी चाँच कटाविसूँ।
राति ज दीन्ही लोर, मइँ जाण्यउ प्री आवियउ ॥ ३० ॥
वावहिया निलपंखिया, वाढत दइ दइ लूण।
प्रिउ मेरा मइँ प्रीउ की, तूँ प्रिउ कहइ स कूण ॥ ३३ ॥

वर्षा-ऋतु और आकाश में आच्छादित जलधर-समूह; ऐसे उल्लास के वातावरण में सबका मन-मयूर नृत्य करने लगता है। परन्तु मारवणी को प्रियतम-स्मृति सालती है—

ऊनमि आई वद्दली, ढोलउ आयउ चित्त।
यो वरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ॥ ४१ ॥

वह दैव से अनुनय करती है—

गिरह पखालण, सर भरण, नदी हिंडोलणहारि।
सूती सेजइँ एकली, हइ हइ दइव म मारि ॥ ४८ ॥

चतुर्दिक वातावरण ही ऐसा हो तो सूने मन के लिये प्रियतम का सानिध्य आवश्यक है—

जल थल, थल जल, हुइ रह्यउ, बोलइ मोर किंगार।
सावण दूभर हे सखी, किहाँ मुझ प्राण-अधार ॥ ४९ ॥

विजलियों की चहल-पहल, गिरि-शिखरों से उनका स्नेह-मिलन मारवणी के चित्त को उचाटता है। वादल भी गरज-गरज कर उसके प्राणों को लेने की कुचेष्टा करते हैं तो वह वादल की शरण जाकर उनसे अनुरोध करती है—

विज्जुलियाँ नीलज्जियाँ, जलहर तूँ ही लज्जि।
सूनी सेज, विदेश प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि ॥ ५० ॥

कुरझी पक्षियों का करुण रव उसके अंगों पर आरी चलाता है,[१] प्रियतम की स्मृति जगाकर मार की तरह सालता है।[२]

१. दो. सं. ५५। २. दो. सं. ५६।

परन्तु वह भारतीय नारी होकर स्वच्छन्द एवं स्वैरिणी नहीं हो सकती। अतः विरहिणी मारू अपनी विवशता और विरह-कातरता इन स्वरों में कुँझों के समक्ष रखती है—

कुँझाँ, द्यउ नइ पंखड़ी, थाकउ विनउ वहेसि।
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि।। ६२।।

लेकिन कुँझें भी उसे निराशा का उपहार ही देती हैं। मारवणी पुनः विधाता से अनुरोध करती है—

आडा डूँगर वन घणा, खरा पियारा मित्त।
देह विधाता पंखड़ी, मिलि मिलि आवउँ नित्त।। ६६।।

लेकिन इससे भी क्या हो जब कि भाग्य ही विपरीत रहे तो—

पाँखड़ियाँ ई किउँ नहीं, दैव अवाड़ू ज्याँह।
चकवीकइ हइ पंखडी, रयणि न मेलउ त्याँह।। ७१।।

वह तो चाहती है कि जैसे ये पर्वत सामने हैं वैसे ही प्रियतम भी होते तो जिस प्रकार भ्रमर चम्पा के वाग की ओर दृष्टि लगाए रहते हैं, उसी प्रकार वह भी उन पर नयन लगाए रहती।[१] काश! वायु प्रिय को स्पर्श कर उसे छुए, वही उसके लिए 'लाख पसाव' होगा।[२] यदि कौआ उसे प्रियतम से मिलादे तो वह कलेजा निकाल कर भी उसे अर्पित कर दे।[३]

इस प्रकार मारू निरवधि वियोग-पारावार के चंचल उर्मि-संघात में डूवती-उतराती अपनी प्रणय-नौका खेती है कि सौदागर का आगमन उसके आशा का आकाशदीप वन कर आता है। आशा के झूले पर झूलते हुए प्राणों की विवशता के वशीभूत हो वह राजा और सौदागर का वार्त्तालाप सुनने के लिये अपनी सम्वयस्का सखियों को लेकर पूजन के वहाने जाती है और जव उसे ढोला-मारवणी के विवाह तथा ढोला को लिवाने के लिये ढाढियों को भेजने के निश्चय का ज्ञात होता है तो उसका मुरझाया हुआ आशा-वृन्त पुनः लहलहाने लग जाता है।

संदेश से ही मन की दशा जानी जा सकती है, यदि कोई कहना जाने—जिस प्रकार प्रेयसी आँसुओं से आँखे भर कर कहती है उसी प्रकार यदि वह संदेश-वाहक कहे।[४] अतः मारू स्वयं ढाढियों को निकट बुलाकर अपना सन्देश कहती है। मारू का यह सन्देश भारतीय नारी के आत्म-दान और आत्म-समर्पण का उत्कृष्ट और अनूठा अध्याय है जिसमें उसके हृदय की समस्त साधना सिमटकर समा गई है।

---

१. दो. सं ७३।

२. जिणि देसे सज्जन वसइ, तिणि दिसि वज्जउ वाउ।
उआँ लगे मो लग्गसी, ऊ ही लाख पसाउ।। ७४।।

३. कउआ, दिऊँ वधाइयाँ, प्रीतम मेलइ मुज्झ।
काढि कलेजउ आपणउ, भोजन दिउँली तुज्झ।। ७५।।

४. संदेसा ही लख लहइ, जउ कहि जाणइ कोई।
ज्यूँ धणि आखइ नयण भरि, ज्यूँउ जइ आखइ सोई।। १११।।

मारू अपने प्रेमी-हृदय के पूर्ण समर्पण की भावना व्यक्त करती हुई कहती है—

सा धण वलि कुइला भई, भसम ढँढोलिसि आइ ।। ११२ ।।

पँजर नहि छइ प्रांणियउ, थाँ दिस झल रहियाह ।। ११३ ।।

उसकी नयन-रूपी सीपियाँ विकसित हुई हैं, ढोला स्वाति बन कर बरसे ।[१] विरह रूपी प्रचंड दावानल जला रहा है[२], विरह रूपी महाविष शरीर में व्याप्त है[३]—इन सबका शमन होना ही उसके लिये वरदान है । उसकी आँखों की नींद को भी नींद आ गई है ।[४] प्रियतम की स्मृति में वह कनेर की छड़ी के समान सूख गई है ।[५] इस तरह उदास फिरती है, जिस प्रकार प्रत्यंचा के बिना लाल कमान ।[६] प्रियतम न तो मिलते ही हैं, न आते हैं और न ले जाते हैं—क्या इसके अस्थिपंजर पर आकर बाद में कौए उड़ायेंगे ?[७] विरहिणी मारू का यह कथन विलक्षणता से पूर्ण होकर भी कैसा स्वाभाविक है—

हियड़इ भीतरी पइसि करि, ऊगउ साजण रूँख ।

नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख ।। १५८ ।।

यद्यपि मारू के लिये उसका वैवाहिक जीवन एक अभिशाप-सा बन गया है परन्तु वह भूली नहीं है कि दाम्पत्य की आधार-शिला निश्छल प्रेम ही है । मारू के ये शब्द पातिव्रत्य का मधुर संगीत बिखेरते हैं—

मत जाणे प्रिउ नेह गयउ, दूर विदेश गयाँह ।

विवणउ वाधइ सज्जणा, ओछउ ओहि खलाँह ।। १६२ ।।

भला—सो साजन किम वीसरइ, वहु गुणतणा निवास ।। १३४ ।।

प्रणय-ज्वाल में अमंद दीप-शिखा की भाँति वह जल रही है—

हूं कुँमलाणी कंत विण, जलह विहूणी वेल ।

विणजारा री भाइ जिउँ, गया धुकंती मेल्ह ।। १६३

कोई प्रतीक्षा भी करे तो कब तक—

वालंभ एक हिलोर दे, आइ सकइ तउ आइ ।

वाँहड़ियाँ वे थक्कियाँ, काग उड़ाइ उड़ाइ ।। १६७ ।।

सच्चा स्नेह तो मेंढक और सरोवर, पृथ्वी और मेघ निभाते हैं ।[८] वस्तुतः एक सच्ची पतिव्रता के हेतु तो—

वालिभ गरथ वसीकरण, वीजा सहु अकथ्थ ।

जिए चडघा दल उत्तरइ, तरुणि पसारइ हथ्थ ।। १६६ ।।

वह कितना विश्वास दिलाए—

तुंही ज सज्जण, मित्त तूं, प्रीतम तूं परिवाँण ।

हियड़इ भीतरि तूं वसइ, भावइं जाण मजाँण ।। १७५ ।।

---

१. दो. सं. ११६ ।
२. दो. सं. १२३ ।
३. दो. सं. १२७ ।
४. दो. सं. १३६ ।
५. दो. सं. १३५ ।
६. दो. सं. १५५ ।
७. दो. सं. १५७ ।
८. दो. सं. १६८ ।

हूं वलिहारी सज्जणाँ, सज्जण मो वलिहार।
हूं सज्जण पग पानही, सज्जण मो गलहार ।। १७६ ।।

एक ओर स्नेहिल स्मृतियों का अथाह सागर संताप देता है, दूसरी ओर प्रियतम को विस्मरण करते भी नहीं वनता। कलेजे की यह कसक मिटे भी कैसे ?—

संभारियाँ संताप, वीसारिया न वीसरइ।
कालेजा विचि काप, परहर तूं फाटइ नहीं ।। १८० ।।

अपने संदेश में इस तरह मारू ने वियोगाग्नि में प्रेम के मधुर पुष्पों की आहुती दी है। उसके आँसू ही स्नेह के मोती वनकर इस संदेश में ढले हैं। भावों का असीम सागर हृदय-तट की सीमा में समा नहीं रहा है। क्या कहे क्या न कहे ? संतोष ही नहीं होता—

भरइ, पलट्टइ, भी भरइ, भी भरि, भी पलटेहि।
ढाढी हाथ संदेसड़ा, धण विललंती देहि ।। १८२ ।।
पंथी हाथ संदेसड़इ, धण विललंती देह।
पगसूं काढइ लीहटी, उर आँसुआँ भरेह ।। १३७ ।।

ऐसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक निरीक्षण और स्वभाव-चित्र विरल है।

मारवणी के विरह में लौकिक भाव ही प्रवल है। रचनाकार ने कहीं भी उसे अलौकिक या आध्यात्मिक-स्पर्श देने का प्रयास नहीं किया। मदन की ज्वाला उठी,[1] शरीर का ताप नहीं जाता,[2] मैं कंचुकी के वंधन खोलकर प्रियतम से कव मिलूँगी[3] आदि में यह भाव-धरातल ही स्पष्टतः लक्षित है। यद्यपि वह विरह को भाग्य का प्रतिफलन ही मानती है[4] तथापि वह अपने प्रियतम से नित्य प्रति मिलने की विधाता से याचना भी करती है।[5]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नारी की 'प्रियतम के चरणों में अपने जीवन की सर्वोत्तम विभूति–यौवन–को भेंट करने की यह उत्सुकता, वह सर्वोत्तम सात्विक मानव भावना है जो मनुष्य को ईश्वरत्व की कोटि में पहुँचाती है।'[6] मारवणी की विरहोक्तियों में कामेच्छा की स्पष्टता भी हमें मिलती है—

जोवण हस्ती मद चढयउ, अंकुस लइ घरि आइ ।। ११५ ।।
जोवण आँबउ फलि रह्यउ, साख न खाअउ आइ ।। ११७ ।।
जोबन खीर समुंद्र हुइ, रतन ज काढइ आइ ।। १३१ ।।[7]

यह कामेच्छा कहीं-कही अपनी सांकेतिकता की सुकोमलता में भी सानी नहीं रखती—

कण पाकउ, करसण हुअउ, भोग लियउ घरि आइ ।। १२१ ।।
विरह महादव जागियउ, अगिन बुझावऊ आइ ।। १२३ ।।
वहु धंधालू आव घरि, काँसू करइ वदेस।
संपत सघली संपजे, आ दिन कदी लहेस ।। १७८ ।।

---

१. दो. सं. २५। २. दो. सं. २६। ३. दो. सं. ४८।
४. दो. सं. ७१। ५. दो. सं. ६६।
६. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ० ८१।
७. दो. सं. ११८-१६-२०-२२-२४-३० आदि।

अवसर जे नहिं आविया, वेला जे न पहुत्त ।
सज्जरा तिरा संदेसड़इ, करिज्यउ राज बहुत्त ।। १७६ ।।

काम का स्वर प्रवल होने पर भी मारवणी का विरह शनैः शनैः सूक्ष्मता की ओर अग्रसर है जिसकी परिरिणति समर्पण और एकात्म में होती है ।

प्रेमजन्य विरह प्रेमी के हृदय को अत्यन्त उदार वना देता है । जड़-चेतन की भेद दृष्टि विलीन हो जाती है और सृष्टि के कण-कण से उसका सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है । मारू की विरहानुभूति की सर्वव्यापकता इतनी तीव्र है कि वह अपनी संवेदनशील मनःस्थिति में सखियों, पपीहा, मोर, दादुर, सारस, कुँझें, विधाता, वायु, काग, पंथी, ढाढ़ी आदि मानव से पशु-पक्षी जगत् तक को संवोधित कर-करके अपनी विरह-व्यथा का प्रकाशन करती है ।[1] इस विरहानुभूति को कवि ने स्थानीय वातावरण का सन्निवेश करके और भी प्रभविष्णु वनाया है । मारवणी पूगल की निवासिनी है । अतः इस विरह-वर्णन को राजस्थान के ग्रामीण-जीवन का भी स्पर्श दिया गया है जिससे अनेक स्थलों पर अनूठी मौलिकता आ गयी है ।

मारवणी के विरह को उद्दीप्त करने वाले अनेक पदार्थों में ऋतुएँ, मास और त्यौंहार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उत्तर दिशा में मेघों के उमड़ने और गंभीर स्वर से गरजने के कारण मारू को प्रियतम का स्मरण होता है और उसके नेत्रों से जल वरसने लगता है ।[2] पावस में विरहिणी स्त्रियों को पतियों की याद सालने लगती है ।[3] मेघ के वरसने से पपीहा और विरहणी दोनों ही 'पी आव' पुकारने लगते हैं ।[4] आषाढ़ का महिना[5] और श्रावण का महिना[6] विरहिणी मारू के लिए काटना दूभर हो गया है । यदि ढोला फागुन या चैत्र में भी नहीं आया तो मारवणी कार्त्तिक माह में घोड़ों पर जीन कसेगी ही ।[7] होली पर[8] या कजरी तीज पर[9] प्रियतम के न आने पर प्रियतमा अपने आत्म-वलिदान की वात भी कहती है । ऋतुओं की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण प्रायः उद्दीपन की दृष्टि से ही किया गया है । प्राकृतिक दृश्यों का अत्यन्त आकर्षक एवं मनोहारी चित्रण विरहानुभूति के सजीव एवं सजल पक्ष को प्रस्तुत करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है ।

मारवणी का विरह शास्त्रीय-दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है । इस दृष्टि से मारवणी का विरह स्वप्न-दर्शन जनित पूर्वानुराग विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत ग्रहण किया जायगा, क्योंकि स्वप्न-दर्शन[10] के पूवराग से यह विरह उद्भूत है । स्थायी-भाव 'रति' को रसकोटि तक पहुंचाने में सभी रसाँगों का यथोचित निर्वाह हुआ है । भावोदय, भाव-संधि, भावशवलता[11] आदि की भाव-सम्पत्ति विरहावस्था के अनेक स्थलों पर देखी जा

१. उदाहरणार्थ दो. सं. २३, २८, ३७, ४८, ५३, ५४, ६६, ७४ आदि ।
२. दो. सं. १८ ।
३. दो. सं. ३६ ।
४. दो. सं. २७ ।
५. दो. सं. २६ ।
६. दो. सं. १४८ ।
७. दो. सं. १४६ ।
८. दो सं. १४५ ।
६. दो. सं. १५० ।
१०. दो. सं. १४ ।
११. दो. सं. २३ से २८ ।

सकती है। अनुभावों का चित्रण भावानुकूल स्थितियों को सजीव एवं परिपुष्ट करने के लिये अनेकानेक स्थलों पर किया गया है। स्तम्भ,[1] अश्रु,[2] निःश्वास,[3] शारीरिक ताप,[4] पैरों से रेखा खींचना[5] आदि में सात्त्विक, कायिक, मानसिक तथा आहार्य अनुभावों की स्थिति सबल है।

विरहाकुलता के सजीव चित्रणार्थ अनेकानेक संचारी भाव भी दर्शनीय हैं, यथा—**जड़ता** : (दो. सं. १६), **असूया** : (दो. सं. ३३), **त्रास** : (दो. सं. ४७), **स्मृति** : (दो. सं. ५४), **श्रम** : (दो. सं. ५६), **व्याधि** : (दो. सं. १३५), **दैन्य** : (दो. सं. १३६), **औत्सुक्य** : (दो. सं. १६१), **स्वप्न** : (दो. सं. १७०), **विषाद** : (दो. सं. १८०), **मरण-ध्वनि** : (दो. सं. २०६) आदि।

स्वप्नोद्‌भूत मारवणी की विरह व्याकुलता के प्रसंग में शास्त्रोल्लिखित अनेक काम-दशाओं का चित्रण भी स्पष्टतः देखा जा सकता है—

अभिलाषा :

आडा डूँगर, दूरि घर, वरणइ न जाणइ भत्त।
सज्जण सन्दइ कारणइ, हियउ हिलूसइ नित्त ॥ ६१ ॥

स्मृति :

जब सोऊँ तब जागवइ, जब जागूँ तब जाइ।
मारू ढोलउ संभरइ, इणि परि रयण विहाइ ॥ ६७ ॥

गुणकथन :

वालिभ गरथ वसीकरण, वीजा सहु अकयथ्थ।
जिए चडचा दल उत्तरइ, तरुणि पसारइ हथ्थ ॥ १६६ ॥

उन्माद :

चहुं दिसि दामिनि सघन घन, पीउ तजी तिण वार।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार ॥ ३७ ॥

व्याधि :

ढाढी जे प्रीतम मिलइ, यूँ कहि दाखवियाह।
पंजर नहिं छइ प्रांणियउ, थाँ दिस झल रहियाह ॥ ११३ ॥

चिन्ता :

सालूरा पाँणी विना, रहइ विलक्खा जेम।
ढाढी साहिब सूँ कहइ, मो मन तो विण एम ॥ १७३ ॥

उद्वेग :

बीजुलियाँ जालउमिल्याँ, ढोला, हूं न सहेसि।
जउ आसाढि न आवियउ, सावण समकि मरेसि ॥ १५१ ॥

प्रलाप :

दादुर मोर टबक्क घण, बीजलड़ी तरवारि।
सूती सेजइँ एकली, हइ हइ दइव म मारि ॥ ४८ ॥

---

१. दो. सं. १५-६। २. दो. सं. १८। ३. दो. सं. १४।
४. दो. सं. २६। ५. दो. सं. १३७।

निष्कर्षत: मारवणी का विरह लोक-भावना और काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। उसमें मौलिकता और परम्परा का अनूठा निर्वाह हुआ है।

२. मालवणी का विरह :

मालवणी का विरह एक पतिव्रता पत्नी की वेदना का हृदयोच्छ्वसित प्रवाह है। यह विरह संयोग की पीठिका पर अतिशय तीव्र बना कर अधोलिखित स्थितियों में प्रस्तुत किया गया है—

१. संयोग में विरह-आशंका,

२. संयोग में विरहोन्मुखता, और

३. वियोग।

प्रथम स्थिति में मालवणी अपने प्रियतम ढोला को उदास देखकर संकुचित होती है और उसके मनोभावों की थाह लेना चाहती है। दो. सं. २३७ से पूर्व यह स्थिति है। इसके पश्चात् दो. सं. २३९ से द्वितीय स्थिति आती है। इसमें वह स्पष्टत: यह जान गई है कि ढोला मारवणी से मिलने को अत्यन्त उत्सुक है और वह पूगल जाना चाहता है। वह अनेक तर्कों आदि द्वारा ढोला को कुछ दिन रोके रखने का सफल उद्योग भी करती है। यहाँ कवि ने प्रश्नोत्तर, ऋतु-चित्रण आदि के द्वारा भावी वियोग की स्थिति को तीव्रतर करने की पीठिका प्रस्तुत की है। मालवणी का विशुद्ध विरह दो. सं. ३४८ से दो. सं. ४२२ तक वर्णित है। प्रथम दो स्थितियाँ संयोगाश्रित हैं और यह तृतीय स्थिति विरहानुभूति की दृष्टि से अधिक सार्थक है। मालवणी के इस विरह को मारवणी की अपेक्षा कवि ने कम विस्तार दिया है। परन्तु इससे यह तात्पर्य नही निकाल लेना चाहिये कि यह अपूर्ण है। वास्तव में मारवणी की विरहानुभूति का आधार सन्देश है जबकि मालवणी का एक यही आधार नहीं है। इस प्रकार रसांगों की दृष्टि से मालवणी के विरह में अधिक उपकरणों की प्राप्ति होती है।

मालवणी का ढोला के प्रति प्रेम दीर्घ साहचर्य-जन्य है। अत: ढोला की मारवणी से मिलने की मनोभिलाषा के कर्णगोचर होते ही आगत वियोग की तूफानी झंझा से उसका आशा-वृन्त कम्पित हो उठता है। विरह की असह्य वेदना उसे निश्चेष्ट बना देती है जैसे कोई सर्प-दंशित शरीर।[1] सचेत होने पर उसने कातर-स्वर से अश्रुओं का अर्घ्य देते हुए ढोला के समक्ष दुर्दान्त ग्रीष्म का वर्णन किया।[2] ढोला रुक गया।[3] लेकिन इस अवधि में वह अपने संकल्प को विस्मृत न कर सका। पावस आगमन के साथ ही पुन: उसने पूगल-प्रस्थान का मन्तव्य प्रकट किया।[4] पावस के दाम्पत्य-सुख की दुहाई देकर मालवणी ढोला को रोकने का प्रयास करती है। जादूगरनी बदलियों की अम्बर में क्रीड़ा, झिरमिर-झिरमिर बरसता मेह, पपीहे का रसभीना स्वर—भला ऐसे में भी कोई घर छोड़ता है। जब मनसिज का उन्माद

१. ऊभी थी खड़हड़ पड़ी, जाणे डसी भुयंगि॥ २३९॥

२. दो. सं. २४१।   ३. दो. सं. २४२।

४. लागे सदा सुहाँमणउ, नस भर कुंझड़ियाँह।
जल पोइणिए छाइयउ, कहउ त पूगल जाँह॥ २४५॥

जड़-चेतन को मदिर वना देता है तो ऐसी ऋतु में प्रवास करने में कौन-सा रसास्वादन—

प्रिय, तिण रूति आलिंग रह्याँ, ताह सुं किसउ सवाद ।। २५२ ।।

फिर ऐसी ऋतु में तो भिखारी, नौकर और चोर ही घर से बाहर निकलते हैं ।[१] समस्त संसार जिस ऋतु में कालयापन करता है, उस ऋतु में प्रियतम विना मालवणी की रात्रि कैसे व्यतीत होगी ?[२] वर्षा ऋतु तो तभी भली है, सुखद है जब घर में सम्पत्ति हो और प्रियतम पास में हो[३] नारी की परवलम्वता को इन प्रतीकों से मालवणी प्रस्तुत करती है—

सावण आयउ साहिवा, पगइ विलंबी गार ।
ब्रच्छ विलंबी वेलड्याँ, नराँ विलंबी नार ।। २६६ ।।

मालवणी की विनोक्तियों से द्रवीभूत हो ढोला दशहरे तक फिर रुक जाता है । सुन्दर शरद ऋतु आती है और ढोला पुनः अपनी मनोच्छा दुहराता है । सर्वप्रथम तो मालवणी के प्रत्युत्तर में कोई भी ऋतु प्रवास के लिये उपयुक्त नहीं—

सीयालइ तउ सी पड़इ, ऊन्हालइ लू वाइ ।
वरसालइ भुइं चीकणी, चालण रूत्ति न काइ ।। २७७ ।।

परन्तु साथ ही मालवणी का मनोविज्ञान ढोला की उत्कट आतुरता से आँखें ओझल नहीं करता । अतः यहाँ भी उसने दाम्पत्य-सुख का अवलम्ब लेकर ढोला को मारवणी विमुख करने की चेष्टा की—

दिन छोटा, मोटा रयण, थाडा नीर पवन्न ।
तिण रित नेह न छाँडियइ, हे बालम बडमन्न ।। २८५ ।।
उत्तर आज स उत्तरउ, पड़सी वाहलियाँह ।
उर ओले प्री राखियइ, मूंधा काहलियाँह ।। २८७ ।।

मालवणी ने पुरुष की काम-भावना का भी प्रश्रय यहाँ लिया—

उत्तर आज स उत्तरइ. पालउ पड़इ रवंद ।
का वासंदर सेवियइ, कइ तरूणी, कइ मंद ।। २९४ ।।

परन्तु ढोला तो अधीर था—

मो मन खरउ उमाहियउ, देखण पूगल देस ।। ३०२ ।।

यहाँ मालवणी अंततः निराश हो उठती है—

ढोलउ हल्लाणऊ करइ, धण हल्लिवा न देह ।
झबझब झूंबइ पागड़इ, डबडब नयण भरेह ।। ३०४ ।।

और ढोला का मन रखती हुई अपनी मनोभावना की आहुति दे देती है—

हल्लउँ हल्लउँ मत करउ, हियड़इ साल म देह ।
जे साचे ई हल्लस्यउ, सूताँ पल्लाँणेह ।। ३०५ ।।

---

१. दो. सं. २५३ । २. दो. सं. २५९ ।

३. च्यारइ पासइ घण घणउ, वीजलि खिवइ अगास ।
हरियाली रूति तउ भली, घर संपति, पिउ पास ।। २६० ।।

वियोग की वस्तुस्थिति के पूर्व की इस पीठिका में चिन्तातुर मन की मर्म-स्पर्शी भावना मुखरित हुई है। 'सूताँ पल्लाँणेह' की कारु-णिक विदाई ने मालवणी की अक्षय प्रेम-भावना और असह्य वेदना को साकार कर दिया है। वियोग की आशंका से उत्पन्न दुख का इतना सरस, हृदय-स्पर्शी, करुणाप्लावित, सजीव तथा हृदय-द्रावक चित्रण कहाँ सहज उपलब्ध हो सकता है? कवि ने त्याग और प्रेम का द्वन्द्व अत्यन्त कुशलता से इस प्रसंग में अंकित किया है।

मालवणी ने कह तो दिया परन्तु आगत वियोग की दुःसह कल्पना से व्यथित मारवणी के हृदय को चैन कहाँ? उसने ऊँट से ही लँगड़ा हो जाने की विनती की—

साहिब मारू ऊमह्या, खोड़उ होइ रहेह ।। ३१७ ।।

और—

भाई कहि वतलाव सूँ, नागर बेल निरेस ।
हउ हउ करहा, कुँवर-नइ, मत ले जाय विदेस ।। ३२६ ।।

ऊँट ने भी इस नारी-भावना को आदर दिया और लँगड़ेपन का बहाना किया; परन्तु ढोला का पत्थर हृदय पसोजा नहीं। चारों ओर से निराश हो मालवणी ने अंतिम अस्त्र का प्रहार किया—

डूँगर केरा वाहला, ओछाँ-केरा नेह ।
वहता वहइ उतावला, झटक विखावइ छेह ।। ३३८ ।।
पिय खोटाँरा एहवा, जेहा काती मेह ।
आडंबर अति दाखवइ, आस न पूरइ तेह ।। ३३९ ।।

ढोला टस से मस नहीं हुआ। उसकी घुटी-घुटी आहें ढोला को पिघला न सकीं। मालवणी ने हँसते-हँसते पतझर देखने का निश्चय किया। उसने मन पर पत्थर रख कर कहा—

हिव थे चढिस जु चालियां, सूती मेल्हे मोहि ।। ३४१ ।।

और अब तो मालवणी अखण्ड प्रेम-ज्योति ही बन बैठी। वह पन्द्रह दिन तक जागती ही रही।[1] परन्तु भाग्य की अदृष्ट लिपि को न मिटा पाई। उसे निद्रा आ ही गयी और उधर ढोला नरवर को जुहार करता हुआ पूगल चल पड़ा। मालवणी का कोमल प्रणय-तन्तु वियोग के झंझावात से छिन्न-भिन्न हो गया। उसकी शारीरिक और मानसिक वेदना का झकझोर देने वाला चित्र इन पंक्तियों में उभरा है—

धावउ धावउ हे सखी, दो दावणि, को लाज ।
साहिब म्हाँकउ चालियउ, जइ कउ राखइ आज ।। ३४८ ।।
सज्जण चाल्या हे सखी, पड़हउ वाज्यउ ढ्रंग ।
काँही रली वधाँमणाँ, काँही अंवलउ अंग ।। ३५१ ।।

समस्त वातावरण ही उसके लिये असह्य हो गया। वियोग के दुःख-भार को लड़खड़ाती साँसों से प्रकट करती है—

सज्जण चाल्या हे सखी, सूना करे अवास ।

1. दो. सं. ३४२ ।

गल् न पाणी ऊतरइ, हिये न मावइ सास ।। ३५८ ।।

विछोह की वेदना का अपने पावन प्रेम के अश्रुओं से अभिषेक करती है—

ढोल वलाव्यउ हे सखी, झीणी ऊड़इ खेह ।
हियड़उ बादल छाइयउ, नयण टबूकइ मेह ।। ३६० ।।
बीछुड़ताँ ई सज्जणाँ, राता किया रतन्न ।
वाराँ विहुँ चिहुँ नाँखिया, आँसू मोती व्रन्न ।। ३६६ ।।
साइ दे दे सज्जना, रातइ इँणि परि रूँन ।
उरि ऊपरि आँसू ढलइ, जाँणि प्रवाला चून ।। ३७७ ।।

जिससे हृदय तो हल्का हो—

वावा वालूँ देसड़उ, जिहाँ डूँगर नहिँ कोइ ।
तिणी चढ़ि मूकउँ धाहड़ी, हीयउ उरलउ होइ ।। ३८६ ।।

मारवणी के समक्ष प्रश्न यह है कि गुणवान प्रियतम से विछोह होता ही क्यों है—

सारसड़ी मोती चुणइ, कुणइ त कुरलइ काँइ ।
सगुण पियारा जउ मिलइ, मिलइ त विछुड़इ काँइ ।। ३८९ ।।

प्रियतम की स्नेहिल स्मृतियाँ उसके निःश्वासों से उलझने लगती है—

खूँटइजीण न मोजड़ी, कड़्याँ नहीं केकाँण ।
साजनिया सालइ नहीं, सालइ आही ठाँण ।। ३७५ ।।
सज्जण ज्यूँ ज्यूँ सँभरइ, देख्याँ आही ठाँण ।
झुरि झुरि नइ पंजर हुई, समर समर सहिनाँण ।। ३८२ ।।
ए वाड़ी ए बावड़ी, ए सर केरी पाल् ।
वै साजण, वै दीहड़ा, रही सँभाल् सँभाल् ।। ३८३ ।।

संयोग-प्रेम के मधुर पुष्पों की जब वियोगाग्नि में आहुति लग चुकी हो, मानस की प्रेम-प्रतिमा जब वियोग शिला से टकराकर चूर्ण बन चुकी हो, तो ऐसे दारुण समय में उसके विरह-उत्ताप को कौन शमित करे ? उस प्रेम-उन्मादिनी की दशा इन पंक्तियों में संकेतित है—

साल्ह चलंतइ परठिया, आँगण वीखड़ियाँह ।
सो मइ हियइ लगाड़ियाँ, भरि भरि मूठड़ियाँह ।। ३६६ ।।
साल्ह चलंतई परठिया, आँगण वीखड़ियाँह ।
कूवा केरी कुहड़ि ज्यूँ, हियड़इ हुइ रहियाँह ।। ३६७ ।।
साद करे किम सुदुर है, पुलि् पुलि् थक्के पाँव ।
सयणे घाटा वउलिया, वइरि जु हूआ वाव ।। ३८५ ।।
भूली सारस सद्दड़इ, जाणइ करहउ थाय ।
धाई धाई थल चढी, पग्गे दाधी माय ।। ३८८ ।।

कल्प के समान दुरन्त वियोग-घड़ियों को किसका अवलम्ब लेकर वह व्यतीत करे—

सज्जण गुणे समुद्द तूँ, तर तर थक्की तेण ।
अवगुण एक न साँभरइ, रहूं विलंबी जेण ।। ३७६ ।।

उधर तो—

सज्जण वल्ले, गुण रहे, गुण भी वल्लणहार।
सूकण लागी वेलड़ी, गया ज सींचणहार।। ३७४।।

इस दशा से उस पतिव्रता धन्या का नारी-जीवन निरर्थक—

प्रीतम हूती बाहिरी, कवड़ी ही न लहाँइ।
जब देखूँ घर आँगणइ, लाखे मोल लहाँइ।। ३७०।।

और इधर प्राण-त्याग से भी विवश और परवश—

हइ रे जीव निलज्ज तूँ, निकस्यू जात त तोहि।
प्रिय विछुड़त निकस्यउ नहीं, रह्यउ लजावण मोहि।। ३७३।।

कवि ने इस तरह नारी-हृदय की समस्त भावनाओं को मालवणी के विरह-प्रसंग में मूर्तिमान कर दिया है।

काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से मालवणी का विरह रसांगों से परिपूर्ण है। यह विप्रलंभ-शृंगार के भेद 'प्रवास' के उपभेद 'कार्यज' के अन्तर्गत ग्रहण किया जायगा क्योंकि प्रेमी के प्रवास-गमन के कारण ही विरह की स्थिति संस्थापित है।[1] शृंगार के स्थायीभाव 'रति' को परिपुष्ट करने के लिये उद्दीपन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों की इसमें संयोजना प्राप्त है। भाव-संधि[2] और भावशवलता[3] के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अनुभावों में भी अनेक प्रकार के अनुभावों की प्राप्ति हमें होती है और उदाहरणार्थ कतिपय चेष्टाएँ इस प्रकार द्रष्टव्य हैं—

सात्त्विक :

प्रलय : (दो. सं. २३९), **अश्रु :** (दो. सं. ३६०), **स्वर-भंग :** (दो. सं. ३८१), **निःश्वास :** (दो. सं. ३५८)।

कायिक :

दुर्बलता : (दो. सं. ३७४, ८३२), **शारीरिक शिथिलता :** (दो. सं. ३४९), **अनिद्रा :** (दो. सं. ३६४), **प्रियतम-पद की धूल को मुट्ठियों में भर कर हृदय से लगाना :** (दो. सं. ३६६), **कटि मोड़ना :** (दो. सं. ३५५), **हाथ मलना :** (दो. सं. ३७८), **अंग मालिन्य :** (दो. सं. ३५३), **भूमिपतन :** (दो. सं. ३४९)।

मानसिक एवं आहार्य :

कातरता : (दो. सं. २४०), **शृंगार प्रसाधनों का त्याग :** (दो. सं. ३५३), **अरुचि :** (दो. सं. ३९६), **अधीरता :** (दो. सं. ३७६)।

विप्रलंभ में संचरण करने वाले अनेक संचारी भाव भी इस विरह-वर्णन से उद्धृत किये जा सकते हैं यथा—

चिन्ता : (दो. सं. २३६), **अपस्मार :** (दो. सं. २३९), **विबोध :** (दो. सं. २४०), **ग्लानि :** (दो. सं. ३७३), **निर्वेद :** (दो. सं. ३८०), **स्मृति :**

---

१. दो. सं. ३४८।   २. दो. सं. ३४०।

३. दो. सं. २३९-४०-४१ आदि।

(दो. सं. ३८२), मति : (दो. सं. ३८४), मोह : (दो. सं. ३८८), उन्माद : (दो. सं. ३९१), असूया : (दो. सं. ३९५) ।

मालवणी के इस विरह में काव्य-शास्त्र-वर्णित अनेक कामदशाओं का चित्रण भी विद्यमान है—

अभिलाषा :

बाबा, वालूँ देसड़उ, जिहाँ डूंगर नहिं कोइ ।
तिणि चढ़ि मूकउँ धाहड़ी, हीयउ उरलउ होइ ।। ३८६ ।।

चिन्ता :

सँगण काइ न सिरजियाँ, प्रीतम हाथ करंत ।
काठी साहँत मूठि-माँ, कोडी कासी संत ।। ४१६ ।।

स्मृति :

ए वाड़ी, ए बावड़ी, ए सर केरी पाल ।
वै साजण, वै दोहड़ा, रही संभाल संभाल ।। ३८३ ।।

गुणकथन :

सज्जण, गुणे समुद्द तूँ, तर तर थक्की तेण ।
अवगुण एक न साँभरइ, रहूँ विलंबी जेण ।। ३७६ ।।

उद्वेग :

ढोला, हूं तुझ बाहिरी, झीलण गइय तलाइ ।
ऊ जल काला नाग जिउँ, लहिरी ले ले खाइ ।। ३९३ ।।

प्रलाप :

धावउ धावउ हे सखी, दो दाँवणि, को लाज ।
साहिब म्हाँकउ चालियउ, जइ कउ राखइ आज ।। ३४८ ।।

उन्माद :

भूली सारस-सद्दड़इ, जाणइ करहउ थाय ।
धाई धाई थल चढ़ी, पग्गे दाधी माय ।। ३८८ ।।

व्याधि :

प्रीतम वीछुड़ियाँ पछइ, मुई न कहिजइ काइ ।
चोली-केरे पाँन ज्यूँ, दिन दिन पीली थाइ ।। ४०३ ।।

जड़ता :

वीछड़ताँ ही सज्जणा, क्याँही कहण न लद्ध ।
तिण वेलाँ कँठ रोकियउ, जाँणक सिंघी खद्ध ।। ३८१ ।।

मृति :

मालवणीकउ तन तप्यउ, विरह पसरियउ अंगि ।
ऊभी थी खड़हड़ पड़ी, जाणे डसी भुयंगि ।। २३६ ।।

मारवणी के विरह को उद्दीप्त करने के लिये रचनाकार ने बहुत से उद्दीपन विभावों की संयोजना की है । इनमें ऋतुओं का विशिष्ट स्थान है । ग्रीष्म,[1] वर्षा[2]

१. दो. सं. २४१ ।   २. दो. सं. २४६-७० ।

और शीत[१] में विरह की असह्यता को मालवणी ने अनेक दृष्टियों से प्रस्तुत किया है। अन्ततः जब ढोला ने मालवणी के समस्त प्रयासों पर पानी फेर कर पूगल-प्रस्थान कर ही दिया तो मालवणी के लिये विरह के निशान बज उठे।[२] उसके लिये पालकी सर्प-रूप और महल श्मशान-रूप बन गये।[३] सूना-सूना आवास उसे काटता है।[४] महल काले नाग की तरह पुकार-पुकार कर खाता है।[५] प्रियतम के चिह्नों ने उसे अस्थिपंजर बना दिया।[६] वाटिका, बावड़ी, तालाब की पाल[७] और सरोवर-स्थान[८] सभी मालवणी के अंग-अंग में आग लगाते हैं।[९] यहाँ तक कि बूर[१०] और जाल वृक्ष[११] का लहलहाना भी उसकी विरहाग्नि में घी की आहुति देता है।

कवि ने सामान्य नारी के सुख-दुःख-धरातल को लक्ष्य में रखकर ही मालवणी के विरह को चित्रित किया है। एतदर्थ वह स्वभावज होने के कारण हृदय को अभिभूत कर लेता है। मालवणी सौतिया-डाह से ग्रसित ईर्ष्यालु नारी है। परन्तु उसने इसके वशीभूत हो अपने सामान्य नारी-धर्म को विस्मृत नहीं किया है। वह विरह-व्यथा की प्रबलता में भी पति के मंगल की कामना करती है।[१२] इस प्रकार उसका विरह अत्यन्त करुण हो उठता है। विरहानुभूति की गहनता अतिशय कोमल और सजल होकर इस तरह प्रकट हुई है—

चाल, सखी, तिण मंदिरइँ, सज्जण रहियउ जेंण।
कोइक मीठउ बोलड़इ, लागो होसइ तेंण।। ३५९।।

'प्रियतम के कोई एक मीठे बोल का लगा रहना'—बड़ी ही मधुर कल्पना है।

मालवणी के कथनों में दाम्पत्य-जीवन की स्वाभाविक कामेच्छा भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है—

महि मोराँ मंडव करइ, मनमथ अंगि न माइ।
हूँ एकलड़ी किम रहउँ, मेह पधारउ माइ।। २६३।।
जिणि दीहे पाल्‌उ पड़इ, टापर तुरी सहाइ।
तिणि रिति बूढ़ी ही झुरइ, तरुणी केम रहाइ।। २७९।।
उत्तर आज स वज्जियउ, ऊकठियइ केकाँण।
काँमिण काँम कमेड़ि ज्यउँ, हइ लागउ सींचाण।। २९७।।
उत्तर आज स उत्तरइ, वाजइ लहर असाधि।
संजोगणी सोहामणइ, विजोगणी अंग दाधि।। २९८।।

---

१. दो. सं. २७९-३०३।
२. दो. सं. ३४९।
३. दो. सं. ३५२।
४. दो. सं. ३५४।
५. दो. सं. ३७१।
६. दो. सं. ३८२।
७ दो. सं. ३८३।
८. दो. सं. ३९३।
९. दो सं. ३९४।
१०. दो. सं. ३९०।
११. दो. सं. ३९१।
१२. ढोला, जाइ वलि आविज्यउ, आसा सहि फलि‌यांह।
सावण केरी बीज ज्यउँ, झावूकइ मिलियांह।। ३६८।।

मालवणी के विरह-वर्णन में कहीं-कहीं ऊहात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है। प्रियतम के जाते ही शारीरिक दुर्बलता के कारण हाथों से चूड़ी का खिसक कर गिर पड़ना, अश्रु-आर्द्र साड़ी और कंचुकी का निचोड़ने योग्य हो जाना, हृदय में श्वास का न समाना, चंपे की पंखुरियों वाला हार गले में पहनने पर अंगार-सा लगना आदि उदाहरणार्थ लिये जा सकते हैं। वस्तुतः ये ऊहात्मक वर्णन परम्परागत हैं किन्तु रीतिकालीन कवियों की भाँति हास्यास्पद स्थिति तक नहीं पहुंचे हैं। अतिरेक का कारण मालवणी के विरह की सघनता का प्रदर्शन ही है। फिर, ऐसे स्थल अत्यल्प हैं; साथ ही इस ऊहात्मक स्थिति का एकदम विरोधी मर्यादा-प्रधान चित्रण द्रष्टव्य है—

छोटी वीख न आपड़ाँ, लांबी लाज मरेहि।
सयण बटाऊ वालरे, लंबउ साद करेहि।। ३८४।।

मालवणी प्रियतम को वापस लाना चाहती है, किन्तु छोटे-छोटे कदमों के चलकर पहुँचा नहीं जाता और लम्बे-लम्बे डग भर कर भागने में लज्जा आती है। विरह में भी सांस्कृतिक मर्यादा और लज्जा की कैसी 'मति' बनी हुई है?

मालवणी के विरह-कथन में एकाध स्थल पर वीर-रसात्मक अवयवों का भी उपयोग प्राप्त होता है—

फौज घटा, खग दाँमणी, बूँद लगइ सर जेम।
पावस पिउ विण वल्लहा, कहि जीवीजइ केम।। २५५।।

इस छन्द में घटाओं को फौज, विजली को तलवार तथा बून्दों को बाण कह कर किया गया पावस का रूपकात्मक वर्णन विप्रलम्भ के अन्तर्गत उद्दीपन का कार्य करता है। फौज, तलवार और बाण आदि के कारण शृंगार की रसात्मकता ग्रहण करने में व्याघात माना जा सकता है और इसे 'रसाभास' की संज्ञा भी दी जा सकती है; किन्तु यहाँ वियोग की तीव्रता के लिये वीर-रसात्मक उपकरणों का प्रयोग साभिप्राय लगता है।

३. ढोला का विरह :

ढोला इस काव्य का नायक है। मारवणी के साथ बाल्यावस्था में हुआ विवाह उसे विस्मृत है और मालवणी के साथ विवाहोपरान्त वह आनन्द से दाम्पत्य जीवनयापन करता है। मारवणी का विरह-सन्देश ढोला के विरह का जनक है। ढाढियों द्वारा मारवणी के रूप-गुण सौन्दर्य को सुनकर वह विरहानुभूति से उद्विग्न होता है। ढोला के विरह में हमें तीन स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. मारू के रूप-गुण श्रवण से उत्पन्न विरह,
२. मालवणी के संयोगाश्रित रहकर भी मारू की अप्राप्ति का विरह,
३. मारू की प्राप्ति के पश्चात् व्याघातों से उत्पन्न विरह।

स्थायी भाव 'रति' के परिपाक के लिये ढोला के विरह- वर्णन में अनेकानेक रसांगों की शास्त्रीय-दृष्टि से प्राप्ति होती है। भाव-सन्धि और भाव-शवलता के अतिरिक्त अनुभावों का चित्रण भी भावोत्तेजक है यथा—

तड़फन : (दो. सं. १६२), आतुरता : (दो. सं. २१२), मिलन-उत्साह: (दो. सं. २१०), मस्तक पर चिन्ता-रेखाएँ : (दो. सं. २१६) आदि ।

अनेक सचारी-भावों का संचरण भी ढोला के विरह वर्णन में यत्र-तत्र दिखलाई पड़ता है यथा—

चपलता : (दो. सं. ४३०), शंका : (दो. सं. ४४५), त्रास : (दो. स. ४४७), स्मृति : (दो. सं ४८६), अमर्ष : (दो. सं. ४६१), उग्रता : (दो. सं. ४६२), श्रम : (दो. सं. ४६७), मोह : (दो. सं. ६१४), विलाप : (दो. सं. ६११) आदि ।

जहाँ तक वियोगावस्था की काम-दशाओं के चित्रण का प्रश्न है, उनका जितना उपयुक्त चित्रण नायिका या नारी के साथ सम्बद्ध है, उतना सँभवतः नायक या नर के साथ सफल नहीं हो पाता । यही कारण है कि ढोला के विरह-वर्णन में वियोग की कतिपय ही अवस्थाओं का चित्रण उपलब्ध है—

अभिलाषा :

मन सींचाणउ जइ हुवइ, पाँखाँ हुवइ त प्राँण ।
जाइ मिलीजइ साजणाँ, डोहीजइ महिराँण ।। २११ ।।

प्रलाप :

करहा, चरि चरि म चरि चरि, चरि चरि म चरि म भूर ।
जे वन काल्हि विरोलियउ, ते वन मेल्हे दूर ।। ४३४ ।।

गुण-कथन :

वाही थी गुण वेलड़ी, वाही थी रसवेली ।
पीणइ पीवी मारवी, चाल्या सूती मेलि ।। ६१० ।।

स्मृति :

वीसारियाँ न वीसरइ, चितारियाँ नावँत ।
मारू सायर लहर जूँ, हिवड़े द्रव काढंत ।। ६१२ ।।

मरण :

नर नारी सूँ क्यूँ जलइ, नरसूँ नारि जलंत ।
साल्हकुँवर, जोगी कहइ, अहलउ केम मरंत ।। ६१८ ।।

संलाप :

मारू मारू कलाइयाँ, उज्वल दंती नारि ।
हँसनइ दे हुँकारड़उ, हिवड़इ फूटणहारि ।। ६११ ।।

ढोला के विरह को उद्दीप्त करने वाले अनेक उद्दीपन विभाव हैं । प्रधान उद्दीपन तो मारवणी का रूप सौन्दर्य[1] है जो वह ढाढियों[2] तथा वीसू चारण[3] की उक्तियों से प्राप्त करता है । कुंभों का सुहावना शब्द,[4] सरोवरों में खिली कमलिनी,[5]

१. दो. सं. २०८ । २. दो सं. २०७ । ३. दो. सं. ४५०-८८ ।
४. दो. सं. २४५ । ५. दो. सं. २४५ ।

मरू-देश के सावन की संध्या,[१] माघ मास में चढ़ा मदन का 'महारस'[२] आदि ढोला को मारवरणी से मिलने के लिये प्रेरित और उद्दीप्त करते हैं।

ढोला का विरह कर्त्तव्य-प्रेरित है। वह अपनी प्रथम परिणीता पत्नी के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना चाहता है। यही कारण है कि एक पत्नी के कहने पर दूसरी की प्राप्ति की अत्यधिक अधीरता नहीं रखता। वह अनेक दिवसों तक तर्काश्रय लेकर मालवरणी को मनाता और समझाता है। यद्यपि मारवरणी के प्रति उसका कर्त्तव्य प्रेरित विरह सदैव ही स्मृति समक्ष उपस्थित रहता है, तथापि वह मालवरणी के प्रति अपने कर्त्तव्यों की बलि नहीं देना चाहता। इसी कारण संयोगावस्था में भी रह-रह कर वह मारवरणी से मिलनार्थ जाने की वात कहता ही रहता है और अन्ततः मालवरणी की सहमति प्राप्त करने में सफल भी हो जाता है।

ढोला के विरह में अतिव्याप्ति दोष नहीं है। स्वभावतः ही पुरुष में विरहानुभूति की वह तीव्रता अल्प होती है जो नारी के संवेदना-प्रधान हृदय में पाई जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ढोला में विरह-ताप कम है। ढाढ़ियों के संगीत-श्रवरण के पश्चात् छिछले पानी में तड़फती हुई मछली तरह उसने प्रभात तक साधना की है—

ओछइ पाँणी मच्छ ज्यउँ वेलत थयउ, विहाँण ।। १६२ ।।

मारवरणी के विना विताए हुए दिनों को वह अपने जीवन में न गिनने के लिये प्रार्थना करता है—

जे दिन मारु विरण गया, दई न ग्याँन गिरणंत ।। २०८ ।।

काश ! उसका मन वाज पक्षी होता और प्राण पाँखे, तो महारण्य को उलांघकर प्रियतमा से जा मिलता,[३] बाज की भांति मन को मूठ भर कर उड़ा देता।[४] यदि उसके हाथ चंचल मन की तरह चारों दिशाओं में प्रसरित हो पाते तो वह दूर बैठे ही प्रियतमा को गले लगा लेता—

जिउँ मन पसरई चिहुं दिसई, जिम जउ कर पसरंति ।
दूरि थकाँ ही सज्जरणाँ, कंठा ग्रहण करंति ।।२१४ ।।

विरह-व्यथा में ढोला की कल्पना भी कैसा विराट-स्वरूप धारण करती है ? विरह-व्याकुल ढोला की संयोगावस्था के लिये आकुलता, आतुरता, अभिलाषा आदि इस तरह अत्यन्त वलवती होकर प्रकट हुई है।

मारवरणी से मिलनार्थ जाते समय पूगल-मार्ग में गड़रिये के कुढंगे वचन सुनकर ढोला का मन खिन्न हो जाता है।[५] यह खिन्नता उसकी मनासक्ति व्यक्त करती है। ऊमर सूमरा के चारण द्वारा जब वह मारवरणी की वृद्धावस्था की चर्चा सुनता है तो नरवर लौट जाने तक की वात सोच लेता है।[६] यह प्रसंग ढोला के विरह की गहनता को नष्ट कर देता है। सच्चा प्रेमी यदि क्षरण-

१. दो. सं. २५१ । २. दो. सं. ३०० ।
३. दो. सं. २११ । ४. दो. सं. २१२ ।
५. दो. सं. ४३६ । ६. दो. सं. ४४४ ।

भर में ही लौटने की बात करे तो उसके प्रेम में अस्थिरता, रूपासक्ति और यौवन-कामेच्छा की गन्ध आने लगती है। संभवतः यहाँ कवि ने विरह-कसौटी के लिये ढोला की मनःस्थिति का वर्णन किया हो अथवा 'त्रास' नामक संचारी भाव[1] की अभिव्यक्ति के लिये यह किया हो, या कवि ढोला को मध्यकालीन सामन्त-वर्ग का प्रतिनिधित्व प्रदान करना चाहता हो, अथवा यह भी संभव है कि कवि ढोला के मन में विकर्षण का भाव बतलाकर तत्काल बाद ही वीसू चारण के द्वारा आकर्षण की पुनः स्थापना के लिये व्यापक नख-शिख-वर्णन की पीठिका प्रस्तुत करना चाहता हो।

ख : संयोग शृंगार :

शृंगार का द्वितीय पक्ष है—संयोग शृंगार। "जहाँ पर अनुकूल विलासी एक दूसरे के दर्शन और स्पर्श इत्यादि का सेवन करते हैं, वह आनन्द से युक्त सम्भोग शृंगार कहलाता है।"[2] कतिपय विद्वान 'संयोग' शृंगार और 'संभोग' शृंगार को भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार संयोग में प्रेमानुभूति होती है,[3] तथा संभोग में दर्शन-स्पर्शन इत्यादि सुख की प्राप्ति होती है।[4] वस्तुतः ये दोनों शब्द समानार्थी ही हैं और यहाँ संयोग के अन्तर्गत इनका समावेश कर लिया गया है। "पंडितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि 'संयोग' का अर्थ 'स्त्री-पुरुष का एक स्थान पर रहना' नहीं है क्योंकि एक पलंग पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि हो तो वह विप्रलम्भ या वियोग रस ही माना जायगा। इनके अनुसार 'संयोग इस मानसिक ज्ञान किंवा चित्तवृत्ति का पर्याय है कि 'मैं मिला हुआ हूँ' और वियोग यह ज्ञान है कि 'मैं विछड़ा हुआ हूँ।' अतएव स्त्री-पुरुष के संयोग के समय प्रेम रहे तो वह 'संयोग' अथवा 'संभोग शृंगार' कहलायगा।"[5] यदि दोनों की स्वतन्त्र एवं भिन्न स्थिति माननी ही पड़े तो प्रस्तुत काव्य के ढोला-मालवणी प्रसंग[6] को संयोग के अन्तर्गत एवं ढोला मारवणी-प्रसंग[7] को संभोग के अन्तर्गत गृहीत किया जायगा।

'ढोला मारू रा दूहा' में संयोग-पक्ष की रस-दशा के तीन चित्रण प्राप्त होते हैं—

१. मालवणी-ढोला संयोग,
२. मारवणी-ढोला सयोग,
३. मारवणी-मालवणी-ढोला संयोग।

संयोग के इस त्रिकोण के समानान्तर वियोग के भी त्रिकोणात्मक तीन दृश्य रचनाकार

---

१. दो. सं. ४४७। २. दशरूपक : धनंजय : ४-६६।
३. हिन्दी साहित्य कोश : भाग १ : पृ० ८६१।
४. साहित्य दर्पण : विश्वनाथ : ३-२१०।
५. हिन्दी साहित्य कोश : भाग १ : पृ० ८६१ पर श्री रमाशंकर तिवारी मत।
६. दो. सं. २१८ से २३७ तक।
७. दो. सं. ५३७ से ५६३ तक।

ने प्रस्तुत किये हैं। संयोग और वियोग का यह पारस्परिक सापेक्ष इतना सम्बद्ध है कि एक के कारण ही दूसरा कान्तिमय उत्कर्ष प्राप्त करता है।

संयोग का महत्व इसलिये भी है कि इससे वियोग को अधिक विस्तार और उसे तीव्रता मिलती है। मारवणी का ढोला के साथ विवाह-संयोग तो बाल्यावस्था की वस्तु कहा जा सकता है; किन्तु स्वप्न-संयोग पूर्ण यौवनावस्था में होता है और इसी का ही प्रतिफलन यह है कि उसका वियोग अधिक तीव्रतर बन गया है। मालवणी के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। वह संयोग-सुख का उपभोग करने के बाद जब विरह-पीड़ा की अनुभूति तक पहुँचती है तो मारवणी-विरह वर्णन से भी अधिक अनुभावों तथा संचारी भावों का अभिव्यंजन उसके विरह में प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में मात्रा में अल्प होते हुए भी शृंगार के इस संयोग पक्ष का महत्व किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता।

१. मालवणी-ढोला संयोग :

अपनी प्रथम परिणिता मारवणी से सर्वथा अनभिज्ञ ढोला मालवणी के साथ आनन्दोपभोग करता हुआ जीवन व्यतीत करता है। फलस्वरूप मालवणी के लिये यह संयोग ढोला की मारवणी से मिलनातुरता आदि से आच्छादित होकर विरहमय रूप धारण कर लेता है।

वस्तुतः यह संयोग पीठिका के रूप में अधिक और शुद्ध संयोग-वर्णन की दृष्टि से कम महत्व का है। इस संयोग में भी भिन्न-भिन्न भावाश्रित दो दशाओं का सम्मिलन हुआ है—प्रथम दो. सं. २१५ से दो. सं. २३७ तक और द्वितीय दो. सं. २३८ से दो. सं. ३४४ तक। प्रथम अवस्था में वह संयोग-सुख का आनन्द विविध संयोगाश्रित संवादों, वर्णनों तथा संकेतों से व्यक्त करती है; जबकि द्वितीय अवस्था में विरह-आशंका ही उसके सम्पूर्ण संयोग को आवृत्त किये हुए है और वहाँ तर्काश्रित होकर ही मालवणी ढोला को मारवणी से मिलन हेतु प्रस्थान करने में बाधक होकर संयोग का उपभोग करती है। इस प्रकार इन दोनों ही अवस्थाओं में हमें संयोग शृंगार की उन्मुक्त उड़ान नहीं मिलती।

मालवणी शृंगार-सुसज्जित होकर प्रियतम ढोला से मिलने आती है परन्तु ढोला के मुख-मंडल पर मँडराती हुई उदासी को देखकर संकुचित हो उठती है।[1] वह इसे प्रियतम का 'मान' समझ कर उसे हास-परिहास हेतु उत्प्रेरित करती है।[2] यहाँ दोनों के संवादों में संयोग के अनेक रसाँगों का चित्रण प्राप्त होता है, जिनमें कहीं उद्दीपन है, कहीं अनुभाव चित्रण है।

२. मारवणी-ढोला संयोग :

यह प्रसंग शृंगार के संयोग-पक्ष की परिपूर्णता और सोद्देश्यता की दृष्टि से महत्वपूर्व है जिसमें कवि की सौन्दर्य कल्पना सर्वत्र रसानुकूल चित्रित हुई है।

ढोला के पूगल्-आगमन से पूर्व रात्रि को मारवणी का स्वप्न में ढोला का

१. दो. सं. २१५। २. दो. सं. २१८।

३. दो. सं. २२२-२३-२५-२६-३२-३७-४१-४४-७७-८८ आदि।

दर्शन-मिलन आगत संयोग का संसूचक है जिसमें मारू की प्रियतम-मिलनोत्कण्ठा फूट पड़ी है—

मोती-जड़ी ज हाथि, सुरह-सुगंधी वाटली।
सूती माँझिम राति, जाणूँ ढोलूँ जागवी ।। ५०५ ।।
घर नीगुल दीवउ सजल, छाजइ पुणग न माइ।
मारू सूती नींद्र भरि, साल्ह जगाई आइ ।। ५०६ ।।
राति ज वादल सघण घण, वीज-चमंकउ होइ।
इण समईयइ, हे सखी, साल्य जगाई मोइ ।। ५०८ ।।

काश यह स्वप्न सत्य हो तो इससे बढ़कर मनोवांछा पूर्ण करने वाला कौन ?[1] मारू कहती है कि जैसे स्वप्न में पाया वैसे यदि प्रत्यक्ष पाऊँ तो प्रियतम को मोतियों के हार की भाँति कंठ में धारण करूँ।[2]

इस प्रसंग के अन्तर्गत अगों का स्फुरण संयोगाव्यस्था के सात्विक सूचक हैं और शकुन की दृष्टि से प्रियमिलन में सहायक सिद्ध होने वाले हैं—

अहर फुरक्कइ तन फुरइ, तन फुर नयँण फुरंत।
नाभी-मंडल सहु फुरइ, साँझइ नाह मिलंत ।। ५१७ ।।
आज उमाहउ मो घणउ, ना जाणूँ किव केण।
पुरुख परायउ वीर वड, अहर फुरक्कइ केण ।। ५१८ ।।
सहिए, साहिव आविस्यइ, मो मन हुई सुजाँण।
आगम-वाधाऊ हुया, अंग-तणा अहिनाँण ।। ५१९ ।।
आँखि निमाँणी क्या करइ कऊवा लवइ निलज्ज।
सउ जोइन साहिव वसइ, सो किम आवइ अज्ज ।। ५२० ।।

शीघ्र ही इस संशय-स्थिति का भी अंत हो जाता है और वीसू चारण आकर ढोला के आगमन की शुभ सूचना देता है।[3] सम्पूर्ण वातावरण में हर्ष की लहर दौड़ पड़ती है। मारवणी के तो हर्ष और उल्लास की कोई सीमा ही नहीं। पूर्णिमा के चन्द्र की तरह (ढोला रूपी चंद्र के उदय होने से) चतुर्दिशाएँ प्रफुल्लित हो गईं।[4] उसका हृदय प्रफुल्लित होकर हिमालय-सदृश विशाल हो गया और तन रूपी पंजर में नहीं समाता।[5] मारू ने इस शुभ दिन पर दूसरे सव दिन वलिहार कर दिये।[6] उसकी आँखों में अमृत पैठ गया—

आजूणउ घन दीहड़उ, साहिव कउ मुख दिट्ठ।
नाया भार उलाथियउ, आँख्याँ अमी पयट्ठ ।। ५३१ ।।

मारू के हर्षातिरेक और उसकी प्रसन्नता की ध्वन्यात्मकता निम्नाँकित प्रतीकों से अत्यन्त ही सुन्दर अभिव्यंजित हुई है—

---

१. दो. सं. ५०९।   २. दो. सं. ५१३।   ३. दो. सं ५२६।
४. पुनिम केरे चंद ज्यूँ, दिसि च्यारे फलियाँह ।। ५२८ ।।
५. हियड़उ हेमाँगिर भयउ, तन-पजरे न माइ ।। ५२९ ।।
६. आजूणइँ दिन ऊपरइ, वीजा वलि कीयाह ।। ५३० ।।

सखी सु सज्जण आविया, हुंता मुज्झ हियाह।
सूका था सू पाल्हव्या, पाल्हविया फलि.याह ।। ५३३ ।।
सज्जण मिलि.या सज्जणाँ, तन मन नयण ठरंत।
अणपीयइ पाणग्ग ज्यूँ, नयणे छाक चचंत ।। ५३४ ।।
सोई सज्जण आविया, जाँह की जोती वाट।
थाभाँ नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ।। ५४१ ।।

सयोग-शृंगारान्तर्गत कवियों ने नायक-नायिका के सौन्दर्य-चित्रण से भी काव्य-पृष्ठों को सजाया है। विशेषकर नायिका सौन्दर्य-वर्णन से काव्य भरे पड़े हैं। काव्य-शास्त्रानुसार नायिका २८ अलंकारों से अलंकृत होनी चाहिये—अंगज : ३,[1] अयत्नज : ७[2] तथा स्वभावज : १८।[3] नायिका सामुद्रिक-शास्त्र में वर्णित स्थूल शारीरिक सौन्दर्य सम्बन्धी ३२ लक्षणों से युक्त भी होनी चाहिये। साथ ही उपर्युक्त अलंकार-समन्वित होने पर भी एक श्रेष्ठ नायिका के लिये शृंगार कर अपने सौन्दर्य की श्री-वृद्धि करना भी अनिवार्य माना गया है। शृंगार १६ माने गये हैं।

इस प्रसंग में 'ढोला मारू रा दूहा' में नायक के सौन्दर्य-चित्रण से तो यह प्रसंग सर्वथा शून्य ही है; परन्तु नायिका-सौन्दर्य वर्णन भी विस्तृत एवं काव्य-शास्त्रानुसार नहीं हुआ है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि कवि वीसू चारण के मुख से पहले ही मारवणी का नख-शिख प्रस्तुत करवा चुका है और यहाँ वह पिष्ट-पेषण और पुनरावृत्ति से बचना चाहता है।

तदुपरान्त भी कवि ने मारवणी का संक्षिप्त सौन्दर्य-चित्र प्रस्तुत कर इस प्रसंग को मनोहारिता प्रदान की है। सखियों ने उवटन, स्नान आदि द्वारा कंत से मिलनार्थ मारवणी के तन रूपी मण्डप को सजाया।[4] उसकी वाणी वीणा-सदृश, चाल हंस के समान और केशपाश फव्वारे के समान प्रतीत हो रहे हैं। पैरों में पायल बज रही है।[5] इस तरह मारू महलों की ओर जा रही है मानो झीने बादल में चन्द्रमा चल रहा हो[6] अथवा मदोन्मत्त हुआ गजेन्द्र कजली वन में जा रहा हो—

जाँणे गयंद उलट्टियउ, कज्जल-वन महँ जाहि ।। ५३८ ।।

कवि ने मारवणी के आन्तरिक हर्षोल्लास को इस मनोहारी मानवीकरण द्वारा प्रस्तुत किया है—

सोई सज्जण आविया, जाँहकी जोती वाट।
थांभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ।। ५४१ ।।

संयोग के समय उद्दीपन-विभावान्तर्गत काम-कलाओं की चर्चा भी समीचीन

---

१. भाव, हाव, हेला।
२. शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य।
३. लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि।
४. दो. सं. ५३५। ५. दो. सं. ५४०।
६. मारू चाली मंदिरे, झीणे बादल चन्द ।। ५३७ ।।

है। काम-कलाएँ चार प्रकार की होती हैं—कर्माश्रित, द्यूताश्रित, शयनोपचारिक एवं उत्तर कलाएँ। 'ढोला मारू रा दूहा' में इनका भी सविस्तर आयोजन नहीं मिलता। कवि ने द्यूताश्रित कलाओं को तो छुआ तक नहीं है। कवि ने सर्वप्रथम नायक-नायिका के मधुर संलाप एवं वाग्वैदग्ध्य आदि शाब्दिक प्रणयोपचार को रखा है। आँखें चार होते ही ढोला चुटकी लेता है—

काया झबकइ कनक जिम, सुन्दर, केहे सुक्ख।
तेह सुरंगा किम हुवइ, जिण वेहा वहु दुक्ख ।। ५४६ ।।

मारवणी भी हँसती हुई वह प्रत्युत्तर देती है कि ढोला अवाक् हो जाता है—

पहुर हुवउ ज पधारियाँ, मो चाहंती चित्त।
डेडरिया खिण-मइ हुवइ, घँण वूठइ सरजित्त ।। ५४८ ।।

तत्पश्चात् कवि ने प्रहेलिका-आयोजन आयोजित किया है। ढोला पहेली पूछता है और मारू उसका उत्तर देती है।[1] ये अपभ्रंश की विश्रुत पहेलियाँ हैं और अन्य काव्यों में भी उपलब्ध होती हैं।[2]

शयनोपचारिक नाम से अभिहित आंगिक रतोपचार को कवि ने अष्टयाम चित्रण में स्थान दिया है। संयोग-क्रिया के मुख्यतः आठ अंग हैं—चुम्बन, नखछेद्य, दशन छेद्य, आलिंगन, सह-शयन, सीत्कार, अधोशयन, क्रिया विशेष।[3] इनमें से अनेक की सांकेतिक और स्पष्ट व्यंजना 'अष्टयाम चित्रण' में उपलब्ध हो जाती है।[4]

प्रणयोपचारों के सहायक पात्र दूत और दूती होती हैं। 'ढोला मारू' में मारवणी की सखियों ने दूती-कार्य किया है। वे ही उसे केलि-कक्ष में उसके कन्त के के पास पहुंचा कर लौटती हैं।[5]

कवि ने इस दम्पत्ति के दिनचर्या-दिग्दर्शन हेतु **अष्टयाम चित्रण** का संयोजन भी किया है।[6] रीतिकालीन काव्य में तो यह एक विशेष काव्यरूप ही बन गया था।[7] इस काव्य में यह एक शैली प्रकार न होकर रसास्वादन की पुष्टि का सहायक उद्दीपन विभाव ही है। यह रात्रि एवं दिन के क्रमशः चार-चार प्रहरों में विभाजित नायक-नायिका के क्रिया-कलापों को प्रस्तुत करता है। रात्रि के प्रथम प्रहर में दीपक आकाश में झूल रहे हैं। प्रिया कस्तूरी हो रही है और प्रियतम चंपा का फूल।[8] द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ प्रहरों में काम-क्रीड़ा-रत दम्पत्ति की सांकेतिक व्यंजना इस प्रकार कवि ने अत्यन्त कलात्मकता से प्रकट की है—

---

१. दो. सं. ५६६-८०।
२. आनन्दधर विरचित 'माधवानल आख्यान', कुशललाभ विरचित 'माधवानल कामकन्दला चउपई' आदि।
३. काम-सूत्र : वात्स्यायान : २-२।
४. दो. सं. ५५०-५१-५२-५३-५४-५५-६५-६६-८२-८३-८४-७५।
५. दो. सं. ५४२। ६. दो. सं. ५८२ से दो. सं. ५८६ तक।
७. रीतियुगीन कवियों में देव का 'अष्टयाम' विश्रुत ग्रन्थ है।
८. दो. सं. ५८२।

दूजै पोहरे रयण कै, मिलियत गुफ्फागुब्ध ।
धण पाल.ी, पिव पाखर्‌यो, विहू भला भड़ जुध्ध ।। ५८३ ।।
त्रीजै प्रहरै रैणकै, मिलि.या तेहा-तेह ।
धन नहिं धरती हुइ रही, कंत सुहावौ मेह ।। ५८४ ।।
चौथे प्रहरै रैणकै, कूकड़ मेल्ही रालि. ।
धण संभालै. कंचुवो, प्री मूँछाँ रा वालि ।। ५८५ ।।

पाँचवे प्रहर में प्रिया छितराए हुए मोती बटोर रही है । रिमझिम रिमझिम पायल की ध्वनि हो रही है और प्यारी एवं प्यारे का जुहार हो रहा है ।[1] छठे प्रहर दिन में ज्यौनार होती है जिसमें मन चावल, तन लपसी एवं नैत्र घी की धारा हैं ।[2] सप्तम प्रहर में नायिका वाटिका से दाख-बिजारे लाकर प्रियतम को छील-छील कर खिलाती है ।[3] अष्टम प्रहर में संध्या समय प्रिया पुनः शृंगार सजाती है ।[4]

अष्टयाम-चित्रण में एवं अन्य संयोग स्थलों पर जो संयोग केलि-क्रीड़ा विषयक संकेत तथा सामग्री उपलब्ध होती है, वह औचित्य का अनुसरण करने वाली तथा शील की परिधि में सीमित है ।

जहाँ तक काव्य में ऐसे चित्रण के औचित्य का प्रश्न है, यह स्वयंसिद्ध है कि शील की सीमा में ऐसे चित्रण काव्य में स्वाभाविकता का संचार करते हैं । भारतीय लक्षण-कारों ने संभोग-चित्रण को काव्य के एक आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है । कविराज विश्वनाथ के मत से महाकाव्य में संयोग का चित्रण भी होना चाहिये ।[5] यायावरीय राजशेखर का भी कथन है कि प्रसंग आने पर ऐसे (संभोग-कालीन) वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है ।[6] संभोग में एकाध स्थल पर किंचित स्थूलता आ जाने के कारण संपादक-त्रय ने इसे 'फीका' तथा 'ऊपर से बैठाया हुआ' कहा है जिसके कारण इस अष्टयाम चित्रण में कुछ 'अश्लीलता, नीरसता, गँवारूपन और साधारण तुच्छा' काव्य धारण कर बैठा है । किसी सर्वसुन्दर आभरण के भद्दे मोरचे की तरह यह प्रसंग कथा में खटकता है, काव्य के आदर्श से मिलान नहीं खाता ।"[7] इससे सहसा सहमति प्रकट नहीं की जा सकती । कवि ने काव्य की प्रवाहमयता में यथावसर संयोग का समावेश भी किया है जिससे काव्य में स्वाभाविकता का संचरण हुआ है । दाम्पत्य-जीवन के ताने-बाने से बुने हुए 'ढोला-मारू' के काव्य-कलेवर में यदि सांकेतिक एवं लाक्षणिक संभोग-वर्णन अनुपस्थित रहता तो काव्य के अभिव्यंग्य को इससे आघात पहुँचता । फिर, यह वर्णन अत्यन्त अल्प है । इसे पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि कवि जायसी की तरह 'काम-संग्राम' रचने में विशेष रुचि प्रदर्शित कर रहा हो । कवि ने स्थूल, नग्न और अश्लील दृश्यों के अतिचित्रण का सर्वथा बहिष्कार ही किया है । वह कामोदधि के उच्छलन में मर्यादा का परित्याग कर प्रवाहित नहीं हुआ । जहाँ 'नग्न' वस्तु के चित्रण की आवश्यकता

---

१. दो. सं. ५८६ । २. दो. सं. ५८७ । ३. दो. सं. ५८८ ।
४. दो. सं. ५८९ । ५. साहित्य-दर्पण : ६-३२३ ।
६. काव्य-मीमांसा : पृ० ६८ । ७. ढोला मारू रा दूहा : पृ० १०१ ।

भी पड़ी है, वहाँ रचनाकार ने प्रतीकात्मकता एवं संकेतों से व्यंजना में जीवन डाल दिया है—

सज्जण पाणी-खीर ज्यूँ, खिल्लोखिल्ल थयाह ।। ५५३ ।।
जाँणे चंदन-रूँखड़इ, विलगी नागर-वेलि ।। ५५५ ।।
दो मयमंत सुजाँण सेज दिसि वाहुड़इ ।
जाँणे धरती-काज असप्पति आहुड़इ ।। ५६६ ।।

संभोग-तृप्ति की व्यंजना भी संकेतों द्वारा ही की गई है—

चौथे प्रहरै रैंण के, कूकड़ मेल्ही रालि ।
धण संभालै कंचुवौ, प्री मूँछाँ रा वालि ।। ५८५ ।।

इस तरह अश्लीलता का अभाव और सुरुचि का आवरण इस संपूर्ण संभोग-केलि-वर्णन को कहीं भी साहित्यिक-मर्यादा से च्युत नहीं होने देता ।

काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से यह संयोग-प्रसंग सम्पूर्ण रसांगों से अति पुष्ट होकर श्रृंगार का परिपाक करता है । विश्लेषण की दृष्टि से इन रसाँगों को इस तरह रखा जा सकता है—

आलम्बन :

कहीं ढोला, कहीं मारवणी ।

उद्दीपन :

रूप-सौन्दर्य : (दो. सं. ५४०), **मुख-सौन्दर्य :** (दो. सं. ५४५), **श्रृंगार-सजावट-** (दो. सं. ५६५), **प्रहेलिकाएँ :** (दो. सं. ५७५-७६), **अष्टयाम :** (दो. सं. ५८२ से ५८९), **वचन-विलास :** (दो. सं. ५५०), **क्रीड़ाचार :** (दो. सं. ५९१-९२) ।

सात्विक अनुभाव :

स्तम्भ : (दो. सं. ५४२) ।

कायिक अनुभव :

अवलोकन : (दो. सं. ५४५), **कर-ग्रहण :** (दो. सं. ५४४), **अंक-ग्रहण :** (दो. सं. ५४४), **चुम्बन :** (दो. सं. ५६६), । **आलिंगन** कायिक अनुभाव के विविध चित्रण भी इसमें दर्शनीय हैं —

१. ढोलउ मिलयउ मारवी, दे आलिंगण चित्त । ५४४ ।।
२. कंठ विलग्गी मारवी, करि कंचूवा दूर । ५५१ ।।
३. मन मिलिया, तन गड्डिया, दोहग दूरि गयाह ।
   सज्जण पाणी खीर ज्यूँ, खिल्लोखिल्ल थयाह ।। ५५३ ।।
४. ढोलउ मारू एकठा, करइ कतूहल-केलि ।
   जांणे चंदन-रूखड़ई, विलगी नागर-वेलि ।। ५५५ ।।
५. अहरे अहर लगाइ, तने तन मेलिया ।
   (परिहां) जांणि क गांधी-हाट जुवांनि मेलिया ।। ५६६ ।।
६. दूजै पोहरे रयणकै, मिलियत गुपफागुध्ध ।
   धण पाली, पिव पाखर्‌यो, विहूँ भला भड़ जुध्ध ।। ५८३ ।।

७. त्रीजै प्रहरै रैणकै, मिलि.या तेहा-तेह।
धन नहिं धरती हुइ रही, कंत सुहात्तौ मेह ।। ५८४ ।।

मानसिक एवं आहार्य अनुभाव :

अन्तःकरण का उल्लास : (दो. सं. ५४१), वस्त्रादि : (दो. सं. ५३७) ।

संचारी भाव :

आवेग : (दो. स. ५२६), मद : (दो. सं. ५३४), व्रीड़ा : (दो. सं. ५४७) मति : (दो. सं. ५८५), धृति : (दो. सं. ६१४), स्वप्न : (दो. सं. ५०५ एवं अन्य) ।

३. मारवणी-मालवणी-ढोला संयोग :

पूगल से मारवणी को लिवा लाने के पश्चात् नरवर में मालवणी के साथ नायक ढोला के संयोग-प्रसंग का कवि ने संयोजन किया है। यह संयोग-जीवनयापन का प्रसंग काव्य का उपसंहार है।

इस संयोग में पारिवारिक हास-परिहास के द्वारा ही संयोग की स्थिति स्पष्ट की गई है। सौतियाडाह से उद्‌भूत निन्दात्मक व्यंग्य यहाँ प्रेमी को आर्कषित करने का साधन है। ढोला अपनी सद्‌गुणवती और सुन्दर नारियों के संग सुख भोगता है[1] कि सर्वप्रथम मालवणी अपने रसिक कंत को मारू के देश के प्रति निंदात्मक उक्तियाँ कह कर अपनी ओर आकर्षित करती है। मालवणी के शब्दों में मारू-देश विरंगा (नीरस) है[2], गहरे कुओं से पानी निकालते समय मनुष्य इस तरह अर्द्ध रात्रि को ही पुकारने लगते हैं मानों कोई मर गया हो,[3] जिसके लिये प्रियतम आधीरात को ही छोड़कर चले जाते हैं और कुंकुमवर्णी सुन्दर हाथ जिसे नहीं निकाल पाते।[5] वह चिर कुमारी रहना पसंद करेगी वनिस्पत इसके कि पानी ढोती-ढोती ही मर जाय।[6] अकाल का जहाँ हर समय कष्ट बना रहता है,[7] पीणे सर्प हैं, आक और फोग की नाम-मात्र की छाया है।[8]

प्रत्युत्तर में मारवणी मालव-देश की निन्दा करती है और कहती है कि—

बालूँ बाबा देसड़उ, जहाँ पाँणी सेवार।
ना पणिहारी झूलरउ, ना कूवइ लैकार ।। ६६४ ।।
बालूँ, बाबा देसड़ऊ, जहाँ फीकरिया लोग।
एक न दीसइ गोरियाँ, घरि घरि दीसई सोग ।। ६६५ ।।

मरु-देश तो हर प्रकार से अनुपम है क्योंकि-

मारू देश उपन्नियाँ, सर ज्यउँ पध्धरियाह।
कड़वा कदे न बोलही, मीठा बोलणियाह ।। ६६७ ।।

---

१. दो. स. ६५२।
२. सगल.ा देस सुहांमणा, मारू देस विरंग ।। ६५४ ।।
३. आधी रात कुहक्कड़ा, ज्यऊँ माणसां मुवांह ।। ६५५ ।।
४. पाणी केरइ कारणइ, प्री छंडइ अधराती ।। ६५६ ।।
५. कूँकूँ वरणा हथ्थड़ा, नहीं सु धाढा जेंण ।। ६५७ ।।
६. दो. सं. ६५६। ७. दो. सं. ६६०। ८. दो. सं. ६६१।

देस निवाणूं, सजल जल, मीठा बोला लोइ।
मारू काँमिणी दिखणि घर, हरि दीहइ तउ होइ ।। ६६८ ।।

ढोला मारवणी का पक्ष लेकर उसका मन हर्षित करता है—

देस सुरंगउ, भुइं निजल, न दियाँ दोस थलांह।
घरि घरि चंद वदन्नियाँ, नीर चढ़इ कमलांह ।। ६६९ ।।
सुणि, सुंदरि केता कहाँ, मारू देस वखाँण।
मारवणी मिलियाँ पछइ, जाण्यउ जनम प्रवाँण ।। ६७० ।।

अंततः दोनों का झगड़ा मिट जाता है।[1] ढोला का संयोग में यह रूप उसकी नयी पत्नी के प्रति मनोवैज्ञानिक आकर्षण और प्रेम की अनन्यता का प्रतीक बन कर यहाँ आया है।

उपसंहारात्मक संयोग-शृंगार होने के नाते इसमें रसोद्रेक की तीव्रता का न होना अकृत्रिम है। वस्तुतः रचनाकार काव्यान्त की सुखमयता की अक्षुण्ण प्रभावान्विति के लिये इस संयोग की 'समरसता' को गहनता की अपेक्षा विकीर्ण कर व्यापक बना देना चाहता है। इस तरह काव्य के अन्त की दृष्टि से अतिशय अनुकूल इस योजना का यहाँ प्रस्तुतीकरण हुआ है।

निष्कर्षतः 'ढोला-मारू का संभोग-शृंगार संयत है। कवि ने नायक-नायिका की संयोगानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये हास-परिहास, मनोरंजन, अष्टयाम, सुरत एवं सुरतान्त का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत किया हैं। कवि की सुरूचि-संपन्न रसिकता ने संयोग-पक्ष के इन अंगों एवं क्रिया-कलापों में असंयमता नहीं आने दी। फलस्वरूप स्थूलता, शिथिलता एवं अश्लीलता दृष्टिगोचर नहीं होती। शारीरिक-मिलन की अनुभूति भी संकेतात्मक शैली में इस तरह कलात्मक सूक्ष्मता से व्यंजित हुई है कि पाठक प्रसंग की समस्त मधुरता से अवगत हो जाता है और प्रत्यक्षरूप में नग्नता भी दृष्टिगोचर नहीं होती। संयोग-वर्णन अत्यन्त विस्तार लिये हुए भी नहीं है। कवि ने काव्य में शिष्टता को इस तरह विशिष्ट स्थान देकर औचित्य का निर्वाह किया है। संयोगावस्था में प्रेम-प्रदर्शन की वास्तविकता गोपनीय रखने या सायास छिपाने के अनेक अवसर आ जाते हैं; परन्तु विरह में ऐसी संभावना नहीं होती। वहाँ विरहानुभूति की तीव्रता के कारण 'अकथनीय' भी बरबस 'कथनीय' हो जाता है। अतः कवि ने विप्रलंभ का ही विस्तृत वर्णन अपनाया। फिर भी जो संभोग-शृंगार चित्रित हुआ है, वह रसांगों से पुष्ट, सूक्ष्माभिव्यंजना से युक्त और शालीनता का परिचायक है।

(आ) अन्य रस :

शृंगार रस के अतिरिक्त कतिपय अन्य रसों की भी प्राप्ति इस रचना में होती है—

क : वीर रस :

युद्धादि कठोर कार्य करने के लिये उत्पन्न उमंग या उत्साह से वीर रस का

१. दो. सं. ६७१।

आविर्भाव होता है। 'ढोला मारू रा दूहा' में शृंगार-रस-प्रधान काव्य होने से वीर रस की विस्तृत अभिव्यक्ति नहीं मिलती। एकाध स्थल पर इस रस के दर्शन किये जा सकते हैं—

प्रिउ ढोलउ, त्री मारुई, करहउ कूँ कूँ व्रन्न।
ऊमर दीठा एकठा, बड़ा ज तीन रतन्न ।। ६३८ ।।
ऊमर दीठी मारुई, डींभू जेही लंक्कि।
जाँणे हर सिरि फूलड़ा, डाके चढ़ी डहक्कि ।। ६३९ ।।
ऊमर ऊतावलि करइ, पल्लाणियाँ पवंग।
खुरसाणी सूधा खयंग, चढ़िया दल चतुरंग ।। ६४० ।।
ऊँमर दीठा जावता, हलहल करइ करूर।
एराकी ओखंभिया, जइसइ केती दूर ।। ६४१ ।।
मारू स्रवणे संभली, वलि दीठी नयणेह।
ऊमर खड़इ उताँमला, लागउ अधिकउ नेह ।। ६४२ ।।

यहाँ ऊमर आश्रय है और ढोला-मारवणी आलम्बन। ढोला-मारवणी और ऊँट का भागना उद्दीपन है। घोड़ों पर जीन कसना, खुरासानी तलवारों से सुसज्जित सेना सहित पीछा करना, हलवड़ी करना, और घोड़ों को पीछे देते हुए उक्त उद्गार प्रकट करना अनुभाव हैं। गर्व, आवेग, उग्रता, चपलता आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे पुष्ट होकर 'उत्साह' नामक स्थायी भाव द्वारा यहाँ वीर रस की अभिव्यंजना हुई है। इसे 'युद्ध वीर' के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है।

ढोला के अनेक कार्यों में 'दानवीर' के लक्षण भी दिखलाई देते हैं[1] किन्तु रस की दृष्टि से वहाँ 'वीर' का उद्रेक नहीं हो पाया है।

ख : करुण रस :

'ढोला मारू रा दूहा' में जब पीणा सर्प मारू को पी जाता है और मारू का निधन हो जाता है; तब करुण रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ—

झाबकि पइठी झालि, सुंदरि काँइ न सलसलइ।
बोलइ नहीं ज बाल, धण धंधूणी जोइयउ ।। ६०३ ।।
मुख जोवइ दीवाधरी, पाछउ करइ पलाह।
मारू दीठी सास विण, मोटी मेल्हइ धाह ।। ६०६ ।।
सोहड़ सहु भेला किया, तिण वेला तिण वार।
नरनारी सहु बिलबिलइ, हय हय सरजणहार ।। ६०७ ।।
ढोला, मारवणी मुई, तइँ सारड़ी न लब्ध।
दीवा केरी वाटि जिम, खोड़ी खोड़ी दब्ध ।। ६०९ ।।
मारू मारू कलाइयाँ, उज्जल दंती नारि।
हसनइ दे हुंकारड़उ, हिवड़उ फूटणहारि ।। ६११ ।।

---

१. उदाहरणार्थ दो. सं. ९३, २०३ आदि।

वीसारियाँ न वीसरइ, चितारियाँ नावंत ।
मारू सायर लहर जूँ, हिवड़े द्रव काढंत ।। ६१२ ।।

यहाँ पर नायिका मारवणी का निधन आलम्बन है । मारवणी के गुण, शव-दर्शन, उसकी बातों का स्मरण आदि उद्दीपन हैं । आश्रय ढोला का रोदन, प्रलाप, दैवनिन्दा आदि अनुभाव हैं । स्मृति, चिन्ता, विषाद, दैन्य, उन्माद, निर्वेद आदि संचारी भाव हैं। इन सब रसावयवों से संपुष्ट होकर 'शोक' स्थायी भाव की यहाँ करुण के रूप में परिणति हुई है ।

भरत ने आलम्बनानुसार इसके धर्मोपघातज, अर्थोपचयोद्भव एवं शोककृत-तीन भेद किये हैं ।[1] यहाँ शोक कृत (स्वजनों के मृत्यु-शोक से उत्पन्न) करुण है । 'भाव-प्रकाश' कार ने इसके मानस, वाचिक और कर्म भेद किये हैं ।[2] 'ढोला मारू' के इस करुणार्द्र प्रसंग में ये तीनों भेद समन्वित होकर आये हैं ।

'ढोला मारू' का यह प्रसंग कारुण्य की उद्‌बुद्धि में पूर्ण समर्थ है और कवि तथा पाठक की भावधाराओं को एक ही मधुमती भूमिका पर प्रतिष्ठापित करता है । पाश्चात्य विद्वान बूचर ने इसीलिये कारुणिक दृश्यों में पूर्ण भाव-तादात्म्य संभव माना है ।[3]

ग: रौद्र रस :

'ढोला मारू' में ऐसे प्रसंग कम आये हैं जहाँ रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध उमड़ा है । एक-दो स्थलों पर रौद्र की झलक देखी जा सकती है—

१. तब बोली चंपावती, साल्हकुंवर री मात ।
रे बाजारण, छोहरी, कांइ खेलाड़इ घाति ।। ३३५ ।।
गादह दाध्यउ दग्ग करि, सासू कहइ वचन्न ।
करहउ ए कूड़इ मनइ, खोड़उ करइ यतन्न ।। ३३५ ।।

२. दीह गयउ डर डंबरे, नीले नीझरणेहि ।
काली-जाया करहला, बोल्यउ किसे गुणेहि ।। ४६१ ।।
सड़-सड़ वाहि म कवडी, राँगाँ देह म चूरि ।
विहुँ दीपाँ विचि मारूई, मो-थी केती दूरि ।। ४६२ ।।
करहा, तो वेसासड़उ, मो विणसारचा काज ।
अंतरि जउ वासउ हुवउ, मारू न मिलइ आज ।। ४६३ ।।
ढोला, वाहि म कंवड़ी, दसिए एकणि पूरि ।
जे साजण वीहंगडे, वीहंगड़उ न दूरि ।। ४६४ ।।

प्रथम उदाहरण में सासू चम्पावती का क्रोध है । वहाँ आलम्बन मालवणी है और निरपराध गधे का दागना उद्दीपन है । उग्रवचन, गाली देना आदि अनुभाव हैं । उग्रता, आवेग, असूया आदि संचारी भाव हैं ।

१. नाट्यशास्त्र : ६-६८ ।
२. भाव प्रकाश : पृ० ६४ पंक्ति ६ ।
३. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : भाग १ : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : पृ० १६२ ।

द्वितीय उदाहरण में ऊँट का धीरे चलना ही आलम्बन है। दिन का वीत जाना, अधिक देरी हो जाना आदि उद्दीपन हैं। उग्रवचन, गाली देना, छड़ी से मारना इत्यादि अनुभाव हैं। आवेग, अमर्ष, उग्रता इत्यादि संचारी भाव हैं।

तृतीय उदाहरण ऊमर-सूमरा का प्रसंग भी लिया जा सकता है जिसमें रौद्र की झलक मिलती है।

भरत ने रौद्र के अंग, नेपथ्य और वाक् तीन भेद दिये हैं।[1] 'ढोला मारू' में इनमें से आंगिक और वाचिक भेद मिलते हैं।

इन उद्धरणों में रौद्र रस का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है क्योंकि इनमें इतना आवेश नहीं है।

घ : शान्त रस :

'ढोला-मारू' काव्य में मारवणी की मृत्यु के पश्चात् ढोला के एकाध कथन में शांत रस की किंचित् झलक मात्र देखी जा सकती हैं—

नर नारीसूँ क्यूँ जलइ, नरसूँ नारी जलंत।
साल्ह कुंवर जोगी कहइ, अहलउ केम मरंत।। ६१८।।
जोगी सुणि, ढोलउ कहइ, तोनूँ केही तात।
थे पंथी, हुओ पंथ सिर, म करि पराई वात।। ६१९।।

यहाँ पर आलम्बन 'अनित्य जगत' है। मृतक-दर्शन उद्दीपन है। विषय में अरुचि ही अनुभाव है। मति, दैन्य, निर्वेद आदि संचारी भाव हैं।

ङ : हास्य :

प्रस्तुत काव्य में हास्य रस की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। पूगल जाने हेतु ढोला की बहानेवाजी हास्य को जन्म देती है।[2] ढोला और मारवणी के संयोग-समय पर हुए हास-परिहास में भी इसकी झलक मिलती है।[3] इसी तरह मालवणी एवं मारवणी द्वारा परस्पर प्रदेशों को लेकर की गयी छींटाकशी, निन्दा-स्तुति और नोंकझोंक में भी हास्य-व्यंग देखा जा सकता है।[4]

वत्सल, भक्ति आदि का पूर्ण परिपाक स्पष्टतः इस ग्रंथ में कहीं नहीं है। 'ढोला-मारू' में रसराज शृंगार ही समस्त अवयवों सहित उपस्थित हुआ है; अन्य रसों की तो झाँकी-मात्र ही हमें मिलती है।

च : रस संयोजना :

'ढोला मारू' में जो रस-संयोजना हमें मिलती है, उसमें शृंगार के सहायक रसों में हास्य और अद्भुत की पूर्णरूपेण अवस्थिति का न होना खटकता है। संयोग के 'ढोला-मारवणी हास्य-विनोद' और 'मालवणी-मारवणी परिहास-व्यंग'—इन दो प्रसंगों में हास्य के दर्शन मात्र होते हैं; परन्तु अद्भुत तो इतना भी नहीं है। यदि रचनाकार चाहता तो मारवणी की मृत्यु-घटना पर योगी-योगिनी के माध्यम से

१. नाट्य शास्त्र ; ६/७७-७८। २. दो. सं. २२१ से २३३ तक।
३. दो. सं. ६५६ ले ५८० तक। ४. दो. सं. ६५४ से ६६८ तक।

अद्भुत-चमत्कार वर्णित कर सकता था। परन्तु उसने तो मात्र अद्भुत कार्य का संकेत (मारवणी को पुनर्जीवन-प्राप्ति) देकर ही छोड़ दिया।

वीभत्स का न होना शृंगार रसानुकूल ही है। वीर और रौद्र भी यहाँ शृंगार के परिपोषक और अंगीभूत होकर ही आये हैं। इस प्रकार रस-संयोजन में कहीं भी विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता और वह सर्वथा शास्त्र-सम्मत है।

'ढोला मारू' के विरह की अनेक विशिष्टताएँ उभरती हैं। विप्रलंभ में कवि ने प्रवास विप्रलंभ का ही पर्याप्त चित्रण किया है क्योंकि विप्रलंभ के अन्य भेदों में प्रवास का क्षेत्र अपेक्षा कृत अधिक व्यापक और तीव्रता प्रदायक होता है। विरह में परम्परागत रूढ़ियों का आधार भी लिया गया है परन्तु ऐसा होकर भी वह परंपरा की संकुचित सीमाओं में आवद्ध नहीं। हृदय-स्पर्शी एवं मौलिक अनुभूतियों की नियोजना ने उसे अत्यन्त स्वभाविक और सहज बना दिया है। इस विरहाभिव्यक्ति में कवि ने दूरारूढ़ कल्पनाओं को प्रश्रय नहीं दिया। फलतः दोहों में सहृदयता, मौलिक प्रसंगोद्भावना और वियोग-मनोवृत्तियों का सूक्ष्म चित्रण द्रष्टव्य है। ऊहात्मक उद्गारों का प्राधान्य नहीं, पीड़ित मन का प्रलाप नहीं, प्रेम का गाम्भीर्य और तज्जन्य दुख अपनी मर्मस्पर्शिता के कारण पाठक को भावाभिभूत कर देता है। आँसुओं के पवित्र निष्यंद में भीगकर यह विरह शुचि और उज्ज्वल हो उठा है।

(इ) काम, सौन्दर्य और प्रेम :

शृंगार भावना का विश्लेषण करने पर हमें उसमें मुख्यतः तीन तत्त्व मिश्रित मिलते हैं—

१. काम, २. सौन्दर्य और ३. प्रेम।

क. काम-भावना :

हमारे यहाँ आहार, निद्रा और भय के साथ काम को भी जीवन की मूल प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृति मिली है और इसे धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ पुरुषार्थ-चतुष्टय में स्थान दिया गया है। हृदय की यह भी एक नैसर्गिक भावना है।

काम अथवा यौन-क्षेत्र में नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रभुत्व है। वर्तमान मनो विश्लेषकों की भी यही मान्यता है कि काम वृत्ति की प्रेरणा अत्यन्त स्वाभाविक है और अपने मौलिक रूप में उसे संयत भी नहीं किया जा सकता।[१] इस भौतिक युग में काम-भावना ही हर क्रिया की मूल-प्रेरणा मानी गई है। फ्रायड, एडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिक तो साहित्य-सृजन के मूल में भी इसी काम को प्रश्रय देते हैं। वस्तुतः काम-भावना जीवन की बलवती क्रिया-शक्ति है।

'ढोला मारू रा दूहा' मारवणी की अपने प्रियतम ढोला के विरह में कामेच्छा की स्पष्टोक्तियाँ हमें कहीं-कहीं मिलती हैं—

कंता, तूँ घर आव नवि, जोवन कीधउ जोर ॥ ३८ ॥
कद रे मिलउँली सज्जना, कस कंचूकी छोडि ॥ ४६ ॥

---

१. मानविकी पारिभाषिक कोष : साहित्य खण्ड : संपा डॉ० नगेन्द्र : पृ० २३४

जोवन हस्ती मद चढ्यउ, अंकुस लइ घरि आइ ।। ११५ ।।
जोवण आँबउ फलि रह्यउ, साख न खावउ आइ ।। ११७ ।।
जोवण छत्र उपाड़ियउ, राज न बइसउ काइ ।। ११८ ।।
जोवण कमल विकासियउ, भमर न बइसइ आइ ।। ११९ ।।
जोवन चाँपउ मउरियउ, कली न चुट्टइ आइ ।। १२० ।।
कण पाकउ, करसण हुअउ, भोग लियउ घरि आइ ।। १२१ ।।
जोवण फट्टि तलावड़ी, पालि न बँधउ काँइ ।। १२२ ।।
जोवन खीर समुंद्र हुई, रतन ज काढइ आइ ।। १३१ ।।
जंघा केलिनि फलि गई, स्वाति जु, बरसउ आइ ।। १३२ ।।
जोबन जायइ प्राहुणउ, वेगइरउ घर आय ।। १३४ ।।
दिन-दिन जोबण तन खिसइ, लाभ किसाकउ लेसि ।। १७७ ।।

इसी प्रकार मारवणी ने भी ढोला को रोकने में हर ऋतु के प्रसंगानुकूल यौवनोपभोग का निमन्त्रण दिया है—

महि मोराँ मंडव करइ, मनमथ अंगि न माइ ।
हूं एकलड़ी किम रहउँ, मेह पधारउ माइ ।। २६२ ।।
सावण आयउ साहिबा, पगइ विलंबी गार ।
व्रच्छ विलंबी बेलड़्याँ, नराँ विलंबी नार ।। २६९ ।।
जिणी दीहे पालउ पड़इ, टापर तुरी सहाइ ।
तिणि रिति बूढ़ी ही झुरइ, तरूणी केम रहाइ ।। २७९ ।।
उत्तर आज स उत्तरउ, पड़सी वाहलियाँह ।
उर ओले प्री राखियइ, मूँधा काहलियाँह ।। २८७ ।।
उत्तर आज स उत्तरउ, पालउ पड़इ रवंद ।
का वासंदर सेवियइ, कइ तरूणी, कइ मंद ।। २९४ ।।

ढोला ने भी एकाध स्थल पर इसी तरह की कामेच्छा प्रकट की है—

माह महारस समय सव, अति ऊलहइ अनंग ।
मो मन लागो मारवण, देखण पूगल द्रंग ।। ३०० ।।

संयोग-शृंगार में काम-क्रीड़ा का चित्रण भी स्वभाविकता का संचार करता है। 'ढोला मारू रा दूहा' में भी कवि ने ढोला और मारवणी की काम-केलि का संयत चित्रण किया है—

त्रीजै प्रहरै रैणकै, मिलिया तेहा-तेह ।
धन नहिँ धरती हुइ रही, कंत सुहावौ मेह ।। ५८४ ।।[१]

'ढोला मारू' के विभिन्न प्रसंगों में चित्रित इस तरह की कामेच्छा में हमें मात्र कामुकता की गन्ध ही नहीं माननी चाहिये। काम-भावना दाम्पत्य जीवन की एक नैसर्गिक वस्तु है और इसलिये उपर्युक्त कथनों में व्यक्त कामाकाँक्षा तो प्रणय-विभोर हृदय का अपने प्रेमास्पद को सर्वस्व-समर्पण ही है। यह तो नारी-जीवन की

१. इस संबंध में दो. सं. ५८२, ५८३, ५८५ भी उल्लेख्य हैं।

सर्वोच्च समर्पण-शक्ति ही यहाँ व्यक्त हुई है। इस दृष्टिकोण को समझने के लिये एक स्वस्थ दृष्टि हमें इस समाज-स्वीकृत भावना के केन्द्रीय विन्दु पर रखनी पड़ेगी। कवि की रुचि में यहाँ कामुकता एवं रसिकता का समावेश करना नहीं रहा है, वरन् दाम्पत्य-जीवन के शाश्वत सृजनात्मक काम-सत्य का उद्घाटन करना रहा है। परिणिता नायिकाओं ने ही परिणित पति को यह सब कहा है। यदि ये कथनादि परकीया नायिका के होते तो निश्चय ही उद्दाम कामुकता की व्यंजना कही जा सकती थी।

मुनि वात्स्यायन ने काम-समन्वित प्रेम के सात भेद स्थिर किये हैं—रागवद, आहार्य राग, कृत्रिम, व्यवहित, पोटारत, खलरत और अयन्त्रित।[1] इनमें से 'ढोला मारू' में प्रदर्शित काम समन्वित प्रेम में रागवद (प्रथम दृष्टि से उत्पन्न होते वाला प्रेम), आहार्य राग (शनैः शनैः विकसित प्रेम) तथा अयन्त्रित (पति-पत्नि के संवंध वाला प्रेम) भेद स्वीकार किये जा सकते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीवन में काम-वृत्ति की निम्नलिखित अवस्थाएँ स्वीकार की हैं—स्व-शरीर प्रेम की अवस्था, आत्मप्रेम की अवस्था, वाह्य प्रेम की अवस्था, सुत-प्रेम की अवस्था, मित्र-प्रेम की अवस्था, स्त्री-पुरुष प्रेम की अवस्था और जनन-साधक आसक्ति की अवस्था। 'ढोला मारू रा दूहा' में काम-भावना की उपर्युक्त समस्त अवस्थाएँ तो नहीं उभरीं क्योंकि ऐसे प्रसंग ही उपस्थित नहीं हुए; परन्तु मित्र-प्रेम की अवस्था (मारवणी और उसकी सखियों का प्रेम), स्त्रीपुरुष प्रेम की अवस्था तथा जनन-साधक आसक्ति की अवस्था (पिंगल राजा और उसकी रानी की मारू के प्रति चिन्ता, ढोला-मारवणी और मालवणी का परस्पर आकर्षण, ऊमर सूमरा का आकर्षण आदि) अवश्य इसमें हमें स्पष्ट मिलती है।

उद्देश्यानुसार काम के तीन विभेद किये जा सकते हैं—१. आध्यात्मिक काम, २. सृजनात्मक काम एवं ३. वासनात्मक काम।

'ढोला मारू रा दूहा' में गृहस्थ-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले काम का सृजनात्मक स्वरूप ही विद्यमान है। ढोला का ढाढियों और चारण से मारू का नख-शिख सुनकर रूपासक्त होना, ऊमर सूमरा के चारण और गड़रिये से मारू की वृद्धावस्था की भ्रामक सूचना सुनकर विचलित होना, मारवणी और मालवणी द्वारा अपने कथनों में यौवनोपभोग का संकेत आदि इसी श्रेणी में समन्वित होंगे क्योंकि ये तो स्वकीया की स्पष्टोक्तियाँ ही हैं। ऊमर सूमरा का मारू की ओर आकर्षण अवश्य वासनात्मक काम की श्रेणी में आयेगा। उसमें रूपासक्ति का तत्त्व ही प्रधान है और वासनात्मक दृष्टिकोण ही प्रबल है।

ख : सौन्दर्य

साहित्य के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूप में 'सुन्दरम्' का महत्व अतर्क्य है। 'सौन्दर्य' शब्द 'सुन्दर' विशेषण से भावार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय जुड़कर बना है जिसका

१. काम सूत्र : २-१०।

अर्थ प्रसन्न करना, सरस करना, चेतन करना, प्रिय करना आदि भावनाओं से सम्वद्ध है।

भारतीय आचार्यों के सौन्दर्य पर स्फुट विचार यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। महाकवि कालिदास ने सौन्दर्य में पवित्रता की प्रतिष्ठा मानते हुए लिखा है कि सौन्दर्य पाप-वृत्ति की ओर नहीं ले जाता।[१] उनका वस्तुवादी दृष्टिकोण शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन में प्रकट हुआ है जहाँ वे लिखते हैं कि मनोहर आकृतिवालों के लिये कौनसी वस्तु शोभा विधायक नहीं होती?[२] महाकवि माघ ने क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने वाले को सौन्दर्य कहा है।[३] वर्तमान युग में सौन्दर्य के कवि प्रसाद जी ने सौन्दर्य की इस तरह परिभाषा दी है—**उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं**।[४] इन सबके विपरीत बिहारी का उभयवादी दृष्टिकोण रहा है—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥ १४० ॥[५]

स्वामी रामतीर्थ के मत से सौन्दर्य आत्मदेव की भाषा है।[६] आचार्य शुक्ल ने अन्तः सत्ता की तदाकार-परिणति को सौन्दर्य की अनुभूति कहा है।[७] डॉ० गुलाबराय का कथन है कि सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामंजस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों वा रूपों के ऐसे सामंजस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय करले।[८]

पाश्चात्य जगत् में सौन्दर्य पर अत्यधिक विचार-विमर्श हुआ है जो पृथक् 'सौन्दर्य-शास्त्र' का रूप ही ले बैठा। सौन्दर्य के विषय में सुकरात का कथन है कि जो सर्वथा अनुरूप हो, अभीष्ट परिणाम का उत्तर दे सके तथा जो प्रिय लगे वही सुन्दर होता है।[९] प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य में सत्य, शिव तथा दैवीगुण विद्यमान रहते हैं।[१०] रूसी दार्शनिक कैनोविच का विचार है कि सौन्दर्य प्रकृति की व्यापक भावना है, जिसकी प्रेरणा से इसका उद्गम और विकास हुआ है।[११] शैलिंग सौन्दर्य को 'केवल और दैवी वास्तवता का मानवी माध्यम से किया हुआ अत्युच्च प्रगटन'

१. कुमार संभव : ५-३६।
२. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : १-२०।
३. शिशुपालवध : ४-१७।
४. कामायनी : लज्जा सर्ग : पृ० १२०।
५. बिहारी सतसई : संपा० देवेन्द्र शर्मा : पृ० ६६।
६. ज्ञान गंगा : प्रथम : भाग संपा० श्री नारायण प्रसाद जैन : पृ० ५०२।
७. चिन्तामणी : भाग १ : पृ० १६४-६५।
८. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० १०४।
९. थ्योरी ऑफ एसथेटिक, हिस्टोरिकल समरी : पृ० २५५।
१०. ,, ,, ,, हिस्टोरिकल समरी : पृ० २५५।
११. हिस्टरी ऑफ एसथेटिक : बोसांके : पृ० १७८।

मानते हैं।[1] लिवनिज का इस सम्बन्ध में मत है कि सामंजस्य या सुडौलपन की अभिव्यंजना को ही सौन्दर्य कहते हैं, यद्यपि उसमें प्रत्यक्ष रूप से कुछ विरोधी वातों के समावेश की योग्यता रहती है।[2] क्रोंचे 'सफल अभिव्यंजना' को ही सौन्दर्य कहते हैं।[3] केरिट के शब्दों में सौन्दर्य वह नमक है जिसका अभाव जीवन को निःस्वाद कर देता है।[4] कीट्स की दृष्टि में सौन्दर्ययुक्त वस्तु आनन्द का चिरन्तन स्रोत होती है।[5] सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य।[6] वेकन कहते हैं कि सौन्दर्य का सर्वोत्तम अंश वही है जो किसी कलाकृति के द्वारा व्यक्त न हो सके।[7] वोसाँके ने सौन्दर्य को अंगों की एक ऐसी क्रमिक रचना या गठन कहा है जो हमारे परम्परागत स्वभाव, रीतिरिवाज या मनोभाव के द्वारा हमारी आत्मा को आनंद एवं संतोप प्रदान करती है।[8]

सौन्दर्य में आकर्पण की प्रमुखता होती है और यही आकर्पण नर-नारी के वीच अनुराग का अंकुर प्रस्फुटित करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी ओर इंगित करते हुए लिखा है कि सौन्दर्य अपनी ओर हठात् आकर्षित करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस आकर्पण में द्रष्टा की ग्राहकता के अनुकूल मात्रा-भेद रहता है।............जिस प्रकार आकर्पण में मात्रा-भेद है। उसी प्रकार, सौन्दर्य की अनुभूति में भी मात्रा भेद रहता है।[9] यह मात्रा-भेद संस्कृति-प्रदत्त होता है। प्रसाद लिखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति में जो मात्रा-भेद पाया जाता है, उसका मूल कारण हमारी संस्कृति है क्योंकि संस्कृति ही हमारे सजातीय विचारों, रहन-सहन एवं मनोभावों को विकासोन्मुख वनाती है।[10]

सौन्दर्य वस्तुतः अन्तर्वाह्य विशिष्टताओं की प्रभावपूर्ण समन्विति है जिसका सम्वन्ध हमारी राग वृत्ति से है और जो हमारी विचार-धारा से भी प्रभावित होती है। इस सौन्दर्य का अवलोकन (चाक्षुप अथवा मानसिक) करने के पश्चात् रचनाकार के हृदय में उसके प्रति अनेकानेक भावनाओं का उदय होता है। कवि उस सौन्दर्यानुभूति को काव्य-उपकरणों के माध्यम से चित्रित कर देता है। यह चित्रण उदात्त और कुरूप दोनों ही रूपों में हो सकता है। इस प्रकार सौन्दर्य का विस्तार मुख्य रूप से चार रूपों में विभाजित किया जाता है—मानवीय सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य,

---

१. हिस्टरीऑफ एसथेटिक : वोसां के : पृ० ३१६ ।
२. ,, ,, ,, : ,, : पृ० १७७ ।
३. थ्योरी ऑफ एसथेटिक, हिस्टोरिकल समरी : पृ० ३०६ ।
४. दी थ्योरी ऑफ व्यूटी : पृ० १७ :
५. अमरवाणी : मानसहंस : पृ० १३० ।
६. ,, : ,, : पृ० १३० ।
७. ,, : ,, : पृ० १३० ।
८. हिस्ट्री ऑफ ऐस्थेटिक : पृ० १७८ ।
९. चिन्तामणी : भाग-१ : पृ० २२५ ।
१०. काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध : पृ० २७–८ ।

वस्तुगत सौन्दर्य और कलागत सौन्दर्य ।[1] वस्तुतः यह वर्गीकरण 'वाह्य आकार-प्रकार' और 'मानसिक जगत'—इन दो का ही विशदीकरण है ।

सौन्दर्य काव्य का अभिन्न अंग है । हमारे कवि की दृष्टि इस काव्य में मानवीय सौन्दर्य, प्रकृति सौन्दर्य, वस्तुगत सौन्दर्य एवं कलागत सौन्दर्य में खूब रमी है ।

१. मानवीय-सौन्दर्य :

मानवीय सौन्दर्य काव्य की अनुपम विभूति है । इस मानव-सौन्दर्य को शारीरिक-सौन्दर्य और अतः प्रकृति का सौन्दर्य—इन दो विभागों में वाँटा जा सकता है । 'ढोलामारू रा दूहा' के नारी-सौन्दर्य और पुरुष-सौन्दर्य के सम्वन्ध में कवि की दृष्टि निम्न रूप में अध्येतव्य है—

अ : नारी-सौन्दर्य :

नारी-सौन्दर्य का चित्रण इस काव्य-कृति में सर्वाधिक उत्साह एवं उमंग से किया गया है । नारी के रूप, सज्जा, चेष्टा आदि में अभिव्यक्त होने वाले सौन्दर्य को कवि ने वड़े ही मनोयोग से चित्रित किया है ।

रूप-सौन्दर्य :

नारी के रूप-सौन्दर्य का वड़ा ही रमणीय और हृदयाकर्षक चित्रण 'ढोला मारू रा दूहा' में हुआ है । शरीराकृति, गठन, रूपरंग, वय, कांति, सौकुमार्य इत्यादि में निहित रूप-सौन्दर्य के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

हँस चलण, कदलीह जँघ, कटि केहर जिम खीण ।
मुख सिसहर, खंजर नयण, कुच श्रीफल, कँठ वीण ।। १३ ।।
हीर डसण, विद्रम अधर, मारू-भृकुटि मयंक ।। ४५४ ।।
मारू-घूँघटि दिट्ठ मइँ, एता सहित पुरिंद ।
कीर, भमर, कोकिल, कमल, चँद, मयँद, गयँद ।। ४५५ ।।
डीभू लंक, मरालि गय, पिक-सर एही वाँणि ।
ढोला, एही मारूई, जेहा हंझ निवाँणि ।। ४६० ।।
मारू-लंक दुइ अँगुलाँ, वर नितंव उर मंस ।
मल्हपइ माँझ सहेलियाँ, मानसरोवर हँस ।। ४६१ ।।
चंपावरनी, नाक सल, उर सुचंग, विचि हीण ।
मंदिर बोली मारूवी, जाँणि भणक्की वीण ।। ४६२ ।।
अहर, पयोहर, दुइ नयण, मीठा जेहा मख्ख ।
ढोला, एही मारूई, जाणे मीठी दख्ख ।। ४७० ।।
उरि गयवर, नइ पग भमर, हालंती गय हंझ ।
मारू पारेवाह ज्यू, अंखी रत्ता मंझ ।। ४७४ ।।

१. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य : डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल : पृ० १७४ ।

कवि की दृष्टि शरीर के अवयवों तक ही उलझ कर नहीं रह गई, उसने रूप-सौन्दर्य का सूक्ष्म चित्रण भी अनेक स्थलों पर किया है, यथा—

वर्ण :

सुंदरि, सोवन वर्ण तसु, अहर अलत्ता रंगि ।। ८७ ।।
कूझ-वचाँ गोरंगियाँ; खंजर जेहा नेत ।। ४५७ ।।
काया कूँकूँ जेहवी, कटि केहरि सै घाट ।। ४६९ ।।

वय :

जोवण कमल विकासियउ, भमर न बइसइ आइ ।। ११९ ।।

कांति :

मारू दीठी अउझकइ, जाँणि खिवी घण संझ ।। ८६ ।।
आदीता हूँ ऊजलो, मारवणी-मुख-ब्रन्न ।
झीणा कप्पण पहिरणइ, जाँणि झंखइ सोव्रन्न ।। ४६३ ।।
मारू सी देखी नहीं, अण मुख दोय नयणाँह ।
थोड़ो सो भोले पड़इ, दणयर उगहंताँह ।। ४७८ ।।

नवोन्मेष :

ढोला एही मारूवी, नव नेही नव रंग ।। ४६५ ।।
कसतूरी कड़ि केवड़ो, मसकत जाय महक्क ।
मारू दाड़म-फूल जिम, दिन-दिन नवी डहक्क ।। ४७६ ।।

गंध :

मारवणी मुखससि-तणइ, कसतूरी महकाइ ।। ६०० ।।

गति :

जाँणे गयंद उलट्टियउ, कज्जल-वन मँह जाहि ।। ५३८ ।।
डीभू लंक, मरालि गय, पिक-सर एही वाँणी ।। ४६० ।।

कोमलता :

मारू अम्बा-मउर जिम, कर लग्गइ कुँमलाइ ।। ४७१ ।।

माधुर्य :

ढोला एही मारवी, जाणे मीठी दख्ख ।। ४७० ।।

परिपक्वता :

मारू पक्का अंब ज्यूँ, झरइ ज लग्गे वाय ।। ४७२ ।।

प्रस्तुत रचना में अवयव सौन्दर्य का चित्रण केवल परम्पराभुक्त उपमानों द्वारा ही चित्रित नहीं हुआ है; अपितु कवि की मौलिक उद्भावना भी अनेक स्थलों पर अत्यन्त अनूठी बन पड़ी है, यथा—डीभू लंक (दो. सं. ४६०), उर रत्तड़ा विवोह (दो. स. ४५९), अंखी रत्ता मंझ (दो. सं. ४७४), थोड़ो सो भोलो पड़इ, दिणयर उगहताँह (दो. सं. ४७८), नासिका दीप सिखा जिसी (दो. सं. ४७९) आदि । इनमें बाह्य-साम्य के साथ-साथ आंतरिक सौन्दर्य-सुषामा भी व्यंजित हुई है । मारू का अनंत सौन्दर्य एक जिह्वा से कहा भी नहीं जा सकता—

एकरिण जीभ किसा कहूँ, मारू रूप अपार ।
जे हरि दियइ त पाँमियइ, उदियइ इण संसार ।। ४८८ ।।

नारी का यह व्यष्टिगत अवयवात्मक सौन्दर्य समष्टिगत नारी-सौन्दर्य का प्रतीक वन गया है । इसकी अगाधता और अनन्तता हमारी दृष्टि को वाँध लेती है और चेतना को मग्न कर देती है ।

२. सज्जा-सौन्दर्य :

इस काव्य में नारी की सज्जा में युगानुरूप अभिरूचि के दर्शन होते हैं । वस्त्र, आभूषण, अनुलेपनादि का अनेक-विध चित्रण इस काव्य में प्राप्त है । इनके कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

वस्त्र :

घाघरइ : (दो. सं. ५३७), कंचूवा : (दो. सं. ५५१) ।

आभूषण :

मोतीहरि : (दो. सं. २३०), सोहलो : (दो. सं. ४६५), चूड़इ : (दो. सं. ४७५), ओतियाँ : (दो. सं. ४७५), कुंडल : (दो. सं. ४८०) टँकावल हार : (दो. सं. ४८०), बहरखा : (दो. सं. ४८१), चूड़ : (दो. सं. ४८१), मेखला : (दो. सं.४८१), झांझर : (दो. सं. ४८१) ।

अनुलेपनादि :

काजल : (दो. सं. ४४), तिलक : (दो. सं. ३५३), तँबोल : (दो. सं. ३५३), ऊगट : (दो. सं. ५३५) ।

३. चेष्टा-सौन्दर्य :

नारी के कायिक अनुभाव भी सौन्दर्य के उपकरण हैं । इसी परिच्छेद में 'रस' उपशीर्षक के अन्तर्गत 'अनुभाव' विभाग में अनेकानेक अनुभावों का संकेत किया जा चुका है । यहाँ पर उदाहरण-स्वरूप कतिपय अनुभाव पर्याप्त होंगे यथा—

उवकंवी सिर हथ्थड़ा, चाहंती रसलुब्ध ।
ऊँची चढि चातृंगि जिउं, मागि निहाल इ मुध्ध ।। १६ ।।
सउदागर नेड़ी वहइ, सुणिवा प्रीतम वत्त ।। ९८ ।।
मुख नीसाँसा मूंकती, नयणे नीर प्रवाह ।। १६६ ।।
अहर फुरक्कइ, तन फुरइ, तन फुर नयँण फुरंत ।। ५१७ ।।

इनके अतिरिक्त अवधि गिनना,[1] छटपटाना,[2] नख से भूमि खरोंचना,[3] हाथ मलना[4] आदि सूक्ष्म चेष्टाएँ भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं रह सकीं हैं । एक स्थल पर रात्रि-संभोग के पश्चात् की यह चेष्टा चित्रित है—

धण सँभाले कंचुवौ, प्री मुंछां रा वालि ।। ५८५ ।।
पंचमै प्रहरै दीहरै, सायधण दियै वुहारि ।
रिमझिम रिमझिम हुइ रही, हुइ धण-त्री जौहारि ।। ५८६ ।।

---

१. दो. सं. १७ ।
२. दो. सं. १८० ।
३. दो. सं. २३९ ।
४. दो. सं. ३७९ ।

तो अन्य स्थल पर दम्पत्ति की ये चेष्टाएँ हृदय की कोमल भावनाओं को साकार कर रही हैं—

म्हें ने ढोलो भूँविया, लूंगे लटकड़ियेह ।
म्हांने प्रिउजी मारिया, चंपारै कलियेह ।। ५६१ ।।
म्हेंने ढोलो भूँविया, म्हांनूं आवी रीस ।
चोवा केरै कूंपलां, ढोली साहिव सीस ।। ५६२ ।।

४. शील अथवा अन्तः सौन्दर्य :

नारी के शील अथवा अन्तः सौन्दर्य का परिचय देने वाली पंक्तियाँ भी इस काव्य में वहुतायत से उपलब्ध हैं—

मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार ।। ३७ ।।
गति गंगा, मति सरसती, सीता सील सुभाइ ।
महिलां सरहर-मारूई, अवर न दूजी काइ ।। ४५१ ।।
नमणी, खमणी, वहुगुणी, सुकोमल्ली जु सुकच्छ ।
गोरी गंगा नीर ज्यूं, मन गरवी, तन अच्छ ।। ४५२ ।।
जण-जण साथ म बोलही, मारू वहुत गुणेह ।। ४८२ ।।
कड़ुआ बोल न जाणही, मीठा बोलणियाँह ।। ४८४ ।।

अपने इस शील के कारण ऐसी नारी-रत्न इस तरह के आदरणीय स्थान की अधिकारिणी है—

सा धण इण परि राखिजइ, जिम सिव-मसतक गंग ।। ४५३ ।।

मारवणी बत्तीसों सुलक्षणों की खानि है ।[1] यद्यपि मरूभूमि बालू से भूरी है, वन भँखाड़ हैं, वहाँ चम्पा उत्पन्न नहीं होता; परन्तु मारवणी के गुणों की सुगंधि से ही सारा वनखंड महक उठा है ।[2] ऐसी गुणवती एवं अंतः-सौन्दर्य से सुशोभित मारू के लिये वीसू यह कहे तो आश्चर्य ही क्या—

तेता मारू माँहि गुण, जेता तारा अभ्भ ।
उचलुचित्ता साजणां, कहि क्यउँ दाखउँ सम्भ ।। ४८७ ।।

कर्म-सौन्दर्य के अनुसार मारवणी और मावलणी पतिव्रतानारी के रूप में चित्रित हैं ।[3]

आ. पुरुष-सौन्दर्य :

नायिका-प्रधान काव्य होने के कारण 'ढोला मारू' में नारी-सौन्दर्य चित्रण पर कवि की जितनी दृष्टि रमी है, उतनी पुरुष-सौन्दर्य पर नहीं । इससे यह तात्पर्य नहीं निकाल लिया जाना चाहिये कि प्रस्तुत रचना में पुरुष-सौन्दर्य का नितान्त अभाव है ।

ढोला के अनुपम रूप[4] और सुडौल एवं सुगठित शरीर की कल्पना, उज्ज्वल

---

१. दो. सं. ४६६ । २. दो. सं. ४६८ ।
३. द्वितीय परिच्छेद में पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय विस्तार से इस पर लिखा गया है । ४. दो. सं. ४ ।

क्षांत और ओज-तेज मय यौवन-दीप्ति, शूरवीरता आदि की शारीरिक सौन्दर्यानुभूति कवि ने निम्नांकित पंक्तियों में प्रकट की है—

साल्ह कुवर सुरपति जिसउ, रूपे अधिक अनूप।
लाखाँ बगसइ माँगरा, लाख भड़ाँ सिर भूप।। ९३।।
मालवगढ़ राजा सुधू, कुँवरी मालवणीह।
ढोलइ तिण वहु प्रीति छइ, अति रंग नेह घणीह।। ९४।।
उज्जल-दंता घोटड़ा, करहइ चढ़ियउ जाहि।। ४३६।।

इसी प्रकार पुरुष के सज्जा-सौन्दर्य के अन्तर्गत पगड़ी[1] आदि को ग्रहण कर सकते हैं। पुरुष के चेष्टा-सौन्दर्य के अन्तर्गत आलिंगन[2], अवलोकन[3], मन-चांचल्य[4] आदि को लिया जा सकता है। ढोला का कर्त्तव्यशील नर-रूप उसके कर्म-सौन्दर्य की साक्षी देता है।

ढाढियों के प्रति ढोला के मधुर एवं साभिप्राय वचन उसके शील का उद्‌घाटन करते हैं।[5] मालवणी के कथनानुसार उसके पास दो वर्ष पर्यन्त रुक जाना,[6] मारवणी के पीणे सर्प से ग्रसित हो जाने पर उसके साथ प्राणोत्सर्ग को उद्यत हो जाना[7] आदि उसकी प्रेम में एकनिष्ठता, गहराई और उत्सर्ग व कर्त्तव्य-भावना को प्रकट करने वाली अन्तःकरण की भावना और कर्ममयी शोभा ही है। गडरिये के वचन सुनकर खिन्न-मना हो जाना,[8] वीसू से मारू का नखशिख सुनकर रूपासक्त हो जाने[9] आदि में भी कवि ने उसकी अंतःप्रकृति ही चित्रित की है।

प्रारम्भ में ही ढोला और मारू का संबंध स्थापित करते समय पिंगल राजा का अपनी रानी को कहा गया यह कथन कि 'विपत्ति के समय कन्या को देंगे तो लोग हँसी उड़ायेंगे'[10] उनके लोक-व्यवहारी कर्म का चित्रण ही है। वीसू का 'शुभराज' करना[11] और ढोला का ढाढियों को[12] तथा वीसू को[13] पुरस्कृत करना सत्कारिक शील कहा जा सकता है। पिंगल राजा का ढोला को लिवा लाने के लिये किया गया प्रयास[14] और ढोला का मारू को लिवा लाने का समस्त प्रयास कर्म-सौन्दर्य का उज्ज्वल दृष्टान्त ही है।

---

१. दो. सं. ५००।
२. दो. सं. ५४४। ३. दो. सं. ५४५।
४. दो. सं. ४४७। ५. दो. सं. १९५।
६. वयणे मालवणी-तणइ, रहियउ साल्हकुमार।
प्रेमइ बंध्यउ प्री रहइ, जउ प्री चालणहार।। २७५।।
७. दो. सं. ६१८। ८. दो. सं. ४३९।
९. दो. सं. ४५१ से ४६० तक।
१०. आज विखइ द्याँ दीकरी, हाँसउ हसिसी लोइ।। ७।।
११. दो. सं. ४४७। १२. दो. सं. २०९। १३. दो. सं. ४८९।
१४. नितु-नितु नवला साँढ़िया, नितु-नितु नवला साजि।
पिंगल राजा पाठवइ, ढोला तेड़न काजि।। ८१।।

२. प्रकृति-सौन्दर्य :

कवि तो प्रारंभ से ही प्रकृति-सौन्दर्य के प्रेमोपासक रहे हैं। अतः काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य का अनेकविध चित्रण हमें मिलता है। 'ढोला मारू' के कवि ने भी मरुभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य का बड़ा ही हृदय ग्राही चित्रण प्रस्तुत किया है।

प्रायः कवियों की दृष्टि बाग-बगीचे, पर्वत, मैदान, वन, नदियाँ, निर्झर आदि सुरम्य-स्थलों की ओर रही है किन्तु इस रचना के रचनाकार ने अपने काव्य को इन प्राकृतिक उपकरणों से नहीं सजाया। उसके प्रकृति-सौन्दर्य चित्रण की अनन्य विशिष्टता है—स्थानीय-रंगत की। चाहे राजस्थान हो और चाहे मालवा; कवि स्थानीय प्रकृतिगतसुषमा का साक्षात्कार कराता हुआ सहृदय पाठक को आत्म-विभोर कर देता है—

मरु-देश :

बाजरियाँ हरियालियाँ विचि-विचि वेलाँ फूल।
जउ भरि वूठउ भाद्रवउ, मारू देश अमूल ॥ २५० ॥
धर नीली, धण पुंडरी, धरि गहगहइ गमार।
मारू देस सुहामणउ, साँवणी साँझी वार ॥ २५१ ॥
जिण भुइ पन्नग पीयणा, कयर-कँटाला रूँख।
आके फोगे छाँहड़ी, हूँछाँ भाँजइ भूख ॥ ६६१ ॥
देस निवाणूँ, सजल जल, मीठा बोला लोइ ॥ ६६८ ॥

मालव-देश :

वालूँ बाबा, देसड़उ, जहाँ पाणी सेवार।
ना पणिहारी झूलरउ, ना कूवइ लैकार ॥ ६६४ ॥

श्री घनश्याम दास बिड़ला इससे अत्यन्त प्रभावित होकर लिखते हैं कि इसका (ढोला मारू रा दूहा) जो प्रसंग मुझे सबसे अधिक पसंद आया और जिसकी ओर मैं पाठकों का ध्यान आकर्षित करूँगा, वह है इसमें किया हुआ मरु भूमि का वर्णन। वह कितना स्वाभाविक एवं कितना सच्चा है। पाँच सौ साल पहले का किया हुआ वर्णन ऐसा मालूम होता है मानो आज का ही हो।[1]

कवि द्वारा काव्य में प्रकृति का सौम्य स्वरूप ही नहीं उभारा गया है; प्रकृति की भयानकता के चित्र भी यथा-प्रसंग आये हैं। राजस्थान की भयंकर लू और दुर्दान्त निदाघ तथा असह्य शीत ऋतु इन शब्द-चित्रों में साकार हो उठी है—

ग्रीष्म :

थल तत्ता लू सांमुही, दाझोला पहियाह ॥ २४१ ॥

शीत :

उत्तर आज स उत्तरउ, पालउ पड़इ असेस ॥ २६२ ॥

कवि द्वारा वर्णित इस प्रकृति-पर्यावरण में हमें करील, मूंग, बबूल, आक, जाल, फोग, बड़, बाजरी आदि वनस्पतियाँ और फसलें तथा ऊँट, मोर, कबूतर,

१. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : प्रवचन : पृ० ६।

कमेड़ी, चातक, कुंभे आदि प्राणियों का भी अत्यन्त स्वाभाविक समावेश हुआ है। कवि द्वारा प्रस्तुत यह चित्रण उसके स्थानीय वातावरण से अन्तरंग परिचय की साक्षी देता है।

प्रकृति-सौन्दर्य की सूक्ष्म पकड़ के लिये कवि की दृष्टि अत्यन्त सक्षम है। इसके लिये नाद, गंध, स्पर्श आदि की सूक्ष्मता के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

नाद-व्यंजना :

ऊनमियऊ उत्तर दिसइँ, गाज्यउ गुहिर गँभीर ।। १८ ।।
बाबहिया रतपंखिया, बोलइ मधुरी वाँणि ।। ३४ ।।
कुंझड़ियाँ कुरलाइयाँ, ओलइ बइसि करीर ।। ५६ ।।

गंध-संवेदना :

सुरहउ लोद्र महक्कियाँ, भीनी ठोवड़ियाँह ।। १६० ।।
गुणे सुगंधी मारवी, महकी सहु वणराइ ।। ४६८ ।।
कसतूरी कड़ि केवड़ो, मसकत जाय महक्क ।। ४७६ ।।

स्पर्श :

चंदण-देह कपूर-रस, सीतल गंग-प्रवाह ।। १६१ ।।
थल तत्ता, लू साँमुही, दाझोला पहियाह ।। २४१ ।।

गति-विधि :

नदियाँ, नाला, नीझरण, पावस चढ़िया पूर।
करहउ कादिम तिलकस्यइ, पंथी पूगल दूर ।। २५६ ।।
जिणि दीहे तिल्ली त्रिड़इ, हिरणी झालइ गाभ ।। २८२ ।।
जिणि रित नाग न नीसरइ, दाझइ बनखँड दाह ।। २८४ ।।

वर्ण-भावना :

बाबहिया निल-पंखिया, मगरी ज काली रेह ।। ३१ ।।
धर नीली, धण पुंडरी, धरि गहगइ गमार ।। २५१ ।।
थल भूरा, वन झँखरा, नहीं सु चंपउ जाइ ।। ४६८ ।।

विस्तार :

जल थल, थल जल, हुइ रह्यउ बोलइ, मोर किंगार ।। ४६ ।।
च्यार पहर झड़ मंडियउ, घण गुहिरइ सुरगाज ।। १८८ ।।
सिंधु परइ सउ जोयणाँ, खिवियाँ बीजुलियांह ।। १८६ ।।

इस प्रकार प्रकृति-परिवेशगत सौन्दर्य ने 'ढोलामारू' की सौन्दर्यशीलता द्विगुणित करदी है। कवि का झुकाव प्रकृति के सौम्य और भयानक-दोनों रूपों में प्रसंगानुसार मिलता है। कवि की सूक्ष्म पकड़, स्थानीयता की रंगत आदि से प्राकृतिक रूप सौन्दर्य का ऐसा सुव्यवस्थित, पूर्ण और संक्षिप्त तथा साकार चित्रण है कि पाठक के मानस पटल पर प्रभावशाली चित्र अंकित हुए विना नहीं रहता। यही इस जातीय काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य की अनूठी विशिष्टता है।

३. वस्तुगत सौन्दर्य :

मानव निर्मित वस्तुओं का भी अपना सौन्दर्य होता है। 'ढोला मारू' में भौतिक पदार्थों का सौन्दर्य नगण्य है। प्रेम और शृंगार-रस प्रधान रचना होने के कारण इसमें भावनाओं के धरातल पर ही सौन्दर्याभिव्यक्ति हुई है। प्रसंगानुसार कवि द्वारा वस्तुगत संकेत तो दिया गया है पर उनके चित्रण में उसकी वृत्ति रमी नहीं। उदाहरणार्थ एकाध स्थल अपवाद स्वरूप मिल जाता है--'दिवला अम्बर झूल'[1] द्वारा अम्बर में झूल रहे दीपकों का सौन्दर्य वर्णित हुआ है। अन्यथा वस्तुगत सौन्दर्य का रूप इस काव्य में कुछ भी नहीं उपलब्ध होता।

४. कलागत सौन्दर्य :

कला शब्द की परिधि अत्यन्त व्यापक है जिसके अन्तर्गत स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि सभी कलाएँ गृहीत हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' में स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि कलाओं का जो भी अल्पांश उपलब्ध है; उस पर इस प्रबन्ध में अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।[2] इस उपशीर्षक में यहाँ पर विशेष रूप से उस पद्धति-विशेष को कलागत सौन्दर्य के अन्तर्गत लिया गया है जिसके कारण समस्त कृति ही सुन्दर और रमणीय रूप बन गयी है। इसमें हम भाषा, शैली, छन्द, अलंकार, संवाद आदि अभिव्यक्ति के उपकरणों को ले सकते हैं। 'ढोला मारू' में अभिव्यक्ति-पक्ष का भी अनूठा सौन्दर्य हमें मिलेगा। इन अभिव्यक्ति के उपकरणों पर इस प्रबन्ध में सविस्तर लिखा गया है; यहाँ उसका पिष्टपेषण समीचीन नहीं।[3] जर्मन महाकवि गेटे की उक्ति है कि कलाकार की विशिष्टता ही सौन्दर्य की जननी है। अतः वैशिष्ट्य ही सौन्दर्य-विधान का प्रमुख तत्व है।[4] यह उक्ति 'ढोला मारू' की काव्य-कला के सौन्दर्य पर पूरी उतरती है।

ग : प्रेम- निरूपण :

प्रेम के ढाई अक्षरों की महिमा अवर्णनीय है। नारद ने इसका स्वरूप अनिर्वचनीय माना है, गूँगे के स्वाद की भाँति।[5] राजशेखर ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस भाव के उत्पन्न होने पर दो व्यक्तियों का मन विचार, संशय आदि भावों से शून्य हो जाता है, जिससे आनन्द का स्रोत सा बहने लगता है, वह भाव प्रेम कहलाता है।[6] चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढ़े हो जाने को ही प्रेम कहा है।[7] दण्डी प्रेम को मन का एक विकल्प मात्र मानते हैं।[8]

---

१. दो. सं. ५८२।

२. इस प्रबन्ध का 'सांस्कृतिक-निरूपण' से सम्बद्ध परिच्छेद इस हेतु द्रष्टव्य है।

३. अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य के लिये इस शोध प्रबन्ध का 'पंचम परिच्छेद' देखिये।

४. थ्योरी ऑफ एस्थेटिक हिस्टोरिकल समरी : पृ० २६१।

५. भक्ति-सूत्र : ५१-५२।

६. कर्पूर मंजरी : ३-१०।

७. कल्याण : भक्ति अंक : वर्ष ३२, अंक १ : पृ० ३३३।

८. दशकुमार चरित : पृ० २६२।

सुकरात दैवी सौन्दर्य के लिये आदमी की भूख को प्रेम कहते है।[1] विक्टर ह्यूगो ने जीवन को एक पुष्प माना है और प्रेम को उसकी सौरभ।[2] टॉलस्टाय ने प्रेम को स्वर्ग का रास्ता कहा है।[3] सूफियों ने तो समस्त सृष्टि में उस अनन्त सत्ता के प्रेम का प्रसार ही देखा है—

प्रथमहिं आपि पेम प्रतिस्टि, अरू पाछे जो सकल सिरिस्टि ।।
उतपति सिष्टि पेम ते आई, सिष्टि रूप यह पेम संवाई ।।
जगत जन्मि जीवनफल ताही, पेम पीर जिम उपजा जाही ।।[4]

वस्तुतः प्रेम के इस अथाह समुद्र की थाह पाने का प्रयास अनेकों ने किया है, पर इसकी अगाधता का अन्त नहीं मिला है। प्रेम परिभाषा के शब्दों में बंध ही नहीं सका है और हमें विवश होकर कविरत्न श्री सत्यनारायण के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ता है—

उलटी-पलटी करहु निखिल, जग की सब भाषा ।
मिलहि न पै कहुँ एक, प्रेम पूरी परिभाषा ।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दाम्पत्य प्रेम-विकास के चार विभेद माने हैं—

१. विवाह-सम्बन्ध से उद्भूत प्रेम,
२. दर्शनानुराग से उद्भूत प्रेम,
३. कामुकता से उद्भूत प्रेम और
४. स्वच्छन्द नायक-नायिका का प्रेम।[5]

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने भारतीय शृंगार के मुख्यतः आठ भेद किये हैं— स्वतन्त्र शृंगार, मर्यादा प्रधान, शौर्य्य प्रधान, रसिकता प्रधान, परकीयोन्मुख शृंगार, धार्मिकता समन्वित शृंगार, संघर्षपूर्ण शृंगार और रूढ़िवद्ध मिश्रित शृंगार।[6] वस्तुतः ये भेद विश्लेषणात्मक होकर भी आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत चार विभेदों में समाहित हो जाते हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' में विवाह-सम्बन्ध से उद्भूत प्रेम का दाम्पत्य-रूप ही स्वीकृत हुआ है। इसमें अलौकिक और ईश्वरोन्मुख दिव्य प्रेम को स्थान नहीं दिया गया है। दाम्पत्य में प्रेमास्पद के लिये जो अविराम लालसा, आसक्ति और अनन्यता आदि नितान्त आवश्यक उपकरण हैं; वे मारवणी, ढोला और मालवणी के कथनों में हमें प्राप्य हैं।

मारवणी के प्राण प्रियतम प्रतीक्षा में रत हैं जिस तरह दीपक की लौ—

पंजर नहि छइ प्राणियउ, थाँ दिस झल् रहियाह ।। ११३ ।।

---

१. ज्ञान-गंगा : भाग २ : श्री नारायण प्रसाद जैन : पृ० २१४।
२. अमर वाणी : मानसहंस : पृ० ७१।
३. ज्ञान-गंगा : भाग २ : श्री नारायण प्रसाद जैन : पृ० २२०।
४. मधुमालती : मंझन : पृ० २।
५. जायसी ग्रंथावली : भूमिका : पृ० ३०-१-२।
६. हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी : पृ० ६२-३।

आतम तुझ पासइ अछइ, ओलग रूड़ा रख्ख ।। ११४ ।।

उसे मिलनोत्कंठा है जैसे स्वाति की बूँद के लिये सीपी की—

आंख्यां सीप विकासियां, स्वाति ज बरसउ आइ ।। ११६ ।।

वह अनुरक्ता कृशकाय हो गई है—

धरा कणयर री कंब ज्यंउ, सूकी तोइ सुरत्त ।।१३५ ।।

यदि प्रियतम का संदेश न मिला तो उसकी प्राण-रक्षा असंभव है—

सँदेसउ जिन पाठवइ, मरिस्यउँ हीया फूटि ।
पारेवा का झूल जिउँ, पड़िनइँ आँगणि त्रूटि ।। १४३ ।।

यद्यपि प्रियतम हृदयस्थ है पर नित्य का विरह उसे असह्य है—

हियड़इ भीतर पइसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख ।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख ।। १५८ ।।

प्रियतम का सानिध्य ही उसे परम शान्ति प्रदान कर सकता है—

चँदणदेह, कपूर रस, सीतल गंग प्रवाह ।
मनरंजण, तन उल्हवण, कदे मिलेसी नाह ।। १६१ ।।

प्रियतम के विदेश में होने पर भी उसके नेह में कमी नहीं है—

मत जाणे प्रिउ, नेह गयउ, दूर विदेस गयाँह ।
विवणउ वाधइ सज्जणाँ, ओछउ ओहि खलाँह ।। १६२ ।।

क्योंकि वह प्रेम के वशीकरण के वशीभूत है—

वालम गरथ वसीकरण, बीजा सहु अकथ्थ ।
जिए चड्या दल उत्तरइ, तरुणि पसारइ हथ्थ ।। १६६ ।।

उसका तो सर्वस्व ही प्रियतम है भले ही प्रियतम को उसकी सुध नहीं—

तुँही ज सज्जण, मित्त तूँ, प्रीतम तूँ परिवाँण ।
हियड़इ भीतरि तूँ वसइ, भावइँ जाण म जाँण ।। १७५ ।।

अतः मारवणी जैसी आत्म-उत्सर्गता कहाँ मिलेगी—

हूँ बलिहारी सज्जणाँ, सज्जण मो बलिहार ।
हूँ सज्जण पग पानही, सज्जण मो गलहार ।। १७६ ।।

ढोला की प्रेमाभिव्यक्ति भी न्यून नहीं है । यद्यपि उसके प्रेम-प्रदर्शन के प्रसंग प्रस्तुत काव्य में कम हैं, परन्तु जहाँ अवसर उपस्थित हुआ है वहाँ उसकी प्रेमोत्कटता द्रष्टव्य है । मारू के मरण-प्रसंग में उसकी प्रेमाभिव्यक्ति मार्मिक बन पड़ी है ।

मालवणी के कथनों में भी हमें गार्हस्थ्य-परिपुष्ट प्रेम की गम्भीरता के दर्शन होते हैं । उसका हृदय तो ढोला के साथ ही पूगल चला गया और नेत्रों को वह बड़ी कठिनता से लौटा पाई—

साल्ह चलंतउ हे सखी, गउखे चढि मइँ दीठ ।
हियड़उ ज्याँही सूँ गयउ, नयण वहोड़्या नीठ ।। ३६२ ।।

ढोला ने तो प्रेम की वेगवती पाँखें धारण कर ली, पर उसके नैत्रों को चैन कहाँ—

सज्जणाँ, पांखाँ प्रेम की, तइँ अब पहिरी तात ।

नयण कुरंगउ ज्यूँ वहइ, लगइ दीह नइँ रात ।। ३६४ ।।

मालवणी जैसी अनन्यता कहाँ मिलेगी—

साल्ह चलंतइ परठिया, आँगण वीखड़ियाँह ।
सो मइँ हियइ लगाड़ियाँ, भरि भरि मूठड़ियाँह ।। ३६६ ।।
कूवा केरी कुहड़ि ज्यूँ, हियड़इ हुइ रहियाँह ।। ३६७ ।।

वह विना प्रियतम अपना जीवन ही सार्थक नहीं समझती—

प्रीतमहूती बाहिरी, कवड़ी ही न लहाँइ ।
जब देखूँ घर आँगणइ, लाखे मोल लहाँइ ।। ३७० ।।

उसके निर्लज्ज और पामर प्राण निकले भी तो नहीं—

हइ रे जीव निलज्ज तूँ, निकस्यू जात न तोहि ।
प्रिय विछुड़त निकस्यउ नहीं, रह्याउ लजावण मोहि ।। ३७३ ।।

सामाजिक मर्यादा उसे जोर से रोने भी तो नहीं देती—

छोटी वीख न आपड़ाँ, लाँबी लाज मरेहि ।
सयण वटाउ वालरे, लंबउ साद करेहि ।। ३८४ ।।

आखिर यह प्रियतम-वियोग ही क्यों होता है—

सारसड़ी मोती चुणइ, कुणइ त कुरलइ काँइ ।
सगुण पियारा जउ मिलइ, मिलइ त विछुड़इ काँइ ।। ३८६ ।।

इस तरह इन पंक्तियों में सघन एवं गम्भीर प्रेम की अभिव्यक्ति सर्वत्र परिलक्षित हुई है ।

प्रेम और रूप-सौन्दर्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । अल गज़ाली तो उसे ही सौन्दर्य मानता है जो वास्तव में प्रेम को जन्म देता है ।[1] उसमान ने रूप और प्रेम का आकर्षण व्यक्त करते हुए लिखा है कि रूप ने जहाँ वाणिज्य पसारा, प्रेम ने वहीं आकर व्यवहार किया । जिस विधाता ने रूप को उत्पन्न किया, उसी ने प्रेम का चकोर भी गढ़ दिया ।[2] प्रस्तुत काव्य में रूपासक्ति नायक ढोला में पाई जाती है । ढाढियों द्वारा वर्णित मारू के रूप-सौन्दर्य पर ही ढोला की यह दशा हुई—

ढोलइ मनि आरति हुई, सांभलि ए विरतंत ।
जे दिन मारू विण गया, दई न ग्याँन गिणंत ।। २०८ ।।

और वह मारू की ओर उन्मुख हुआ । पूगल के मार्ग में गडरिया और ऊमर सूमरा के चारण द्वारा मारवणी से सम्बद्ध होने की भ्रामक सूचना पर भी ढोला का अनमना होना रूपासक्ति प्रदर्शित करता है । मालवणी का यह मनोवैज्ञानिक कथन भी इसकी साक्षी देता है—

का थाँ काँमिण मन वसी, का म्हाँ दूहवियाह ।। २३५ ।।

भारतीय नायिका नायक के रूप से आकर्षित हुई कम दृष्टिगोचर होती है ।

---

१. अल गजाली दी मिस्टिक : मार्गरेट स्मिथ : पृ० १०६ ।
२. चित्रावली : संपा० श्री जगमोहन वर्मा : पृ० १३ ।

मारवणी और मालवणी का ढोला के प्रति आकर्षण रूप-सौन्दर्याश्रित नहीं है; वह दाम्पत्य-प्रेम-भावनाश्रित है।

प्रेम गुणाश्रित भी रहता है। शूद्रक का कथन है कि प्रेम बलात् उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह गुणों से स्वयं उत्पन्न होता है।[1] भवभूति भी कहते हैं कि यह तो कोई अज्ञात ही कारण है जो दो हृदयों को मिला देता है, किसी बाह्य कारण—सौन्दर्यादि पर प्रेम आश्रित नहीं है।[2] मालवणी के प्रेम में जो गम्भीरता है वह ढोला के गुणाश्रित होने के कारण भी है। मालवणी प्रियतम ढोला में गुण-राशि ही पाती है और वह भी रत्नाकर के समान विस्तृत और अथाह—

सज्जण, गुणे समुद्द तूं, तर तर थक्की तेण।
अवगुण एक न सांभरइ, रहूं विलंबी जेण।। ३७६।।

यद्यपि उसकी दशा शुष्क लता सदृश है और प्रियतम का आधार भी जा रहा है—

सज्जण वल्ले, गुण रहे, गुण भी वल्लणहार।
सूकण लागी वेलड़ी, गाया ज सींचणहार।। ३७४।।

फिर भी उसका हृदय किसी भी कीमत पर प्रियतम को विस्मृत न करे, यही उसकी कामना है—

सज्जण देसंतर हुआ, जे दीसंता नित्त।
नयणे तो वीसारिया, तूं मत विसरे चित्त।। ४२१।।

ऐसा स्नेही प्रियतम दूर हो तो फिर जीवनाधार ही कौन—

ते विरहिणि किम जीवसे, ज्यांरा दूर सनेह।। ४२।।

मारवणी ने यह कह कर—

अकथ कहाणी प्रेम की, किणसूं कही न जाइ।
गूंगा का सुपना भया, सुमर सुमर पिछताइ।। १५६।।

अपने पति-प्रेम की पराकाष्ठा ही प्रदर्शित कर दी है।

'ढोला मारू रा दूहा' में इस प्रकार नर-नारी के उदात्त दाम्पत्य-प्रेम का निरूपण हुआ है। नारी समर्पिता है और नर यहाँ आश्रय-शक्ति। शारीरिक एवं मानसिक अपार्थक्य की व्यंजना के अतिरिक्त इसमें सघनता, गम्भीरता और दृढ़ता है। इसमें नारी के प्रगाढ़ पति-प्रेम की अदम्य अनुभूति ध्रुव तारे की भाँति अटल है एवं उसके अखण्ड सतीत्व की द्योतक।

डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय ने प्रेम-निरूपण की दृष्टि से असूफी प्रेमाख्यानों को मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया है—

१. दाम्पत्य परक प्रेमाख्यान,
२. काम परक "
३. मत परक "

---

१. मृच्छकटिक : अंक १ : पृ० ४४।।
२. उत्तर राम चरित : ६-१२।

४. अध्यात्म परक प्रेमाख्यान ।[1]

वस्तुतः दाम्पत्य-परक और काम-परक वर्गीकरण अनावश्यक-सा प्रतीत होता है; 'क्योंकि काम दाम्पत्य-जीवन का एक अभिन्न अंग है, अतः इन भेदों को 'प्रेमपरक' अभिधान के अन्तर्गत रखना अधिक समीचीन है ।'[2] 'ढोला मारू रा दूहा' इस वर्गीकरण में 'दाम्पत्य परक-प्रेमाख्यान' में आता है क्योंकि इसमें दाम्पत्य प्रेम-भावना ही प्रदर्शित हुई है ।

विषय और अनुभूति के अनुसार यदि हम देखें तो इस काव्य में हमें प्रेम मुख्यतः तीन रूपों में प्रकट हुआ मिलेगा—दाम्पत्य-प्रेम, देश-प्रेम और प्रकृति-प्रेम । इसमें दाम्पत्य-प्रेम की व्यंजना आद्योपान्त प्राप्त है जैसा कि विवेचित किया जा चुका है । वस्तुतः प्रेम का यही स्वरूप ही मुख्य रूप से इस रचना में वर्णित है । देश प्रेम की झलक ढोला के इस कथन में—

ढोलइ करह चलावियऊ, करि सिणगार अपार ।
आस्याँ तउ मिल स्याँ वले, नरवर कोट जुहार ।। ३४७ ।।

और मारवणी के मरू-गुणगान में[3] देखी जा सकती है । मालवणी और मारवणी के विवाद प्रसंग में प्रस्तुत अपने कथनों में प्रकृति-प्रेम अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त हुआ है ।[4] कवि ने ढोला के स्वर में मरू-देश की प्रकृति की उपासना इस प्रकार की है—

लागे सदा सुहाँमणउ, नस भर कुँझड़ियाँ ।
जल पोइणिए छाइयउ, कहउ त पूगल जाँह ।। २४५ ।।
बाजरियाँ हरियालियाँ, विचि विचि बेला फूल ।
जउ भरि वूठउ भाद्रवउ, मारू देश अमूल ।। २५० ।।
धर नीली, धण पुंडरी, धरि गहगह्इ गमार ।
मारू देश सुहामणउ, साँवणी सांझी वार ।। २५१ ।।

इस तरह 'ढोला मारू' में निरूपित प्रेम की अनेक विशेषताएँ हैं—

१. इसमें शील-समन्वित दाम्पत्य-प्रेम की भावना ही मुखरित हुई है ।
२. यह प्रेम भारतीय-भावनानुरूप विवाह के पश्चात् ही नायक-नायिका के हृदय में जाग्रत होता है ।
३. यह प्रेमोद्रेक सर्वप्रथम नायिका के हृदय में ही होता है और नायिका की ओर से ही सर्वप्रथम प्रेमी-पात्र नायक की प्राप्ति का प्रयास होता है ।
४. स्वप्न-दर्शन से इस प्रेम का अभ्युदय हुआ है ।

---

१. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान : पृ० १४० ।
२. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : श्री शंभुसिंह मनोहर : पृ० ५१ ।
३. दो. सं. ६६६ ।
४. द्रष्टव्य दो. सं. ६५४-६६ ।

५. सखियाँ और ढाढ़ी इस काव्य में प्रेम-घटक का कार्य करते हैं।

६. नायक के प्रेम जीवन में दो नायिकाओं की प्रविष्टि है और दोनों ही नायिकाएँ कुलजा स्वकीया हैं।

७, 'ढोला मारू' में प्रेम का स्वाभाविक विकास हुआ है। वय और उत्तर-दायित्व की भावना से प्रेमोदय होकर कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है।

८. यहाँ नायक स्वकीया की प्राप्ति हेतु घर से निकलता है। प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का विस्तृत चित्रण तो इस काव्य में नहीं हुआ है परन्तु नायिका को तो इन्हें झेलना ही पड़ा है। ये विघ्न सपत्नी तथा अमानवीय तत्व—दोनों द्वारा उपस्थित किये गये हैं।

९. प्रेम की तीव्रता यहाँ नायिकाओं में प्रखर रूप से विद्यमान है। नायक में उतनी प्रखर व्यथा नहीं, यद्यपि रूप-गुण-श्रवण के पश्चात् वह भी कम विकल नहीं होता।

१०. मारवणी के प्रेम में एकनिष्ठता, आत्म-समर्पण और प्रगाढ़ता है। इसी कारण उसके विरह में भी तीव्रता है जिसके कारण वह मार्मिक और प्रभविष्णु वन गया है।

११. मालवणी का प्रेम भी एकनिष्ठता, आत्मसमर्पण और प्रगाढ़ता से युक्त है। उसमें सपत्नी-ईर्ष्या का बहुलाँश भी है। प्रेम की व्यथा उसमें भी प्रखर है और विरह विकलता तीव्र है।

१२. दोनों नायिकाओं ने प्रेमाभिव्यक्ति में काम-भावना को मुखरित किया है। दोनों नायक को यौवनोपभोग का निमंत्रण देती है। दाम्पत्य-परक इस प्रेमाख्यान में इससे अधिक स्वाभाविकता का संचार हो गया है।

१३. ढोला में प्रेमोद्रेक रूपासक्ति के कारण होता है; परन्तु शनै: शनैः उसके प्रेम में अपनी प्रथम परिणिता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना अधिक वलवती होती जाती है। ढोला के प्रेम में तनिक संवेदनशीलता तो है परन्तु एकनिष्ठता और कोमलता उतनी नहीं।

१४. 'ढोला मारू' में प्रेम का विप्रलम्भ पक्ष ही अधिक विकसित होकर प्रस्फुटित हुआ है।

१५. प्रेम का पर्यवसान भारतीय मंगलभावनानुसार संयोग में हुआ है और नायक दोनों पत्नियों के साहचर्य में सानंद दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करता है।

समग्रत: 'ढोला मारू रा दूहा' में शृंगार के अंतर्गत सर्वत्र प्रेम की ही महिमा चित्रित है और वह दाम्पत्य-प्रेम का उत्कृष्ट स्वरूप प्रदर्शित करता है। इसमें उदात्त एवं कुंठित—दोनों प्रकार की भावनाओं से संयुक्त प्रेम का निरूपण हुआ है जो अंत में जाकर पवित्रता, उच्चता आदि गुणों से संवलित होकर प्रम की भारतीय धारणा के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। यह प्रेम-भावना अलौकिकता का स्पर्श भी नहीं करती। 'ढोला मारू' तो सीधी-सादी प्रेम-कथा है, जहाँ प्रेम की दुर्वलताएँ भी

और सवलताएँ भी यथोचित रूप में चित्रित हैं। 'ढोला मारू' इस तरह दाम्पत्य-प्रेम का महास्रोत है। पातिव्रत्य की आचारवादिता एवं पावित्र्य के प्रभाव से प्रेमाभिव्यक्ति की एक-एक पंक्ति पति-प्रेम की गीता वन गई है—यदि ऐसा लिखें तो अत्युक्ति न होगी। ढोला और मारू को आदर्श दम्पत्ति की जो सामाजिक स्वीकृति और मान्यता मिली, उसमें प्रेम के इस उत्कृष्ट स्वरूप का ही विशेष हाथ रहा।

(ई) कल्पना :

'कल्पना' की मूल धातु 'क्लृप्' है जिसका अर्थ 'सर्जन की सामर्थ्य' होता है। कल्पना मनस् की सृजनात्मक शक्ति है। यह भाव के साधारणीकरण का मूल मानसिक हेतु है। कवि की कल्पना ही काव्य को जन्म देती है। काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ओतप्रोत रहती है। 'कल्पना है काव्य का क्रियात्मक वोध पक्ष, जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही अन्तर्भूत माना है।'[1]

काव्य-सृजन में कल्पना-तत्त्व की प्रभावशालिनी सत्ता तथा व्यापक महत्ता सर्वमान्य रही है। आचार्य गुलावराय ने लिखा है कि कल्पना भाव को पुष्ट करती है, उसके लिये सामग्री उपस्थित करती है और साथ ही अभिव्यक्ति में भी सहायक होती है।[2] अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर ने भी 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम (५-१)' में लिखा है कि कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है। उसकी लेखनी वायवी, नगण्य, अस्तित्वशून्य पदार्थों को भी मूर्त्त वनाकर नाम और धाम प्रदान करती है।[3] वस्तुतः कवि अपनी कल्पना-शक्ति से ही अनुभूति जन्य मानसिक अमूर्त्त कोमल संवेदना को मूर्त्त रूप देता है। कल्पना द्वारा ही वह कथा-कलेवर एवं पात्रों का निर्माण, विषय का मूर्त्त स्वरूप, घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण आदि करके अपने अपार भाव-जगत् के चित्रों की सजीव उपस्थिति कर पाता है

'ढोल मारू रा दूहा' में कवि कल्पना का सौन्दर्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। काव्य में इसका उपयोग वस्तु-वर्णन और अलंकार-विधान—दोनों में किया गया है।

क : कल्पना द्वारा लिये गये कार्य :

१. चित्र की सजीव उपस्थिति :

चित्र की सजीव उपस्थिति के लिये यह अनिवार्य है कि रचनाकार वर्ण्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों का प्रस्तुतीकरण न करके उसके कतिपय प्रमुख तत्त्वों द्वारा ही विम्व ग्रहण करा दे। लिखा भी गया है कि कुशल कलाकार पदार्थ का अनुभव करने के वाद उसे खंडित कर कुछ का त्याग तथा कुछ का ग्रहण करता है। और फिर अन्त में, गृहीत खण्डों की इस प्रकार योजना करता है कि एक नवीन, पर पूर्ण चित्र वन जाता है।[4]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : इन्दौर वाला भाषण : पृ० २०।
२. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० ४७।
३. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० ४७ से उद्धृत।
४. रस्किन एज लिटरेरी क्रीटिक (सलेक्संस) : संपा० वाल : पृ० १८।

'ढोला मारू रा दूहा' में भी चित्रों की सजीव चित्रात्मकता के लिये कल्पना द्वारा ही कार्य-सम्पन्न हुआ है, उदाहरणार्थ–

ऊलंबे सिर हथ्थड़ा, चाहंती रस लुब्ध।
ऊँची चढ़ि चातृंगि जिउँ, मागि निहाल.इ मुध्ध॥ १६॥

इस छंद में कवि द्वारा मारवणी की विरह-प्रदत्त जड़ता और प्रिय-प्रतीक्षा की व्यंजना है। समर्थ चित्रकार अपनी तूलिका से चातकी की मुद्रा में हथेलियों पर सिर टिकाये, प्रिय-प्रतीक्षा में डूबी, मार्ग निहारती हुई मारू का सजीव चित्र अंकित कर सकता है। यद्यपि रिचर्ड्स के अनुसार यह कल्पना का सामान्यतम तथा सबसे कम रोचक प्रयोग है;[1] पर उपर्युक्त उद्धरण कितना सजीव बन पड़ा है–इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। 'ढोला मारू' में ऐसे उदाहरण प्रभूत परिमाण में विद्यमान हैं।

२. अप्रस्तुत-विधान :

अप्रस्तुत-विधान के नियोजन का मूलाधार भी कल्पना ही है। इसका प्रयोजन रसोत्कर्ष हेतु वर्ण्य-विषय को स्पष्टता और सुबोधता प्रदान करना, अभिव्यक्ति को रमणीय मूर्तिमत्ता प्रदान करना और पाठक की ग्रहण कल्पना को आधार देना है।

'ढोला मारू रा दूहा' के रचनाकार ने लघुवृत्त की सीमित परिधि में वर्ण्य को अधिकाधिक रमणीय और सुन्दरतम प्रकाशन अप्रस्तुत विधान द्वारा दिया है। रूप, धर्म एवं प्रभाव-साम्य द्वारा स्वरूप-बोध तथा भाव-तीव्रता की स्पष्टतर अनुभूति के लिये रचनाकार ने इन रूपों में मूर्त्त और अमूर्त्त अप्रस्तुत का नियोजन किया है—

मूर्त्त का मूर्त्त विधान :

सज्जणिया ववल.इ कइ, गउखे चढ़ी लहक्क।
भरिया नयण कटोर ज्यउँ, मुंधा हुइ डहक्क॥ ३७२॥
गया गलंति राति, परजल.ती पाया नहीं।
से सज्जण परभाति, खड़हड़िया खुरसाँण ज्यूँ॥ ३८०॥

अमूर्त्त का अमूर्त्त विधान :

मारू दाड़म-फूल जिम, दिन-दिन नवी डहक्क॥ ४७६॥

मूर्त्त का अमूर्त्त विधान :

सारहली जिउँ सल्हियाँ, सज्जण मंझ सरीर॥ ५६॥

अमूर्त्त का मूर्त्त विधान :

ढोलउ मन चलपत थयउ, ऊभउ साहइ लाज॥ ४४७॥
मारू अंबा-मउर जिम, कर लग्गइ कुंमलाइ॥ ४७१॥

ढोला मारू का अप्रस्तुतविधान संयत एवं सर्वथा प्रसंगानुकूल है।

३. मानसिक अवस्था का साक्षात्कार :

पात्रों की मानसिक अवस्था का साक्षात्कार कवि स्वयं की संवेदना-शक्ति

---

१. प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म : पृ० २३९।

और कल्पना द्वारा ही करता है। 'ढोला मारू' काव्य में जो सहज-संवेद्यता उपस्थित है, उसका मूलाधार ऐसी कल्पना ही है।

दृष्टान्त के लिये ढोला द्वारा नरवर-त्याग करते समय के 'नरवर कोट जुहार'[1] कथन में उसके सवल मातृ-भूमि-अनुराग की अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही यह तद्-युगीन यात्रा की विपदाओं को भी अभिव्यंजित करता है। विरहानुभूति में तो सर्वत्र ही ऐसी कल्पना का साहाय्य लिया गया है। विरह-जन्य-कृशता सूखी लता द्वारा[2], मिलन की उत्कट कामना प्रज्वलित प्राण-लौ द्वारा[3], प्रिय-दर्शन के लिये कामना नयन-सीपी और स्वाति-बूँद द्वारा[4], विरह की तड़पन का उथले जल में प्राण-रक्षार्थ छटपटाती हुई मीन द्वारा[5] कवि ने व्यक्त की है। प्रियतम-मिलन के प्रति आशान्वित मारवणी की मनोदशा से कवि का साक्षात्कार इस उद्धरण में कितना सजीव और अनुपम वन पड़ा है—

आसालुब्धो हूँ न मुइय, सज्जन जंजालेइ।
मारू सेकइ हथ्थड़ा, झीणे अंगारेइ ॥ २०६ ॥

विरहोन्माद की सूक्ष्मता कवि-कल्पना-साक्षात्कार से कैसी सूक्ष्म भावाभिव्यंजना वाली बनी है—

साल्ह चलंतइ परठिया, आँगण वीखड़ियाँह।
सो मइँ हियइ लगाड़ियाँ, भरि भरि मूठड़ियाँह ॥ ३६६ ॥

४. आविष्कार की जननी :

घटना-संयोजन में नवोन्मेष और मौलिक भावोद्भावना तथा अद्भुत एवं असंभाव्य के विधान में कल्पना ही क्रिया करती है। 'ढोला मारू रा दूहा' के ऐतिहासिक वृत्त में भाव-सरसता इसी कल्पना की देन है क्योंकि अनुभावादि इतिहास से उपलब्ध नहीं होते। नवीन परिस्थितियों, मार्मिक प्रसंगों एवं घटनाओं का संयोजन आदि तो सम्पूर्ण काव्य में कवि ने आविष्कृत किये हैं।[6] मारवणी की सर्पदंश से मृत्यु हो जाने के उपरान्त ढोला का सहमरण का प्रस्ताव[7] इसी कल्पना-शक्ति का प्रभाव है।

५. सम-विषम का समन्वय :

कवि-आलोचक कॉलरिज इस कल्पना-शक्ति को समन्वय एवं जादू की शक्ति पुकारते हैं। कल्पना का यह भी महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त प्रयोग है। परस्पर विरोधी अर्थात् सम-विषम तत्वों को आत्मसात् कर काव्य में प्रस्तुत करना कवि-कौशल का परिचायक होता है।

---

१. दो. सं. ३४७। २. दो. सं. ३७४।
३. पंजर नहि छइ प्रांणियउ, थाँ दिस झल, रहियाह ॥ ११३ ॥
४. दो. सं. ११६।
५. ओछइ पांणी मच्छ ज्यउँ, वेलत थयउ विहाँण ॥ १६२ ॥
६. इसके लिये प्रबन्ध का द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य है।
७. दो. सं. ६१८।

'ढोला मारू' काव्य में यद्यपि ऐसी परस्पर विरोधी तत्वों की सफल सयोजना के लिये कवि ने प्रसंगोद्भावना नहीं की; परन्तु काव्यान्त में गार्हस्थ्य-जीवन में सौतियाडाह से उद्भूत प्रसंग को लाकर इस समन्वयात्मक कल्पना-शक्ति का परिचय अवश्य दिया है—

> **झगड़उ भागउ गोरियाँ, ढोलइ पूरी सख्ख।**
> **मारू रूलि.याइत हुई, पाँमी प्रीय परख्ख ।। ६७१ ।।**

वहुधा यह भी देखा गया है कि सौन्दर्य-चित्रण में कवि-दृष्टि अवयव-सौन्दर्य को परख कर ही परितोष कर लेती है। परन्तु 'ढोला मारू' के कवि ने इस सौन्दर्य में शील द्वारा प्राणप्रतिष्ठा भी की है। इस तरह 'ढोला मारू' के कवि ने इन विभिन्नताओं का पूर्ण भावुकता के साथ अपनी कल्पना से निर्वाह किया है।

ख : कल्पना के प्रकार :

कल्पना के दो प्रकार किये जा सकते हैं—भावमूलक और बुद्धिमूलक। 'ढोला मारू रा दूहा' में ये दोनों ही प्रकार प्राप्त होते हैं।

१. भावमूलक कल्पना :

काव्य में प्रसंग-योजना, अप्रस्तुत-विधान, चित्र-विधान आदि की मूल-प्रेरणा जहाँ 'भावना' होती है; वहाँ भावमूलक कल्पना का सृजन होता है। 'ढोला मारू' में भावमूलक कल्पना अपने अनेक भेदोपभेद सहित मिलती है।

स्मृत्याभास कल्पना स्मृतियों का आधार लेकर निर्मित होती है। इस काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर यह कल्पना-प्रकार प्राप्त है—

> **चाल, सखी, तिण मंदिरइँ, सज्जण रहियउ जेंण।**
> **कोइक मीठउ बोलड़इ, लागो होसइ तेंण ।। ३५६ ।।**
> **साल्ह चलंतइ परठिया, आँगण वीखड़ियाँह।**
> **कूवा केरी कुहड़ि ज्यूँ, हियड़इ हुइ रहियाँह ।। ३६७ ।।**
> **सज्जण ज्यूँ ज्यूँ संभरइ, देख्याँ आही ठाँण।**
> **झुरि झुरि नइ पंजर हुइ, समर समर सहिनाँण ।। ३८२ ।।**
> **मूली सारस सद्दड़इ, जाणइ करहऊ थाय।**
> **धाइ धाइ थल. चढ़ी, पग्गे दाधी माय ।। ३८८ ।।**

इतिहासावृत्त स्मृत्याभास कल्पना में पुराण, इतिहास आदि में प्राप्त वर्णनों का अवलम्ब इसके मूल में रहता है। रचनाकार इनके आधार पर नये चित्रों का निर्माण करता है।

प्रस्तुत रचना लोक-धरातल का अधिक स्पर्श करती है; अतः इसमें पुराणादि का स्मृत्याभास कम ही दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ मारवणी की यह उक्ति ली जा सकती है—

> **जोवन खीर समुंद्र हुई, रतन ज काढइ आइ ।। १३१ ।।**

इसमें पुराण-प्रसिद्ध समुद्र-मंथन का संकेत स्पष्टतः है। इसी प्रकार मारवणी की गति

को गंगा, मति को सरस्वती और शील को सीता-सदृश बतलाना[1]—इसी कल्पना-प्रकार का उदाहरण है।

कवि-समयों पर आधारित कल्पना का 'ढोला मारू रा दूहा' में अनेक स्थलों पर उपयोग हुआ है जिनकी विस्तार से चर्चा अन्यत्र की गई है।[2] यहाँ पर भी रूपवर्णन के कवि-परम्परानुमोदित उपमान यथा—कीर, भ्रमर, कोकिल, कमल, चंद्र, सिंह, हाथी और फणीन्द्र को क्रमशः नाक, भ्रू, वाणी, नेत्र, मुख, कटि, चाल, वेणी को लिया जा सकता है।[3] कुमुदनी और चंद्रमा का प्रेम[4] तथा पद्मिनी नायिका के मुख से कस्तूरी की सुवास का आना[5] आदि भी कवि-प्रसिद्ध कल्पनाएँ ही हैं।

२. बुद्धि मूलक कल्पना :

इसे 'ऊहात्मक कल्पना' भी कहते हैं। इस प्रकार की कल्पना बुद्धि से प्रेरित या बौद्धिक व्यापार से जागरित और संचालित होती है। प्रायः काव्य में जहाँ वाग्वैदग्ध्य, अत्यधिक अलंकृति तथा चमत्कृति होती है; वहाँ ऐसी ही कल्पना का अधिकाधिक आश्रय लिया जाता है।

'ढोला मारू' में मारवणी का प्रियतम के आने की दिशा को निरन्तर देखते रहने के कारण 'कुंभ के बच्चे की तरह लम्बी गर्दन' के होने की कल्पना,[6] मारवणी की कटि को दो अंगुल की बताना[7] आदि ऊहात्मक कल्पना ही है। दो-एक स्थलों पर तो अत्युक्तिपूर्ण ऊहात्मक कल्पना-चमत्कार भी है—

> **राति ज रूंनी निसह भरि, सुणी महाजनि लोइ।**
> **हाथाळी छाला पड्या, चीर निचोइ निचोइ॥ १५६॥**
> **प्रीतम, तोरइ कारणइ, तात भाता न खाहि।**
> **हियड़ा भीतर प्रिय बसइ, दाझणती डरपाहि॥ १६०॥**

संपादक-त्रय ने इसे 'रीतिकाल के शृंगारी कवियों की बाल की खाल निकालने वाली, दूर की सूझ से कम नहीं' बतलाया है और 'कवि-कल्पना का अपव्यय' कहा है।[8]

ग : कल्पना का उपयोग :

अपनी कृति में कवि द्वारा कल्पना का उपयोग दो रूपों में किया जाता है—वस्तु-वर्णन में एवं अलंकार-विधान में। 'ढोला मारू रा दूहा' में इन दोनों ही रूपों में कल्पना का उपयोग हुआ है।

१. वस्तु-वर्णन में :

वस्तु-वर्णन में कवि अपनी कल्पना के सहारे विविध वस्तुओं को नियोजित और संगठित करता है। 'ढोलामारू' में से एक दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जो कवि की वस्तु-वर्णन की उत्कृष्टता प्रदर्शित करते हैं। नरवर जाकर—

---

१. दो. सं. ३५१। २. द्रष्टव्य इस प्रबन्ध का पंचम परिच्छेद।
३. दो. सं. ४५५। ४. दो. सं. २०१। ५. दो. सं. ६००।
६. दो. सं. २०५। ७. दो. सं. ४६१। ८. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ८४।

ढाढी गाया निसह भरि, राग मल्हार निवाज ।
च्यार पहर झड़ मंडियउ, घण गुहिरइ सुरगाज ।। १८८ ।।

इसमें कवि ने उस समय के समस्त वर्णन को अपनी कल्पना से साकारता प्रदान कर दी है। वस्तु-वर्णन में मालवणी-प्रसंग की यह कल्पना भी दर्शनीय है जहाँ प्रियतम को रोकने के लिये पागड़े से झूलती हुई मालवणी का यह मार्मिक चित्र यथार्थ कल्पना के संस्पर्श से संजीवित है—

ढोलउ हल्लाणउ करइ, धण हल्लिवा न देह ।
झबझब झूँबइ पागड़इ, डब डब नयण भरेह ।। ३०४ ।।
साइधण हल्लण साँभल्इ, उभी आँगण छेह ।
काजल् जल् भेल्ा करी, नाँखी नाँख भरेह ।। ३३७ ।।

कवि की सूक्ष्मपर्यवेक्षण दृष्टि ने इन वर्णनों में सँश्लिष्टता के साथ सजीवता, चित्रात्मकता और स्वाभाविकता का सम्मिश्रण कर दिया है। फिर यह काव्य एक ऐतिहासिक कल्पना प्रधान प्रबंध है। अतः अनेक स्थानों पर कथासूत्र का तारतम्य, घटना-संयोजन आदि में कल्पना का ही कवि ने उपयोग किया है।

२. अलंकार-विधान में :

कवि-कल्पना का सर्वाधिक उपयोग अलंकार-क्षेत्र में होता है। 'ढोला मारू' में अलंकारों की संयोजना के लिये स्थल-स्थल पर कल्पना का प्रयोग हुआ है। वियोग की परिस्थिति में जहाँ कल्पना द्वारा ऐसा रूपक प्रस्तुत किया गया है—

विरह महाविस तन वसइ, ओखद दियइ न आइ ।। १२७ ।।

वहाँ संयोग-समय में कल्पना द्वारा कवि ने यह चित्र संजोया है—

सखिए, साहिब आविया, जाँहकी हूँती चाइ ।
हियड़उ हेमाँगिर भयउ, तन-पंजरे न माइ ।। ५२६ ।।

इस तरह भावाभिव्यंजना के अनेक सूक्ष्म और सजीव चित्र अप्रस्तुत-विधान द्वारा कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत किये गये हैं। विशेष रूप से जड़, प्राणी एवं भावादि के मानवीकरण में कल्पना का अक्षय वैभव देखा जा सकता है।

निष्कर्षतः उपर्युक्त दिग्दर्शन स्पष्ट करता है कि आलोच्य काव्य में स्थान-स्थान पर कलित और कमनीय कल्पना की सुन्दर छटा छितराई हुई मिलती है। कल्पना के स्थूल और सूक्ष्म तथा भाव-मूलक और बुद्धि-मूलक—दोनों रूप हमें यहाँ विद्यमान दिखते हैं जिनके कारण समस्त काव्य में सूक्ष्म-मनोदशाओं एवं भाव-स्थितियों का मूर्त प्रतिष्ठापन हुआ है। प्रायः इस काव्य की कल्पनाएँ भाव-मूलक अधिक हैं क्योंकि सम्पूर्ण काव्य ही मधुर भावभूमि पर रचित है। कवि की मौलिक भावोद्-भावना कल्पना से साकार हो उठी है और फलस्वरूप ऐसी सुन्दर कल्पनामय भाव-प्रवण चित्रात्मकता काव्य में आ पाई। डॉ० मोतीलाल मेनारिया की यह टिप्पणी बड़ी सटीक है कि "यह है 'ढोला मारू रा दूहा' की कहानी। बहुत सीधी-सादी और सुलझी हुई। कवि ने इसे ऐसे अनूठे ढंग से कहा है, और काव्य-कल्पना का रंग इसमें इस तरह भरा है कि सारी की सारी कहानी जगमगा उठी है।"[1]

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० १३७।

(उ) अन्य भावगत विशिष्टताएँ :

रस, सौन्दर्य, कल्पना आदि के अतिरिक्त इस काव्य में भाव-सम्बन्धी कतिपय अन्य ऐसी विशिष्टताएँ भी प्राप्त हैं, जो इसके अनुभूति-पक्ष की समृद्धि में योग देती हैं।

क : रंगानुभूति :

अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये कवियों ने रंगों का अपनी रंगानुभूति के अनुसार आश्रय लिया है। कालान्तर में तो कतिपय रंग काव्य-रूढ़ होकर प्रतीक ही वन गये और आज भी उनका उसी रूप में चित्रण होता है।

'ढोला-मारू रा दूहा' में भी कवि की रंगानुभूति की सूक्ष्मता काव्य में प्रयुक्त विविध रंगों या वर्णों में देखी जा सकती है—

लाल रंग : कुंझों के **लाल** वच्चे (दो. सं. १६८), **लाल** कमान (दो. सं. ३५५), रोकर **राता** हुए नैत्र (दो. सं. ३६६), कर **रत्ता** (दो. सं. ५७४) ;[1]

नील वर्ण : धरती **नीली** (दो. सं. २५१), **निलपंखिया** पपीहा (दो. सं. ३३)।

श्वेत वर्ण : प्रियतमा **पुंडरी** (दो. सं. २५१), **पंडर** केश-राशि (दो. सं. ४४२), **सेत** दाँत (दो. सं. ४५७)।

हरा : **हरिया** पर्वत (दो. सं. २५३), **हर** वन (दो. सं. २६५), वाजरियाँ **हरियालियाँ** (दो. सं. २५०)।

मजीठ रंग : **चोल** वर्ण के कपड़े (दो. सं. १३६), **मज्जीठाँ** रंग की तरह गहरे रंगे प्रेमी (दो. सं. ५६३)।

पीला रंग : प्रियतमा का **पीली** पड़ना (दो. सं. ४०३), दिशाओं का **पुंडरी** होना (दो. सं. ६०२)।

गौर : गंगा नीर के समान **गौरी** (दो. सं. ४५२), कुंझों के वच्चों के समान **गोरंगियाँ** (दो. सं. ४५७)।

उज्ज्वल : **ऊजलो** मुख (दो. सं. ४६३), सूर्य से भी **उज्जली** मुख-काँति (दो. सं. ४६४)।

सुनहरा : देह की कांति **सोव्रन्न** (दो. सं. ४६३), काया का **कनक** सदृश झलकना (दो. सं. ५४६), सुन्दरी का **सोवन वर्ण** (दो. सं. ८७)।

सुरंग : सुखों को **सुरंगा** मानना (दो. सं. ५४६)।

निर्मल : **नृमल** मोती (दो. सं. ५७४)।

काला : पपीहे की पीठ की **काली** रेखाएँ (दो. सं. ३१), कच्छ देश का **कालिया** ऊँट (दो. सं. ४६६-६६)।

चंपक-वर्ण : मारवणी को **चंपा-वरनी** मानना (दो. सं. ४६२), ढोला को **चंपक-वरणउ** कहना (दो. सं. ५६४)।

---

१. राजस्थानी में लाल रँग की वड़ी महिमा गाई गयी है—

माता तो मँगल भला, ताता भला तुरँग।
जाता तो वैरी भला, राता भला रँज ग ॥

कुंकुम वर्ण: कूँकूँ काया (दो. सं. ४६६), कूँकूँ ब्रन्न का ऊँट (दो. सं. ६३८), कूँकूँ वरणा हथ्यड़ा (दो. सं. ६५७)।

अलक्तक : अधरों का अलत्ता रंगि (दो. सं. ८७)।

मोतिया रंग: मोती व्रन्न आँसू गिरना (दो. सं. ३६६)।

कबूतर की आँखों के लाल डोरे : अंखी रत्ता मंभ (दो. सं. ४७४)।

गहरा रंग : पपीहे की तर पंखियां कहना (दो. सं. ३२)।

नव रंग : नव रंग मारवणी (दो. सं. ४६५)।

प्रेम रंग : दम्पत्ति का पेम रँग रस-पान (चन्द्रायणा : ५६५)।

ख : नायिका भेद :

'ढोला मारू रा दूहा' में दो नायिकाएँ हैं। वंश एवं सामाजिक दृष्टि से दोनों ही कुलजा हैं और धर्म की दृष्टि से दोनों ही स्वकीया। गुणों के अनुसार दोनों ही उत्तमा हैं। जाति के अनुसार मारवणी पद्मिनी है; परन्तु मालवणी के लिये जाति-विषयक संकेत इस काव्य में नहीं मिलता। वयक्रमानुसार मारवणी·मुग्धा स्वकीया है और ज्ञात-यौवना है। मालवणी उदितयौवना नवोढ़ा मुग्धा स्वकीया है। मारवणी गंधर्वी है तो मालवणी गंधर्वमानुपी है। मारवणी यौवनगर्विता है तो मालवणी वक्रोक्तिगर्विता है। मालवणी अपने प्रिय को वशीभूत रखती है, अतः स्वाधीनपतिका है परन्तु प्रणय की परिस्थिति के अनुसार वह संभोगदुखिता भी है क्योंकि उसके संयोग में भी आगत विरह की कसक है। मालवणी की अन्य स्थिति प्रोपितपतिका, खण्डिता उत्का, वासकसज्जा आदि की भी है। मारवणी विरहोत्कंठिता है। उसे अनुत्पन्नसंभोगा में स्वप्नदर्शनानुतापा कहा जा सकता है। काव्यान्त में मारवणी स्वाधीनपतिका हो जाती है। मारवणी की स्थिति भी खण्डिता, उत्का, वासकसज्जा आदि की है।

इस काव्य में नायिकाओं के नाम, गुण या उल्लेखादि अनेक स्थलों पर हुए हैं यथा—**पदमिणी** (दो. सं. १०,२१५), **मुग्धा** (दो. सं. १५,१७,१७४,२०४,३१५), **वृद्धा** (दो. सं. ४४३), **परकीया** (दो. सं. १५३), **कुलीन** (दो. सं. १७४), **प्रौढ़ा** (दो. सं. २७६), **सुहागिन और दुहागिन** (दो. सं. २६०), **विरहिणी** (दो. सं २६२), **सरस्वती** (दो. सं. ४५१) आदि।

इस तरह शृंगार रसान्तर्गत पम्पराभुक्त वर्णनीय नायिका-भेद का संकेत भी हमें इस कृति में उपलब्ध हो जाता है। इन सबका उपयोग भाव-स्पष्टता के लिये ही किया गया है, पांडित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन 'ढोला मारू रा दूहा' की नायिकाओं पर भी बड़ा सटीक बैठता है कि लोकगीतों की एक-एक बहू के चित्रण पर रीति-काल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खंडिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं।[1]



१. हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० १३०।

पंचम परिच्छेद

अभिव्यक्ति-पक्ष

पंचम परिच्छेद : अभिव्यक्ति-पक्ष

अनुभूति काव्य का प्राण है, इसमें संदेह नहीं; तथापि रचना में शैल्पिक और कलात्मक उच्चता के महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता। उत्तमोत्तम अनुभूति भी सबल-सहज अभिव्यक्ति के अभाव में पंगु रह जाती है। काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और जिस प्रकार सुन्दर वस्तु से सौन्दर्य को पृथक् नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार काव्यगत रमणीयता के मूल में अभिव्यक्ति-कौशल भी सन्निहित है।

प्राय: यह धारणा विद्वानों में व्याप्त है कि लोकोन्मुखी काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है। किन्तु, इस मान्यता में उतनी सच्चाई दृष्टिगोचर नहीं होती, जितनी कि समझी जाती है। कतिपय काव्य तो अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से शुद्ध 'शिष्ट-साहित्य' के अंतर्गत ग्रहण किये जाने वाले काव्यों से भी सबल पाये जाते हैं और ऐसे काव्यों में 'ढोला मारू रा दूहा' की गणना भी करनी पड़ेगी। किसी भी श्रेष्ठ रचना में अनुभूति-पक्ष के साथ-साथ अभिव्यक्ति-पक्ष की समन्वयात्मक संतुला साहित्यक-श्रेष्ठता के स्तर की दृष्टि से महत्वपूर्ण ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है।

(अ) भाषा :

क : भाषा का नामकरण :

'ढोला मारू रा दूहा' काव्य की भाषा को सम्पादक-त्रय ने 'माध्यमिक राजस्थानी' कहा है जो १३ वीं से १५-१६ वीं शताब्दी तक पश्चिमी भारत की प्रधान भाषा थी।[१] श्री बेचरदास जीवराज दोशी[२] ने भी इसी की पुष्टि की है। आचार्य गौ. ही. ओझा ने इसे कृत्रिम डिंगल (राजस्थानी) न मानकर तत्कालीन बोल-चाल की राजस्थानी भाषा बतलाया है।[३] प्रो. शंभुसिंह मनोहर ने भी इसे माध्यमिक राजस्थानी मानते हुए तत्कालीन लोक-भाषा की ही रचना माना है।[४] डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इसे 'डिंगल भाषा का पहला काव्यग्रंथ' माना है।[५] डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव ने भी इस रचना को 'डिंगल' भाषा के अंतर्गत माना है।[६]

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ० १३०।
२. गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति : पृ० ६५४-५५।
३. ढोला मारू रा दूहा : सम्पादक-त्रय : प्रवचन : पृ० ५।
४. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ० १२४।
५. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० १०३।
६. डिंगल साहित्य (पद्य) : पृ० २५६।

डॉ० शार्लोत वॉदविल ने इसकी भाषा को 'प्राचीन मारवाड़ी-गुजराती' कहा है।[1]

इस काव्य की भाषा के उपर्युक्त नाम तद्युगीन प्रचलित भाषा के निश्चित नाम के अभाव में दिये गये हैं। वस्तुतः अपभ्रंशों से देश-भाषाओं का विकास हुआ तो प्रारंभिक अनेक वर्षों तक उनका निश्चित नामकरण नहीं हुआ और कालान्तर में विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इनका नामकरण कर दिया। पश्चिमी राजस्थान में प्रचलित इस भाषा को उत्तरकालीन अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, जूनी गुजराती, मारु-गुर्जर, माध्यमिक राजस्थानी, डिंगल आदि नाम दिये गये।

इस काव्य-ग्रंथ में 'मारू' देश का अनेकानेक स्थलों पर स्पष्ट उल्लेख आता है। अत: देश-भेद के आधार पर भाषा का नामकरण 'मरू भाषा' तर्कसम्मत कहा जा सकता है। 'राजस्थानी' शब्द का भाषा-रूप में व्यवहार कालान्तर का प्रयोग है। 'प्राचीन मारवाड़ी-गुजराती' कहना भी इस ग्रंथ के साथ न्याय नहीं है। 'डिंगल' की कृत्रिमता का भी इस ग्रंथ में सर्वत्र अभाव दृष्टिगोचर होता है। 'मरू भाषा' का उल्लेख भी प्राचीन ग्रंथों में हुआ है। सं. ८३५ में उद्योतन सूरि रचित 'कुवलय माला' में सर्वप्रथम 'मरूभाषा' का उल्लेख उपलब्ध होता है।[2] इसके पश्चात् अनेक ग्रंथों में मरू भाषा, मरू भूम भाषा, मारु भाषा, मरूदेशीय भाषा, मरूवाणी आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

अतः मरूभाषा' नामकरण से इसके लोकभाषिक होने की ध्वनि भी निकलती है और भाषा-माधुर्य की पुष्टि भी होती है। वैसे आधुनिक विवेचकों ने राजस्थान की सभी बोलियों और शैलियों को साहित्य के इतिहास में 'राजस्थानी' तथा 'पिंगल' के अंतर्गत विभाजित कर लिया है। इस दृष्टि से 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा को 'मध्यकालीन राजस्थानी' कहना भी युक्तिसंगत रहेगा।

ख : वर्ण-माला और ध्वनि-समूह :

'ढोला मारू रा दूहा' में हिन्दी की ही वर्णमाला तथा ध्वनियाँ उपलब्ध होती हैं। कतिपय ध्वनियाँ देश-भेद के कारण भिन्न रूप में भी प्राप्त होती हैं।

वर्णमाला :

स्वर :

—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

—ऋ का स्वतंत्र प्रयोग नहीं मिलता।

—आ के दीर्घ रूप के अतिरिक्त एक ह्रस्व रूप की भी प्राप्ति होती है।

—अ (अग्र, अर्व-संवृत्त, ह्रस्व)।

—ओ (पश्च, अर्व-संवृत, ह्रस्व)।

—औ (औ का ह्रस्व रूप, छंदाग्रह के कारण।

—विसर्ग (:) का प्रयोग प्रायः नहीं है।

---

१. जरनल ऑफ दी ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट : वाल्यूम XI, नं. ४ : पृ० ३१७।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : पृ० ४।

—आ (ह्रस्व) : स्रावण दूभर हे सखी, किहाँ मुझ प्राण-अधार । ४६ ॥
—ए (ह्रस्व) : कद रै मिलउँली सज्जना, लाँबी बाँह पसारि । ४५ ॥
—ऐ (ह्रस्व) : पंथी एक संदेसड़उ, लग ढोलइ पैहुचाइ । १२३ ॥
—ओ (ह्रस्व) : संजोगणी सोहामणइ, विजोगणी अंग दाधि । २६८ ॥
—औ (ह्रस्व) : मारू देश सौहामणउ, साँवणि साँझी वार । २५१ ॥

व्यंजन :

—क, ख, ग, घ, ङ ; च, छ, ज, झ, ञ ;
—ट, ठ, ड, ढ, ण ; त, थ, द, ध, न ;
—प, फ, व, भ, म ; य, र, ल, व ;
—श, स, ष, ह ।
—इन व्यंजनों के अतिरिक्त 'ड़' (मूर्धन्य, अल्प प्राण, सघोष, उत्क्षिप्त) भी प्राप्त है ।
—'ष' के स्थान पर 'ख' तथा 'ख' के स्थान पर 'ष' भी हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है ।
—'ल़' (सघोष, पार्श्विक, उत्क्षिप्त) भी प्रयुक्त है ।
—'व़' का भी प्रयोग प्राप्त है ।
—ड़, ञ, ण, ल़—शब्दों के आदि में नहीं मिलते ।

ध्वनि-उच्चारण :

१. **अपभ्रंश की भाँति 'ण' की प्रवृत्ति—**
   चालणहार (दो. सं. २७५),
   सुणि (दो. सं. ४६०) ।
२. **मधुरता की सृष्टि के लिए शब्दों के साथ ड़ा, ड़ी, ला, लो का प्रयोग—**
   मिलऊँली (दो. सं. ४५), करहला (दो. सं. ६२७),
   आँगलड़ी (दो. सं. १४४), बेलड़ी (दो. सं. ३७४),
   संदेसड़ा (दो. सं. १८२), दूहड़ा (दो. सं. ४८६) ।
३. **क, ज, त, म, र, और स का विशेष प्रयोग—**
   क—नहीं **क** लेखणहार (दो. सं. १४०),
   ज—मोती जड़ी **ज** हाथि (दो. सं. ५०५),
   त—कहउ **त** पूगल़ जाँह (दो. सं. २४४),
   म—राँगाँ देह **म** चूरि (दो. सं. ४६२),
   स—अजे **स** मारू वाल (दो. सं. ११) ।
४. हस्तलिखित प्रतियों में अनुस्वार का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है । यदि 'पर' में कोई नासिक्य वर्ण हो या 'व' हो तो 'पूर्व' का स्वर सानुनासिक बन गया—
   नाँम (दो. सं. ५),

काँम (दो. स. ५),
पांणी (दो. सं. ६६४)।

५. पाद-पूर्ति के लिये 'ह' अर्थहीन प्रत्यय का आगम अनेक शब्दों में द्रष्टव्य है—
कदलीह (दो. सं. १३),
कुवाँह (दो. सं. ६५५)।

६. घोष महाप्राण यदि शब्द के मध्य या अन्त में रहे तो उसका प्रभाव शब्द के आदि-अक्षर पर पड़ा है—
सघला-सगला (दो. सं. ६५४)।

७. रेफ या तो 'र' कार हो गया है अथवा स्थानांतरित—
द्रंग (दुर्ग) : (दो. सं. ३००),
व्रन्न (वर्ण) : (दो. सं. ५७२),
सूर (सूर्य) : (दो. सं. ५५)।

८. 'य' और 'ज' का परस्पर परिवर्तन अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है—
जोवन (यौवन) : (दो. सं. ११७),
सयण (सज्जन) : (दो. सं. ३८४),
भुयंगम (भुजंग) : (दो. सं. ५०४),
जमरांण (यमराज) : (दो. सं. ६१०),
वयण (वचन) : (दो. सं. ६२१)।

९. संस्कृत तत्सम 'ल' और 'न' का क्रमशः 'ल़' और 'ण' रूप मिलता है—
जीवण (जीवन) : (दो. सं. २१),
वण (वन) : (दो. सं. २६५),
जण (जन) : (दो. सं. ४८२),
मंडल़ (मंडल) : (दो. सं. ५१७),
केलि़ (केलि) : (दो. सं. ५५),
वेला़ (वेला) : (दो. सं. ६२३)।

ग: व्याकरण :

'ढोला मारू रा दूहा' के व्याकरण का अत्यन्त वैज्ञानिक एवं शोधपरक विस्तृत विवेचन संपादक-त्रयी द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[1] अतः पुनरावृत्ति एवं पिष्टपेषण से बचने के लिये यहाँ कतिपय उल्लेखनीय बातें ही संक्षेप में रखी जा रही हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' में संज्ञा, सर्वनाम या क्रिया-सूचक शब्दों में दो लिंग एवं दो वचन का ही प्रयोग प्रमुख रूप से हुआ है; किन्तु कहीं-कहीं प्राचीन प्रभाव के कारण 'नपुंसक' लिंग के अत्यल्प उदाहरण भी मिल जाते हैं—

1. ढोला मारू रा दूहा : पृ० १४०-६५।

—पूगल देश दुकाल थियु .... । २ ।।
—निकस्यू जात न तोहि । ३७३ ।।

विभक्ति तथा कारकों में कर्त्ता का कोई चिह्न नहीं मिलता । मूल रूप से काम चला लिया गया है । वैसे अन्य तत्कालीन प्रचलित विभक्ति-चिह्न तो मिलते ही हैं; छठी विभक्ति में दा, जी, चो, ची आदि चिह्नों की भी प्राप्ति होती है ।

सर्वनामों की शब्दावली में लोक प्रचलित सर्वनामों का भी समावेश हुआ है । विशेषणों की स्थिति हिन्दी से प्रायःमिलती-जुलती है ।

इस काव्यग्रंथ की क्रियाओं में संस्कृतमूलक क्रियाएँ भी हैं और तत्कालीन प्रचलित 'देशज' रूप की भी । अव्ययों में प्रायः प्रचलित एवं परम्परागत संबंध बोधक, समुच्च बोधक तथा विस्मयादि बोधक अव्यय ही ग्रहण किये गये हैं । चन्द्रायणा छंद के चौथे चरण में 'परिहाँ' नामक अर्थ हीन अव्यय का प्रयोग प्राप्त है ।

घः शब्द-समूह :

सार्थक शब्द काव्य के उपकरण हैं । कवि अपनी अभिव्यक्ति को पूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये परम्परित, लोकाचरित, सम्पर्क-अर्जित एवं किसी भी अन्य स्रोत से प्राप्त शब्दावली का संयोजन करता है । हर भाषा में इस तरह अन्य भाषाओं के शब्द पुष्कल परिमाण में प्राप्त होते हैं । जिस भाषा या कवि का शब्द-कोष जितना ही विशाल और विस्तृत होगा; उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही समृद्ध एवं सबल होगी ।

'ढोला मारू रा दूहा' में हमें अनेक प्रकार के शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है । अध्ययन की सुविधा के लिये प्रस्तुत काव्य के शब्द-समूह को निम्नाँकित शीर्षकों के अंतर्गत रखा गया है—

१. तत्सम, २. अर्द्ध तत्सम, ३. तद्भव ४. देशज, ५. इतर प्रान्तीय, ६. विदेशी, ७. ध्वन्यात्मक, ८. पर्याय ।

१. तत्सम शब्द :

संस्कृत के तत्सम शब्द इस काव्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं । कवि ने जहाँ अप्रस्तुत-योजना आदि में परम्पराभुक्त उपमान आदि का अवलम्ब लिया है; वहाँ उसने राजस्थानी के सहज मार्दव की रक्षा करते हुए तत्सम शब्दावली का बड़ी कुशलतापूर्वक नियोजन किया है । उदाहरणार्थ अधोलिखित शब्द प्रस्तुत किये जाते हैं—

राजा, अनूप, नारी, कटि, कुच, उत्तर, नीर, सखी, मदन, देह, कवि, चित्त, नदी, प्राण, अवगुण, धीर, विधाता, वर्ण, कंचन, विरह, डंबर, सज्जन, चिंता, नख, अंबर आदि ।

२. अर्द्ध-तत्सम :

तत्सम शब्दों की तनिक-सी विकृति इस श्रेणी के शब्दों में हमें मिलेगी । निम्नांकित शब्दों से अर्द्ध-तत्सम शब्द-रूपों की प्रकृति को सरलता से समझा जा सकता है—

दुकाल, पदमिणी, नाँम, काँम, उछाह, सुगाल, जँघ, नयण, लुब्ध, आसा, सज्जण, रितु, मधुरइ, मित्त, वियापी, केसरि, खीण, मन्न, भसम, अंकुस, भमर, सापणी, दीरघ, ग्याँन, हिरणाखी, मनमथ, व्रच्छ आदि ।

३. तद्भव शब्द :

'ढोला मारू' के इन दोहों में सर्वाधिक शब्दावली 'तद्भव' शब्दों की ही है। इसके मूल में लोक-प्रचलित एवं व्यावहारिक भाषा को महत्व देना ही प्रमुख कारण बना है। इस प्रयोग से भाषा आडम्बरहीन तथा सहज सौन्दर्यवती बन गई है। प्रायः हर दोहे में ऐसे शब्द मिलेंगे। यहाँ पर उदाहरण के लिये कुछ ऐसे ही शब्द द्रष्टव्य हैं–

राऊ, नयरे, अदिठा, दुकाल, काल, देसि, घोड़ा, लोग, कुँवर, राँणि, रीझी, देखे, धन्न, नाह, वीमाँह, द्याँ, हसिसी, अंब, सरवर, हिवइ, आइस, दीव, परणिया, सासरइ, अजे, वाल, भीमल, ताढा, गोरडी, नीपजइ, आम आदि ।

४. देशज शब्द :

देशज शब्दों से यहाँ दो अभिप्राय हैं। एक का सम्बन्ध 'आँचलिकता' से है और दूसरे का उन शब्दों से जिनकी व्युत्पत्ति परम्परागत शास्त्रीय शब्दावली में प्राप्त नहीं होती। ऐसे शब्दों का क्रमिक विकास बतलाना दुष्कर और असंभव है।

'ढोला मारू रा दूहा' में देश्य शब्दों की प्रचुरता भी है। इन शब्दों की मूल चेतना को न समझने के कारण इसके अर्थ-निर्णय में पूर्णतया न्याय नहीं हो पाया है। देशज शब्दावली आंचलिक स्पर्श की स्वाभाविकता का सजीवीकरण है। आलोच्य काव्य के देश्य शब्दों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

दीकरी, चित्राम, पाज, कुरलना, साँढिया, दाखूँ, मांगणहार, दियण, साख, हर, वाहला, धुकंती, पुलइ, भी, जंजालेइ, सल, टालिमा, विथूंभिया, साटवि, परिघल, कामणगारियाँ, तिलकस्यइ, टापर, रीठ, केकाँण, पागड़इ, रइवारी, तेड़ावियउ, डोका, कसवी, झेवयउ, टहूकड़ा, करंकउ, वासा, मोकला, लवूकी, जाल, छेतरियाह, वतक, थोवड़, वसाल, खील्यौरी, मोड़ो, डींभू, वीख, सरढी, रोही, उभाँखरा आदि ।

५. इतर प्रान्तीय शब्द :

इस काव्य में मरू-भाषा के क्षेत्र से सटे हुए प्रदेशों की भाषाओं के शब्द भी यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ शब्द इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

पंजाबी :

चाँहदी, तत्ता, चंगा, लज्ज, अज्ज, सैं, रत्ता, पटे आदि ।

गुजराती :

गेम, जेम, तेड़न, कागल, विजउ, मोकलूँ, केम, छेतरियाह, नूँ, ओलखिया आदि ।

व्रज :

भए आदि ।

मराठी :

नरवरचइ, मोकल्, ओल्खिया आदि ।

सिंधी :

म्हाँजी आदि ।

६. **विदेशी शब्द :**

'ढोला मारू रा दूहा' में अनेक विदेशी भाषाओं—विशेषकर मुस्लिम वर्ग—के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं—

अरबी :

अमले, साहिव, सलाम, हराम, कागल्, नजर, कासी, जहाज, खवास, तलफ, हवाल, फोज आदि ।

फारसी :

तर, वगसइ, गारा, कमाण, दाँवणि, दमाज, खुरसाँण, सकती, खिजमति, जीन, निसान, डूंगर आदि ।

तुर्की :

ठाकुर (तेगिन) ।

७. **ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द :**

ध्वनि के अनुरूप शब्दों का 'अनुकरण मूलक' प्रयोग काव्य-चमत्कार के साथ-साथ अर्थ-स्पष्टता एवं साकार चित्रात्मकता में भी सहायक होता है । इस कृति में ऐसे शब्दों का बड़ा ही फबता हुआ प्रयोग हमें मिलता है—

कलि्अल,टवक्क, झबूकड़ई, भड़िक, त्रिड़इ, झबझब, हल्फल्, ढहूकड़ा, टबूकइ, खड़हड़िया, चढक्कड़ा, डहक्क, लवथवती, घम्मघमंतइ, झवकइ, चढकउ, विल्-कुलि्यउ, सल्सल्इ, कणमणइ, कल्हल्यिा, तणक्कइ, हल्हल्, कुहक्कड़ा आदि ।

८. **पर्यायवाची शब्द :**

एक ही शब्द की बार-बार पुनरावृत्ति एकरसता उत्पन्न कर देती है । इस लिये सफल एवं कुशल कवि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते हैं । प्रस्तुत रचना में पुनरावृत्ति भी प्राप्त होती है और पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी—

निरर्थक पनरावृत्ति :

माँगी-ताँगी ।

पर्याय :

राजा :

राऊ, राउ, राइ, राव ।

प्रियतम :

नाह, वल्लहा, कंता, धणियाँ, वल्लहं, साहिब, प्रिव, संयणाँ, सज्जणियाँ, सज्जना, साजण, सायण, प्रीतम, प्यारा आदि ।

च : शब्द-शक्तियाँ :

'ढोला मारू रा दूहा' में तीनों ही शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का यथोचित प्रयोग है ।

१. अभिधा :

'ढोला-मारू रा दूहा' में अधिकतर अभिधा को ही भावाभिव्यक्ति का प्रसाधन बनाया गया है। इन अभिधेयार्थमूलक दोहों में स्वभावोक्ति के उत्तम निर्वाह के कारण जो मौलिक उद्भावनाएँ सरल और भावना-प्रधान शब्दों द्वारा व्यक्त हुई हैं; वे रसोद्रेक की अपूर्व क्षमता रखती हैं।

मारवणी ने अपनी हृदयस्थ विरह-भावना को सीधे-सादे शब्दों में जो इस प्रकार व्यक्त किया है वह मर्मस्पार्शिता के कारण अनूठी बन पड़ी है—

ऊनमि आई बद्दली, ढोलउ आयउ चित्त।
यो बरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ॥ ४१ ॥
कुँझड़ियाँ कलि.अल. कियउ, सुणी ज पंखइ वाइ।
ज्याँकी जोड़ी बीछड़ी, त्याँ निसि नींदँ न आइ ॥ ५८ ॥

कितने सार्थक शब्द हैं और कैसे सीधे? मर्मस्थल को सीधे स्पर्श कर सुसुप्त भाव जागृत करने में सर्वथा सक्षम।

अभिधा शक्ति के द्वारा अनेकार्थवाची शब्दों के अर्थ-निर्णय के भी अनेक ढंग प्रस्तुत काव्य में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

सा बाला प्री चिंतवइ, खिण खिण रयणि विहाइ।
तिण हर-हार परट्ठव्यउ, ज्यूँ दीवल.इ बुझाइ ॥ ५७८ ॥

यहाँ 'अन्य संनिधि' अर्थ-निर्णयानुसार महादेव का हार अर्थात् सर्प हुआ; क्योंकि दीपक पवन के बिना बुझ जाता है और सर्प ही पवन का भक्षण करने वाला कहा गया है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण है—

वहिलउ आए वल्लहा, नागर चतुर सुजाँण।
तुझ विण धण विलखी फिरइ, गुण विन लाल-कमाण ॥ १५५ ॥

यहाँ पर गुण अनेकार्थवाची है जिसके सद्गुण, डोरी, कारण, बलवूता आदि अर्थ लिये जा सकते हैं। किन्तु यहाँ 'साहचर्य' के कारण 'कमाण' के संदर्भ में गुण का अर्थ 'प्रत्यंचा' ही ग्रहण किया जायेगा।

इस तरह 'ढोला मारू' में अभिधा का रसात्मक रूप हर मार्मिक प्रसंग में प्रवाहित होता हुआ दिखाई पड़ेगा। यह इसलिये भी हुआ है कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही कवि का उद्देश्य रहा है, शिल्प-विधान की वक्रता नहीं। जिस शब्द-शक्ति को शास्त्र की चहार-दीवारी में उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं, उसका वैभव 'ढोला मारू' में लुटा पड़ा है।

२. लक्षणा :

'ढोला मारू' के कवि ने लक्षणा का सहारा लेकर ऐसे शब्द-चित्र प्रस्तुत किये हैं जो प्रमाता के चित्त में वर्ण्य-विषय का पूर्ण विम्ब जगाते हैं और मूर्त्त करते हैं—

याह निहालई, दिन गिणई, मारू आसालुध्ध।
रदेसे धाँवल घणा, दिखउ न जाणइ मुध्ध ॥ १७ ॥

आजे रली-वधाँमणाँ, आजे नवला नेह।
सखी अम्हीणी गोठ मइँ, दूधे वूठा मेह।। ५५६।।

प्रथम छन्द में प्रियतम प्रतीक्षा में दिन गिन रही विरह-कातर मुग्धा का सजीव चित्र है और द्वितीय छन्द में प्रियतम के आगमन पर उसकी गोष्ठी में दूध का मेह बरस रहा है। इस तरह हर भावना-प्रसंग में कवि ने मनोवेगों की जागृति में तीव्रता लाकर बिम्ब-ग्रहण करवाया है।

लक्षणा के अनेक भेदाभेद भी हमें 'ढोला मारू' में मिलते हैं। रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण देखिये—

साहिब आया, हे सखी, कज्जा सहु सरियाँह।
पूनिम-केरे चन्द ज्यूँ, दिसि च्यारे फलियाँह।। ५२८।।

दिशाएँ कोई वृक्ष नहीं हैं कि फलें; परन्तु ऐसा कहने की परम्परा है। यहाँ 'फलियाह' प्रफुल्लित या आनंदित होने का द्योतक है; इसलिये रूढ़ि-लक्षणा हुई। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

हंस चलण, कदलीह जँघ, कटि केहर जिम खीण।
मुख सिसहर, खंजर नयण, कुच श्रीफल, कँठ वीण।। २३।।

इसमें मुख को चन्द्र, नैत्रों को खंजन, कुच-युगल को श्रीफल और कंठ को वीणा कहा गया है। इसमें मुख्यार्थ में वाधा होती है। अतः यहाँ गौणी प्रयोजनवती लक्षणा है क्योंकि समान गुणों से लक्ष्यार्थ का बोध होता है।

निम्नलिखित दोहे में कवि ने उपमानों के माध्यम से मारवणी का रूप-सौन्दर्य चित्रित किया है—

मारू-घूंघटि दिट्ठ महँ, एता सहित पुणिंद।
कीर, भमर, कोकिल, कमल, चँद, मयँद, गयँद।। ४५५।।

इसमें कीर, भ्रमर, कोकिल, चँद्र, सिंह, हाथी और फणीन्द्र उपमान क्रमशः नासिका, भ्रू, वाणी, नैत्र, मुख, कटि, गति और वेणी के लाक्षणिक हैं।

इस प्रकार 'ढोला मारू' में लक्षणा का वैभव भी खूब प्राप्त है जो लक्ष्यार्थ को स्पष्ट करने के साथ-साथ अपनी प्रभविष्णुता के कारण रसोद्रेक में भी पूर्णरूपेण सहायक है।

३. व्यंजना :

व्यंजना शब्द-शक्ति काव्य में सशक्तता और सरसता का संचार करती है। अभिधा और लक्षणा केवल शब्द के बल पर ही अर्थ बोध कराती है किन्तु व्यंजना अर्थ के बल पर भी अन्यार्थ को व्यंजित करती है। 'ढोला मारू' में इसके भी अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। कवि जहाँ स्वानुभूति की गहनता में प्रवृत्त हुआ है, वहाँ उसने मारू की व्यथा को व्यंग्यार्थ द्वारा अत्यन्त सशक्तता प्रदान की है—

चहुँ दिस दामिनि सघन घन, पीउ तजी तिण वार।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार।। ३७।।

पावस में विरहिणी की दारुण विरह-व्यथा से यह पावस-प्रसंग अत्यन्त व्यंजनात्मक हो उठा है।

कुल और धर्म गुणावलम्बी मालवणी प्रियतम का पीछा करने में कैसी असमर्थ है—

छोटी वोख न आपड़ाँ, लाँवी लाज मरेहि ।
सयण वटाऊ वालरे, लंवउ साद करेहि ।। ३८४ ।।

खंडित चंद्रमा को लक्ष्य कर मालवणी ने कैसी अनूठी उक्ति कही है—

चंदा तो किण खंडियउ, मो खंडी किरतार ।
पूनिम पूरउ ऊगसी, आवंतइ अवतार ।। ३९५ ।।

'ढोला मारू' में व्यंजना का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है। कवि किसी वस्तु को स्पष्ट न कहकर सांकेतिक व्यंजना में ही उसे व्यक्त करता है—

आज उमाहउ मो घणउ, ना जाँणूँ किव केण ।
पुरुख परायउ वीर वड, अहर फुरक्कइ केण ।। ५१८ ।।

यहाँ उल्लास का कारण ध्वनित है।

इसी प्रकार विरहगत असह्यता की व्यंजना द्रष्टव्य है—

हल्लउँ हल्लउँ मत करउ, हियड़इ साल. म देह ।
जे साचे ई हल्लस्यउ, सूताँ पल्लाँणेह ।। ३०५ ।।

दोहे के चतुर्थ चरण में व्यंग्यार्थ का बोध होता है।

'ढोला मारू' में विरह और संदेश प्रसंग में कवि ने व्यंजना का अवलम्ब लेकर अभिव्यक्ति को इस तरह हृदय-संवेद्य बनाया है। ऐसा हर पद कवि के व्यंजना कौशल का कीर्ति-स्तम्भ बन गया है जिसके शब्द तो सरल हैं पर पैंठ बड़ी गहरी है; वर्ण तो कोमल हैं पर चोट बड़ी पैनी है।

'ढोला मारू रा दूहा' के कवि ने अपने कर्म में तीनों का यथास्थान प्रयोग किया है फिर भी अभिधा और लक्षणा का पलड़ा भारी है। 'ढोला मारू' एक सहज अलंकृति की सरस रचना है। अतः इसमें शब्द-शक्तियों के शास्त्रीय भेदोपभेद तो नहीं मिलेंगे। लेकिन इस काव्य के शब्द इतने सशक्त हैं कि वे सूक्ष्म-आभ्यन्तर भावों को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में सक्षम हैं। अर्थगत-वक्रता व्यंजना का मूल है। प्रसंगानुकूल कवि ने व्यंजना को भी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया है। इस वक्रोक्ति में अत्यधिक बुद्धिगत चमत्कार का अभाव है। इसमें प्रयुक्त व्यंजना भी सहज कलात्मक है।

छ : गुण :

हर वर्ण में एक विशेष गुण निहित होता है। यही गुण शब्द और अर्थ में भी व्यक्त होता है। 'ढोला मारू रा दूहा' में माधुर्य, प्रसाद, ओज जैसे प्रमुख गुणों की उपस्थिति है—

१. माधुर्य गुण :

आचार्य विश्वनाथ ने इसे चित्त को द्रवीभूत करके आह्लाद-युक्त बनाने वाला

गुण कहा है ।[१] इसमें ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से म तक के स्पर्श-वर्णों; अनुस्वार ङ, ञ, ण, न, म से युक्त ह्रस्व स्वर तथा असमस्त पदों (या समास का अभाव या अल्प समास के पद) का प्राधान्य रहता है। कोमल एवं ललिल पदावली वाले इस माधुर्य का सम्वन्ध हमारे चित्त की द्रुति या द्रवणशील-वृत्ति से है। अतः रसों में शृंगार, शान्त एवं करूण ही माधुर्य गुण के अनुकूल हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' में मानव-मन की विरहाभूति का कोमलतम स्वरूप व्यंजित हुआ है। अतः इसमें माधुर्य की ही प्रधानता है। प्रेम और शृंगार के उत्स इस काव्य में चित्त को द्रवीभूत करने एवं आह्लाद युक्त वनाने की अपूर्व क्षमता है। 'ढोला मारू' तो माधुर्य गुण की ही रस-निधि है और उदाहरणार्थ एक-एक से वढ़कर इसके छन्द रखे जा सकते हैं—

चहुं दिस दामिनि सघन घन, पीउ तजी तिण वार।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार॥ ३७॥
गिरह पखालण, सर भरण, नदी हिंडोलण हारि।
सूती सेजइँ एकली, हइ हइ दइव म मारि॥ ४७॥
भरइ, पलट्टइ, भी भरइ, भी भरि, भी पलटेहि।
ढाढी हाथ संदेसड़ा, धण विललंती देहि॥ १८२॥
आसालुध्धी हूँ न मुइय, सज्जन जंजालेइ।
मारू सेकइ हथ्थड़ा, झीणे अंगारेइ॥ २०६॥

शृंगार रस से स्निग्ध इन ललित वर्णों की मिठास में मिलने की ललक और विरह की कसक झलकती है। वर्ण-मैत्री और आनुप्रासिकता के कारण कहीं-कहीं परुष वर्ण भी परुषता प्रदान नहीं करते। सर्वत्र कवि ने सरस प्रसंगों में सरस शव्दावली का ही संयोजन किया है जिससे 'ढोला मारू' माधुर्य का मानसरोवर वन गया है।

२. प्रसाद गुण :

इसका सम्वन्ध हमारे चित्त के विकास से अर्थात् चित्त को खिला देने से है। जिसके चित्त में उदय होते ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। यह सहृदय-हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जैसे सूखी लकड़ी में आग। इस 'प्रसाद' के अभिव्यंजक साधन वे शव्द हैं जिनके अर्थ उनके श्रवणमात्र में ही झलक उठते हैं। सरल, समास-रहित ऋजुवर्ण-माला ही प्रसादत्व की दायक है।

'ढोला मारू रा दूहा' में प्रसादिकता के सुन्दर उद्धरण उपलब्ध होते हैं—

राजा परजा, गुणियजण, कविजण, पण्डित, पात।
सगलाँ मन ऊछव हुअउ, वूठँतो वरसात॥ ४०॥
हूं कुँमलाणी कंत विण, जलह विहूणी वेल।
विणजारा री भाइ जिउँ, गया धुकंती मेल्ह॥ १६३॥

---

१. साहित्य-दर्पण : ८-३।

सोई सज्जण आविया, जांहकी जोती वाट।
थांभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ।। ५४१ ।।

अंतिम दोहे में तो ताथेई-ताथेई की ताल और सुन्दर संगीत की संगति मिलाई गई है। कवि ने जो वर्ण-तत्समता को छोड़कर तद्भवता का अंचल पकड़ा है, उससे भी भाषा सहज रूप के अधिक निकट आ गई है और इस तरह प्रसाद गुण पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हुआ है।

३. ओज गुण :

इसका हमारे चित्त की उत्तेजना-वृत्ति अथवा दीप्ति से सम्बन्ध है। किसी रचना में इस गुण की प्रतिष्ठा द्वित्व वर्णों, संयुक्त-वर्णों, र का संयोग और ट, ठ, ड, ढ तथा समासाधिक्य कठोर वर्णों के आधिक्य के कारण होती है।

'ढोला मारू' की वीणा से मधुर स्वर ही निःसृत हुए हैं। ओज का प्रसंग उपस्थित होने पर भी कवि ने निपात राह चलते ही उसका परिचय कराया है। ऊमर-प्रसंग में इसकी झलक अवश्य प्राप्त की जा सकती है—

एही भली न, करहला, कलहलिया कइकाँण।
का प्री, रांगा प्राँण करि, काँइ अचंती हाँण ।। ६२७ ।।
ऊमर दीठी मारुई, डींभू जेही लंकि।
जांणे हर सिरि फूलड़ा, डाके चढ़ि डहक्कि ।। ६३९ ।।
ऊमर ऊतावलि करइ, पल्लाणियाँ पवंग।
खुरसाणी सूधा खंयंग, चढ़िया दल चतुरंग ।। ६४० ।।
ऊमर दीठा जावता, हलहल करइ करूर।
एराकी ओखम्भिया, जइसइ केती दूर ।। ६४१ ।।

इस शब्दावली में अवश्य थोड़ी कर्कशता है और ओज प्रदीप्ति है। अन्य स्थानों पर भी संयुक्ताक्षर और ट वर्ग के वर्ण व्यवहृत हुए हैं पर वे ओज उत्पन्न नहीं करते। माधुर्य-रत्नाकर में ही डूबे हुए हैं और उसके पोषक बने हुए हैं।

ज : मुहावरे और लोकोक्तियाँ :

शैली का मूल गुण अर्थ-गांभीर्य है। कम शब्दों में गंभीर भाव-प्रकाशन एवं स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक भावाभिव्यंजना के लिये कवि मुहावरे और लोकोक्तियों का सहारा लेते हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में इनका सुन्दर सन्निवेश हुआ है।

१. मुहावरे :

अरबी भाषा के 'मुहाविरे' को हिन्दी ने मुहावरे में रूपान्तरित कर अपनाया है। वह शब्द-समूह जो सामान्य शाब्दिक अर्थ से भिन्न किसी विशेष अर्थ का द्योतन कराता है, उसे मुहावरा कहते हैं। इनमें भाषा का लाक्षणिक चमत्कार रूढ़ होकर समाविष्ट हो जाता है।

'ढोला मारू' में मुहावरों का नियोजन और सिद्धहस्त प्रयोग भी देखते ही बनता है। कवि ने भाषा में चुस्ती, मधुरता और सरसता लाने तथा भावाभिव्यंजना

को प्रौढ़ और सशक्त बनाने हेतु अनेकानेक लोक प्रचलित मुहावरों का सफल प्रयोग किया है जिनकी दीर्घ सूची इस प्रकार दी जा सकती है—

रीझना, हँसी उड़ाना, निःश्वास भरना, थाह खोजना, वाट जोहना, दिन गिनना, तड़प-तड़प कर प्राण देना, नमक छिड़कना, नैत्रों का वरसना, आँख न लगना, अंग-अंग पर आरी चलना, प्रेम-रंग में रंगना, हृदय का हुलसित होना, भाग्य का विपरीत होना, रोम-रोम में समाना, नींद हराम होना, किया-कराया नष्ट होना, रो-रो कर दृष्टि खो देना, कलेजा फटना, भूल कर भी याद न करना, काम बिगड़ना, सीख करना, गिरते आकाश को थामना, हृदय फटना, हवा होना, घात खेलना, जीभ के टुकड़े-टुकड़े होना, मन सूना होना, कौड़ी के मोल विकना, धाड़ मार कर रोना, हाथ मलना, कंठ रुँध जाना, पीला पड़ना, अपना रास्ता पकड़ना आदि ।

इनके अतिरिक्त प्रयुक्त अनेक मुहावरे तो ऐसे हैं जो राजस्थानी के अपने ही हैं और जिनसे संवलित होकर भाषा सीधी हृदय को स्पर्श करने वाली बन गयी है । उदाहरण के लिये ऊचाला करना,[1] गुहिर गंभीर गाजना,[2] हर करना,[3] दल चढ़ना,[4] संदेसा भरना,[5] डेरा देना,[6] झड़ मंडणा,[7] सीख देना,[8] आमण-दूमण होना,[9] औलग,[10] पलाण माँडना,[11] तेड़ना,[12] लाड लडाना,[13] ऊमाहना,[14] नीरणा,[15] दूध का मेह वरसना,[16] मल्हाना [17] आदि लिये जा सकते हैं जो प्रकृति से राजस्थानी के ही हैं, जिन पर प्रयोग की राजस्थानी रंगत चढ़ी हुई है । भाषा की सजीवता और पुष्टि के अतिरिक्त इन मुहावरों में सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक-अर्थ-द्योतन की भी क्षमता है ।

इस तरह 'ढोला मारू' के मुहावरे अपने सामयिक और सुन्दर सन्निवेश के कारण उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-गांभीर्य लाने में पूर्ण सहायक प्रतीत होते हैं ।

२. लोकोक्तियाँ :

काव्य में लोकोक्तियों का महत्व कम नहीं होता । लोकोक्ति में जीवन का सत्य संक्षेप में प्रकट होता है और इस कारण इनके प्रयोग से काव्य लोक-भावना के अति निकट आ जाता है ।

लोकोक्ति के दो प्रकार होते हैं—पहेली और कहावत । लोकोन्मुखी काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' में इन दोनों का ही अल्पाधिक अंश में दर्शन होता है ।

प्रहेलिका :

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इन्हें 'बुद्धि पर शान बढ़ाने का यन्त्र' या 'स्मरण शक्ति और वस्तु-ज्ञान बढ़ाने की कलें' कहा है । उनका कहना है कि गाँव वालों को

१. दो. सं. २ । २. दो. सं. १८ । ३. दो. सं. १३८ ।
४. दो. सं. १६९ । ५. दो. सं. १८२ । ६. दो. सं. १८७ ।
७. दो. सं. १८८ । ८. दो. सं. २०९ । ९. दो. सं. २१८ ।
१०. दो. सं. २२४ । ११. दो. सं. ३२९ । १२. दो. सं. ३३१ ।
१३. दो. सं. ४१७ । १४. दो. सं. ४२४ । १५. दो. सं. ४२८ ।
१६. दो. सं ५५६ । १७. दो. सं. १९६ ।

न सूर मिले, न तुलसी, न कबीर, न केशव; उन्होंने युगों से चली आई ज्ञान की इस घुमावदार सलोनी नदी को अभी तक सूखने नहीं दिया। ऋग्वेद का यह देवता देहाती रूप में आज भी हमारे सामने है। सभ्य और शिक्षित समाज के लिये ग्रामीणों के पास यह अनमोल निधि संचित है।[1] डॉ० सत्येन्द्र पहेली की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि लोक-मानस इसके द्वारा अर्थ-गौरव की रक्षा करता है और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षा का साधन है भाव से इसका सम्बन्ध नहीं होता, प्रकृत को गोप्य करने की चेष्टा रहती है, बुद्धि कौशल पर निर्भर करती है।[2]

'ढोला मारू रा दूहा' में नायक ढोला और नायिका मारू के मिलन-प्रसंग पर कवि ने प्रहेलिका आयोजन किया है।[3] ढोला पहेली पूछता है और मारू उसका उत्तर देती है। ये पहेलियाँ अपभ्रंश-युगीन हैं और प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त इनमें अनेक कवि आनन्दवर विरचित 'माधवानलाख्यानम्' (संस्कृत) और कुशललाभ की 'माधवानल कामकन्दला चउपई' में भी प्राप्य हैं।[4]

यह प्रहेलिका आयोजन राजस्थानी संस्कृति की सुष्ठु झलक भी प्रस्तुत करता है। ग्रामीण-समाज द्वारा इसके रंजनात्मक स्वरूप की रक्षा हुई है। ससुराल में जामाता को आज भी स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त इस पहेली-अस्त्र का सामना करना पड़ता है, यद्यपि मनोरंजन के अनेक नवीन साधन ठेठ देहात तक पहुँच चुके हैं।

इस शब्द की मूल धातु 'कथ्' है और इसका साधारण अर्थ है–जो कहा जाये। पर यह ऐसा कथन है जो मिटता नहीं–'काल गया पर कहावत रह गई'। इसीलिये टेनिसन ने कहावतों को 'अनन्त काल की अंगुली पर सदा जगमगाने वाले रत्न' कहा है।[5] इनमें जीवन का दीर्घकालीन अनुभव संचित रहता है। डिजरायली का कथन है कि शताब्दियों के बीत जाने पर भी लोकोक्ति रूपी मानसिक फर्नीचर में दीमक नहीं लगता।[6] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं कि लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं............जिन्हें बुद्धि और अनुभव से फूटने वाली ज्योति प्राप्त है।[7] "सामूहिक ज्ञान तथा अनुभवों से ये जन्म लेती हैं।"[8]

कहावत के तीन अपरिहार्य तत्व हैं–संक्षिप्तता, सारगर्भिता और सप्राणता। इस तरह भाषा की रसात्मकता, प्रवाहमयता, हृदयस्पर्शिता और सप्राणता में कहावतों का बड़ा सहयोग है।

---

१. भारतीय लोक साहित्य : डॉ० श्याम परमार : पृ० १६४ से उद्धृत।
२. बृज लोक साहित्य का अध्ययन : पृ० ५२०।
३. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : दो. सं. ५६६ से ५८० तक।
४. माधवानल कामकन्दला प्रबंध : वाल्यूम १ : श्री मजूमदार : पृ० ३५४।
५. साहित्य : वर्ष ६, अंक १ : पृ० २३ से उद्धृत।
६. साहित्य : वर्ष ६, अंक १ : पृ० २१ से उद्धृत।
७. भारतीय लोक साहित्य : डॉ० श्याम परमार : पृ० १८४ से उद्धृत।
८. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन : डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय : पृ० ४२६।

कहावतें :

यों तो राजस्थानी साहित्य कहावतों के प्रयोग में भी बड़ा समृद्ध रहा है परन्तु 'ढोला मारू रा दूहा' में कहावतों के प्रयोग की बहुलता दृष्टिगत नहीं होती। कहावतों की अपेक्षा कवि ने मुहावरों को अधिक गले लगाया है। कहावत का निम्नांकित प्रयोग कथन की प्रभविष्णुता के साथ नारी के पुरुष पर अवलम्बित जीवन का संकेत भी करता है—

ज्याँ पग दीधा पागड़इ, बाग उवांही हथ्थ ।। ४११ ।।

फारसी की एक कहावत है—दूराँ बाबसर नजदीक व नजदीकाँ बेबसर दूर। अर्थात् दूरस्थित रसिक के लिये पास है और निकटस्थ अरसिक के लिये दूर है।[1] 'ढोला मारू' का निम्नांकित दोहा इस भाव के कितना समीप है—

ससनेही समदाँ परइ, वसत हिया मंझार।
कुसनेही घर आँगणई, जाँण समंदाँ पार ।। २२ ।।

फिर भी कहावतों की दृष्टि से यह काव्य धनी नहीं है। डॉ० कन्हैयालाल सहल ने इस ओर इंगित किया भी है कि लोक-प्रचलित कहावतों का इस ग्रंथ में अभाव है, भले ही इसकी अनेक पंक्तियों को कहावतों की सी प्रसिद्धि मिल गई है।[2] इस काव्य के सन्देश, विरह और देश-वर्णन से सम्बद्ध अनेक स्थलों की पंक्तियाँ अर्थ-वाद के रूप में प्रयुक्त होने पर भी कहावतों की भाँति प्रचलित हो गयी हैं। यों जिन कहावतों का प्रयोग हुआ है वह पर्याप्त पटुता के साथ हुआ है।

(आ) शैली :

शैली का सम्बन्ध शील से है जिसका अर्थ स्वभाव है। कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका में 'इयं आचार्याणाम् शैली' लिखकर शैली से स्वभाव का तात्पर्य लिया है।[3] 'शीलमेव स्वार्थे ष्यङ् ङीपि य लोपः' अर्थात् शील शब्द में 'ष्यङ' और 'ङीप' प्रत्ययों के योग से शैली शब्द बना है।[4] संस्कृत में यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है जो आज पाश्चात्य साहित्य में रूढ़ है। आज हम जिस अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं वह अंग्रेजी शब्द 'स्टाइल' (style) के पर्याय के रूप में है।

संस्कृत के काव्य-शास्त्रों में शैली से समान भाव रखने वाले रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, मार्ग आदि शब्द हैं। यद्यपि इनमें पारस्परिक अन्तर है फिर भी ये काव्य की रचना-प्रणाली से सम्बन्धित हैं और शैली से यही तात्पर्य लिया जाता है। वाल्टर पेटर के शब्दों में हम ऐसे अनुपम शब्द, मुहावरे, वाक्य, गीत आदि को शैली कह सकते हैं जो हृदय के भावों एवं मस्तिष्क के विचारों को उचित रुप से अभिव्यक्त कर

१. मालिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य : डॉ० शिव सहाय पाठक : पृ० ३७७।
२. राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन : पृ० १९२।
३. साहित्य शास्त्र : डॉ० मुन्शीराम शर्मा : पृ० १४४ से उद्धृत।
४. संस्कृत-अंग्रेजी कोष : श्री आप्टे : पृ० ९२७।

सके ।[1] एबर कोम्बी ने शैली को भाषा की ऐसी आदत कहा है जो जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सुन्दर ढंग से प्रकट करने में समर्थ होती है ।[2]

कवि का तो व्यक्तित्व उसकी शैली से भासित होता ही है, परन्तु वस्तु और शैली का भी अटूट सम्बन्ध है और इनका पार्थक्य कठिन है। डॉ० गुलाबराय इसलिये वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को ही शैली कहते है ।[3] आचार्य श्याम सुन्दर दास शैली की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि साहित्य में अभिव्यक्ति की प्रणाली को शैली कहते हैं क्योंकि शैली का शाब्दिक अर्थ भी रचना-प्रणाली या अभिव्यक्ति का ढंग है ।[4]

शैली लेखक के बुद्धि, भाव और कल्पना—तीनों तत्वों को प्रदर्शित करने का कार्य करती है। इस दृष्टि से बौद्धिक तत्व के गुण—यथार्थता, स्पष्टता (प्रसाद गुण) और उपयुक्तता (औचित्य); भाव तत्व के गुण—प्रवेश, शक्ति और ध्वन्यात्मकता तथा सौन्दर्य तत्व के गुण—संगीतात्मकता, आन्तरिक सौन्दर्य, वाह्य सौन्दर्य और आकर्षण आदि शैली में विद्यमान रहने चाहियें ।[5] कुछ विद्वान इसमें ओजस्विता, सजीवता, प्रौढ़ता, प्रभावशालीनता आदि गुणों का रहना अभीष्ट समझते हैं ।[6]

डॉ० गुलाबराय का कथन है कि शैली का व्यापक गुण है अनेकता में एकता और एकता में अनेकता। एकता के विना अनेकता विरोध, वैषम्य और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेती है और विना अनेकता के एकता रंक और दरिद्र है ।[7] वस्तुतः शैली में अनेक गुणों का समन्वित स्वरूप होता है और इस दृष्टि से जो शैली जितनी सम्पन्न होगी; उतनी ही प्रेषणीय होगी।

'ढोला मारू रा दूहा' की शैली का अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है—

क : अभिव्यक्ति की दृष्टि से :

अरस्तू के मतानुसार शैली की पूर्णता स्पष्टता एवं सरलता में है ।[8] इस अभिव्यक्ति की दृष्टि से शैली के चार प्रकार किये जा सकते हैं—

१. सरल शैली, २. अलंकृत शैली,
३. क्लिष्ट शैली और ४. गूढ़ शैली।

'ढोला मारू रा दूहा' में इन चारों ही शैलियों की प्राप्ति होती है।

१. एप्रिशिएसन : पृ० २५-६ ।
२. दी आइडिया ऑफ ग्रेट पोइट्री : पृ० २४ ।
३. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० २३२ ।
४. साहित्यालोचन : पृ० ८३, ३०२ ।
५. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : पृ० ९९-१०१ ।
६. काव्य-दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र : पृ० ३५२ ।
७. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० २३६ ।
८. एरिस्टोटल्स थ्योरी ऑफ पोएट्री एण्ड फाइन आर्ट्स : पृ० ८१ ।

१. सरल शैली :

प्रसाद गुण की प्रधानता रहने के कारण इस शैली में सरलता एवं सुबोधता विशेष रूप से पायी जाती है। 'ढोला मारू' में सर्वत्र सरल शैली के दर्शन किये जा सकते हैं—

पूगल देस दुकाल थियु, किणहीं काल विसेसि।
पिंगल ऊचाल उ कियउ, नल नरवरचइ देसि ।। २ ।।

इसी शैली-सारल्य के कारण ही 'ढोला मारू' ने अत्यन्त प्रचार-प्रसार पाया और वह जन-जन का कण्ठहार बना।

२. अलंकृत शैली :

अलंकारों के आधिक्य और सुमधुर शब्दों के संयोजन से अलंकृत शैली का निर्माण होता है। 'ढोला मारू रा दूहा' में इस शैली का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है; किंतु रीतिकालीन काव्यों की तरह अलंकृत शैली का आडम्बर नहीं है—

जिम मधुकर नइ कमलणी, गंगा सागर वेल।
लुबधा ढोल्उ-मारुवी, कांम-कतूहल-केल ।। ५६२ ।।

वस्तुतः इस काव्य में शुद्ध अलंकृत शैली की उपलब्धि अत्यल्प स्थानों पर ही मिलेगी।

'ढोला मारू' की अलंकृति नैसर्गिक है, यत्नसाध्य और कृत्रिम नहीं। इस कारण सौकुमार्य, माधुर्य और मार्दव अनायास ही इसकी शैली में आ गये हैं। अलंकृत शैली को सरल शैली में समन्वयात्मक रुप देकर इसके रचनाकार ने स्वप्न, स्मरण, विरह, संयोग आदि के वर्णनों को प्रस्तुत किया है; जो प्रभावोत्पादक होने के साथ-साथ सरलता में भी वेजोड़ हैं।

३. क्लिष्ट शैली :

क्लिष्ट या गुम्फित शैली में लम्वे-लम्वे वाक्यों का प्रयोग होता है। वाक्यों के अन्तर्गत ही अनेक वाक्यों का संगुंफन इस प्रकार होता है कि पाठक उसके भावादि को वड़ी क्लिष्टापूर्वक समझता है।

'ढोला मारू रा दूहा' इस शैली से वंचित है। यद्यपि इसमें लम्बे विरह, विलाप और वर्णन प्रस्तुत हुए हैं; तथापि दोहा छन्द की संक्षिप्तता और मर्यादा के कारण उसमें लम्बे-लम्वे वाक्य, अन्तर्वाक्य और सामासिक पदावली की संभावना नष्ट हो जाती है। यदि किसी प्रसंग में भावों का क्रमानुगत प्रदर्शन है तो वहाँ रचनाकार ने वाक्य या पदों को दोहरा कर सरलता भर देने का प्रयत्न किया है। संदेश और विरह-प्रसंगों में ऐसा पुनरावर्तन देखा जा सकता है। भाषा की संक्षिप्तता और भावों के सुनियोजन के कारण शैली का सुसंहित (compactness) गुण इसमें भर गया है।

४. गूढ़ शैली :

काव्य में लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता के लिये शब्द-क्रीड़ा का सहारा लिया जाता है। ऐसी शैली में दूरारूढ़ कल्पना द्वारा काव्य-कौशल प्रकट किया जाता है। 'ढोला मारू रा दूहा' में एक-दो उदाहरण इस शैली के भी प्राप्त हो जायेंगे

जहाँ इसका साभिप्राय प्रयोग हुआ है—

> इन्द्रां-वाहण-नासिका, तासु तणइ, उणियार ।
> तम भख हुवइ प्राहुणउ, तिणि सिणगार उतार ।। ५८० ।।

यहाँ पाहुना (प्रियतम), इन्द्र के वाहन (हाथी) की नासिका (सूँड) के समान आकृति वाले (साँप) का भक्ष्य हो गया । इसमें गूढ़ता है । ऐसे दोहे 'ढोला मारू' में अत्यल्प हैं ।

ख : परम्परा की दृष्टि से :

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी की चार मुख्य शैलियाँ मानी हैं—जैन शैली, चारण शैली, संत शैली और लौकिक शैली ।[1] 'ढोला मारू' की शैली लौकिक शैली के अन्तर्गत ही गृहीत होगी; किन्तु इसमें अन्य तीन शैलियों के कतिपय गुणों का भी समावेश मिलता है ।

जैन-शैली के 'चरित्राख्यान' का कुछ अंश प्रस्तुत काव्य में देखा जा सकता है । 'अइ' और 'अउ' रूपों का प्रयोग भी इसमें हुआ है । चारण शैली की तरह इसमें तद्भव शब्दों, व्यंजन-द्वित्व, वैण सगाई, आदि का भी स्पर्श है । संत शैली के अनुसार इस कृति में बोलचाल की राजस्थानी के शब्द, अन्य भाषाओं के खिचड़ी शब्द आदि भी सरलता से ढूँढे जा सकते हैं ।

वस्तुतः उपर्युक्त तीनों प्रकार की परम्परागत शैलियों की कतिपय विशेषताओं को ग्रहण करके भी 'ढोला मारू' की शैली 'लौकिक शैली' ही है । इस काव्य में लोक-मानस की यथार्थ झाँकी एवं तत्कालीन युग की वाणी-साधना सुरक्षित है । इस जातीय काव्य में लोक-जीवन की सहज मानवीय भावनाएँ प्रेमी-युगल के माध्यम से प्रकट हुई हैं । यहाँ की स्थानीय रंगत (आँचलिकता) इसी शैली के द्वारा इसमें अभिव्यंजित है ।

ग : कथन की दृष्टि से :

कथन की दृष्टि से सामान्यतः तीन प्रकार की शैली हो सकती है और उन तीनों ही शैलियों का कवि ने इस काव्य में प्रयोग किया है ।

१. उत्तम पुरुष में :

संदेश की प्रधानता होने के कारण इस रचना में अनेक स्थलों पर 'उत्तम पुरुष' या 'मैं' के रूप में ही कथन प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणार्थ जाल वृक्ष का कथन देखिये—

> ना हूँ सींची सज्जणे, ना वूठउ अग्गालि ।
> मो तलि, ढोलउ वहि गयउ, करहउ बाँध्यउ डालि ।। ३९२ ।।

२. मध्यम पुरुष में :

सम्पूर्ण काव्य में सम्बोधनों की अधिकता के कारण मध्यम पुरुष में कथन की शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है यथा—

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० ५ ।

करहा, नीरुं जउ चरइ, कंटालउ नइ फोग।
नागरवेलि किहाँ लहइ, थारा थोवड़ जोग ॥ ४२८ ॥

३. अन्य पुरुष में :

जहाँ कवि ने अपनी ओर से ही वर्णन, टिप्पणी आदि प्रस्तुत की है; वहां पर ही ऐसी शैली प्राप्त होती है। अन्य पुरुष में कथन की शैली के इस कृति में कम अंश हैं—

ढोलउ मन चलपत थयउ, ऊभउ साहइ लाज।
साम्हउ वीसू आवियउ, आइ कियउ सुभराज ॥ ४४७ ॥

घ : वर्णन तथा चित्रण की दृष्टि से :

शैली का एक अंश वर्णन भी है। विषय-निरूपण हो या वृत्त-वर्णन हो, 'ढोला मारू रा दूहा' में सर्वत्र ही भावात्मक शैली के दर्शन होते हैं। शुष्क-वर्णन तथा नाम-परिगणन वाले प्रसंगों का इसमें सर्वथा अभाव है।

प्रस्तुत काव्य में प्रादेशिक ऋतु वर्णन,[१] करहा-वर्णन,[२] कूप-वर्णन,[३] जीवन-चर्या वर्णन,[४] स्वभाव-वर्णन,[५] कष्ट-वर्णन,[६] रमणी-रूप वर्णन,[७] वेश-भूषा वर्णन[८] आदि अनेक वर्णन आये हैं। परन्तु घटना-प्रधान काव्य न होने के कारण इन वर्णनों में विस्तार नहीं है। सभी वर्णन सहज एवं स्वाभाविक रूप में भावों के साथ संश्लिष्ट होकर चित्रित हुए हैं। इन सभी वर्णनों में कवि की दृष्टि भाव-प्रधान रही है और उसने सजीव भावात्मक चित्र प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ कतिपय दोहे द्रष्टव्य हैं—

१. प्रसंग वर्णन :

सारीखी जोड़ी जुड़ी, आ नारी अउ नाह।
राँणी राजासूं कहइ, कीजइ अउ वीमाँह ॥ ६ ॥

२. गुण वर्णन :

थल भूरा, वन झंखरा, नहीं सु चंपउ जाइ।
गुणे सुगंधी मारवी, महकी सहु वणराइ ॥ ४६८ ॥

३. शील-निरूपक वर्णन :

गति गंगा, मति सरसती, सीता सील सुभाइ।
महिलाँ सरहर-मारुई, अवर न दूजी काइ ॥ ४५१ ॥

---

१. दो. सं. २४१, २५३, २९२ आदि।
२. दो. सं. ८१, ३४३, ३४५, ६२९ आदि।
३. दो. सं. ५२३, ५८४ आदि।
४. दो. सं. ६५६-५७-५८-५९ इत्यादि।
५. दो. सं. ४८५ एवं अन्य।
६. दो. सं. ६६०-६१-६२ इत्यादि।
७. दो. सं. ४५१, ४५२ आदि।
८. दो. सं. ५३७, ५३९ एवं अन्य।

४. भाव-संवलित वर्णन :

मारू-मारू कलाइयाँ, उज्जल्-दंति नारि ।
हँसनइ दे हुँकारड़उ, हिवड़उ फूटण हारि ।। ६११ ।।

५. घटनात्मक वर्णन :

ऊमर ऊतावलि करइ, पल्लाणियाँ पवंग ।
खुरसाणी सूधा खयंग, चढ़िया दल् चतुरंग ।। ६४० ।।

ङ. : रीति की दृष्टि से :

रीति (रीङ् धातु + क्तिन प्रत्यय) का अर्थ है मार्ग, पंथ या गति । महाराज भोज के अनुसार अभिव्यक्ति के विभिन्न मार्ग होते हैं । लेखक अपनी रुचि के अनुसार इन मार्गों का अनुसरण करते हैं । रीति शब्द इसी अभिव्यक्ति-वैभिन्य का द्योतक है ।[1] रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने रीति की परिभाषा देते हुए उसे विशिष्ट पद-रचना कहा है—'विशिष्ट पदरचना रीतिः ।'[2] कवि अपनी रचना में प्रतिपाद्य विषय में प्रसंगानुकूल कोमल-परुष तथा मधुर-कटु पद-योजना करता है । पद-योजना की यह विभिन्नता ही रीति का आधार बनती है ।

आचार्य वामन ने रीति के तीन प्रकार माने हैं—

१. वैदर्भी, २. गौड़ी, ३. पाँचाली ।[3]

१. वैदर्भी रीति :

वैदर्भी रीति के दस प्राणभूत गुण माने गये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति तथा समाधि ।[4] यह माधुर्य गुण प्रधान होती है । इसमें लम्बी समास-रचना नहीं होती और ट, ठ, ड, ढ आदि वर्णों का कम प्रयोग होता है । तात्पर्य यह है कि इससे कर्ण-प्रिय माधुर्य गुण का प्रस्रवण होता है । इसलिये वामन ने इसे 'समग्रगुणा' माना है ।[5]

राजस्थानी भाषा में स्वभावतः ही 'ट' वर्ग के वर्णों की प्रविष्टि है; परन्तु इस काव्य में वैदर्भी रीति के अनेक अंश देखे जा सकते हैं—

कर रत्ता मोती नृमल्, नयणै काजल-रेह ।
धण भूली गुंजाहले, हसि करि नांख्या तेह ।। ५७४ ।।

२. गौड़ी रीति :

इस रीति में ओज, कांति गुणों की प्रधानता रहती है । साथ ही कठोर वर्ण, दीर्घ समास-बहुलता और उद्भट पदों की संयोजना की जाती है । "ओज प्रकाशक वर्णो से आडम्बरपूर्ण बंध को—रचना को—गौड़ी रीति या परुषावृत्ति कहते हैं ।"[6]

---

१. सरस्वती कण्ठाभरण : २-२७ ।
२. काव्यालंकार सूत्र : १-२-७ ।
३. काव्यालंकार सूत्र : १-२-९ ।
४. काव्यादर्श : दण्डी : १/४१-४२ ।
५. काव्कालंकार सूत्र : १/२-११ ।
६. काव्य-दर्पण : पं. रामदहिन मिश्र : पृ० ३१८ ।

'ढोला मारू रा दूहा' में ऐसे भाव-प्रसंग के अभाव के कारण गौड़ी रीति के अत्यल्प उदाहरण ही मिलते हैं—

ऊमर ऊतावलि करइ, पल्लाणियाँ पवँग।
खुरसाणी सूधा खयंग, चढ़िया दल चतुरंग ।। ६४० ।।

३. पांचाली रीति :

आचार्य वामन ने इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है, **'माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पांचाली ।'** अर्थात् पाँचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है।[1] यह रीति अन्तरालवर्तिनी है—वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवासिनी। इसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य की स्थापना इन दोनों रीतियों के अतिरिक्त अन्य वर्णों से की जाती है।

'ढोलामारू रा दूहा' में इस रीति के भी अनेक दृष्टांत उपलब्ध हो जाते हैं—

आँखड़ियाँ डँबर हुई, नयण गमाया रोय ।
से साजण परदेस महँ, रह्या विडाणा होय ।। १६५ ।।

प्रस्तुत काव्य में तीनों प्रकार की रीतियों का प्रयोग देखा जा सकता है, यद्यपि मुख्यतः वैदर्भी रीति ही इसकी प्रधान रीति ठहरती है। सारे काव्य में उसकी ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है।

च : शैली-गत अन्य विशेषताएँ

'ढोला मारू रा दूहा' में उपर्युक्त विवेचित शैलीगत विशिष्टताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्टताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं और वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. संदेश-पद्धति :

डॉ० दशरथ शर्मा ने तो संदेश की प्रधानता के कारण इसका मूल रूप संदेश-काव्य का ही माना है।[2] 'ढोला मारू' में हमें स्थान-स्थान पर संदेश-काव्य की शैली मिलती है और यह संदेश कहीं तो पपीहे द्वारा,[3] कहीं कुझों द्वारा,[4] कहीं ढाढियों[5] और कहीं सुग्गे द्वारा[6] प्रेषित किया गया है।

२. स्वप्न-पद्धति :

अनेक स्थानों पर स्वप्न का आधार लेकर कवि ने कथ्य का प्रसंग बाँधा है। इससे मार्मिकता के साथ-साथ अनन्यता का भाव भी प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ है और साथ ही इससे लोक-विश्वास की पुष्टि भी। मारू का सर्वप्रथम ढोला से स्वप्न-मिलन ही होता है।[7] प्रियतम के विरह में मारवणी की स्वप्न पर खीझ देखिये—

सुहिणा तोहि मराविसूँ, हियइ दिराऊँ छेक ।
जद सोऊँ तद दोइ जण, जद जागूँ तद हेक ।। ५१४ ।।

---

१. काव्यालंकार सूत्र : १-२-१३ ।
२. ढोला मारू रा दूहा : एक विवेचन : श्री कृष्ण विहारी सहल : पृ० ७६ से उद्धृत ।
३. दो. सं. २८-३६ ।
४. दो. सं. ६३-४-५-६ आदि ।
५. दो. सं. ११२-३६ ।
६. दो. सं. ३६७ एवं अन्य ।
७. दो. सं. १४ ।

३. सूक्ति पद्धति :

कवि ने कथन की पुष्टि के लिये अनेक सूक्तियों का इस काव्य में स्थान-स्थान पर समावेश किया है। इससे कथन में प्रभविष्णुता के संग-संग सरसता का संचार भी हुआ है। उदाहरणार्थ अनेक सरस सूक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

जे जीवरण तिन्हाँ-तणाँ, तन ही माँहि वसंत ।
धारइ दूध पयोहरे, वालक किम काढंत ।। २१ ।।
सज्जण अलगा ताँ लगइ, जाँ लग नयणे दिट्ठ ।
जव नयणाँ हूँ वीछुड़े, तव उर मंझ पइट्ठ ।। ४२० ।।

प्रेम की सरसता से युक्त 'ढोला मारू' की ये सूक्तियाँ यथावसर अब भी उद्धृत की जाती है।[1]

४. दम्पत्ति-विनोद शैली :

'ढोला मारू रा दूहा' में ढोला और मारवणी के प्रथम मिलन-प्रसंग में हमें इस शैली के कुछ छन्द मिलते हैं। इसमें ढोला पहेली पूछता है और मारवणी उसका उत्तर देती है।[2] सामाजिक रीतिरिवाज का स्पर्श देने हेतु ही इसकी आयोजना हुई है।

५. सम्बोधन शैली :

इस आलोच्य कृति में हमें सम्बोधनों का प्रयोग प्राय: तीन-चौथाई दोहों में उपलब्ध होगा। कहीं सखी, कहीं ऊँट, कहीं कोई पक्षी, कहीं पथिक, कहीं प्रिय, कहीं प्रियतमा, कहीं दैव आदि को सम्बोधित किया गया है।

६. व्यंग्य शैली :

व्यंग्य के बिना निष्ठुरता पर चोट नहीं लगती। 'ढोला मारू' के अनेक दोहों में हमें व्यंग्य की चुभन मिलेगी—

कागल नहीं, क मसि नहीं, लिखताँ आलस थाइ ।
कह उण देस सन्देसड़ा, मोलइ वड़इ विकाइ ।। १४१ ।।
डूँगरिया हरिया हुया, वणे झिंगोरचा मोर ।
इणि रिति तीनइ नीसरइ, याचक, चाकर, चोर ।। २५३ ।।

७. उपालम्भ शैली :

प्रिय के प्रेम शैथिल्य-प्रदर्शन पर उपालम्भ के सिवा और चारा ही नहीं रह जाता। शायद यह चुभता हुआ और लगने वाला उपालम्भ कारगर सिद्ध हो जाय। यद्यपि 'ढोला मारू' के विप्रलम्भ और संदेश में विनोक्तियाँ ही सर्वत्र हैं, परन्तु कहीं-कहीं उपालम्भ शैली भी पैनी बन पड़ी है—

---

१. सूक्तियों के लिये दो. सं. २२, ५३, ५८, ६६, ७१, १११, १५८, १५६, १६२, १७५, १७६, १६३, २०१, २१३, २१६, २२०, २३४, २७५, ३२८, ३३६, ४४६, ५६८ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

२. दो. सं. ५६६ से ५८०।

पिय खोटाँरा एहवा, जेहा काती मेह ।
ग्राडम्बर ग्रति दाखवइ, ग्रास न पूरइ तेह ।। ३३६ ।।

८. ग्रन्योक्ति शैली :

इसमें हमें ग्रन्योक्ति शैली के भी दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ मारवणी ने अपनी इस उक्ति में ग्रन्योक्ति के द्वारा अपने अनन्य प्रेम का कितना सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है—

पहुर हुवउ ज पधारियाँ, मो चाहंती चित्त।
डेडरिया खिरण-मइ हुवइ, घँरण वूठइ सरजित्त ।। ५४८ ।।

९. संलाप-शैली :

'ढोला मारू' में अनुभूति संलाप के साहाय्य से अधिक प्रकट हुई है। लगभग सारे काव्य में संलाप-शैली के दर्शन होते हैं।[1]

१०. ऊहात्मक शैली :

भावावेश में कवि कभी-कभी कल्पना की निस्सीम उड़ान भर लेता है। ऐसे स्थानों पर ऊहात्मक शैली आ जाती है। 'ढोला मारू' में एक-दो उदाहरण हमें इसके भी मिलेंगे जहाँ कवि-कल्पना वर्णन में परिहास का मूल वन जाती है—

राति ज रूँनी निसह भरि, सुरगी महाजनि लोइ।
हाथाली छाला पड़्या, चीर निचोइ निचोइ ।। १५६ ।।
प्रीतम, तोरइ काररगइ, ताता भात न खाहि।
हियड़ा भीतर प्रिय वसइ, दाभरगती डरपाहि ।। १६० ।।

इनके गर्भ में भी मारवणी का वेदना-भाव स्पष्ट है जिसके लिये सम्पादक-त्रय ने समीचीन ही लिखा है कि इस वात से संतोष होता है कि मारवणी के निष्कपट भावनारूपी सुवर्ण सूत्र ने इन बनावटी मोतियों को भी संवेदना के सूत्र में ग्रथित कर उनको काव्योपयुक्त रूप दे दिया है।[2]

इस तरह समवेत रूप में 'ढोला मारू रा दूहा' में हमें विविध शैलियों का आकर्षक सम्मिश्ररण मिलेगा। विप्रलंभ-शृंगार प्रधान होने के काररग इसके सर्वथा अनुकूल शैलियाँ ही अपनाई गई हैं। मैकॉले ने शैली के दो वड़े दोष माने हैं— अस्पष्टता और कृत्रिमता।[3] 'ढोला मारू' इनसे सर्वथा अस्पर्शित है। 'ढोला मारू' में शृंगार से सम्बद्ध भावनाओं को उद्बुद्ध करने में शक्ति-सम्पन्न अनेक शैलियों का सुन्दर समन्वय हुआ है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में 'जन-साधाररग के वीच वही रचना अधिक प्रसार पाती है जो सरल सीधे मार्ग से चलने में अधिक आस्था रखती है।'[4] 'ढोला मारू' की लोकप्रियता के मूल में यही शैली-वैशिष्ट्य है।

१. विस्तृत विवेचन के लिये इसी परिच्छेद का 'संवाद-योजना' अनुखण्ड देखिये।
२. ढोला मारू रा दूहा : पृ० ८४।
३. ज्ञान गंगा : भाग १ : श्री नारायरग प्रसाद जैन : पृ० ४५४।
४. हिन्दी साहित्य का अतीत : पृ० ९७।

(इ) अलंकार :

अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों का समानुपातिक संयोग उत्कृष्ट कला-कृति के लिये परमावश्यक है। अभिव्यक्ति में प्राण भरने और रसोत्कर्ष के विधायन हेतु अलंकार प्रभावशाली उपादान हैं और काव्य में इनका विशिष्ट स्थान और महत्व है। विद्वानों को इनकी महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है। आचार्य श्यामसुन्दर दास लिखते हैं कि जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौन्दर्य की श्री वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस भाव आदि को उत्तेजित करते हैं।[1] प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त का कथन है कि अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। अतः इनका प्रयोग इसी रूप में होना चाहिये। यदि इसके विरुद्ध भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिये बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण-जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो जाती है।[2] पाश्चात्य विद्वान क्रोचे अलंकार को अभिव्यंजना का अभिन्न अंग मानते हैं।[3] वाल्टर पेटर ने भी काव्य में अलंकारों के उचित प्रयोग को आवश्यक बतलाया है।[4]

आचार्य शुक्ल के अनुसार पहले से सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं, जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।[5] अलंकार भाव और भाषा के भूषण हैं। भावों को भूषित करना तथा रमणीयता प्रदान करना और अभिव्यक्ति को प्रांजल तथा प्रभविष्णु बनाना ही इनके प्रयोगौचित्य की कसौटी है। यदि ये रसोत्कर्ष हेतु भाव-भाषा-धारा से सहज संपृक्त नहीं तो ये दूषण बन जाते हैं। अलंकारों के मन्दिर में रस-देवता की प्राणवान प्रतिमा प्रतिष्ठित होनी ही चाहिये, अन्यथा काव्य सौन्दर्य से सर्वथा शून्य हो जाता है।

'ढोला मारू रा दूहा' में उपलब्ध अलंकारों का वर्गीकरण एवं अध्ययन अधोलिखित है—

क : शब्दालंकार :

१. वैण-सगाई :

वैण (वर्ण) सगाई (सम्बन्ध)—इन दो शब्दों से मिलकर बने इस सामासिक

---

१. साहित्यालोचन : पृ० ३१६।
२. पल्लव : भूमिका : पृ० ८।
३. थ्योरी ऑफ एसथेटिक्स : पृ० ११३।
४. एप्रिसियेशन : पृ० १५।
५. चिन्तामणि : भाग १ : पृ० २४७।

शब्द का अर्थ है वर्णों का सम्बन्ध। भारतीय अलंकार-शास्त्र में अनुल्लिखित यह शब्दालंकार राजस्थानी की विशिष्ट उपलब्धि है।[1] मध्यकालीन राजस्थानी काव्य तो इससे इतना सजाया गया था कि आगे के कवियों के लिये इसका व्यवहार अनिवार्य-सा हो गया।[2] इस विशिष्ट अलंकार की उद्भावना में हमें राजस्थानी कवियों के दो उद्देश्य परिलक्षित होते हैं; एक तो अपने काव्य को दग्धाक्षरों, अशुभ-गणों एवं द्विगणों से बचाकर उसे शुद्धता प्रदान करना[3] और दूसरा, अपने काव्य में ध्वनि-सौन्दर्य की सृष्टि करना।

राजस्थानी-काव्य-शास्त्र में वैण-सगाई के अनेक भेदोपभेद प्राप्त होते हैं।[4] 'ढोला मारू रा दूहा' में उन सबकी उपलब्धि नहीं होती। इस काव्य में इसका प्रबल आग्रह नहीं रहा है। इसका कारण यह है कि वैण-सगाई की अनिवार्य साहित्यिक परम्परा स्थापित होने के पूर्व ही इस काव्य की रचना हो चुकी थी।

वैण-सगाई के स्थूल रूप में तीन भेद किये जा सकते हैं—

अ—शब्द-वर्ण वैण-सगाई,
आ—वर्ण " ",
इ—मित्र-वर्ण " "।

अ : शब्द-वर्ण वैण-सगाई :

जहाँ छन्द में चरण के प्रथम शब्द के आदि वर्ण की पुनरावृत्ति चरण के अन्तिम शब्द के आदि, मध्य या अंत में किसी स्थान पर हो, वहाँ शब्द-वर्ण वैण-सगाई होती है। इसके तीन भेद माने गये हैं—आदि मेल, मध्य मेल, अंत मेल।

क: आदि मेल :

सु प्रभाति कहिव भणी, पिंगल पासि पहुत्त ॥ ७६ ॥
उत्तर आज स उत्तरउ, सही पड़ेसी सीह ॥ २८६ ॥[5]

ख : मध्य मेल :

जाइ मिलीजइ साजणाँ, डोहीजइ महिराँण ॥ २११ ॥
मो मन खरउ उमाहियउ, देखण पूगल देश ॥ ३०२ ॥[6]

---

१. डॉ० नामवरसिंह ने इसे एक छन्द माना है जो उचित नहीं है। देखिये—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० ३०।

२. "संसार की शायद ही किसी भाषा में किसी अलंकार का निर्वाह इतनी कठोरता के साथ किया गया हो।"—वेलि क्रिसन रुकमणि री : संपा० श्री नरोत्तम स्वामी : पृ० ५६।

३. आवै इण भाषा अमल, वैण-सगाई वेस।
दग्ध अगण बद दुगण रो, लागै नँह लवलेस ॥

४. मरू भारती : वर्ष १, अंक १ : पृ० ५२ पर श्री चण्डीदान ने अपने लेख में इसके ४१ भेद और उनके प्रत्येक के छन्द-चरणानुसार बनने वाले १५ उपभेद (कुल ६१५ भेद) की चर्चा की है।

५. दो. सं. १, २६२, ३०२, ५२६, ५३२, ६२०, ६५४ आदि में भी।

६. दो. सं. ११३, १४२, २०२, २१५, २२६, २५१, २५६, ४८१ आदि में भी।

ग : अंत मेल :

जे जीवण तिन्हाँ-तणाँ, तन ही माँहि वसंत ।। २१ ।।

बीछुड़ियाँ साजण मिलइ, वलि किउँ ताढउ ताव ।। ५५६ ।।[1]

आ : वर्ण वैण-सगाई :

जहाँ चरण के आदि वर्ण की पुनरावृत्ति चरणान्त में वर्ण संख्या के नियम से की गई हो, वहाँ वर्ण वैण-सगाई होती है । इसके पाँच भेद प्रस्तुत काव्य में प्राप्त होते हैं—

क : अत्युत्तम वर्ण वैण-सगाई : (वर्ण की पुनरावृत्ति उसी रूप याने मात्रा-युक्त व मात्रा-रहित चरणांत एक वर्ण पहले हुई हो ।)

कंता तू घरि आव नवि, जोवन कीधउ जोर ।। ३८ ।।

ख : मध्यम वर्ण वैण-सगाई : (पुनरावृत्ति किसी भी रूप में चरणान्त एक वर्ण के पूर्व हुई हो ।)

राणी राव पिंगल तणी रीझी देखे रूप ।। ४ ।।

ग : उत्तम वर्ण वैण-सगाई : (पुनरावृत्ति चरणान्त दो वर्णों से पहले हुई हो ।)

मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार ।। ३७ ।।

घ : अधम वर्ण वैण-सगाई : (पुनरावृत्ति चरणान्त तीन वर्णों के पूर्व हुई हो ।)

माणस हवाँ त मुख चवाँ, म्हे छाँ कूँझड़ियाँह ।

प्रिउ संदेसउ पाठविसु, लिखि दे पाँखड़ियाँह ।। ६५ ।।

ङ : अधमाधम वर्ण वैण-सगाई : (पुनरावृत्ति चरणांत चार या अधिक वर्णों से पहले हुई हो ।)

पूगल देस दुकालथियुँ, किणहीं काल विसेसि ।। २ ।।

इ : मित्र-वर्ण वैण-सगाई :

जहाँ चरण के आदि वर्ण की पुनरावृत्ति चरणांत में न होकर उसके मित्र-वर्ण की पुनरावृत्ति की जावे, वहाँ मित्रवर्ण वैण-सगाई होती है । इसके अनेक स्थूल भेद हैं । यहाँ पर तीन प्रमुख भेद ही लिये गये हैं—

क : अधिक मित्र-वर्ण वैण-सगाई : जहाँ आदि वर्ण के अधिक मित्र-वर्ण—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, य, यो—की चरणान्त में पुनरावृत्ति हो ।

आज धरा दस ऊनम्यउ, काली घड़ सखराँह ।

उवा धण देसी ओलंबा, कर कर लाँबी वांह ।। २७१ ।।

ख : सम मित्र-वर्ण वैण-सगाई : जहाँ आदि वर्ण के सम मित्र-वर्ण—क ख, ग घ, च छ, ट ठ, ड ढ, त थ, द ध, प फ, व भ, ल ळ, व व—की चरणान्त में पुनरावृत्ति हो ।

हंस चलण, कदलीह जंघ, कटि केहर जिम खीण । १३ ।।

वाबहियउ नइ विरहणी, दुहुवाँ एक सहाव । २७ ।।

---

१. दो. सं. ५, ३६, ६०, २२१, २७६ आदि में भी ।

ग : न्यून मित्र-वर्ण वैण-सगाई : जहाँ आदि वर्ण के न्यून मित्र—ट त, ठ थ, ड द, ढ ध, ण न—की चरणांत में पुनरावृत्ति हो ।

जउ ढोलउ डाँभण करइ, डाँभण मुझ्झ न देस ।। ३२८ ।।

ई : चरणों में वैण-सगाई :

डिंगल के कवियों ने वैण-सगाई का कठोर पालन छन्द के चारों चरणों में अबाध रूप से किया है; परन्तु प्रस्तुत ग्रंथ में इस कठोरता का पूर्ण अभाव है। इसमें वैण-सगाई का प्रयोग सभी चरणों में नहीं दिखलाई देता; फिर भी वैण-सगाई के उदाहरण मिल ही जाते हैं—

क : चार चरणों में वैण-सगाई :

ईडर की धर अउलगउँ, जइ तूँ कहइ तु जाँह ।
अउथि घड़ाऊँ आभरन, माल्हवणी मेलाँह ।। २२४ ।।

ख : तीन चरणों में वैण-सगाई :

सावण आयउ साहिवा, पगइ विलंबी गार ।
ब्रच्छ विलंबी बेलड़याँ, नराँ विलंबी नार ।। २६९ ।।[1]

ग : दो चरणों में वैण-सगाई :

मुख नीसाँसाँ मूँकती, नयणेनीर प्रवाह ।
सूली सिरखी सेझड़ी, तो विण जाणे नाह ।। १६६ ।।

घ : एक चरण में वैण-सगाई :

वहिलउ आए वल्लहा, नागर चतुर सुजाँण ।
तुझ विण धण विलखी फिरइ, गुण विन लाल कमाण ।। १५५ ।।

२. अनुप्रास :

वैण-सगाई के अतिरिक्त अनुप्रासों की प्राप्ति भी इस काव्य में प्रचुर मात्रा में होती है जिनमें कृत्रिमता किंचित् मात्र भी नहीं है। प्राय: सभी प्रकार के अनुप्रासों के उदाहरण इसमें मिल जाते हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अ : छेकानुप्रास :

सारंग सिखर, निसद्द करि, मरइ स कोमल मुध्ध ।। १७४ ।।[2]

आ : वृत्त्यनुप्रास :

कूँझड़ियाँ करलव कियउ, घरि पाछिले वणेहि ।
सूती साजण संभर्‌या, द्रह भरिया नयणेहि ।। ५४ ।।[3]

इ : श्रुत्यनुप्रास :

तंती नाद तंबोल, रस, सुरसि सुगंधउ जाँह ।। २२३ ।।

ई : अन्त्यानुप्रास :

---

१. दो. सं. १०३, १८०, २३८, २५७, ३००, ५७१, ६०३ आदि द्रष्टव्य हैं ।

२. दो. सं. १, २, ४, ५, ६, ८, ९, ११, १२, १३, १७, १८, २० आदि अनेकानेक दोहों में ।

३. दो. सं. ५, ७६, ८१, ८७ आदि अनेक दोहों में यह प्रयुक्त हुआ है ।

सजरा मिल्या, मन ऊमग्यउ, अउगुरा सहि गाल्याह ।
सूका था सू पाल्हव्या, पाल्हविया फलियाह ।। ५६० ।।[१]

उ : लाटानुप्रास :

मृगनयणी, मृगपति-मुखी, मृगमद तिलक निलाट ।
मृगरिपु-कटि सुन्दर वणी, मारू अइहइ घाट ।। ४६६ ।।

ऊ : ध्वन्यानुप्रास :

सड़-सड़ वाहि म कंवड़ी, राँगाँ देह म चूरि ।। ४६२ ।।

३. यमक :

नमणी, खमणी, वहुगुणी, सगुणी अनइ सियाइ ।। ४५६ ।।[२]

४. पुनरुक्ति प्रकाश :

हल्लउँ हल्लउँ मत करउ, हियड़इ साल म देह ।
जे साचे ई हलस्यउ, सूताँ पल्लाँणेह ।। ३०५ ।।[३]

५. वीप्सा :

मारू मारू कलाइयाँ, उज्जल दंती नारि ।
हँसनइ दे हुँकारड़उ, हिवड़उ फूटण हारि ।। ६११ ।।[४]

६. प्रहेलिका :

इन्द्रा-वाहरा-नासिका, तासु तराड उणिहार ।
तस भख हूवउ प्राहुणउ, तिणि सिरणगार उतार ।। ५८० ।।

ख : अर्थालंकार :

(एक) भेदाभेद प्रधान सादृश्य मूलक :

७. उपमा :

यह अलंकार 'ढोला मारू रा दूहा' में सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है—

गति गयंद, जँघ केलिग्रभ, केहरि जिम कटि लंक ।
हीर डसरा, विद्रम अधर, मारू भृकुटि मयंक ।। ४५४ ।।[५]

---

१. सर्वत्र दोहा छन्द के प्रयोग के कारण अन्त्यानुप्रास प्राय: समस्त ग्रंथ में है ।

२. दो. सं. १३०, १६३, ४५२ आदि में भी ।

३. दो सं. ३४४, ३४८, ३४, ४६०७, ६११ आदि में भी ।

४. दो. सं. ३४८, ६०७ आदि में भी ।

५. इसके उदाहरणार्थ दो. सं १३ (७), १५, १६, १६, २६, ५६, ८६, ११६, १४३, १५६, १६१, १६८, १७२, १६२, १६३, १६८, १६६, २०४, २०५, २०६, २०७, २१२, २६६, २६७, २६६, ३५५, ३६७, ३७१, ३७२, ३७७, ३८०, ३६३, ४०३, ४१८, ४४७, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४ (६), ४५७ (२), ४५८, ४५६ (४), ४६० (४), ४६२ (३), ४६६ (३), ४६६ ४७१, ४७२, ४७३, ४७४ (४), ४७६, ४७८, ४७६ (५), ४८०, ४८३, ४८४, ४६५, ४६६, ४६८, ५०४, ५१३, ५२१, ५४० (३), ५४५, ५६२, ५६३, ५६४, ५८२, ६०४, ६३६, ६६६ (२), ६६६, ६७३ आदि भी देखे जा सकते हैं । कोष्ठक में उपमाओं की संख्या दी गयी है ।

इसके अनेक भेदोपभेद भी मिलते हैं यथा—

अ : पूर्णोपमा :

हे सखिए, परदेश प्री, तनय न जावइ ताप।
बाबहियउ आसाढ जिम, विरहणी करइ विलाप ।। २६ ।।

आ : लुप्तोपमा :

हंस चलरा, कदलीह जंघ, कटि केहर जिम खीण।
मुख सिसहर, खंजर नयण, कुच श्रीफल, कंठ वीण ।। १३ ।।

इ : मालोपमा :

चंदणदेह कपूर रस, सीतल गंगप्रवाह।
मनरंजण, तनउल्हवण, कदे मिलेसी नाह ।। १६१ ।।

८. स्मरण :

बावाहिया, तूँ चोर, थारी चाँच कटाविसुँ।
राति ज दीन्ही लोर, मइँ जाण्यउ प्री आवियउ ।। ३० ।।[1]

(दो) आरोपमूल अभेद प्रधान साद्दश्य मूलक :

९. रूपक :

उपमा के पश्चात् इस ग्रंथ में सर्वाधिक संख्या में प्राप्त अलंकार रूपक है—

ढाढी, जे साहिब मिलइ, यूँ दाखविया जाइ।
आँख्या सीप विकासियाँ, स्वाति ज बरसउ आइ ।। ११६ ।।[2]

इसमें रूपक के भेद भी इस प्रकार मिलते हैं—

अ : साँग :

छट्ठै प्रहरै दिवसकै, हुई ज जीमणवार।
मन चावल, तन लापसी, नैंण ज घी की धार ।। ५८७ ।।

आ : निरंग :

सखिए ऊगट माँजिरगउ, खिजमति करइ अनंत।
मारू तन मंडप रच्यउ, मिलरा सुहावा कंत ।। ५३५ ।।

इ : परम्परित :

पंथी एक संदेसड़उ, लग ढोलइ पैहचाइ।
धंरा कँमलाँरगी, कमदणी, सिसहर ऊगइ आइ ।। १२९ ।।

---

१. यह दो. सं. १८, ३४, ३८, ४१, ४४, ४६, ५९, ३५९, ३६६, ३७५, ३७६, ३८२, ३८८, ४९७, ५०५, ६१०, ६१२ आदि में भी प्राप्त है।

२. उदाहरणार्थ दो. सं. ५४, ७७, ११५, ११६, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १५८, १६९, २४८, २५५, ३४९, ३६०, ५३६, ५४३, ५५०, ५६०, ५८३, ५८४, ५८७, ६००, ६०१ आदि भी लिये जा सकते हैं।

१०. परिणाम :

यहु तन जारी मसि करूँ, धूँआ जाहि सरग्गि ।
मुझ प्रिय बद्दल् होइ करि, वरसि बुझावइ अग्गि ।। १८१ ।।

११. संदेह :

सखि वउलावी फिरि गई, प्री मिलियउ एकंत ।
मुलकत ढोलउ चमकियउ, वीजल् खिवी क दंत ।। ५४२ ।।

१२. भ्रांतिमान :

अहर-रंग रत्तउ हुवइ, मुख काजल् मसि-व्रन्न ।
जांण्यउ गुंजाहल् अछइ, तेण न ढूकउ मन्न ।। ५७२ ।।[1]

१३. उल्लेख :

वाही थी गुणवेलड़ी, वाही थी रसवेलि ।
पीणइ पीवी मारवी, चाल्या सूती मेलि ।। ६१० ।।

१४. अपन्हुति :

ढाढी जे प्रीतम मिलइ, यूँ कहि दाखवियाह ।
पंजर नहि छइ प्रांणियउ, थाँ दिस झल् रहिया ।। ११३ ।।[2]

इसके कतिपय भेद द्रष्टव्य हैं—

अ : शुद्धापन्हुति :

खूँटइ जीण न मोजड़ी, कड़्याँ नहीं केकांण ।
साजनिया सालइ नहीं, सालइ आही ठांण ।। ३७५ ।।

आ : कैतवापन्हुति :

फागुण मासि वसंत रुत, आयउ जइ न सुणेसि ।
चाचरिकइ मिस खेलती, होली झंपावेसि ।। १४५ ।।

इ : पर्यस्तापन्हुति :

चिंता वंध्यउ सयल् जग, चिंता किणहि न वध्ध ।
जे नर चिंता वस करइ, ते माणस नहि सिध्ध ।। २२० ।।

(तीन) अध्यवसानमूल अभेद प्रधान सादृश्य मूलक :

१५. उत्प्रेक्षा :

चहुँ दिस दामिनि सघन घन, पीउ तजी तिण वार ।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार ।। ३७ ।।[3]

---

१. यह दो.सं. ३८८, ४७८, ५७४ आदि में भी उपलब्ध है ।

२. इसके अन्य उदाहरणों के लिये दो.सं. १४५, २२०, ३७५ आदि भी देखिये ।

३. उत्प्रेक्षा अलंकार दो.सं. ५५, ६८, ८६, १६६, २०६, २३६, २६७, २८२, ३०१, ३७७, ३८१, ४५६, ४६१, ४६२, ४६३, ४६५, ४७०, ४७३, ४८३, ५०४, ५३७ (२), ५३८, ५३६, ५५१, ५५२, ५५४, ५५५, ५६१, ५६५ (२), ५६६ (२), ५७६, ६२२, ६३६, ६४८, ६६२ आदि में भी उपस्थित है । कोष्ठक में उत्प्रेक्षा की संख्या दी गई है ।

उत्प्रेक्षा के प्रायः सभी भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं :—

अ : वस्तूत्प्रेक्षा :

जंघ सुपत्तल, करि कुंअल, झीणी लम्ब-प्रलम्ब ।
ढोला, एही मारूई, जाणि क कणयर-कंब ॥ ४७३ ॥

आ : हेतूत्प्रेक्षा :

वालँभ, दीपक पवन-भय, अंचल-सरण पयट्ठ ।
कर-हीणउ धूणइ कमल, जाँण पयोहर दिट्ठ ॥ ५७६ ॥

इ : गम्योत्प्रेक्षा :

मारू-लंक दुइ अंगुलाँ, वर नितंब उर मंस ।
मल्हपइ माँझ सहेलियाँ, माँनसरोवर हंस ॥ ४६१ ॥

१६. अतिशयोक्ति :

मारू के रूप-वर्णन में इसका भी प्रचुर प्रयोग किया गया है—

मारू वइठी सेज-सिर, प्री मुख देखइ तास ।
पूनिम-केरे चंद ज्यूँ, मन्दिर हुवउ उजास ॥ ५४५ ॥[1]

अ : रूपकातिशयोक्ति :

मारू-घूंघटि दिट्ठ मइँ, एता सहित पुणिंद ।
कीर, भमर, कोकिल, कमल, चन्द, मयन्द, गयन्द ॥ ४५५ ॥

(चार) पदार्थगत गम्यौपम्याश्रय सादृश्य सूलक :

१७. दीपक :

मारू मारइ पहियड़ा, जउ पहिरइ सोवन्न ।
दंती, चूड़इ, मोतियाँ, त्रीयाँ हेक वरन्न ॥ ४७५ ॥[2]

(पांच) वाक्यार्थगत गम्यौपम्याश्रय सादृश्यसूलक :

१८. प्रतिवस्तूपमा :

जल मँहि वसइ कमोदणी, चंदउ वसइ अगासि ।
ज्यउ ज्याँहीकइ मनिवसइ, सउ त्याँहीकइ पासि ॥ २०१ ॥

(छ) भेद प्रधान गम्यौपम्याश्रय सादृश्य सूलक :

१९. व्यतिरेक :

आदीताहूँ ऊजलो, मारवणी-मुख-व्रन्न ।
झीणा कप्पण पहिरणइ, जाँणि झँखइ सोव्रन्न ॥ ४६३ ॥[3]

२०. विनोक्ति :

पंथी, एक संदेसड़उ, कहिज्यउ सात सलाँम ।
जवथी हम तुम बीछड़े, नयणे नींद हराँम ॥ १३६ ॥[4]

---

१. दो.सं. ९३, १५६, २६०, ३५७, ६४३ भी इसके लिये द्रष्टव्य हैं ।
२. यह दो.सं. ४७०, ४७६, ४९५ आदि में भी प्राप्त है ।
३. यह दो. सं. ४१, २५८ आदि में भी विद्यमान है ।
४. देखिये दो. सं. १५५, १६३, १६६, १७३, १९३, २५५, २५९, २७९, ३७०, ३७४, ३९३, ३९६, ४०३ आदि भी ।

(सात) शेष-साहश्य मूलक :

२१. परिकरांकुर :

ढोलउ मन चलपत थयउ, ऊभउ साहइ लाज।
साम्हउ वोसू आवियउ, आइ कियउ सुभराज ।। ४४७ ।।

२२. अप्रस्तुत प्रशंसा :

थल भूरा वन झंखरा, नहीं सु चंपउ जाइ।
गुणे सुगंधी मारवी, महकी सहु वणराइ ।। ४६८ ।।[1]

२३. पर्यायोक्ति :

वायस वीजउ नाँम, ते आगलि लल्लउ ठवइ।
जइ तू हुई सुजाँड़, तउ तूँ वहिलउ मोकले ।। १४२ ।।[2]

२४. संभव :

वावहिया निल-पंखिया, मगरि ज काली रेह।
मति पावस सुणि विरहणी, तलफि तलफि जिउ देह ।। ३१ ।।[3]

२५. आक्षेप :

डूँगर केरा वाहला, ओछाँ केरा नेह।
वहता वहइ उतामला, झटक दिखावइ छेह ।। ३३८ ।।[4]

२६. अन्योक्ति :

पहुर हुवउ ज पधारियाँ, मो चाहंती चित्त।
डेडरिया खिण-मइ हुवइ, घँण वूठइ सरजित्त ।। ५४८ ।।[5]

२७. अत्युक्ति :

जइ रूँखाँ मारू हुई, छवडउ पड़ियउ तास।
जइ हुंती चन्दउ कियइ, लइ रचियउ आकास ।। ४३७ ।।[6]

(आठ) विरोध मूलक :

२८. विरोधाभास :

संभारियाँ सँताप, वीसारिया न वीसरइ।
काले जा विचि काप, परहर तूँ फाटइ नहीं ।। १८० ।।[7]

---

१. दो. सं. ११२, ४६३, ४६४, ४७७, ४८७, ४८८ आदि में भी।

२. एवं दो. सं. १५७, १६७ आदि में भी।

३. तथा दो. सं. ३५ आदि भी।

४. दो. सं. ३३९ आदि भी द्रष्टव्य।

५. यह दो. सं. २०१, २०२, २८९, २९०, २९१, ५४९ आदि में भी प्राप्त है।

६. इस हेतु दो. सं. ९३, २०० आदि भी देखिये।

७. द्रष्टव्य हैं—दो. सं. २२, ५०, ७९, २८८, २८९, २९१, २९२, २९४, २९६, २९८, ३०१, ३५०, ३५१, ३६३, ४२०, ४८८ आदि भी।

२९. विभावना :

सखिए सज्जण वल्लहा, जइ अणदिट्ठा तोइ ।
खिण खिण अन्तर संभरइ, नहीं विसारइ सोइ ॥ २३ ॥

३०. विशेषोक्ति :

सज्जण चाल्या हे सखी, पाछे पीली पज्ज ।
नव पाड़ा नग्गर वसइ, मो मन सूंनउ अज्ज ॥ ३५४ ॥[1]

३१. विषम :

घर नीली, धण पुंडरी, घरि गहगहइ गमार ।
मारू-देस सुहामणउ, सांवणि साँझी बार ॥ २५१ ॥

३२. अधिक :

कुंझाँ द्यउ नइ पंखडी, थाकउ विनउ वहेसि ।
सायर लंघी प्री मिलऊँ, प्री मिलि पाछी देसि ॥ ६२ ॥[2]

३३. विशेष :

बाबहिया डूंगर-दहण, छाँडि हमारउ गाँम ।
सारी रात पुकारियउ, लइ लइ प्रिउकउ नाँम ॥ ३६ ॥[3]

३४. व्याघात :

गिरह पखालण, सर भरण, नदी हिंडोलणहारि ।
सूती सेजइँ एकली, हइ हइ दहव म मारि ॥ ४७ ॥[4]

३५. असंगति :

साहिब, तुज्झ सनेहड़इ, प्रीति-तणी पिति जाइ ।
जल खिण ही जाणइ नहीं, मच्छ मरइ खिणमाँइ ॥ ४१३ ॥[5]

३६. विचित्र :

कउआ, दिऊँ वधाइयाँ, प्रीतम मेलइ मुज्झ ।
काढि कलेजउ, आपणउ, भोजन दिउँली तुज्झ ॥ ७५ ॥[6]

(नौ) शृंखलामूलक :

३७. कारण माला :

सखी, सु सज्जण आविया, हुंता मुज्झ हियाह ।
सूका था सु पाल्हव्या, पाल्हविया फलियाह ॥ ५३३ ॥

---

१. यह दो. सं. ७१ आदि में भी है ।
२. दो. सं. ५२९ आदि में भी ।
३. यह दो. सं. ७४, १७१ आदि में भी है ।
४. दो. सं. ४८, ४९, १६२, ३५१ आदि में भी यह प्राप्त है ।
५. देखिये दो. सं. ३३३ आदि में भी ।
६. विचित्र अलंकार दो. सं. ६५, १४३, १६०, ४९६, ५७०, ५७२, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८ आदि में भी है ।

(दस) तर्क-न्याय मूलक :

३८. काव्यलिंग :

प्रीतम, तोरह कारणइ, ताता भात न खाहि ।
हियड़ा भीतर प्रिय वसइ, दाझणती डरपाहि ।। १६० ।।[1]

(ग्यारह) वाक्यन्याय मूलक :

३९. विकल्प :

उत्तर आज स उत्तरउ, ऊकटिया सारेह ।
वेलाँ वेलाँ परहरइ, एकल्लाँ मारेह ।। २९५ ।।

(बारह) लोकन्याय मूलक :

४०. प्रतीप :

वालिभ गरथ वसीकरण, वीजा सहु अकयथ्थ ।
जिए चड्या दल उत्तरइ, तरुणि पसारइ हथ्थ ।। १६६ ।।

४१. तद्गुण :

मारुवणी मुंह-वंन्न, आदित्ताहूँ उज्जलो ।
सोइ झाँखउ सोवंन्न, जो गलि पहिरउ रूपकउ ।। ४६४ ।।[2]

४२. मीलित :

अहर-रंग रत्तउ हुवइ, मुख काजल मसि-अन्न ।
जाँण्यउ गुंजाहल अछइ, तेण न ढूकउ मन्न ।। ५७२ ।।[3]

४३. उन्मीलित :

हूँ वलिहारी सज्जणाँ, सज्जण मो वलिहार ।
हूँ सज्जण पग पानही, सज्जण मो गलहार ।। १७६ ।।

४४. प्रश्नोत्तर :

वावहिया तर-पंखिया, तइँ किउँ दीन्ही लोर ।
मइँ जाण्यउ प्रिउ आवियउ, ससहर चन्द चकोर ।। ३२ ।।[4]

४५. प्रश्न :

सज्जणिया, सावण हुया, घड़ि उलटी भंडार ।
विरह-महारस ऊमटइ, केता कहूँ संभार ।। १४८ ।।[5]

(तेरह) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक :

४६. सूक्ष्म :

ढोला आमण दूमणउ, नख ती खूदइ भीति ।

---

१. द्रष्टव्य दो. सं. ५०३ आदि ।

२. दो. सं. ५७४ आदि में भी है ।

३. दो. सं. २५३ आदि भी देखिये ।

४. यह अलंकार दो. सं. ४२, १४०, ५५६ तथा ५६९ से ५८० तक में भी प्राप्त है ।

५. इसके हेतु दो. सं. ३३, ५३, २८१, २८३, २८४ आदि भी द्रष्टव्य हैं ।

हमथी कुण छइ आगली, वसी तुहारइ चीति ।। ३७२ ।।[1]

४७. स्वभावोक्ति :

आँखड़ियाँ डंवर हुई, नयण गमाया रोय ।
से साजण परदेसमइँ, रह्या विडाणा होय ।। १६५ ।।[2]

४८. भाविक :

आडा डूँगर, भुँइँ घणी, तियाँ मिलीजइ एम ।
मनिहूँ खिणहि न मेल्हियइ, चकवी दिणियर जेम ।। ७२ ।।[3]

ग : अन्य प्रकीर्ण अलंकार :

४९. विषाद :

जद जागूँ तद एकली, जब सोऊँ तब वेल ।
सोहणा, थे मने छेमरी, वीजी भीजी हेल ।। ५११ ।।[4]

५०. ललित :

ऊनमि आई बद्दली, ढोलउ आयउ चित्त ।
यो वरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ।। ४१ ।।[5]

५१. प्रहर्षण :

राजा, परजा, गुणियजण, कविजण, पंडित, पात ।
सगलाँ मन ऊछव हुअउ, वूठँतो बरसात ।। ४० ।।[6]

५२. मानवीकरण :

सुन्दर सोल सिंगार सजि, गई सरोवर-पाल ।
चन्द मुलक्कयउ जल हँस्यउ, जलहर कंपी पाल ।। ३९४ ।।[7]

५३. लोकोक्ति :

डूँगरिया हरिया हुया, वणे भिंगोरया मोर ।

---

१. यह अलंकार दो. सं. ७८, ९९, १३७, १४४, २१६, २६८, २६९, २७१, २८५, २८७, ३०३, ३०४, ३६१, ३६६, ३९५, ५९१ आदि में भी है ।

२. दो. सं. १६, २७, ४१, ५१, ५८, १३७, १५८, १६५, १६६, २६९, २९४, ३००, ३४९, ३५८, ३६२, ३६४, ३७८, ३७९, ६२९, ६३१ आदि में भी स्वभावोक्ति अलंकार मिलता है ।

३. इसके अन्य उदाहरण दो. सं. ३७, ७३, १४५, १४७, १४९, १५१, १५४, १५७, १७४, २११, २१५, ३६८, ३६९, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ४१४, ४१५, ४१६, ४६४, ५०३, ५०९, ५१२, ५१३ आदि में भी प्राप्य हैं ।

४. दो. सं. ४१२, ५१४ आदि में भी ।

५. अन्य उद्धरण दो. सं. ४५८, ५०६, ५५४, ५७६, ५७८, ५८०, ५९१ आदि में ।

६. यह दो. सं. २८०, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५२८, ५२९, ५३३, ५३४ आदि में भी है ।

७. मानवीकरण दो. सं. २१९, ३७३, ५१०, ५१४, ५४१ आदि में भी प्राप्य है ।

इरिण रिति तीनइ नीसरइ, जाचक, चाकर, चोर ।। २५३ ।।[1]

निष्कर्षतः हम पाते हैं कि प्रस्तुत काव्य में अलंकारों का अभाव नहीं है; प्रत्युत अनेक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की हमें इसमें उपस्थिति मिलती है। शब्दालंकारों का प्रयोग इस काव्य में स्वाभाविक वर्ण-सौन्दर्य हेतु ही हुआ है। एकाध स्थल पर हमें ऊहात्मक चमत्कृति के दर्शन भी होते हैं; पर ऐसे उदाहरण नगण्य हैं। शेष सभी अलंकार काव्य को गरिमा प्रदान करने वाले और पाठकों पर प्रभाव डालने में सक्षम रहे हैं। अलंकार की वृत्ति 'काव्य का प्रेत' नहीं बनी है।

(ई) छन्द :

छन्द काव्यात्मा के उद्घाटन का अन्यतम साधन होता है। वस्तुतः छन्द काव्य-शरीर है जिसमें काव्यात्मा अपना रूप प्रकाशित करती है। 'ढोला मारू रा दूहा' काव्य में अधिकतर मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है।

क : छन्दों की परिगणना :

इस काव्य के 'ढोला मारू रा दूहा' शीर्षक से यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि यह काव्य 'दोहा' छन्दोबद्ध है। पर प्रसंगतः इसमें गाहा, सोरठा और चंद्रायणा छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि संख्या-परिमाण की दृष्टि से ये अत्यल्प हैं। इसके संपादित संस्करण में ६७४ छन्द हैं—

दूहा :	६६८[2]
गाहा :	४
चंद्रायणा :	२
कुल योग	६७४

ख : दोहा :

दोहा एक अर्धसम मात्रिक लौकिक छन्द है। 'प्राकृत पैंगलम्' की इसकी परिभाषा इस प्रकार है—

तेरह मत्ता पढम पअ, पुणु ए आरह देह।
पुणु तेरह ए आर हहिं, दोहा लक्खण एह ।।[3]

राजस्थानी के छन्द-शास्त्रों में इसी परम्परागत परिभाषा को स्वीकृति प्राप्त है।[4]

'ढोला मारू रा दूहा' में यही छन्द प्रयुक्त हुआ है। दोहा राजस्थानी पद्य-

१. द्रष्टव्य दो. सं. २५६ आदि भी।
२. इनमें १३ सोरठों की भी गणना कर ली गई है क्योंकि राजस्थानी-पिंगल शास्त्र में 'सोरठा' दोहे का ही एक भेद माना गया है और इसे 'सोरठिया दूहा' कहा जाता है।
३. संपा० डॉ० भोला शंकर व्यास : प्रथम भाग : १-७८।
४. रघुवर जस प्रकास (किसना जी आढा) : संपा० श्री सीताराम लालस: पृ० ६२।

साहित्य का पारिजात है। अनेक कथनों में इसकी अभिस्तुति प्रकट हुई है जिनमें से निम्नलिखित कुछ द्रष्टव्य हैं—

छोटी तुक को दुहरो, गीत कवित को भूप।
जैसे हरि बलि छल कुं, रच्यो जु वांमन रूप ॥ १ ॥
दुहो ढवूकती ढाल, नोधारा नी ओथड़ो।
दुहो तार-तपाल, दूहो दूत दरगाहनो ॥ २ ॥
कामण कर्या कमाल, खांभी खोडी खडभडे।
पाणा को प्रिताल, दुहो अमारा देशनो ॥ ३ ॥
खावुं खोइमां, के भूख बिना भावे नहिं।
दूहो दिल मांने, उलट बिना आवे नहिं ॥ ४ ॥
दुहै कहै रीझै नहीं, निपुण न मांडे कांन।
उ माणस जसराज कहै, सीतल वाहन समान ॥ ५ ॥
दूहो तिहाँ कहिज्जई, जिहाँ बैठा होय सुजाण।
अधूरो पूरो करे, पूरो करे वखाण ॥ ६ ॥
दूहो दूहा सहु वदइ, जोड़इ पण सहु लोइ।
पणि सुधि दोधक दोहिलउ, वात करइ सहु कोइ ॥ ७ ॥
खोटइ दुहइ छोड़ि कर, पालक सुणतां जोइ।
गज हीणउ दूहा बुरी, गोहत्या तसु होइ ॥ ८ ॥
दुहो दशमो वेद, समजे तेने साले।
वैया तरुनी वेदना, ते वांझणियां शुं जाणे ॥ ९ ॥
दूहौ चित चक्रित करै, दूहौ चित रो चैन।
दूहौ दरद उपावहि, दूहौ दारू एन ॥ १० ॥
गुण मन्दिर दूहो धझी, गाह महेली मित्त।
छन्दा जाणत लार हैं, गीत प्रधान कवित्त ॥ ११ ॥

छन्द-शास्त्रों में, विशेषतः राजस्थानी पिंगल-ग्रंथों में दोहे के अनेकानेक भेद-उपभेद किये गए हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में जिन दोहा-स्वरूपों की प्राप्ति होती है, उनका संक्षिप्त अध्ययन इस प्रकार है—

(एक) मात्रानुसार दोहे :

दोहे की लघु-गुरु मात्राओं के आधार पर इसके २३ भेद किये गये हैं जिनके अनेक नाम-भेद मिलते हैं।[1] प्रस्तुत काव्य में इनमें से कतिपय उपलब्ध भेद निम्नांकित हैं—

क. सैन : (अक्षर २९, गुरु १९, लघु १०)

आसालुब्धी हूं न मुइय, सज्जन जंजालेइ।
मारू सेकइ हथ्थड़ा, झीणे अंगारेइ ॥ २०६ ॥[2]

---

1. यहाँ सभी भेदोपभेदों का नाम किसना जी आढा विरचित 'रघुवर जस प्रकास' (संपा० श्री सीताराम लालस) के अनुसार रखे गये हैं।
2. द्रष्टव्य—दो. सं. २०६ आदि भी।

ख. मंडूक : (अक्षर ३०, गुरु १८ ,लघु १२)

सारीखी जोड़ी जुड़ी, आ नारी अउ नाह।
राँणी राजा सूं कहइ, कीजइ अउ वीमाँह ।। ६ ।।

ग. मरकट : (अक्षर ३१, गुरु १७, लघु १४)

जेहा सज्जण काल्ह था, तेहा नाँही अज्ज।
माथि त्रिसूल्इ, नाक सल्, कोई विणट्ठा कज्ज ।। २१६ ।।

घ. करभ : (अक्षर ३२, गुरु १६, लघु १६)

आडा डूंगर, भुइ घणी, सज्जण रहइ विदेस।
माँगी ताँगी पंखुड़ी, केती वार लहेस ।। ७० ।।[1]

च. नर : (अक्षर ३३, गुरु १५, लघु १८)

जे जीवण तिन्हाँ-तणाँ, तन ही माँहि वसन्त।
धारइ दूध पयोहरे, वाल्क किम काढंत ।। २१ ।।[2]

छ. मराल : (अक्षर ३४, गुरु १४, लघु २०)

ऊलंवे सिर हथ्थड़ा, चाहंदी रसलुब्ध।
विरह महाघण ऊमट्यउ, थाह निहाल्इ मुध्ध ।। १५ ।।[3]

ज. मदकल : (अक्षर ३५, गुरु १३, लघु २२)

ससनेही समदाँ परइ, वसत हिया मंझार।
कुसनेही घर आँगणई, जाण समंदाँ पार ।। २२ ।।[4]

झ. पयोधर : (अक्षर ३६, गुरु १२, लघु २४)

पंथी, एक संदेसड़उ, भल माणसनइ भख्ख।
आतम तुझ पासइ अछइ, ओल्ग रूड़ा रख्ख ।। ११४ ।।[5]

ट. चल् : (अक्षर ३७, गुरु ११, लघु २६)

ढाढी जे प्रीतम मिलइ, यूं कहि दाखवियाह।
पंजर नहिं छइ प्राँणियउ, थाँ दिस झल् रहियाह ।। ११३ ।।[6]

ठ. वांनर : (अक्षर ३८, गुरु १०, लघु २८)

हे सखिए, परदेस प्री, तनह न जावइ ताप।
वावहियउ आसाढ जिम, विरहणि करइ विलाप ।। २६ ।।[7]

ड : त्रिकल् : (अक्षर ३९, गुरु ९, लघु ३०) :

जिउँ मन पसरइ चिहुं दिसइ, जिम जउ कर पसरंति।

---

१. दो. सं. १५० आदि में भी।

२. दो. सं. ३८, ६७, १०२, १४० आदि भी।

३. दो. सं. ५, ११, १९, २९, ५८, ७३, ७४, ८२ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

४. इसके हेतु दो. सं. ३, ४, १४, १७, २४, ३४, ३९ इत्यादि भी देखिये।

५. इस श्रेणी के दोहे २५, ३३, ४४, ४८ आदि भी हैं।

६, दो. सं. ८, १८, २०, २३, ३२, ४०, ६८, १२६ आदि भी।

७. द्रष्टव्य हैं—दो. सं. २, १०, २८, ३१, ४७, ५९, ११९, २२२ इत्यादि।

दूरि थकाँ ही सज्जणाँ, कंठा ग्रहण करंती ।। २१४ ।।[1]

ङ : मछ : (अक्षर ४०, गुरु ८, लघु ३२)

हियड़इ भीतर पइसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख ।

नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख ।। १५८ ।।[2]

इन भेदोपभेदों के अतिरिक्त भ्रमर, भ्रामर और सरभ—ये तीन भेद अतिशय दीर्घ मात्रा वाले हैं, जिनकी प्राप्ति इस ग्रंथ में नहीं होती । इसी प्रकार कच्छप, सादूल, अहिवर, बाघ, विडाल, सुनक, ऊँदर और सरप जैसे अतिशय लघु मात्रावाले दोहे भी इसमें प्राप्य नहीं हैं ।

(दो) वर्ण-भेद के अनुसार दोहे :

वर्ण-व्यवस्था को आधार मान कर चार प्रकार के दोहे माने जाते हैं—

क : ब्राह्मण : बारह लघु मात्राओं तक का दोहा 'ब्राह्मण' दोहा कहलाता है यथा—

सारीखी जोड़ी जुड़ी, आ नारी अउ नाह ।

राँणी राजासूँ कहइ, कीजइ अउ वीमाँह ।। ६ ।।

ख : क्षत्रिय : बाइस लघु मात्राओं तक का दोहा 'क्षत्रिय' कहलाता है । उदाहरणार्थ—

मारूनूँ आखइ सखी, आज स काँइ उदास ।

काँम चित्राँम जु दिट्ठ मइँ, रूप न भूलइ तास ।। १९ ।।

ग : वैश्य : बत्तीस लघु मात्राओं तक का दोहा 'वैश्य' कहा जाता है । निम्नांकित दोहा इसी कोटि का है—

दादुर मोर टबक्क घण, बीजलड़ी तरवारि ।

सूती सेजइँ एकली, हइ हइ दइव म मारि ।। ४८ ।।

घ : शूद्र : बत्तीस से अधिक लघु मात्राओं का दोहा 'शूद्र' दोहा होता है । इस काव्य में शूद्र दोहे का उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता ।

इसी वर्गीकरण में 'चण्डालिनी' नामक दोहा-भेद भी कहा गया है । जहाँ विषम चरणों के आदि में जगण हो तो उसे 'चण्डालिनी' दोहा कहते हैं । आलोच्य काव्य में ऐसे दोहों के उदाहरण भी नहीं हैं । एक विषम चरण के आदि में कहीं-कहीं जगण अवश्य है;[3] पर कोई दोहा 'चण्डालिनी' नहीं है ।

(तीन) चरणानुसार दोहे के भेद :

राजस्थानी में घटते-बढ़ते चरणानुसार दोहों के बारह भेद प्राप्त होते हैं, यथा—दूहो, सोरठियो दूहो, बड़ो दूहो, तूंबेरी दूहो, खोड़ो दूहो, चरण दूहो, पंचा दूहो नंदा दूहो, चौटियो दूहो, उप दूहो, चूडाल दूहो और छकड़ियो दूहो ।[4]

'ढोला मारू रा दूहा' में इनमें से 'दूहा' और 'सोरठिया दूहा' भेद

---

१. दो. सं. १२, १२१ आदि भी ।

२. देखिये दो. सं. १३, २७, ६७३ इत्यादि भी ।

३. दो. सं. २५, ७४, ९८, १७५ आदि ।

४. शोध पत्रिका : वर्ष १३-अंक ३ : पृष्ठ २७ पर डॉ० ओनानन्द रु. सारस्वत का 'राजस्थानी दोहों के चरणानुसार भेद, नामक निवन्ध ।

ही प्राप्य हैं। 'सोरठिया दूहा' का विश्लेपण इसी अध्याय में पृथक् से किया गया है। चरणानुसार भेदों का शास्त्रीय-विकास इसकी रचना के पश्चात् ही हुआ है।

(चार) चाल-ढाल के आधार पर दोहा-भेद :

कथन-पद्धति के आधार पर राजस्थानी दोहों के अनेक ढंग या रूप प्रचलित हैं जिनमें से कुछ मुख्य रूप इस प्रकार हैं—

अ : प्रश्न करने और उत्तर देने के ढंग पर :

क : मुकरी दोहा, ख : सासोत्तरा दोहा, ग : एकोत्तरा दोहा, घ : पड़ूत्तर दोहा, च : संवाद दोहा।

आ : अनुकरण की पद्धति पर :

क : चोज दोहा।

इ : रहस्य या समस्या रखने के ढंग पर :

क : प्रहेलिका दोहा, ख : अधूरा पूरा दोहा, ग : गूढ़ारथ दोहा, घ : उलट वाँसी दोहा।

ई : संबोधन प्रणाली पर :

क : व्यक्ति संबोधन दोहा।

उ : सूत्ररूप में सत्यांश कहने की पद्धति पर :

क : सूक्त्यात्मक दोहा, ख : अन्योक्ति दोहा, ग : कहावती दोहा।[१]

इनमें से अनेक प्रकार के दोहों की प्राप्ति प्रस्तुत ग्रंथ में होती है जिनके उदाहरण अधोलिखित हैं—

क : पड़ूत्तर दोहे :

संस्कृत के 'प्रत्युत्तर' से ही इसे व्युत्पन्न माना जाना चाहिये। पड़ूत्तर प्रायः युग्मक दोहे ही होते हैं और इनमें प्रश्न और उत्तर की भावना प्रबल होती है। उदाहरणार्थ सौदागर और खवास की चर्चा 'पड़ूत्तर' में हुई है—

ते देखी तिणि पूछियउ, कुण ए राजकुमारि।
किह पीहर, किह सासरउ, विगतइ कहइ विचारि ॥ ८९ ॥
कुँवरी पिंगल रायनी, मारवणी तसु नाँम।
नरवर गढ़ ढोलइ भणी, परणी पुहकर ठाँम ॥ ९० ॥

यहाँ प्रथम दोहे में प्रश्न और दूसरे में इसका उत्तर है।[२]

ख : संवाद दोहे :

संवाद दोहे 'वार्त्तालापी' भी कहे जाते हैं। पड़ूत्तर से संवाद दोहे बड़ा सूक्ष्म शैलीगत वैभिन्न्य रखते हैं। 'पड़ूत्तर' में स्पष्टतः प्रश्न निहित होता है अथवा प्रश्न की सांकेतिक ध्वनि; जबकि संवाद दोहे में वार्त्तालाप, कथोपकथन या कथन ही प्रधान होता है। दूसरे, संवाद दोहे में भणै, कहै, उवाच आदि क्रियाओं द्वारा या

---

१. राजस्थानी दोहा साहित्य : एक अध्ययन : डॉ० ओमानन्द रु० सारस्वत का टंकित शोध-प्रबन्ध : पृ० २३४।

२. दो. सं. ४०१-४०२ आदि भी इसके उदाहरण हैं।

व्यक्ति संबोधनात्मक नाम द्वारा संवाद पूर्ण कर लिये जाते हैं। स्थूलतः संवाद दोहों में प्रश्न-सूचकता आते ही 'पड्डत्तर' संज्ञा लग जाती है; किन्तु दोनों की शैली भिन्न है।

इस काव्य में संवाद दोहों की बहुलता है। उदाहरण के लिये रानी-राजा संवाद (दो. सं. ६-९) तथा अनेक अन्य दोहे लिये जा सकते हैं।

ग : प्रहेलिका दोहे :

इन्हें हियाली, पाड़ी, पालियाँ, पारसीयाँ, बूझौवल आदि अन्य नामों से भी जाना जाता है। ये बुद्धिपरक होते हैं और विनोदार्थ इनका उपयोग किया जाता है। इनके दो प्रकार हैं—

१. इसमें प्रश्नोत्तर होता है;

२. इसमें पहेली के उत्तर की सांकेतिक ध्वनि होती है।

'ढोला मारू' में प्रथम प्रकार के प्रहेलिका दोहों की प्राप्ति होती है। ढोला और मारू के मिलन-प्रसंग में संयोग के बाद ढोला विनोदार्थ प्रहेलिकाएँ रखता है और मारू अत्यन्त चातुरी से उनका उत्तर देती है।[1] यद्यपि इनमें 'पड्डत्तर' शैली है किन्तु पहले दोहे में पहेली का प्रस्तुतिकरण है और दूसरे में उसका समाधान।

घ : गूढ़ारथ दोहे :

गूढ़ अर्थ वाले कूट दोहों में शब्द, प्रसंग या संकेत के बिना अर्थ समझना कठिन होता है। इन्हें 'गूढ़ा' भी कहते हैं। मारवणी द्वारा (दो. स. ५६७) में 'गूढा' कहने की बात भी कही गई है। उदाहरण के लिये एक दोहा द्रष्टव्य है—

इन्द्राँ-वाहण-नासिका, तासु तणइ उणिहार।
तस भख हूवउ प्राहुणउ, तिणि सिणगार उतार ।। ५८० ।।

इस काव्य में ऐसे दोहों की संख्या ६-७ से अधिक नहीं है।

च : व्यक्ति सम्बोधन दोहे :

संबोधन पद्धति को लेकर इस ग्रंथ में अनेकानेक व्यक्ति-सम्बोधन-दोहों का प्रयोग हुआ है। व्यक्ति-संबोधन से दोहे में आत्मानुभूति की गहनता का समावेश हो जाता है। यह सम्बोधन व्यक्ति तक ही सीमित नहीं; पशु-पक्षी, वनस्पति, जड़ पदार्थ, प्रकृति आदि किसी का भी हो सकता है। यह व्यक्ति संबोधन कहीं पहले चरण में मिलता है, तो कहीं दूसरे, तीसरे या चौथे में।

'ढोला मारू रा दूहा' में प्राप्त व्यक्ति-सम्बोधन के दोहों में निम्नलिखित व्यक्ति-सम्बोधन के रूप मिलते हैं—

१. **संबंधित विशिष्ट व्यक्ति :**

मालवणी : (दो. सं. २२१) एवं अन्य,
ढोला : (दो. सं. ४३८) एवं अन्य,
मारू : (दो. सं. ६११) एवं अन्य,
बीसू : (दो. सं. ४४८) एवं अन्य।

---

१. द्रष्टव्य हैं दो. सं. ५६९ से ५८० तक।

ऊमर : (दो. सं. ६४१) एवं अन्य,
बाबा : (दो. सं. ६५६) एवं अन्य,
माँ : (दो. सं. ३८८) एवं अन्य ।

२. अनुचर :
ढाढी : (दो. सं. ११२) एवं अन्य,
पंथी : (दो. सं. १२५) एवं अन्य,
सखी : (दो. सं. ३५०) एवं अन्य ।

३. प्रेमी :
प्रीतम : (दो. सं. १६०) एवं अन्य,
साहिब : (दो. सं. १४७) एवं अन्य ।

४. भाग्य :
दैव : (दो. सं. ४७) ।

५. प्राकृतिक वस्तुएँ :
विजली : (दो. सं. १५२),
जलधर : (दो. स. ५०),
चन्द्र : (दो. सं. ३९५) ।

६. वनस्पति :
बूर : (दो. सं. ३९०),
जाल : (दो. सं. ३९१) ।

७. पशु-पक्षी : बावहिया—दो. सं. २९ एवं अन्य,
कुंझा —दो. सं. ६२ एवं अन्य,
करहा —दो. सं. ३२० एवं अन्य,
शुक —दो. सं. ४०१ एवं अन्य ।

८. प्रकीर्ण : स्वप्न —दो. सं. ५१४ एवं अन्य,
प्राण —दो. सं. ३७३ एवं अन्य ।

छ : सूक्त्यात्मक दोहे : ऐसे दोहों में सूक्तियों का उपयोग किसी एक-दो चरणों में या सम्पूर्ण दोहे में किया जाता है । उदाहरणार्थ—

सावज संवल् तोड़स्यइ, वैसासणइ न जाइ ।। १३३ ।।
डूंगर-केरा वाहला, ओछाँ-केरा नेह ।
वहता वहइ उतामला, झटक दिखावइ छेह ।। ३३८ ।।

पहले उदाहरण के दो चरणों में सूक्ति है और दूसरे दोहे में सम्पूर्ण में । 'ढोला मारू' में संवादों आदि के बीच-बीच में सूक्तयात्मक दोहों का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है ।

ज : कहावती दोहे : ऐसे दोहों में कहावतों का प्रयोग होता है जो या तो किसी चरण में या पूरे दोहे में प्रयुक्त होती है; यथा—

रहि नीमाँणी माठ करि, सयणाँ वयण न कथ्थ ।
ज्याँ पग दीधा पागड़इ, वाग उवाँही हथ्थ ।। ४११ ।।

यहाँ दूसरी पंक्ति में कहावत का प्रयोग हुआ है। 'ढोला मारू रा दूहा' में कहावती दोहों का प्रयोग अत्यल्प हुआ है।

(पाँच) विषय-वर्णन के अनुसार दोहे :

मुख्य विषय की भावना को लक्ष्य में रखकर राजस्थानी साहित्य में दोहों का अत्यन्त मौलिक वर्गीकरण हुआ है। इस शैली के प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोहे प्रसिद्ध हैं—

अ. परिजाऊ दूहा, आ. सिन्धु दूहा. इ. रंग दूहा, ई. सर दूहा, उ. विसर दूहा, ऊ. चाड़ाऊ दूहा, ए. मरसिया दूहा, ऐ. वातालार्थी दूहा।[1]

परिजाऊ तथा सिन्धु दोहों का क्षेत्र वीररसात्मक काव्यों से सम्बन्धित है; अतः 'ढोला मारू रा दूहा' में इनकी प्राप्ति नहीं होती। वातालार्थी दोहे मुक्तक होते हैं; अतः इनकी उपस्थिति का भी यहाँ प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यह रचना प्रबन्धपूर्ण है। वस्तुतः विषय-वर्णन के इन दोहों की 'रूढ़' परिभाषाएँ इस काव्य की रचना के पश्चात् ही प्रचलित हुई हैं। शेष प्रकार के दोहों की ध्वनि कहीं-कहीं दिखलाई पड़ती है जिसका विश्लेषण निम्नलिखित है—

अ. रंग दूहा :

कवियों द्वारा साधुवाद देने की प्रथा राजस्थान में सदैव से रही है। ऐसे दोहों में रंग, धन्य, वाह आदि शब्दों के द्वारा कवि अपना साधुवाद देता है। इस रचना में रंग दोहे की एक स्थान पर परोक्ष ध्वनि देखी जा सकती है—

पिंगल पुत्री पदमिणी, मारवणी तिणि नाँम।
जोड़ी जोइ विचारियउ, धन्न विधाता-काँम॥ ५॥

आ. सर दूहा :

इन दोहों में प्रशस्ति का भाव रहता है। ये 'विड़द' भी कहाते हैं। रंग दोहों में जहाँ स्वाभाविकता होती है; वहाँ सर दोहों में आडम्बर का आभास अधिक होता है। 'ढोला मारू' में वीसू चारण ढोला के सम्मुख मारवणी के प्रशस्ति-मूलक जो दोहे कहता है; उनमें सर का स्पष्ट संकेत है—

नमणी, खमणी, बहगुणी, सुकोमली जु सुकच्छ।
गोरी गंगा-नीर ज्यूँ, मन गरवी, तन अच्छ॥ ४५२॥[2]

इ. विसर दूहा :

ये 'विषधर' दोहे हैं। भर्त्सना, निन्दा आदि के लिये ऐसे दोहे प्रयुक्त होते हैं। इस रचना में ऐसे दोहे नहीं हैं; किन्तु विसर की ध्वनि मालवणी-मारवणी संवाद[3] में देखी जा सकती है जिसमें वे एक-दूसरे के प्रान्तों की निंदा करती हैं। ऊमर

---

१. राजस्थानी दोहा साहित्य : एक अध्ययन : डॉ० ओमानन्द रू. सारस्वत का टंकित शोध-प्रबन्ध : पृ० २५५।

२. दो. सं. ४५१, ४५८, ४६३, ४६५ आदि में भी यही भाव है।

३. दो. सं. ६५४ से ६६९ तक।

के चारण का यह कथन भी विसर की ध्वनि का संकेत करता है—

ढोला, मोड़ो आवियउ, गइ बालापण वेस।
अब धण होइ खोरड़ी, जाए कहा करेस ।। ४४३ ।।

यद्यपि यह दोहा साभिप्राय कहा गया है, किन्तु 'मोड़ो आवियउ' में ढोला की त्रुटि की निंदा तो है ही।

ई. चाड़ाऊ दूहा :

चाड़ाऊ का प्रयोग प्रार्थना के रूप में किया जाता है। इस काव्य में ऐसे दोहों के उदाहरण भी नहीं मिलते। मारवणी की मृत्यु पर जोगिन की जोगी से इस प्रार्थना में चाड़ाऊ दोहे की ध्वनि ढूँढी जा सकती है—

जोगिण जोगीसूँ कहइ, साँभलि नाथ समत्थ।
का जीवाड़उ मारुवी, हूँ पिण इणहिज सत्थ ।। ६२० ।।

उ. मरसिया दूहा :

मृत्यु के पश्चात् शोक-प्रकाशन के लिये लिखे जाने वाले दोहों को 'मरसिया' दोहे कहते हैं। मारवणी की मृत्यु पर ढोला के विलाप के दो-चार दोहों में 'मरसिया' दोहों की ध्वनि है; यथा—

वीसारियाँ न वीसरइ, चितारियाँ नावंत।
मारू सायर लहर ज्यूँ, हिवड़े द्रव काढंत ।। ६१२ ।।[1]

इस प्रकार राजस्थानी के इस अत्यन्त लोकप्रिय छन्द को ही 'ढोला मारू' के कवि ने अपनी रचना का माध्यम बनाया है और इसमें हमें इसके अनेक भेदोपभेद प्राप्त होते हैं। 'ढोला मारू' के दोहों की सांकेतिक क्षमता अनूठी है। उसमें भाव और सौन्दर्य बिखरने नहीं पाया है। अनेक स्थलों पर इसके दोहे तीव्रता और सचोटता की अपूर्व घनीभूत प्रभावक्षमता अपने में समेटे हुए हैं।

ग : सोरठा :

हिन्दी में एक स्वतंत्र छंद माना गया 'सोरठा' राजस्थानी में दोहे का 'सोरठिया दूहा' भेद ही ग्रहण किया गया है। इसके नामकरण के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। श्री रामनिवास हारित के मतानुसार सौराष्ट्र या सोरठ से इसका प्रचलन हुआ, इसलिये इसको यह नाम दे दिया गया।[2] डॉ० भोलानाथ तिवारी भी ऐसी ही मान्यता रखते हैं।[3] सौराष्ट्र को वहाँ की भाषा में 'सोरठ' भी कहा जाता है। 'सोरठ' का सोरठियो बन जाना राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल भी है। गुजरात के 'लाट' नाम से लाटानुप्रास अलंकार आया है। इसी प्रकार सौराष्ट्र में दोहे का यह उलटा रूप अत्यन्त प्रचलित रहा हो और सौराष्ट्र के 'सोरठ' नाम से 'सोरठियो दूहो' बन गया हो। डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत ने इसी मान्यता को तर्कपूर्ण आधारों पर स्वीकृत

१. दो. सं. ६१०, ६११ आदि भी देखिये।
२. राजस्थानी दोहा संग्रह : संपा. रानी लक्ष्मी कुमारी चंडावत : प्रस्तावना।
३. हिन्दी नीति काव्य : पृ० ४०५।

किया है ।[१] डॉ० मोतीलाल मेनारिया लिखते हैं कि राजस्थान में राग सोरठ बहुत गाया जाता था जो इस छंद में बहुत खिलता है। इसलिये इसका नाम 'सोरठियो दूहो' पड़ा है ।[२] कुछ लोगों का अनुमान है कि सोरठ नामक लोक-कथाओं की प्रेमिका के साथ इस दोहे का सम्बन्ध है ।[३]

'ढोला-मारू रा दूहा' में यह छन्द १३ बार प्रयुक्त हुआ है ।[४] यह मात्रिक अर्द्धसम छन्द है। 'प्राकृत पैंगलम्' में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सो सोरट्ठउ जाण, जं दोहा विपरीअ ठिअ ।
पअ पअ जमक वखाण, णाअराअ पिंगल कहिअ ।। १७० ।

जहाँ दोहा विपरीत (उलटा) स्थित हो, तथा प्रत्येक चरण में यमक (तुक) हो, उसे सोरठा छन्द समझो, ऐसा नागराज पिंगल कहते हैं ।[५]

'छन्द-प्रभाकर' में इसे इस प्रकार समझाया गया है—

सम तेरा विषमेश, दोहा उलटे सोरठा ।

सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों में १३ और विषम अर्थात् पहिले और तीसरे चरणों में ११ मात्राएँ होती है। दोहे का उलटा सोरठा है। दोहे के अनुसार सोरठे के भी २३ भेद हो सकते हैं। इसके समचरणों में जगण का निषेध है। रोला के और सोरठा के विषम पद एक से होते हैं, सोरठा में सम पद के (अर्थात् दोहे के विषम पद के) आदि में त्रिकल के पश्चात् दो गुरु नहीं आते ।[६]

'ढोला मारू रा दूहा' में इसका प्रयोग बीच-बीच में अनुभूति की गहराई, शैलीगत परिवर्तन आदि के लिये हुआ है—

सुरह सुगंधी वास, मोती काने झुलकते ।
सूती मन्दिर खास, जाणूं ढोलइ जागवी ।। ५०७ ।।

घ : चन्द्रायणा :

राजस्थानी के बहुप्रयुक्त छन्दों में चंद्रायणा का भी स्थान है।

यह त्रैलोक वर्ग का मात्रिक सम छन्द है ।[७] 'दलपत पिंगल' के अनुसार यह एक मात्रिक छन्द है जिसमें चार चरण होते हैं। प्रत्येक पद में २१ मात्राएँ होती हैं

१. मरू भारती : वर्ष ८ अंक ३ : पृ० ६१ पर डॉ० सारस्वत का 'सोरठियो दूहो और उसमें व्यक्ति सम्बोधन' नामक लेख।
२. डिंगल में वीर रस : पृ० २२ ।
३. राजस्थानी दोहा संग्रह : संपा० रानी ल. कु. चूँडावत : प्रस्तावना : श्री रामनिवास हारित ।
४. छं. सं. ३०, ६०, १४२, १७१, १८०, ३७८, ३७९, ३८०, ४६४, ५०५, ५०७, ६०३, और ६०४ ।
५. संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास : भाग १ : १-१७० : पृ० १४८ ।
६. श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' : पृ० ८७ ।
७. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल : पृ० २७९ :

जिनमें क्रमशः ११ और १० पर यति होती है।[१] श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु के अनुसार इसके आदि में लघु व गुरु समकलात्मक रूप से आते हैं जैसे SS, IIS, SII, III; यदि कोई त्रिकल से प्रारम्भ हो तो एक त्रिकल और रखना पड़ता है; परन्तु ११ मात्राएँ जगणांत और १० मात्राएँ रगणांत होती हैं। चंद्र के जैसे दो पक्ष शुक्ल और कृष्ण प्रसिद्ध हैं वैसे ही इसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध पादान्त की रीति भी भिन्न है।[२] चारण किसना जी आढा के अनुसार इसमें षटकल की तीन आवृत्ति होनी चाहिये। चरणांत में लघु एवं गुरु तथा एक चरण में २१ मात्राएँ होनी चाहिये।[३] लेकिन गुजराती के ग्रंथ रणपिंगल[४] तथा बृहत पिंगल[५] में दिये गये लक्षणों से उपर्युक्त लक्षण मेल नहीं खाते। यों इन निर्दिष्ट नियमों का पालन भी कवियों ने प्रायः नहीं किया है।[६]

'ढोला मारू रा दूहा' में यह छन्द दो बार आया है और इनका रूप निम्नलिखित हैं—

छं. सं. ५६५ :

SS III ISI SI II II IS ११+१०=२१,
वेऊँ चतुर सुजांण पेम-रंग-रस पिया।
IIS II II III SI I IIIS II ११+ ९=२०,
वरखा रूति घण वरख जाँणि कु हरखिया।
S IISI ISI I SS SI II ११+१०=२१,
भी सिणगार सँवारि के आई सेज परि।
IIS SS IIII SI I SS SI II ११+१०=२१।
(परिहाँ) जाणें अपछर इंद्र क वैठा आप घरि॥

छं. सं. ५६६ :

SI IIII ISI SI II SIII ११+१०=२१,
दोउ मयमंत सुजाँण सेज दिसि वाहुड़इ।
SS IIS SI ISII SIII ११+१०=२१.
जाँणें धरती काज असप्पति आहुड़इ।
IIS III ISI IS II SIS ११+१०=२१,
अहरे अहर लगाइ तने तन मेलिया।
IIS IS I SSSI ISS SIS ११+१०=२१।
(परिहाँ) जाँणि क गाँधी-हाट जुवाँने भेलिया॥

१. कवीश्वर दलपतराम डाह्या भाई : पृ० २९।
२. छन्द प्रभाकर : पृ० ५६।
३. रघुवर जस प्रकास : पृ० ४९।
४. प्रथम भाग : श्री रणछोड़ भाई उदयराम : पृ० १४२।
५. रामनारायण विश्वनाथ पाठक : पृ० ३३४।
६. हिन्दी साहित्य कोश : प्रथम भाग : संपा० धीरेन्द्र वर्मा आदि : पृ० २८७।

किसी एक शास्त्रीय पिंगल ग्रंथ के शुद्ध लक्षण की दृष्टि से ये दोनों उदाहरण ठीक नहीं उतरते। संभवतः लोकोन्मुखी होने के कारण इस काव्य में 'चंद्रायणा' की बहिरंग ध्वनि ही इन दोनों छन्दों में गृहीत है। प्रथम छन्द ५६५ की दूसरी पंक्ति में ११ + ९ का निराकरण तो 'जाँणी कु हरखिया' में 'कु' को छंदाग्रह के कारण दीर्घ 'कू' किया जा सकता है। शेष छंद-लक्षण अवश्य ही चिन्त्य हैं।

'छंद : प्रभाकर' में दिये गये लक्षणों के अनुसार पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध पादान्तों की रीति भिन्न अवश्य है; किन्तु लघु-गुरु की समकलात्मकता सारे छंद में सही नहीं बैठती। 'रघुवर जस प्रकास' के अनुसार दोनों छंदों में केवल पाँच ही पंक्तियों में षटकल की आवृत्ति सिद्ध हो पाती है और पादान्त में लघु-गुरु का नियम भी चार स्थानों पर ही दृष्टिगोचर होता है।

यही कहा जा सकता है कि चंद्रायणा में ११ मात्राओं का नियम ही इस ग्रंथ में पालित हुआ है। इनमें आंतरिक लय के अवश्य ही दर्शन होते हैं।

इस वर्णन-प्रधान छन्द का अतुकान्त प्रयोग भी रगणान्त की श्रुति-मधुरता के कारण सुन्दर होता है। इस छन्द की एक सामान्य विशेषता है 'परिहाँ' नामक अर्थहीन अव्यय का प्रयोग, जो इसके चतुर्थ चरण के पहले प्रायः उच्चारण के समय और प्रायः लिखित रूप में प्रयुक्त होता है। 'परिहाँ' विषयक किसी छन्द-शास्त्रीय नियम का तो उल्लेख नहीं मिलता; पर प्रयोग-परम्परा में यह अवश्य है।

च : गाहा :

'गाहा' शब्द 'गाथा' का रूपान्तर है। छन्द-लक्षणों में भी यह संस्कृत के आर्या छन्द के निकट है। यही छन्द आगे चलकर 'प्राकृत का प्रतीक'[१] बन गया। प्राकृत और अपभ्रंश में यह गाथा अथवा गाहा नाम से प्रमुख छन्द के रूप में खूब प्रचलित हुआ।[२]

'प्राकृतपैंगलम्' के अनुसार गाथा के प्रथम चरण में १२ मात्रा होती हैं, दूसरे में यह १८ मात्राओं से युक्त होती है। तीसरे चरण में प्रथम चरण की ही तरह १२ मात्राएँ होती हैं, बाकी (चतुर्थ) चरण में गाथा १५ मात्रा से विभूषित होती है। गाथा में सात दीर्घांत गण (चतुष्कल गण) होते हैं। इनमें छठा गण या तो जगण (।ऽ।) होता है या नगण और लघु (।।।,।)। इसके विषम गणों (प्रथम, तृतीय, पंचम और सप्तम) में कभी भी जगण (।ऽ।) न हो। गाथा के द्वितीयार्द्ध में छठा गण एक लघु जानना चाहिये। सभी गाथाओं में ५७ मात्रा होती है। पूर्वार्द्ध में ३० मात्रा होती है, उत्तरार्द्ध में २७।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ० ९९।
२. संस्कृत एंड प्राकृत पोइट्री : कोल ब्रुक : पृ० ४०० (एशियाटिक रिसर्चेज X)।
३. प्राकृत पैंगलम् : संपा० डॉ० भोला शंकर व्यास : १-५४, ५६, ५७ : पृ ५२-४।

रघवर जस प्रकास,[1] दलपत पिंगल,[2] छन्दः शिक्षा,[3] छन्दोमन्जरी[4] आदि अन्य छन्द ग्रंथों में भी गाथा पर विचार हुआ है। समग्रतः गाथा के नीचे लिखे लक्षण स्थिर होते हैं—

अ—यह विषम मात्रिक छन्द है।

आ—इसके पूर्वार्द्ध (पूर्व दल) में सात चतुष्कल के अनन्तर एक गुरु होता है।

इ—विषम चतुष्कलों अर्थात् एक, तीन, पांच और सात में कभी जगण (।ऽ।) नहीं आता।

ई—छठा चतुष्कल जगण होता है या वहाँ पर नगण + लघु (।।।, ।) होता है।

उ—उत्तरार्द्ध (दूसरे दल) में पूर्वार्द्ध की ही भाँति चतुष्कल होते हैं। केवल छठा चतुष्कल नहीं होता और उसके स्थान पर मात्र एक लघु (।) होता है।

ए—पादान्त सदैव गुरु (ऽ) होता है।

ऐ—विषम चरणों में याने पहले और तीसरे में बारह मात्राएँ होती हैं।

ओ—सम चरणों में याने दूसरे और चौथे चरणों में पन्द्रह-पन्द्रह या क्रमशः पन्द्रह एवं अठारह मात्राएँ होती हैं।

'ढोला मारू रा दूहा' में प्रयुक्त चारों 'गाहा' निम्नलिखित रूप में हमें प्राप्त होती हैं—

छं. स. १।

					लघु		गुरु	
ऽ।।	ऽ।।	ऽऽ,	।।ऽ	ऽ।।	।	ऽ।।	ऽ	= १२ + १५,
१	२	३	४	५	६	७		

				लघु		गुरु	
।।ऽ	ऽऽ	ऽऽ,	।ऽऽ।ऽ	।	ऽऽ	ऽ	= १२ + १५।
१	२	३	४ + ५	६	७		

छं. सं. २३४ :

					जगण		गुरु	
ऽ।।	।।।।	ऽऽ,	ऽऽ	।।।।	।ऽ।	।।ऽ	ऽ	= १२ + १८,
१	२	३	४	५	६	७		

					लघु		गुरु	
ऽऽ	ऽ।।	।ऽ।,	ऽऽ	।।ऽ	।	।।ऽ	ऽ	= १२ + १५।
१	२	३	४	५	६	७		

					जगण		गुरु	
।।ऽ	।ऽ।	।।ऽ,	।ऽ।	ऽ।।	।ऽ।	।।ऽ	ऽ	= १२ + १८,
१	२	३	४	५	६	७		

१. किसनाजी आढ़ा : संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ७२।

२. कवीश्वर दलपतराम डाह्या भाई : पृ० २४।

३. परमेश्वरानन्द : पृ० ७१। ४. श्री गंगादास : पृ० २१०

लघु गुरु

ऽ।।	।।।।	ऽऽ,	ऽऽ	ऽऽ	।	ऽऽ	ऽ	=१२+१५
१	२	३	४	५	६	७		

छं. सं. ५७५:

लघु गुरु

।।ऽ	।।।ऽ।।।,	।।।	ऽऽ	।	।।ऽ	ऽ	=१२+१५
१	२+३	४	५	६	७		

लघु गुरु

ऽऽ	।।।।	ऽऽ,	।ऽ	।।।।	।	ऽऽ	ऽ	=१२+१५
१	२	३	४	५	६	७		

औ—सम्पूर्ण गाथा में सत्तावन मात्राएँ होती हैं।

ये चारों 'गाहा' मात्रानुकूल ठीक हैं। सप्त चतुष्कल और जगण व लघु की दृष्टि से छं. सं. २३४ एवं ५७५ भी लक्षणानुसार हैं। छं. सं. १ में द्वितीय पाद के चतुर्थ चरण में एवं छं. सं. ५७७ के प्रथम पाद के प्रथम चरण में चतुष्कल नहीं बैठता। लिपिकारों का दोष भी संभवतः हो सकता है। छं. सं. २३४ में विषम चतुष्कल (अर्थात् तीसरा) में जगण का प्रयोग नियम-विरुद्ध है। चारों छन्दों का पादान्त गुरू है।

इन चार गाहाओं में छं. सं. २३४ तथा ५७५ 'शुद्ध गाहा' हैं। 'आद वार मत दुवै अठारह, वार त्रतीय चव पनर विचारह'[1] के अनुसार गाथा ये दो ही हैं। शेष छं. सं. १ एवं ५७७—दो 'उपगीति' याने 'उपगाथा' हैं। जहाँ गाथा के उत्तरार्द्ध के लक्षण ही दोनों दलों में पाये जावें, वहाँ 'उपगीति' होता है।[2] किसनाजी आढ़ा ने 'रघुवर जस प्रकाश' में इसे 'गाहू' कहा है।[3]

'प्राकृतपैंगलम्' में गाथा के २७ भेद गिनाये गये हैं।[4] राजस्थानी पिंगलग्रंथ 'रघुवर जस प्रकास' में इसके २६ भेद ही माने गये हैं।[5] मात्रानुसार गाथा के इन भेदों में से छं. सं. १ **धात्री** गाथा, छं. सं. २३४ **छाया** गाथा, छं. सं. ५७३ **चूर्ण** गाथा एवं छं. सं. ५७७ **कीर्ति** गाथा—कही जा सकतीहैं।

गण की स्थिति के अनुसार जिस गाथा में एक जगण हो उसे **कुलवंती**, दो

---

१. रघुवर जस प्रकास : किसना जी आढा : संपा० सीताराम लालस : पृ० ८२।
२. (i) छन्द : शिक्षा : श्री परमेश्वरानन्द : पृ० ७२।
(ii) दलपत पिंगल : कवीश्वर दलपतराम डाह्या भाई : पृ० २४।
३. संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ८२।
प्रथम वार मत पनर दुवै पद,
वल तिय बार पनर चौथे पद।
४. संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास : भाग १ : १-६१ : पृ० ५६-७।
५. किसनाजी आढ़ा : संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ७६।

वाली को परकीया, अधिक जगण वाली को **गणिका** और जगण रहित गाथा को **विधवा** कहते हैं।[१] इस दृष्टि से छं. सं. १ एव छं. सं. ५७७ विधवा गाथा, छं. सं. २३४ परकीया और छं. सं. ५७५ की गाथा गणिका ठहरती है।

अनुस्वार की दृष्टि से अनुस्वार रहित गाथा की संज्ञा **अन्ध**, एक अनुस्वार वाली को **एकाक्षी**, दो अनुस्वार वाली को **सुनयना** एवं अनुस्वारों की बहुलता वाली गाथा **मनोहर** कहलाती है।[२] 'ढोला मारू' की गाथाओं में छं. सं. १ वाली सुनयना, और शेष मनोहरा हैं।

गाथा में सकार अक्षर का अप्रयोग भी सुन्दर गिना जाता है। सकार रहित गाथा को **पद्मिनी**, एक सकार युक्त को **चित्रणी**, चार सकार वाली को **हस्तिनी** और सकार वाहुल्या गाथा को **शंखिनी** कहते हैं।[३] इस दृष्टि से 'ढोला मारू' की समस्त गाथाएँ हस्तिनी हैं।

लघु-वर्णों की स्थिति के अनुसार १३ लघुवर्ण वाली गाथा **विप्र**, ११ लघुवर्ण वाली **क्षत्रिया**, २७ लघु वर्ण वाली **वैश्य** और २७ से अधिक वाली **शूद्रा** जाति की कहलाती है।[४] इस दृष्टि से छं. सं. १ और ५७५ की गाथाएँ क्षत्रिया हैं और छं. सं. २३४ और ५७७ की गाथाएँ वैश्य हैं।

जिस गाथा में दो 'क' हो वह **गौरी**, एक 'क' वाली **चंपा वर्ण**, तीन 'क' वाली **श्याम वर्ण लिये हुए गौर** और 'क' की बहुलता वाली **काली गाथा** कही जाती है।[५] इन गाथाओं में छं. सं. १ की गाथा'क' रहित है। छं. सं. २३४ की गाथा चंपावर्ण, छं. सं. ५७५ की गाथा काली और छं. सं. ५७७ की गाथा श्याम वर्ण लिये हुए गौर है।

प्रथम तृतीय पंचम तथा सप्तम स्थान पर जगण वाली गाथा **गर्भिणी** कहलाती है और गुणरहित होने के कारण दोष को प्रकट करती है।[६] इस तरह छं. सं. २३४ की गाथा गर्भिणी हुई।

'ढोला मारू रा दूहा' में गाथाओं की यह स्थिति है। संपादक-त्रय का इनके लिये सटीक अभिमत इस प्रकार है—"राजस्थानी में (और हिन्दी में भी) गाथा छन्द का प्रयोग नहीं होता। राजस्थानी के प्राचीन आख्यानक काव्यों में कहीं-कहीं गाथायें मिलती हैं। वे उपदेशात्मक अवतरणों की भाँति आई हैं। इनकी भाषा वड़ी विचित्र प्राकृत, अपभ्रंश एवं राजस्थानी मिश्रित होती है। उसे टूटी-फूटी प्राकृत कहना चाहिये। उससे प्राचीनत्व की झलक अवश्य उत्पन्न हो जाती है।"[७]

---

१. रघुवर जस प्रकास : संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ७३।
२. रघुवर जस प्रकास : संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ७४।
३. रघुवर जस प्रकास : संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ७४।
४. प्राकृत पैंगलम् : भाग १ : संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास : १–६४ : पृ० ५८।
५. रघुवर जस प्रकास : किसना जी आढ़ा : संपा० श्री सीताराम लालस : पृ० ७४।
६. प्राकृत पैंगलम् : भाग १ : संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास : १–६५ : पृ० ५८।
७. ढोला मारू रा दूहा : पृ० १७१।

छ : छन्द-सम्बन्धी कतिपय अन्य विशेषताएँ :

'ढोला मारू रा दूहा' में छन्दों की विविधता तो इतनी अधिक नहीं, किन्तु प्रयुक्त छंद अनेक प्रकार की विशेषताएँ लिये हुए अवश्य हैं। छन्द सम्बन्धी इन कतिपय विशेषताओं का संकेत अधोलिखित है—

अ : तुक-निर्वाह :

पद्य के चरणांत की अक्षर-मैत्री को तुक कहते हैं।[1] हिन्दी के शब्दालंकार अनुप्रास के एक भेद के रूप में भी अन्त्यानुप्रास गिना जाता है।

तुक छन्द में अन्तरंग सौन्दर्य और लयात्मक सौन्दर्य की सृजनकर्त्री है। तुक-साम्य से काव्य में मधुरता की सृष्टि होती है एवं उसकी प्रभाव-क्षमता को बल मिलता है।

'ढोला मारू' में तुक के अनेक भेदोपभेदों का इस तरह निर्वाह हुआ है—

१. **उत्तम :**

समसरि : जाइ —थाइ (दो. सं. १२),
खीण —वीण (दो. सं. १३),
करीर — सरीर (दो. सं. ५६),
हीयाह—वीयाह (दो. सं. ५३०) आदि।

विषमसरि : ताल —हवाल (दो. सं. ५३),
दरंगि—अंगि (दो. सं. ५५) आदि।

कष्टसरि : पिया-हरखिया—परि-घरि (छं. सं. ५६५ (चन्द्रायण)।

२. **मध्यम :**

असंयोगमीलित : सहाव—प्रियाव (दो. सं. २७),
द्रंग —अंग (दो. सं. ३५१),
ब्रन्न —मन्न (दो. सं. ५७२) आदि।

स्वरमीलित : प्रवाह—विहाय (दो. सं. २५९),
मात—घाति (दो. सं. ३३४),
ढोल—तंबोल (दो. सं. ३५३) आदि।

दुर्मिल : सखराँह—लाँबी बाँह (दो. सं. २७१),
सुप्रीत—चीत (दो. सं. २७४) आदि।

३ **अधम :**

अमिल सुमिल : तरवारि—म मारि (दो. सं. ४८),
न देस—वहेस (दो. सं. ६३) आदि।

आदिमत्त अमिल : भत्त—नित्त (दो. सं. ६१),
गहिलाइ—कहवाइ (दो. सं.) ६६ आदि।

अंतमत्त अमिल : मल्हपंत—प्रीतम वत्त (दो. स. ६८) आदि।

मात्रिक छन्दों की व्यवहृति के कारण 'ढोला मारू' में तुक-साम्य की अनिवार्यता है। तुक-साम्य के लिये शब्दों की तोड़-मरोड़ दृष्टिगत नहीं होती। भाषा की गति के अनुकूल सर्वत्र काव्योचित प्रयोग द्रष्टव्य है। इस सुन्दर तुकान्त-साम्य ने भाषा को अपूर्व सौष्ठव प्रदान कर रुचिग्राह्यता एवं स्मरण-शालीनता प्रदान की है।

---

१. वाङ्मय-विमर्श : पृ० १५१।

आ : 'ह' का प्रयोग :

'ढोला मारू' के छन्दों में प्राय: अनेक स्थानों पर छन्दाग्रह के कारण सम चरणों के अन्त में राजस्थानी ध्वनि-परम्परानुसार शब्द के साथ 'ह' शब्दांश जुड़ा मिलता है। उदाहरणार्थ–

सज्जण चाल्या हे सखी, दिस पूगल दोड़ेह ।
सायधण लाल कवाँण ज्यउँ, ऊभी कड़ मोड़ेह ।। ३५५ ।।

साँमहियाँह-कहियाँह,[1] **कूझड़ियाँह-पंखड़ियाँह,**[2] **ज्याँह-त्याँह,**[3] **मालवणीह-घणीह,**[4] **दाखवियाह-रहियाह,**[5] **नीगमताँह-घणाँह,**[6] **नयणाँह-उगहँताह,**[7] **हीयाह-कीयाह,**[8] **गयाह-थयाह,**[9] **गलियाह-फलियाह**[10] आदि में भी यही प्रवृत्ति देखि जा सकती है। जहाँ ऐसा नहीं किया गया है, वहाँ छन्द-दोष से बचने के लिये पाठक को 'ह' पढ़ना ही पड़ेगा—

सखियाँ राँणी सू कहइ, मारू-मन भाँणी ।
साल्हकुमर पासइ विना, पदमिणी कुँमलाँणी ।। ७७ ।।

इस दोहे में **'भाँणीह'** और **'कुँमलाणीह'** पढ़ना आवश्यक बन गया है।

इ : मात्रा-प्रयोग :

आलोच्य काव्य के अनेक दोहों में लगातार एक ही मात्रा का प्रारंभ या अंत में प्रयोग पाया जाता है। दो. सं. ११६ से लेकर १३३ तक १७ दोहों में आ + इ से ही समचरणांत हुआ है जिसमें **जाइ, आइ, समझाइ, पैहचाइ, आइ, काइ** आदि शब्द हमें मिलते हैं।

ई : पुनरावर्त्तन :

इस काव्य के छन्दों में अनेक स्थलों पर शब्दों, वर्णों, वाक्यांशों अथवा-चरणों की पुनरावृत्ति प्राप्त होती है। संभवत: यह भाव-एकता के लिये छन्दों में मिलती हो अथवा प्रभाव-क्षमता की अभिवृद्धि और स्मरण की सुलभता के लिये; किन्तु इससे छन्द में चमत्कार की सर्जना होती है। उदाहरण के लिये, **पंथी एक संदेसड़इ लग, ढोलइ पैहच्याह'** चरण की आवृत्ति दो. सं. १२३, १२५ से १३४ आदि तक में की गई है।

उ : गेयता :

दोहों की गेयता की प्राचीनता बौद्ध-साहित्य के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होती है। उसे 'वज्रगीति' कहा जाता था।[11] प्रस्तुत काव्य के दोहों में रागात्मकता के आधिक्य के कारण गेय तत्त्व अनायास और स्वभावत: ही प्रविष्ट हो गया है। संदेश-प्रधान काव्य वैसे भी गेय होते हैं। प्रस्तुत रचना में इसी कारण दोहों में

---

१. दो. सं. ६४। २. दो. सं. ६५। ३. दो. सं. ७१।
४. दो. सं. ९४। ५. दो. सं. ११३। ६. दो. सं. १५४।
७. दो. सं. ४७८। ८. दो. सं. ५३०। ९. दो. सं. ५५३।
१०. दो. सं. ५६०। ११. सिद्ध-साहित्य : डॉ० धर्मवीर भारती : प्रस्तावना।

सम्बोधन की अधिकता है जिन्हें लय लेकर गाया जा सके और सरलता से स्मरण रखा जा सके। जैसलमेर की ओर 'ढोला मारू' इस रूप में सम्पूर्ण तो नहीं, पर इसका विरह और संदेश का अंश अवश्य गाया जाता है।

छन्द-विषयक उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'ढोला मारू' काव्य में छन्द-वैविध्य इतना नहीं है। मात्र तीन छन्दों—दोहा, गाहा और चन्द्रायणा—से ही इसका कलेवर खड़ा किया गया है। दोहों की इसमें प्रधानता है। काव्य का नामकरण भी इसी छन्द पर हुआ है। अपने लाघव के कारण दोहा मुक्तक छन्द ही गिना जाता है, परन्तु कवि ने इनमें प्रबन्धात्मकता लाकर एक सर्वथा नवीन काव्य-शैली की परम्परा का श्रीगणेश किया और साहित्य-क्षेत्र को नई वस्तु प्रदान की।

(उ) संवाद-योजना :

"संवाद किसी विषयवस्तु पर तर्क-वितर्क के साथ किया जाने वाला वह वाग्विनिमय है जो प्रसंग के बाहर भी अपना स्वतंत्र महत्व दिखला सके।"[1]

संवाद वस्तुतः नाटक का अनिवार्य तत्व है। काव्य में इसके बिना भी कार्य चलाया जा सकता है; किन्तु प्रबन्ध-काव्य में स्वाभाविकता की रक्षा के लिये संवाद की आवश्यकता मानी जाती है। स्वाभाविकता के अतिरिक्त कथा-विकास, पात्रों के चरित्र की विज्ञप्ति, नाटकीयता तथा रोचकता आदि तत्व भी संवादों से संपादित हो जाते हैं। मानवीय भावनाओं को समर्थ काव्य-कार के शब्द भी कभी-कभी व्यक्त नहीं कर पाते। वह उनकी प्रत्यक्षानुभूति संवादों द्वारा कराता है। इस प्रकार काव्य में भी इस तत्व की महत्ता निर्विवाद है।

उत्तम संवाद की विशेषताएँ इस प्रकार रखी जा सकती हैं—पात्रों की प्रकृति के अनुरूप, लोकरंजक भाषा का प्रयोग, कथा-विस्तार और चरित्र विकास के अनुपात में संवादों की संघटना, आकार में औचित्य तथा स्तरानुरूपता। इन्हें 'संवादों का पंचशील' कहा गया है।[2]

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्री चार्ल्स मोरगन ने कथ्य और वर्णन में गति देना, चरित्र का प्रदर्शन करना और वातावरण की सृष्टि करना—ये तीन उद्देश्य संवाद के बताये हैं।[3] इस प्रकार समवेत रूप में संवाद प्रसंगानुकूल, वाग्वैदग्ध्य पूर्ण, संक्षिप्त, त्वरा-बुद्धिमूलक, सजीव, रसात्मक, तर्कसंगत, पूर्वापर-सबद्ध, सार्थक तथा भाषा और शैली की दृष्टि से सरल एवं प्रसाद-गुण-सम्पन्न होने चाहियें।

लोक-भूमि पर रचित काव्यों में संवाद-तत्व की सबलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। वहाँ संवाद ही सजीव वातावरण निर्मिति, मन की गहन भावनाओं का उद्घाटन-कर्त्ता, कथा की क्रम-बद्धता का निर्वाह करने वाला और चरित्र प्रकाशक होता है। 'ढोला-मारू रा दूहा' में संवाद-योजना का अनेकानेक स्थलों पर संयोजन

१. वाङ्मय-विमर्श : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : पृ० ६० ।
२. रामचरित मानस का काव्य-शास्त्रीय अनुशीलन : डॉ० राजकुमार पाण्डेय : पृ० ४१४–४१५।
२. दी राइटर एण्ड हिज वर्ल्ड : पृ० १०० ।

करके प्रत्यक्षानुभूति की सजीवता प्रस्तुत की गई है। 'ढोला मारू' की संवाद-योजना-समीक्षा इस प्रकार की गई है—

क : संवादों की संख्या का निर्धारण :

'ढोला मारू रा दूहा' में संवाद-योजना के दो प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. कथोपकथन के रूप में—जहाँ प्रश्नोत्तर या दो पात्रों का वार्त्तालाप है;
२. कथन के रूप में—जहाँ एक ही पात्र कुछ कहता है और दूसरा पात्र उसका उत्तर नहीं दे पाता कि कथा आगे बढ़ जाती है।

इस काव्य के ६७४ छंदों में इन दोनों प्रकार के संवादों की कथाक्रमानुसार सूची इस प्रकार है—

१. कथोपकथन :

१.	पिंगल-पटरानी और पिंगल राजा का संवाद	—	दो. सं. : ६–६
२.	मारवणी की सखियों और मारवणी का संवाद	—	१६–४६
३.	सखी और मारू का संवाद	—	५१–५२
४.	मारवणी और कुंभों का संवाद	—	६२–६६
५.	सौदागर और खवास का संवाद	—	८८–६१
६.	ढाढी और मारवणी का संवाद	—	१०७–१८३
७.	ढोला और ढाढियों का संवाद	—	१६५–२०७
८.	मालवणी और ढोला का संवाद	—	२१८–२३८
६.	मालवणी और ढोला का पुनः संवाद	—	२४४–३०६
१०.	ढोला और रैवारी का संवाद	—	३०८–३११
११.	ढोला और ऊँट का संवाद	—	३१२–३१५
१२.	मालवणी और ऊँट का संवाद	—	३१६–३२८
१३.	मालवणी और जाल् वृक्ष का संवाद	—	३६१–३६२
१४.	ढोला और सुग्गे का संवाद	—	४०१–४०६
१५.	ढोला और ऊँट का संवाद	—	४२६–४३४
१६.	ढोला और गड़रिये का संवाद	—	४३६–४३८
१७.	ढोला और ऊँट का संवाद	—	४४४–४४६
१८.	ढोला और वीसू चारण का संवाद	—	४४८–४६०
१६.	ढोला और ऊँट का संवाद	—	४६१–५००
२०.	ढोला और पानी खींचने वालों का संवाद	—	५२४–५२५
२१.	ढोला और मारवणी का संवाद	—	५४४–५४६
२२.	ढोला और मारवणी का पुनः संवाद	—	५६७–५८०
२३.	ढोला और साथ वाले लोगों का संवाद	—	६१२–६१४
२४.	योगी और ढोला का संवाद	—	६१८–६१६
२५.	चारण और ढोला का संवाद	—	६४४–६४५
२६.	ऊमर सूमरा और चारण का संवाद	—	६४६–६४६
२७.	मालवणी और मारवणी का संवाद	—	६५४–६६८

२. कथन :

६३.	वीनू का पिंगल राजा से कथन	—	५२६
६४.	मारवणी का सखी को कथन	—	५२८–५३४
६५.	मारवणी का सखियों से कथन	—	५६१–५६२
६६.	जोगिन का जोगी को कथन	—	६२०–
६७.	दूतों का ऊमर सूमरा को कथन	—	६२६–
६८.	मारवणी का ऊँट तथा ढोला को कथन	—	६२७–
६९.	ढोला से ऊमर सूमरा का कथन	—	६२८–
७०.	डूमणी का मारवणी को कथन	—	६३१–६३३
७१.	ऊमर का ढोला को कथन	—	६३५–
७२.	मारवणी का ढोला को कथन	—	६३६–
७३.	ऊमर का क्रोध में कथन	—	६४१–
७४.	ढोला का पत्नी-द्वय को कथन	—	६६९–६७०

ख : संवादों का वर्ग-विभाजन :

'ढोला-मारू' में संवादों की इतनी अधिकता है कि उन्हें सहसा अनेक वर्गों में सरलता से विभाजित किया जा सकता है।

आकार की दृष्टि से इन संवादों को हम **लघु संवाद** (उदाहरणार्थ मालवणी तथा जाल् वृक्ष का संवाद आदि।),[1] **दीर्घ संवाद** (उदाहरणार्थ ढोला-मालवणी[2] और मालवणी—मारवणी का संवाद[3] आदि) विभेदों में विभक्त कर सकते हैं।

रस की दृष्टि से **शुष्क और सरल**—ये दो वर्ग भी इन संवादों के सरलता से बनाये जा सकते हैं। इस काव्य के सभी संवाद सरस और अन्तर्भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

वर्णन-कौशल की दृष्टि से **नाटकीय, इतिवृत्तात्मक, काव्यात्मक** आदि सभी तरह के संवाद भी इस रचना में प्राप्त होते हैं।

अर्थ को दृष्टि में रखते हुए इन संवादों को **सरल** और **क्लिष्ट** श्रेणी में रखा जा सकता है। क्लिष्टता कवि-समय या 'गूढारथ' संबंधी दोहों में ही है; शेष सभी संवाद सरल और सीधे हृदय को स्पर्श करने वाले हैं।

मानव का मानव और मानवेत्तर वस्तुओं से संलाप के आधार पर भी इन संवादों के **स्वाभाविक** (मानव का मानव से), **अस्वाभाविक** (मानव का मानवेत्तर वस्तुओं से)—**दो भेद निश्चित किये जा सकते हैं**। लोकोन्मुखी काव्य होने के कारण इसमें साहित्यिक-तत्त्वों के साथ-साथ लोक-तत्त्वों का भी प्रचुर मात्रा में समावेश हुआ है। यहाँ सभी पेड़-पौधे और पशु-पक्षी बोलने वाले मानव-सदृश प्रस्तुत हुए हैं जिन्हें उपयुक्त द्वितीय श्रेणी में रखा जा सकता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि अस्वाभाविक संवाद लोकोन्मुखी काव्यों की विशिष्ट अलंकृति और स्वाभाविकता है।

अन्य दृष्टियों से कथानक को गति प्रदान करने वाले संवाद, चरित्र-प्रकाशक संवाद और वातावरण-सृष्टि करने वाले संवाद आदि वर्ग भी किये जा सकते हैं। पिंगल-पटरानी और पिंगल राजा का संवाद कथारंभ करता है।[4] सौदागर का राजा

१. दो. सं. ३६१–३६२।
२. दो. सं. २१८–३०३।
३. दो. सं. ६५४–६६८।
४. दो. सं. ६–९।

को कथन उसे मोड़ और विकास की गति प्रदान करता है।[1] इसी तरह ढोला-ढाढी ढोला-गड़रिया, ढोला-रेवारी, ऊमर-चारण आदि सभी संवादों से कथानक को गति, मोड़ और विकास में सहायता मिली है। मारवणी और कुंभों के संवाद[2] में मारवणी की मनोभावनाएं, चरित्र का शील आदि उद्घाटित हुए हैं। मालवणी और ढोला का संवाद[3] भी चरित्र प्रकाशक संवाद है। ऊमर का ढोला को कथन, मारवणी का ढोला को कथन, ढाढी और मारवणी का संवाद, ढोला व वीसू चारण का संवाद आदि भी चरित्र चित्रण से सम्बन्ध रखने वाले संवाद हैं। इस काव्य में कतिपय संवाद वातावरण-सृष्टि के लिये ही आयोजित हैं। पूगल के मार्ग में ढोला और ऊँट का संवाद[4] वास्तव में मरुभूमि के वातावरण, प्रकृति और वनस्पति आदि का ही परिचय देता है।

ग. संवादों की अनुकूलता :

पात्र, भाव, प्रसंग, भाषा आदि की अनुकूलता संवादों में स्वाभाविकता एवं साभिप्रायता का संवाद करती है। विशेषतः 'ढोला मारू' जैसे काव्य में, जहाँ कथांश अल्प है, यह अनुकूलता कथा की शृङ्खला-बद्धता और उसके प्रवाह-नैरन्तर्य के लिये अधिक आवश्यक कही जा सकती है। 'ढोलामारू' में निरर्थक संवाद नहीं ठूंसे गये हैं। हर जगह अनुकूलता का अत्यन्त सफल निर्वाह किया गया है जिनके कारण संवादों को 'कर्म की वाणी' न कहकर यहाँ विवेच्य काव्य में उन्हें मर्म की वाणी कहना उपयुक्त रहेगा।

अनुकूलता की दृष्टि से संवादों का परीक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. पात्रानुकूल संवाद :

ढोलामारू में पात्रों की संख्या कम है और शृङ्गार (विशेषतया विप्रलम्भ) ही कवि का प्रतिपाद्य रहा है। इस कारण विभिन्न पात्रों को वार्तालाप का खुला और स्वच्छन्द अवसर कम ही प्राप्त हुआ है। लेकिन पात्रानुकूलता की अवहेलना कवि ने नहीं की है। उदाहरणार्थ वीसू चारण मारवणी के रूप-सौन्दर्य की प्रशसा 'चारणी' अतिशयोक्ति में ही करता है—

मृगनयणी, मृगपति-मुखी, मृगमद तिलक निलाट।
मृगरिपु-कटि सुन्दर वणी, मारू अइहइ घाट ॥४६६॥
तेता मारू माँहि गुण, जेता तारा अम्भ।
उच्चल चित्ता साजणाँ, कहि क्यउँ दाखउँ सम्भ ॥४८७॥

इसी तरह सास चंपावती का कथन मालवणी के प्रति सास की अवहेलना का सुन्दर प्रतिनिधित्व करता है—

रे बाजारण, छोहरी, काँइ खेलाड़इ घाति ॥ ३३४ ॥

२. भावानुकूल संवाद :

इस काव्य में भावों की प्रधानता होने के नाते सम्पूर्ण काव्य में भावात्मक संवादों का ही संयोजन हुआ है।

---

१. दो. सं. ६२–६७।   २. दो. सं. ६२–६६।
३. दो. सं. २१८–२३८।   ४. दो. सं. ४२६–४३४।

विरह के संवादों में हमें वेदना सर्वत्र वाणी की मार्मिकता और करुणा के साथ प्रकट हुई मिलेगी—

जिमि जिमि सज्जण संभरइ, तिम तिम लग्गइ तीर ।
पंख हुवइ तो जाइ मिलि, मनां बँधांड़ां धीर ।। ६८ ।।
सज्जणिया ववल्याइ कइ, गउखे चढ़ि लहक्क ।
भरिया नयण कटोर ज्यउँ, मुंधा हुई डहक्क ।। ३७२ ।।
साईं दे दे सज्जना, रातइ इँणि परि रून्न ।
उरि ऊपरि आंसू ढलइ, जाँणि प्रवाला चून ।। ३७७ ।।

वहीं संयोग में शब्दों और भावों में उल्लास तथा स्वच्छन्दता है—

आजूणउ धन दीहड़उ, साहिव कउ मुख दिट्ठ ।
माथा भार उलथ्थियउ, आँख्यां अमी पयट्ठ ।। ५३१ ।।
सज्जण मिलिया सज्जणां, तन मन नयण ठरंत ।
अणपीयइ पाणग्ग ज्यूं, नयणे छाक चचंत ।। ५३४ ।।

ढोला और मालवणी के संवादों में स्पष्टतः ही चतुराई, आतुरता आदि दिखलाई देती है—

साहिव हँसउ न वोलिया, मुझसूं रीस ज आज ।
अन्तरि आमण दूमणा, किसउ ज इवड़उ काज ।। २१८ ।।
मालवणी, तूं मन-समी, जाणइ सहू विवेक ।
हिरणाखी, हसिनइ कहइ, करउँ दिसाउर एक ।। २२१ ।।

भावावेश और आतुरता की स्थिति में ढोला का ऊँट से यह कथन भी भावानुकूलता का श्रेष्ठ उदाहरण है—

दीह गयउ डर डंवरे, नीले नीझरणेहि ।
कालीजाया करहला, वोल्यउ किसे गुणेहि ।। ४६१ ।।
करहा, वामन रूप करि, चिहुं चलणे पग पूरि ।
तूं थाकउ, हूं ऊसनउ, भुइं भारी, घर दूरि ।। ४६७ ।।

इस तरह हमें हर भाव के अनुसार सुन्दर संवाद-योजना मिलती है ।

३. प्रसंगानुकूल संवाद :

विवेच्य काव्य भाव-प्रधान अधिक है । अतः हमें इसमें प्रबन्धात्मक प्रसंगों का विस्तार और वैविध्य अधिक नहीं मिलेगा । फिर भी कवि ने प्रसंग उपस्थित होने पर प्रसंगोचित संवादों का विधान किया है । पति-पत्नी के रूप में ढोला और मारवणी का मिलन होने के बाद दोनों के हास-परिहासमय संवाद प्रसंगानुकूल ही कहे जायेंगे । ऊमर सूमरा और चारण का संवाद[1] भी कथा-प्रवाह को शान्त करने और हेतु की ओर इच्छित मोड़ देने के अनुकूल ही संगठित हुए हैं ।

घ : संवादों का विश्लेषण :

'ढोला मारू रा दूहा' में समाविष्ट इन सांकेतिक, संक्षिप्त, पर्याप्त लम्बे—सभी

---

१. दो. सं. ६४६-६४९ ।

प्रकार के वार्तालापों में से कतिपय का चयन कर उनका विश्लेषण किया जा सकता है और इस तरह उनकी विशिष्टताएँ कवि के संवाद-नियोजन कौशल के साथ देखी जा सकती हैं।

इन संवादों के प्रारम्भ में हमें कवि द्वारा प्रस्तुत एक पूर्व-पीठिका मिलेगी। राजा पिंगल और राजा नल के संयोग से पूर्व पूगल में दुष्काल का पड़ना और इस पर राजा पिंगल का ऊचाला करना; कवि के वर्णन-कौशल को ही प्रकट नहीं करते; राजस्थानी परिवेश की स्वाभाविक सर्जना भी करते हैं। स्वप्न और उसके पश्चात् मारू का सखियों से संवाद प्रेम की शाश्वत-भावना को ही प्रकट नहीं करता वरन् कथानक को त्वरित करता है।

ढोला और मारवणी का दीर्घकाय संवाद 'पर्यटन' पर आधारित है। ढोला मारवणी से मिलनार्थ देशाटन का बहाना करता है और मालवणी स्थितियों, ऋतुओं आदि की अननुकूलता का तर्क देकर उसे रोके रखती है—

सीयालइ तउ सी पड़इ, ऊन्हालइ लू वाइ।
वरसालइ भुइँ चीकणी, चालण रूत्ति न काइ।। २७७।।

इस संवाद में देशगत वस्तुओं, ऋतुओं और उनसे उद्दीप्त मानसिक दशाओं की ऐसी स्वाभाविक एवं हृदय-ग्राही सचित्रता प्रस्तुत हुई है कि देखते ही बनती है। समस्त परिवेश ही इस संवाद से मूर्तिमन्त हो उठा है। यदि कवि इन सबका वृत्तात्मक विवरण प्रस्तुत करता तो इतिवृत्तात्मकता के कारण नीरसता आ जाने की पूर्ण सभावना थी; किन्तु संवाद-सौष्ठव ने वैसा नहीं होने दिया।

ऊँट का ढोला और मालवणी से संवाद अस्वाभाविक होकर भी अखरता नहीं। लोकोन्मुखी काव्य की इस विस्तृत भाव-भूमि पर चेतन-अचेतन, पशु-पक्षी सब अपना द्वैत त्याग कर अद्वैत बन गये हैं। यहाँ ऊँट ने मालवणी के भाई बनने का सार्थक प्रयास भी किया हैं और दूसरी-तरफ अपनी स्वामिभक्ति का भी पूरा परिचय दिया है।[1] पूगल के मार्ग में ढोला की आतुरता और तज्जन्य आक्रोश के संदर्भ में ऊँट का राजस्थानी वीरों के योग्य स्वाभिमानी संवाद द्रष्टव्य है—

सड़ सड़ वाहि म कंबडी, राँगाँ देह म चूरि।
विहुं दीपाँ विचि मारूई, मो-थी केती दूरि।। ४९२।।
सकती बांधे वीटुली, ढीली मेल्हे लज्ज।
सरढी पेट न लेटियउ, मूँध न मेलउं अज्ज।। ५००।।

इस संवाद में प्रतिज्ञा का स्मरण, माँ की लज्जा रखना, स्वामि-भक्ति का निर्वाह आदि सभी जातीयता के गुण स्पष्ट हो गये हैं।

'ढोला मारू' के कतिपय संवादों में हमें प्रश्नों की झड़ी और उसी क्रमानुरूप उत्तरों का संयोजन सजीवता के साथ मिलेगा। उदाहरण के लिये सौदागर और खवास तथा ढोला और ढाढी के संवाद लिये जा सकते हैं। सौदागर पूछता है—

ते देखी, तिणि पूछियउ, कुण ए राजकुमारि।
किह पीहर, किह सासरउ, विगतइ कहइ विचारि।। ८९।।

1. दो. सं. ३२३।

खवास उत्तर देता है—

कुँवरी पिंगल रायनी, मारूवरणी तसु नाँम।
नरवरगढ़ ढोलई भरणी, परणी पुहकर ठाँम ॥६०॥

दोहा जैसे लघु छन्द में ऐसे संवादों की संयोजना उसमें एक और विशेषता जोड़ देती है।

प्रथम मिलन के अवसर पर ढोला और मारू का संवाद भी उदाहरण के लिये लिया जा सकता है। ढोला मन में 'खुनस' रख कर मारू की सुरंगी काया पर कटाक्ष करता है।[1] मारू उत्तर देती है—

पहुर हुवउ ज पधारियाँ, मो चाहंती चित्त।
डेडरिया खिरण-मइ हुवइ, घरण वूठई सरजित्त ॥५४८॥

यहाँ मारू अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ढोला को निरुत्तर ही नहीं कर देती वरन् फड़कती हुई सजीव भाषा में प्रेम की अनन्यता भी प्रकट कर देती है। प्रेमिका के सरला-मुग्धा भाव से तरलित ऐसे संवाद सूक्ष्म मनोविज्ञान के परिचायक हैं जो काव्य में सरसता उत्पन्न करने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

अभिप्राय यह है कि 'ढोलामारू' के संवाद भाव एवं अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टि से उत्तम बन पड़े हैं और स्थानीयता, मान्यताएँ, स्वभावगत प्रवृत्तियाँ आदि के उद्घाटन में सर्वाधिक उल्लेखनीय योग देते हैं।

च. संवाद-गत अन्य विशेषताएँ—

'ढोलामारू रा दूहा' के संवादों में लोक-स्पर्श, मनोवैज्ञानिकता, सम्बोधन-आश्रयता आदि की अन्य विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं।

लोकोन्मुखी काव्य होने के नाते 'ढोलामारू' के संवादों में 'लोक-स्पर्श' की विशिष्टता है। विवेच्य कृति में मानव के साथ पशु, पक्षी, वृक्ष, जड़, चेतन आदि के संवादों का आयोजन हुआ है। यथार्थ की दृष्टि से इसे 'अस्वाभाविक' कहकर 'दोष' की संज्ञा से पुकारा जा सकता है; किन्तु भावों की निस्सीम परिधि में यह लोक-तत्त्व बड़ा ही स्वाभाविक एवं सहज कहा जायगा। कथा को विकसित करने एवं पात्रों के मनोभावों का उद्घाटन करने के लिये ऐसे संवादों की संरचना हुई है जिससे काव्य में मर्मस्पर्शिता आ गई है। आचार्य, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ऐसे स्थलों की प्रशंसा में लिखते हैं कि विरहणी मारवणी के चातक और कुररी के साथ हुए संवाद में अनेक सरस प्रसंग आये हैं; कभी वह चातक पर प्रसन्न होती है कभी रुष्ट। सभी पक्षियों या अनेक पक्षी-पशुओं के साथ प्रलाप करने की अपेक्षा विरहाभिव्यक्ति की यह विधि मार्मिक और स्वाभाविक है। काव्य का लक्ष्य विरहणी या पाठक श्रोता को अजायबघर में उपस्थित करने से वैसा चरितार्थ नहीं होता जैसा एक ही या दो-एक जीव-जन्तुओं के साथ कुछ विस्तृत सरस संलाप से सिद्ध हो सकता है।[2]

इस रचना के संवाद पर्याप्त मनोवैज्ञानिकता लिये हुए हैं। मनोभावानुसार रचनाकार ने सकारण संवाद-योजना प्रस्तुत की है। ऊमर सूमरा अपने मन के छल-

---

१. काया झबकइ कनक जिम, सुन्दर केहे सुख्ख।
तेह सुरंगा जिम हुवइं, जिरण वेहा वहु दुख्ख ॥५४६॥

२. हिन्दी साहित्य का अतीत : पृ. ६६।

कपट को अत्यन्त चातुरी और कौशल से छिपाता हुआ ढोला से कहता है—

> **किउँ ठाकुर, अलगा वहउ, आवउ, अमल कराँह ।**
> **म्हे पिण जास्याँ नरवरइ, एकण साथ खडाँह ।। ६२८ ।।**

और ढोला ऊँट से उतर जाता है

> **ऊँमर साल्ह उतारियउ, मन खोटइ मनुहारि ।**
> **पगसूँ ही पग कूटियउ, मुहरी झाली नारि ।। ६२९ ।।**

उपर्युक्त सारी परिस्थिति का संचालन कितनी मनोवैज्ञानिकता के साथ हुआ है । ठीक इसी तरह मारवणी, मालवणी, ढोला, ऊँट आदि के भाव-विचार संवादों के माध्यम से ही कवि ने मनोवैज्ञानिक परिस्थिति लाकर प्रकट कराये हैं ।

प्रस्तुत काव्य में सम्वाद-योजना का आधार अनेक स्थलों पर 'सम्बोधन' है । 'व्यक्ति-सम्बोधन' की परम्परा राजस्थानी साहित्य में वड़ी प्राचीन रही है और अभी तक इसका आधार कविगण लेते हुए पाये जाते हैं । ढोला, वल्लाह, साहिव, प्रीतम सखी, राजा, ढाढी, पंथी, पपीहा, जलधर, शुक, कुंझे आदि अनेकानेक 'व्यक्ति-सम्बोधन' इसके संवादों में प्रयुक्त हुए हैं । इससे प्रत्यक्ष तादात्म्य की स्थापना हो जाती हैं ।

निष्कर्षत: 'ढोला मारू' की संवाद-योजना सरल, संक्षिप्त, सहज, प्रसंगानुकूल एवं पात्रानुकूल है । संवाद कथावस्तु एवं कार्य को प्रगति प्रदान करने वाले और कथा-प्रवाह के साधक वने हैं । इनमें अभिव्यक्तिमूलक चमत्कारिता एवं मार्मिकता है । इसके संवाद हृदय की भावनाओं को व्यक्त करने में भी सक्षम हैं । कवि ने संक्षिप्त एवं भावानुकूल कथोपकथन का आयोजन करके पात्रों के भावों को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की है । संवादों की वहुलता, अनुकूलता एवं स्वाभाविकता के कारण इसे संवाद-काव्य की संज्ञा देना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

(ऊ) प्रकृति-चित्रण :

'ढोला मारू रा दूहा' काव्य में प्रकृति वर्णन की प्राय: सभी शैलियों का यथोचित वर्णन मिलता है । तदनुसार प्रकृति के विविध उपयोग देखे जा सकते हैं; यथा—

१. आलम्बन रूप में :

इसके अन्तर्गत प्रकृति-चित्रण की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—विम्व-ग्रहण प्रणाली तथा नाम-परिगणन प्रणाली ।[1]

'ढोला मारू' में यह चित्रात्मक अथवा संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण कवि ने विविध ऋतु-वर्णनों के वीच-वीच में प्रस्तुत किया है । इसके कतिपय चित्र द्रष्टव्य हैं—

> **गिरह पखालण, सर भरण नदी हिंडोलण हारि ।। ४७ ।।**
> **पगि पगि पाँणी, पंथसिर, ऊपरि अंवर छाँह ।। २४४ ।।**
> **जिण रुति वग पावस लियइ, धरणि न मेल्हइ पाइ ।। २४६ ।।**

---

१. चिन्तामणि, भाग २ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ३ ।

प्रीतम कामणगारियाँ, थल थल वादलियाँह ।
घण वरसंतइ सूकियाँ, लू सूँ पाँगुरियाँह ।। २४८ ।।
वाजरियाँ हरियालियाँ, विचि विचि वेलाँ फूल ।। २५० ।।
वावहियउ पिउ पिउ करइ, कोयल सुरंगइ साद ।। २५२ ।।
नदिया नाला निझरण, पावस चढिया पूर ।
करहउ कादिम तिलकस्यइ, पंथी पूगल दूर ।। २५६ ।।
जिणि दीहे पालउ पड़इ, टापर तुरी सहाइ ।। २७६ ।।
जिणि दीहे तिल्ली त्रिड़इ, हिरणी झालइ गाभ ।। २८२ ।।
दिन छोटा, मोटी रयण, थाडा नीर पवन्न ।। २८५ ।।

'ढोला मारू' में यथाप्रसंग वस्तु-परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण का संयोजन कर देशगत स्वाभाविकता को सजीव और साकार रूप दिया है—

कंधि कुहाड़उ, सिरि घड़उ, वासउ मझि थलाँह ।। ६५८ ।।
ऊचालउ क अवरसणउ, कइ फाकउ, कइ तिड़ड ।। ६६० ।।
जिण भुइ पन्नग पीयणा, कयर-कँटाला रूँख ।
आके फोगे छाँहड़ी, हूँछाँ भाँजइ भूख ।। ६६१ ।।
परिहण ओढण कंवला, साठे पुरिसे नीर ।
आपण लोक उभाँखरा, गाडर छाली खीर ।। ६६२ ।।

मारवणी द्वारा निंदित मालवदेस में भी प्रकृति का यह रूप दृष्टिगम्य है ।[1]

२. उद्दीपन रूप में :

काव्य में प्रकृति का चित्रण भावोद्दीपन—भावनाओं की अनुरूपता में और प्रतिकूलता में—के लिये भी होता है । संयोग में प्रकृति सुख-संवर्द्धक एवं हर्ष-उल्लास को द्विगुणित करने वाली होती है; वही वियोग के अवसर पर कष्ट-प्रदायिनी, संतप्त एवं व्यथित करने वाली दग्धा-रूप में चित्रित होती है ।

उद्दीपन में प्रकृति का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है—**साधर्म्यमूलक**—मानव-भावना सापेक्ष और **वैधर्म्यमूलक**—विरोधी सत्ता के रूप में ।

'ढोला मारू रा दूहा' में प्रकृति का यह उद्दीपन रूप अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ा है । पावस का पदार्पण मारवणी के लिये विकर्षण में परिणित हो गया है—

गिरिवर मोर गहक्किया, तरवर मूँक्या पात ।
धणियाँ धण सालण लगा, वूठँतौ वरसात ।। ३९ ।।

और बिजलियों की चहल पहल उसे संयोगातुर कर रही है ।[2] ढाढ़ी संदेश-संप्रेषण हेतु जो नरवर गये और—

ढाढी गाया निसह भरि, राग मल्हार निवाज ।
च्यार पहर झड़ मंडियउ, घण गुहिरइ सुरगाज ।। १८८ ।।

उससे भी ढोला विरह उद्दीप्त हो उठा ।

१. दो. सं. ६६३, ६६४, ६६५ ।
२. दो. सं. ४४, ४५, ४६ ।

वियोग-क्लान्ता मालवणी के विरह में प्रकृति-चित्रण का यह रूप अधिक आया है—

सावण आयउ साहिवा, पगइ विलंबी गार।
अच्छ विलंबी बेलड.याँ, नरा विलंबी नार ।। २६६ ।।
काली कंठलि बादली, वरसि ज मेल्हइ वाउ।
प्री विण लागइ बूँदड़ी, जाँणि कटारी घाउ ।। २६७ ।।
उत्तर आज स उत्तरउ, पड़सी वाहलियाँह।
उर ओलें प्री राखियइ, मूंधा काहलियाँह ।। २८७ ।।

'ढोला मारू' में इस तरह विरह विदग्धावस्था के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र प्रकृति द्वारा उद्दीप्त होकर आये हैं जिससे अपेक्षित तीव्रता, सरसता और प्रभविष्णुता आई है।

३. मानवीकरण में :

प्रकृति में चेतनता का आरोप ही मानवीकरण है। कवि की दृष्टि प्रकृति के बाह्य परिदृश्य और क्रिया-कलाप तक ही सीमित नहीं रहती; वह प्रकृति के अन्तर में भी प्रवेश कर उसमें हास्य-रुदन, अनुराग-विराग आदि की क्रीड़ाएँ देखता है। सृष्टि-मर्मज्ञ कवियों ने इस तरह प्रकृति में सजीवता, चेतनता और मार्मिकता के दर्शन कर उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारों का मानवीकरण प्रस्तुत किया है।

'ढोला मारू रा दूहा' में हर्ष-विषादादि के भाव-प्रभाव के संदर्भ में प्रकृति के इस रूप की अत्यन्त सूक्ष्म और कलात्मक उपलब्धि अनेक स्थानों पर मिलती है। चिन्ता का मानवीकरण देखिये—

चिंता डाइणि ज्याँ नराँ, त्याँ दृढ़ अंग न थाइ।
जइ धीरा मन धीरवइ, तउ तन भीतर खाइ ।। २१६ ।।

मालवणी के इस कथन में उसकी विरह-विदग्ध दशा पर चंद्रमा आदि का व्यंग्य देखिये—

सुंदर सोल सिंगार सजि, गई सरोवर-पाल।
चंद मुलक्यउ, जल हँस्यउ, जलहर कंपी पाल ।। ३६४ ।।

और फिर जब मारू के हाथ लगा प्रियतम मिलन का सुअवसर, तब वह इस रूप में उसके सुख में साथ होती है—

सोई सज्जण आविया, जाँह की जोती बाट।
थाँभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ।। ५४१ ।।[1]

४. अलंकार-विधान में :

आकृति, गुण एवं भाव सादृश्य को प्रकृति से गृहीत उपमानों द्वारा तीव्र, मार्मिक एवं प्रभविष्णु बनाने में कवियों द्वारा अलंकार-विधान में प्रकृति का उपयोग किया जाता है।

---

१. अन्य उदाहरणार्थ दो. सं. ३७३, ५१०, ५१४ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

'ढोला मारू' में प्रकृति का उपयोग आलंकारिकता के लिये वैविध्य एवं पूर्ण विशदता के साथ हुआ है। मारू के नखशिख में परम्परित उपमान भी अनूठी साज-सज्जा प्रस्तुत करते हैं—

जंघ सुपत्तल, करि कुंअल, भीणी लंब-प्रलंब।
ढोला, एही मारुई, जाँणि क कणयर-कंब ॥ ४७३ ॥
उरि गयवर, नइ पग भमर, हालंती गय हंभ।
मारू पारेवाह ज्यूं, अंखी रत्ता मंभ ॥ ४७४ ॥
गति गयंद जंघ केलि ग्रभ, केहरि जिम कटि लंक।
हीर डसण विद्रम अधर, मारू भ्रकुटि मयंक ॥ ४५४ ॥
मारू अंबा-मउर जिम, कर लग्गइ कुंमलाइ ॥ ४७१ ॥
चंदवदन, मृग लोयणी, भीसुर ससदल भाल।
नासिका दीप-सिखा जिसी, केल गरभ सुकमाल ॥ ४७६ ॥

कुछ अन्य उदाहरण देने का लोभ भी हम संवरण नहीं कर पा रहे हैं जहाँ कवि ने मारू के दिव्य-कांति-परिपूर्ण एवं अनुपम ओजमय मुख-मुद्रा, सान्ध्य-सौदामिनी अथवा दिनकर के सादृश्य द्वारा इस तरह प्रस्तुत की है—

मारू दीठी अउभकइ, जाँणि खिवी घण संभ ॥ ८६ ॥

अथवा

थोड़ो सो भोले पड़इ, दणयर उगहंताहं ॥ ४७८ ॥

मारू का प्रतिपल पतिवर्तित और नित्य-नवीन सौन्दर्य प्राकृतिक उपमानों से ही विभूपित है—

कसतूरी कड़ि केवड़ो, मसकत जाय महक्क।
मारू दाड़म-फूल जिम दिन-दिन नवी डहक्क ॥ ४७६ ॥

समग्रतः 'ढोला मारू रा दूहा' में प्रकृति से गृहीत उपमानों की बहुलता है जिनके साहाय्य से कवि ने सौन्दर्य-चित्रण एवं भावाभिव्यक्ति को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया है। ये उपमान अन्तर्बाह्य साम्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

५. प्रतीक विधान में :

हृदय के सूक्ष्म भावों और मनोविकारों को भी प्रकृति से प्रतीक ग्रहण करके प्रकट किया जाता है। प्रकृति के अनेक पदार्थ इस तरह उदात्त भावनाओं को व्यंजित करते हैं और आन्तरिक सादृश्य के कारण उपलक्षण या प्रतीक बने गये हैं।

निम्नांकित दृष्टान्त में मेंढक आदर्श प्रेमी का प्रतीक बन कर आया है—

सालूरा पाँणी विना, रहइ विलक्खा जेम।
ढाढी, साहिब सूं कहइ, मो मन तो विण एम ॥ १७३ ॥

विरह की तड़पन की व्यंजना मछली के प्रतीक द्वारा व्यक्त की जाती है—

ओछइ पाँणी मच्छ ज्यउं, वेलत थयउ विहाँण ॥ १६२ ॥

इस तरह रूप-वर्णन के इस दोहे में नासिका, भ्रू, वाणी, नेत्र, मुख, कटि, चाल और वेणी के प्रतीकों को प्रकृति से ही लिया गया है—

नारू-घूँघटि दिट्ठ मइँ, एता सहित पुंगिद ।
कीर, भमर, कोकिल, कमल, चँद, मयँद, गयँद ॥ ४५५ ॥

६. रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये :

गेटे ने प्रकृति को 'ईश्वर का सजीव दृश्यमान आच्छादन' कहा है ।[1] कार्लाइल का भी कथन है कि प्रकृति ईश्वर की वह झिलमिली है जो ज्ञानी को तो उसके दर्शन कराती है पर मूर्ख से उसे छिपाती है ।[2] कवि का संवेदनशील हृदय चराचर प्रकृति की निःस्सीम व्यापकता में परम सत्ता की व्याप्ति देखता है और उसके प्रकाशन के लिये प्रकृति को ही माध्यम बनाता है ।

'ढोला मारू रा दूहा' स्पष्टतः ही भक्ति या आध्यात्म का काव्य नहीं है; अतः इसमें प्रकृति का रहस्यमय परम–तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिये प्रयोग नगण्य ही हुआ है ।

७. **नैतिक उपदेश-प्रकाशन के लिये :**

कवियों ने प्रकृति के सुनियमित और सुनियोजित क्रिया-कलापों से प्रभावित होकर उसे गुरु-पद दिया है और परिणाम-स्वरूप प्रकृति का उपदेशिका रूप में चित्रण किया है ।

प्रस्तुत रचना में उपदेश और नीति के लिये प्रकृति का अनेक स्थलों पर सुन्दर उपयोग किया गया है । कन्या के अनुरूप योग्य वर के उपलब्ध होने पर सम्बन्ध स्थिर करने में शिथिलता नहीं दिखानी चाहिये । रानी ने प्रकृति के माध्यम से इस विचार को प्रकट किया है:—

अँब तजइ नहि कोइलाँ, सरवर सालूराह ।
राज हिवइ मा पाँतरउ, आ धण द्यउ अवराँह ॥ ८ ॥

ढाढियों ने अपने सन्देश-कथन में प्रकृति का आश्रय ही अधिक लिया है । उन्होंने मारवणी की अनुरक्ति को इस तरह प्रकट किया है—

कूँझाँ लाल बचाँह ज्यउँ, खिण खिण चीतारेह ॥ १६८ ॥

तन की दूरी प्रेमियों के मनोमिलन में बाधक नहीं होती—

जलमँहि वसइ कमोदणी, चँदउ वसइ आगासि ।
जउ ज्याँहीकइ मनि वसइ, सउ त्याँहीकइ पासि ॥ २०१ ॥

व्यग्र और उत्कंठित मारू के अधैर्य को भी कुंझों के दृष्टान्त से कवि प्रकट करता है—

दिसि चाहंती सज्जणा, नेहालंदी मुंध ।
सा धण कुंझि बचाह ज्यउँ, लम्बी थई तुंकंध ॥ २०४ ॥
चीतारंती सज्जणाँ, नीहालंती मग्ग ।
धण कुंझाह बचाहि जिउँ, लाँबा हूया पग्ग ॥ २०५ ॥

---

१. ज्ञान गंगा: भाग २: पृ. २०० ।   २. वही पृ. २०० ।

प्रिय-प्रस्थान को रोकने में असमर्थ मालवणी ने खीझ भरे उपालम्भों में प्रकृति का ही दामन पकड़ा है—

डूंगर केरा वाहला, ओछां केरा नेह।
वहता वहइ उतावला, झटक दिखावइ छेह ।। ३३८ ।।
पिय खोटांरा एहवा, जेहा काती मेह।
आडंबर अति दाखवइ, आस न पूरइ तेइ ।। ३३९ ।।

इस तरह आदर्श प्रेम और आदर्श प्रेमी का आभास प्रकृति के दृष्टान्तों द्वारा अनेक स्थलों पर दिया हुआ मिलता है।

८. पृष्ठभूमि और वातावरण की सृष्टि के लिये :

प्रसंगानुसार वातावरण करुणार्द्र हो अथवा उल्लास एवं उमंग से पूर्ण; प्रकृति की पृष्ठभूमि उसकी संवेदना को गहन से गहनतम बना देती है। इसी कारण कवियों ने प्रकृति का प्रयोग वातावरण की विनिर्मिति के लिये भी किया है।

'ढोला मारू' में भी राजस्थानी वातावरण की सृष्टि के लिये प्रकृति का प्रयोग हुआ है। सावन की अगाध जल-राशि को दोहे की संक्षिप्ति में प्रकट कर सावन को साकारता ही दे दी गई है—

जल थल, थल जल, हुइ रह्यउ, बोलइ मोर किंगार ।। ४६ ।।

एक स्थल पर ग्रीष्म की भीषणता प्रकट हुई है इन शब्दों में—

थल तत्ता लू सांमुही, दाझोला पहियाह ।। २४१ ।।

ढोला का ऊँट से यह कथन भी राजस्थानी पर्यावरण को प्रकट करता है—

करहा, नीरूं जउ चरइ, कंटालउ नइ फोग।
नागरवेलि किहां लहइ, थारा थोवड़ जोग ।। ४२८ ।।

ढोला ने अपने देशाटन के मन्तव्य को प्रकट करने के लिये भी प्रकृति की पृष्ठभूमि ही प्रस्तुत की है—

पगि पगि पांणी पंथसिर, ऊपरि अंबर छांह ।। २४४ ।।
वाजरियां हरियालियां, विचि विचि वेलां फूल ।। २५० ।।
धर नीली, धण पुंडरी, धरि गहगहइ गमार ।। २५१ ।।

ऐसे उदाहरणों में पृष्ठभूमि और वातावरण की निर्मिति कवि का अभीष्ट रहा है।

प्रकृति-चित्रण की अन्य विशेषताएँ :

'ढोला मारू' में प्रकृति का चित्रण साक्षी, कवि समय[1] एवं दृष्टिकूट[2] रूप में भी हुआ है। ढोला के चले जाने पर मालवणी जाल से जिज्ञासा करती है—

थल मथ्थइ जल वाहिरी, तूं कांइ नीली जाल।
कँइ तूं सींची सज्जणे, कँइ वूठउ अग्गालि ।। ३६१ ।।

और जाल वृक्ष ढोला के उस मार्ग से प्रस्थान करने की साक्षी देता है—

---

१. 'ढोला मारू' में उपलब्ध कवि-समयों पर विस्तृत चर्चा इसी परिच्छेद के "काव्य-रूढियाँ" उपशीर्षक में विस्तार से की गई है।

२. दो. सं. १४२, ५७८, ५८० आदि।

ना हूँ सींची सज्जणे, ना वूठउ अग्गालि ।
मो तलि ढोलउ बहि गयउ, करहउ वांध्यउ डालि ॥ ३६२ ॥

प्रकृति इस काव्य में **भयानक रूप** में कम ही चित्रित हुई है ।[1] सर्वत्र उसका **रम्य रूप** ही चित्रित हुआ है । एक स्थल पर पीताभ प्राची-दिशा का वर्णन उल्लेख्य है—

प्रह फूटी, दिसि पुंडरी, हणहणिया हय-थट्ट ॥ ६०२ ॥

अन्य वेलाओं में **अर्कोदय** (दो. सं. १६४, ३८०, ५०१ आदि), **सन्ध्या** (दो. सं. ८६, २५१ आदि)का सांकेतिक सश्लिष्ट चित्रण प्रसंगानुकूल होकर आया है । कहीं-कहीं हमें प्रकृति के **विराट स्वरूप** की भी झाँकी मिल जाती है—

सिन्धु परइ सउ जोअणे, नीचो खिवइ निहल्ल ॥ १६१ ॥

षड्ऋतु वर्णन और बारहमासा का प्रकृति-रूप भी काव्यों में चित्रण का विशिष्ट रूप रहा है परन्तु 'ढोला मारू' के कवि ने अपनी रचना में इस रूढ़िवत् परम्परा का अनुवर्तन नहीं किया । यद्यपि इस काव्य में ग्रीष्म, शीत और वर्षा का वर्णन आया है; **फागुन** (दो. सं. १४५, १४६, ३०२), **चैत** (दो. सं. १४६), **आसाढ** (दो. सं. २६, १५१), **सावन** (दो. सं. १४८,१४६,१५१,२५१,२६६,३६८), **भाद्रवा** (दो सं. २५०), **कातिक** (दो. सं. १४६, ३३६), **माघ** (दो. सं. ३००) आदि का भी सांकेतिक उल्लेख हुआ है; परन्तु यह सब सीमित ही रहा है । कवि ने स्थायीभाव की व्यंजना के अनुरूप पृष्ठभूमि की निर्मिति और भावाभिव्यंजना में स्वाभाविकता, परिपूर्णता और प्रभावोत्पादकता लाने हेतु ही प्रकृति का अंकन किया है । फलतः कल्पना और अनुभूति के सुन्दर सामंजस्य से प्रकृति का सुन्दर स्पर्श देते हुए कवि ने शैलीगत-नैपुण्य दर्शाते हुए वर्णन-विस्तार से काव्य को बचा लिया है । 'ढोला मारू' में प्रकृति-वर्णन के लिये प्रकृति-चित्रण नहीं है ।

'ढोला मारू रा दूहा' में चित्रित प्रकृति की एक और विशिष्टता यह है कि इस सम्पूर्ण काव्य मे देशगत प्रकृति का ही यथार्थ चित्रण हुआ है जिसमें टिड्डी, पीणासर्प, करील, ऊँटकटारा घास, फौग, कुंभें, शैवाल आदि यथातथ्य प्रस्तुत हैं । कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी दृष्टि और समालोकन से भुरट जैसा अकिंचन पदार्थ भी ओझल नहीं रह सका—

जिण भुइ पन्नग पीयणा, कयर-कँटाला रूँख ।
आके फोगे छाँहड़ी, हुँछाँ भाँजंइ भूख ॥ ६६१ ॥

इनके अतिरिक्त लू (दो. सं. २४१,२७७), उत्तारी पवन (दो. सं. २८७), दक्षिण वात (दो. सं. १२६), बरसे हुए की हवा (दो. सं. ५५६), बरसाती नाले (दो. सं. १४७), समुद्र की लहरें (दो. सं. ५५६) आदि का भी उल्लेख आया है जो कवि की सूक्ष्म-दृष्टि के परिचायक हैं । प्रकृति वर्णन पर स्थानीयता की अमिट छाप के कारण ही यह राजस्थान का जातीय काव्य कहलाने का अधिकारी बन सका है ।

सारांशतः 'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थान व मालवा की प्रकृति का सुन्दर

---

१. उदाहरणार्थ दो. सं. २४१ में ग्रीष्म का वर्णन प्रस्तुत हुआ है ।

व यथार्थ पर्यावरण प्रस्तुत करता हैं। वर्णन की दृष्टि से यह संश्लिष्ट होते हुए भी आकर्षक और अनूठा है। वह मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक और मनोरम भी बन पड़ा है क्योंकि कवि ने प्रकृति को मानव की परिस्थितियों और मनोदशाओं के परिपार्श्व में ही रखकर उसे चित्रित किया है। इस तरह साधिकार शब्दावली से संवलित प्रकृति का सजीव अंकन मानस-पटल पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ देता है; कारण कि यह सब सहजानुभूति-जन्य है, प्रयत्न-प्रसूत नहीं।

(ए) काव्य-रूढ़ियाँ :

इसके अन्तर्गत यहाँ तीन रूढ़ियों का समावेश किया गया है—

क : कवि-समय, ख : वर्णनात्मक रूढ़ियाँ और ग : कथानक-रूढ़ियाँ।

क : कवि-समय :

राजशेखर द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त काव्य-शास्त्र के इस पारिभाषिक शब्द से तात्पर्य है कवियों का आचार या सम्प्रदाय[1] जिन्हें दूसरे शब्दों में 'कवि-समाज में प्राचीन परम्परा से मानी जाती हुई बातें और परिपाटियाँ'[2] कहा जा सकता है। राजशेखर के शब्दों में "अशास्त्रीय (शास्त्र से बहिर्भूत), अलौकिक (लोक-व्यवहार से बहिर्भूत) केवल परम्परा-प्रचलित, जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं—वह कवि-समय है।"[3]

'ढोला मारू रा दूहा' में भी विभिन्न कवि-समयों का उल्लेख मिलता है—

१. चातक और मेघ :

बाबहियउ नइ विरहणी, दुहुवाँ एक सहाव।
जब ही बरसइ घण घणउ, तबही कहइ प्रियाव ॥ २७ ॥

२. चकोर-चन्द्र प्रेम :

बाबहिया तरपंखिया, तईं किउँ दीन्ही लोर।
मईं जाण्यउ प्रिउ आवियउ, ससहर चंद चकोर ॥ ३२ ॥

३. चक्रवाक का निशा-वियोग :

पाँखड़ियाँ ई किउँ नहीं, दैव अवाड़ ज्याँह।
चकवीकइ हइ पंखड़ी, रयणि न मेलउ त्याँह ॥ ७१ ॥

४. चंपा-भ्रमर प्रेम :

ज्यूँ ए डूँगर संमुहा, त्यूँ जइ सज्जण हुंति।
चंपावाड़ी भमर ज्यउँ, नयण लगाइ रहंति ॥ ७३ ॥

५. सीप और स्वाति बूंद :

ढाढी, जे साहिब मिलइ, यूँ दाखवियो जाइ।
आँख्याँ सीप विकासियाँ, स्वाति न बरसउ आइ ॥ ११६ ॥

६. भ्रमर-कमल प्रेम :

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ० ह. प्र. द्विवेदी : पृ० २२५।
२. हिन्दी साहित्य कोश : प्रथम भाग : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि : पृ० २०८-९।
३. काव्य-मीमांसा : संपा० श्री केदारनाथ सारस्वत : पृ० १९०।

ढाढी जइ साहिब मिलइ, यूँ दाखवियो जाइ ।
जोवण कमल् विकासियउ, भमर न बइसइ आइ ।। ११६ ।।

७. नागिन और स्वाति बूँद :

पंथी, एक संदेसड़उ, लग ढोलइ पैहचाइ ।
निकसी वेणी सापणी, स्वात न वरसउ आइ ।। १२५ ।।

८. घन-गर्जन से सिंह का क्रुद्ध होना :

पंथो, एक संदेसड़इ, लग ढोलइ पैहच्याइ ।
विरह वाघ वनि तनि वसइ, सेहर गाजइ आइ ।। १२८ ।।

९. चन्द्र-कुमुदिनी प्रेम :

पंथी एक संदेसड़इ, लग ढोलइ पैहचाइ ।
धँण कँमलाँणी कमदणी, सिसहर ऊगइ आइ ।। १२६ ।।

१०. सूर्य-कमलिनी प्रेम :

पंथो, एक संदेसड़इ, लग ढोलइ पैहच्याइ ।
धँण कँमलाँणी कँमलणी, सूरिज ऊगइ आइ ।। १३० ।।

११. क्षीरसागर और रत्न :

पंथी एक संदेसड़उ, लग ढोलइ पैहच्याइ ।
जोवन खीर समुंद्र हुइ, रतन ज काढइ आइ ।। १३१ ।।

१२. कदली और स्वाति बूँद :

पंथी एक संदेसड़इ, लग ढोलइ पैहच्याइ ।
जंघा केलिनि फलि गइ, स्वात जु बरसउ आइ ।। १३२ ।।

१३. धरती और मेघ प्रेम :

जिम सालूराँ सरवराँ, जिम धरणी अर मेह ।
चंपावरणी वालहा, इम पालिजइ नेह ।। १६८ ।।

१४. सरोवर और मेंढक प्रेम :

सालूरा पाँणी विना, रहइ विलक्खा जेम ।
ढाढी, साहिबसूँ कहइ, मो मन तो विण एम ।। १७३ ।।

१५. मछली और जल प्रेम :

ढाढो गाया निसह भरि, सुणियउ साल्ह सुजाँण ।
ओछइ पाँणी मच्छ ज्यउँ, वेलत थयउ विहाँण ।। १६१ ।।

१६. पद्मिनी स्त्री और कर्णिकार :

जंघ सुपत्तल्, करि कुंअल्, खीणी लंब-प्रलंब ।
ढोला, एही मारूई, जांणि क कणयर-कंब ।। ४७३ ।।

१७. बादल और मेंढक प्रेम :

पहुर हुवउ ज पधारियाँ, मो चाहंतो चित्त ।
डेडरिया खिण-मइ हुवइ घँण वूठइ सरजित्त ।। ५४८ ।।

१८. केतकी-भ्रमर प्रेम :

सेज रमंतां मारुवी, खिण मेल्हंणी म जाइ।
जांणि क विकसी केतकी, भमर वयट्ठउ आइ ॥ ५६१ ॥

१९. सर्प द्वारा पवन-भक्षण :

सा बाला प्री चितवइ, खिण खिण रहणि विहाइ।
तिण हर-हार परट्ठव्यउ, ज्यूं दीवलउ बुझाइ ॥ ५७८ ॥

२०. कोयल-आम्रवृक्ष प्रेम :

जिम मधुकर-नइं केतकी, जिम कोइल सहकार।
मारवणी-मन हरखियउ, तिम ढोलइ भरतार ॥ ६७३ ॥

इस प्रकार 'ढोला मारू' काव्य में उपलब्ध कवि-समयों का यह संक्षिप्त विवरण है। इनमें भौम-कवि-समयों का ही प्राधान्य है। इन कवि–समयों की उपस्थिति इसके रचनाकार के काव्य-शास्त्र-परम्परा से परिचित होने की परिचायिका है। अतः 'ढोला मारू' में लोक-काव्य-तत्त्व ही नहीं, काव्य-शास्त्रीय-तत्त्व भी निहित हैं।

ख : वर्णनात्मक रूढ़ियां :

'ढोला मारू रा दूहा' में परम्परागत वर्णनात्मक काव्य-रूढ़ियों की भी बहुलता है। उन्हें वर्गीकृत करके संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. विरह–वर्णन की रूढ़ियां :

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित रूढ़ियों की परिगणना की जा सकती है— विरह-निवृत्ति के लिये दैव से निवेदन, पक्षियों से प्रियतम तक संदेश ले जाने का अनुरोध चरण-अगुष्ठ से रेखा खींचना, संदेश न भेजने का उपालंभ, अवधि गिनते-गिनते अंगुलियों की रेखा का घिस जाना, अश्रु-आर्द्र चीर निचोते-निचोते छाले पड़ जाना, सेज को सूली समझना, काग उड़ाते-उड़ाते बांहें थक जाना, विरह में मछली की तरह तड़पना, नख से भींत खरोंचना, विरह-जन्य कृशता के कारण हाथ से चूड़ी खिसक जाना, पालकी का साँप-रूप होना, विरह में काजल, तिलक व ताँबूल का त्याग, गले से नीचे पानी न उतरना, हृदय में श्वास का न समाना, झरोखे में चढ़कर प्रियतम की बाट देखना, प्रियतम की चरण-धूलि की मुट्ठियाँ भर-भर कर हृदय से लगाना, महल का काले नाग की तरह पुकार-पुकार कर खाना, प्राण के न निकलने पर लज्जित होना, स्वयं को बेलि व प्रिय को सींचने वाला कहना, प्रियतम के गुण ही गुण देखना, विरह में झुर-झुर कर अस्थि पंजर होना, प्रियतम के स्थान याद आना, वायु को वैरिन कहना, पानी की लहरों को काला नाग कहना, पत्ते की तरह पीली पड़ जाना, प्रियतम द्वारा भुला देने पर उपालम्भ देना, स्वप्न में आँख न खोलना, स्वप्न को बुलाना, स्वप्न को दोष देना, रो-रोकर सरोवर भरना आदि।[1]

१. इनके लिये क्रमशः दो. सं. ४७, ६४-६५, १३७, १४०, १४४, १५६, १६६ १६७, १९२, २३७, ३४६, ३५२, ३५३, ३५८, ३६२, ३६६, ७३१, ३७३, ३७४, ३७६, ३८२, ३८३, ३८५, ३९३, ४०३, ४१३-४१७, ४२०, ४२१, ५१०, ५११-५१२, ५१० आदि द्रष्टव्य हैं।

२. संयोग-वर्णन की रूढ़ियाँ :

इस वर्ग की रूढ़ियों में प्रियतम की जाने की कोई ऋतु नहीं होती प्रियतम के पास सोलह श्रृंगार सज कर आना, प्रियतम से भेंट कराने पर कौअे को बधाई देना, प्रियतम का हाथ पकड़ कर अंक में बिठाना, संभोगानन्तर कपड़े सँभालना, मिलन-प्रसंग के अवसर पर प्रहेलिका आयोजन, मिलन के समय का अति शीघ्र व्यतीत होना आदि ली जा सकती हैं ।[1]

३. प्रेम-प्रदर्शन की रूढ़ियाँ :

ऐसी रूढ़ियों में सच्चे प्रेमी का हृदय में निवास बतलाना, संदेश में प्रियतम को सात सलाम कहना, प्रियतम का स्वयं को प्रियतम की पग-पानही समझना, प्रियतम को गलेका हार बतलाना, प्रिय द्वारा अपने को दासी बतलाना आदि सम्मिलित की जा सकती हैं ।[2]

४. प्रकृति-वर्णन की रूढ़ियाँ :

प्रकृति वर्णन की भी अनेक रूढ़ियाँ इस काव्य में मिलती हैं यथा वर्षा में बिजुलियों का बार-बार चमकना, नील घटा को काली कांठली कहना, उत्तर दिशा से मेघ माला का उठना, अटारी पर मेह बरसना, सिंधु-पार सौ योजन पर बिजलियाँ चमकना, बिजलियों को कामणगारी कहना, प्रिय-सांनिध्य के समय हर ऋतु का अच्छी लगना आदि ।[3]

५. नख-शिख-वर्णन की रूढ़ियाँ :

नायिका को पद्मिनी कहना (दो. सं. ५), उसका बत्तीस लक्षणों युक्त होना (दो. सं. ४६९) आदि के अतिरिक्त जहाँ मारू का नख-शिख चित्रण हुआ है (दो. सं. ४५१ से ४८८) वहाँ के उपमान वगैरह रूढ़ि में सम्मिलित होग ।

६. अन्य :

नगर-वर्णन की रूढ़ियों में नौ मोहल्ले और अनेक चौकों की वर्णन-रूढ़ि दो. सं. ३५४ में तथा सेना के लिये चतुरंगिनी सेना की वर्णन रूढ़ि दो. सं. ६४० में हमें मिलती हैं ।

इस प्रकार 'ढोला मारू रा दूहा' में हमें काव्य की अनेकानेक वर्णनात्मक रूढ़ियों के दर्शन होते हैं । यह काव्य इस प्रकार एक उच्च शास्त्र-सम्मत काव्य-परम्परा का पालक सिद्ध होता है ।

(ऐ) अन्य कलागत विशेषताएँ :

क : लोक-तत्त्व :

इसकी परिधि अत्यन्त व्यापक है ।"समस्त जड़ और चेतन को अपनी विशाल

---

१. क्रमशः दो. सं. । २७७, ३९४, ५२०, ५४४, ५८५, ५६७-५८० ,५८१आदि।

२. क्रमशः दो. सं. २२, १३६, १७६, १७६, ३४१ आदि लिये जा सकते हैं ।

३. इनके लिये क्रमशः दो. सं. ४४-२६८, ४३-२६७-५२१-५२२ ४२-४३, ४२-२७२,१८६, २४८,२६० आदि देखिये ।

सीमाओं में आवद्ध करने वाला यह विशाल लोक-जीवन, तथा इससे सम्बद्ध सभी उपस्कर–लोक-विश्वास, लोक-रूढ़ियाँ, लोकाचार, लोक-पर्व, लोक-परम्पराएँ आदि ही लोक-काव्य के तत्त्व या उपजीव्य हैं।"[१]

'ढोला मारू रा दूहा' लोकोन्मुखी काव्य है। अतः इसमें लोक-तत्त्व भी एक उपजीव्य रहा है। लोकतत्त्वों की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति इसकी अभिव्यंजना-कला का अन्यतम वैशिष्ट्य है।

ख : प्रतीक-विधान :

प्रतीक अनुभव अथवा अनुभूति की अवस्था विशेष का शाब्दिक प्रतिरूप है।[२] प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिये किया जाता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अमूर्त, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।[३] यह वस्तुतः एक विशिष्ट संकेत या चिह्न है जो किसी दूसरे अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिये किया जाता है।

'ढोला मारू रा दूहा' में अनेक वर्गों के प्रतीकों को लेकर भावाभिव्यंजना को तीव्र बनाया गया है। धर्म, पुराण, इतिहास आदि **संस्कृति विषयक प्रतीक** उदाहरणतः क्षीर सागर, शिव, गंगा-सरस्वती-सीता, अतिथि, मण्डप आदि क्रमशः दो. सं. १३१, ४५३, ४५१, १३४, ५३६ आदि में मिलते हैं। रूप, सौन्दर्य एवं कल्पना आदि में **प्रकृति का प्रतीकात्मक** प्रयोग बहुलांश में हुआ है। वेलि, कीर-भ्रमर-कोकिल-कमल-चन्द्र-सिंह-हाथी, चकवी, हंस, धरती-मेघ, बिजली-मेघ, कमलिनी कुमुदिनी, स्वाति नक्षत्र की बूँद आदि प्रतीकों के लिये दो. सं. ३७४, ४४५, ५५१, ५५२, ५८४, २६८, १३०, १२६, १३२ आदि लिये जा सकते हैं। **परम्परागत कवि-सम्प्रदाय** प्रतीकों में हंस, कदली, श्रीफल आदि (दो. सं. १३) और कमल, चन्द्र, सिंह (दो. सं. ४५५) आदि अनेक प्रतीकों का उपयोग बहुलता से इस कृति में प्राप्त है। **संख्या-वाचक** प्रतीकों में सात (दो. सं. १३६), नौ (दो. सं. ३५४) और लाख (दो. सं. ७४) आदि का भी अत्यल्प प्रयोग हुआ है। अन्य प्रतीकों में कस्तूरी दो. सं. ५८२), छत्र (दो. सं. ११८), योद्धा (दो. सं. ५८३), लौ (दो. सं. ११३) कंचुकी और मूछों के बाल (दो. सं. ५८५) आदि भी लिये जा सकते हैं। **रूपकाश्रित या रूपकात्मक** प्रतीक भी इस रचना में आद्यन्त देखे जा सकते हैं, जहाँ कवि अपनी अनुभूति को स्पष्ट करने के लिये रूपकों द्वारा प्रतीक-योजना करता है।

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : श्री शंभुसिंह मनोहर : पृ० १०२-१०३।

२. आलोचना : अंक २३ : पृ० २५ पर डॉ० राम अवध द्विवेदी का 'काव्य में प्रतीक विधान' निबंध।

३. हिन्दी साहित्य कोश : प्रथम भाग : पृ० ४७१।

इस प्रकार 'ढोला मारू रा दूहा' में प्रतीकों के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ को तीव्रतर और सुसंवेद्य बनाने एवं चित्रण को व्यापक स्पष्टता देने का कार्य लिया गया है। प्रतीकों के कौशलपूर्ण प्रयोग ने कलागत सौन्दर्य को रमणीयता प्रदान की है।

ग : पुनरावृत्ति :

उचित पुनरावृत्ति प्रभावोत्पादन के लिये उपयुक्त सिद्ध होती हैं। लोक काव्यों और लोकोन्मुखी काव्यों में आवृत्ति की यह विशेषता सर्वत्र मिलती है। 'ढोला मारू रा दूहा' में भी शब्दों, वाक्यों अथवा वाक्यांशों की पुनरावृत्ति का कलागत सौन्दर्य अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है—

वाबहिया—दो. सं. २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६ आदि में।

बीजुलियाँ चहलावहलि—दो. सं. ४४, ४५, ४६ आदि।

ढाढी, एक संदेसड़उ, ढोलइ लगि लह जाइ—दो. सं. १२०, १२१, १२२ आदि।

पंथी एक संदेसड़उ, लग ढोलइ पैहच्याह—दो. सं. १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३ आदि।

उत्तर आज स उत्तर उ—दो. सं. २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५ २९६, २९७ आदि।

(ओ) काव्य-दोष :

काव्य का स्वरूप निरूपित करते समय साहित्य-शास्त्रियों ने उसकी निर्दोषता पर विशेष बल दिया है। आचार्य दण्डी का कथन है कि काव्य में रंच मात्र दोष भी उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि छोटा-सा एक कुष्ट का धब्बा भी शरीर के सौन्दर्य को विकृत कर देता है[1]; लेकिन कवि के इस प्रयास में कहीं न कहीं किसी न किसी कारण से विभिन्न प्रकार के दोषों की अवतारणा हो ही जाती है। महाकवियों की कालजयी कृतियाँ भी इनसे अछूती नहीं हैं।

मम्मट के शब्दों में जो तत्त्व मुख्य अर्थ में बाधक होते हैं उन्हें दोष कहते हैं। काव्य का मुख्य अर्थ रस है। इस के आश्रित होने पर वाच्य अर्थ भी मुख्य हो जाया करता है। रस और वाच्यार्थ के हेतु शब्दार्थ होते हैं। अतएव दोष शब्द और अर्थ उभयगत होते हैं।[2] हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि ने दोष के स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है—

शब्द अर्थ में प्रकट है, रस समुझन नहिं देह।
सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हर लेइ॥ २॥
जाहि रहत ही जोर है, जेहि फेरो फिरि जाय।
शब्द अर्थ रस सबन में, सोई दोष कहाय॥ ३॥[3]

इस प्रकार काव्य-तत्त्व की प्रतीति में जहाँ बाधा पड़ती है वहाँ दोष माना जाता है।

१. काव्यादर्श : १-७।
१. काव्य-प्रकाश : ७- ४९।
२. रस-रहस्य : पंचम प्रकरण।

और यह असफल व्यंजना अनेक कारणोद्भूत होती है।

दोष के दो विभाग माने गये हैं—नित्य और अनित्य। 'मुख्यार्थ शब्द' और रस के आश्रय द्वारा लक्षित होता है;[1] अतः दोषों के शब्दगत और रसगत-वर्ग उचित हैं।

क : शब्दगत—दोष :

काव्य में शब्दों का अनुचित प्रयोग ऐसे दोषों की सृष्टि करता है और ऐसे दोष मुख्यतः १६ प्रकार के माने गये हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में शब्द-दोष यत्र-तत्र ढूँढने पर प्राप्त हो जाते हैं। शब्दों के नियामक कवि होते हैं; किन्तु इस काव्य में 'जनता' का 'सहकार' भी यथासमय सम्मिलित हुआ। अतः इस लोकोन्मुखी काव्य में शब्द-दोषों की प्राप्ति न तो अस्वाभाविक ही है और न कलाहीनता की द्योतक ही। कतिपय ऐसे दोष इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

१. श्रुति कटुत्व :

> **पंचमै प्रहरै दीहरै, सायधण दियै बुहारि।**
> **रिमझिम रिमझिम हुई रही, हुइ धण-त्र जौहारि॥ ५८६॥**

संयोग प्रसंग के इस दोहे में 'वण-त्री' (प्रिय-प्रिया) का प्रयोग श्रुतिकटु कहा जायगा।

२. च्युत संस्कृति :

> **रात्रि सखी इणि ताल मइँ, काइ ज कुरली पंखि।**
> **उवै सरि, हूँ घरि आपणइ, बिहूँ न मेली अंखि॥ ५१॥**

इस छन्द में पक्षी के साथ 'कुरली' स्त्रीलिंग क्रिया है, जबकि कुरलने वाला 'पक्षियों का राजा सारस, (दो. सं. ५२) है। अतः यहाँ व्याकरण-विरुद्ध दोष माना जायगा।

३. निहतार्थ :

> **फौज घटा, खग दाँमणी बूंद लगइ सर जेम।**
> **पावस पिउ विण वल्लहा, कहि जीवीजइ केम॥ २५५॥**

यहाँ 'खग' का सर्व प्रसिद्ध अर्थ 'पक्षी' पहले ध्यान में आता है किन्तु रूपक से कवि निहतार्थ 'तलवार' है।

४ अनुचितार्थ :

> **नखर नलराजा तणउ. ढोलउ कुँअर अनूप।**
> **राँणि राउ पिंगल तणी, रीझी रेखे रूप॥ ४॥**

तीन वर्ष के ढोला को देखकर पिंगल-पटरानी का उसके 'रूप पर रीझना' अनुचितार्थ है। प्रायः रीझना यौवनागम के पश्चात् ही संभव है।

५. निरर्थक :

> **पावस मास, विदेस प्रिय, घरि तरुणी कुलसुध्ध।**
> **सारँग सिखर, निसद्द करि, मरइ स कोमल मुध्ध॥ १७४॥**

यहाँ 'स' का प्रयोग निरर्थक हुआ है।

१. काव्यांग कौमुदी : तृतीय कला : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : पृ० १८५।

६. ग्राम्यत्व :

तव बोली चंपावती, साल्हकुँवर री मात।
रे वाजारण, छोहरी, काँइ खेलाड़इ घाति ।। ३३४ ।।

यहाँ 'छोहरी' शब्द में ग्राम्यत्व दोष है।

७. क्लिष्ट :

इन्द्राँ-वाहण-नासिका, तासु तणइ उणिहार।
तस भख ढ्वउ प्राहणउ, तिणि सिणगार उतार ।। ५८० ।।

इसका अर्थ-ज्ञान तनिक कठिनता से होता है, अतः क्लिष्टत्व दोष है।

८. अश्लील :

दूजै पोहरे रयणकै, मिलियत गुप्फागुध्घ।
धण पाला, पिव पाखरयौ, विहूँ भला भड़ जुध्ध ।। ५८३ ।।

यहाँ कवि ने लक्षण-व्यंजना का सहारा न लेकर अभिधेयार्थ में समागम स्थिति का वर्णन कर दिया है जो शील का सीमोल्लंघन करता-सा प्रतीत होता है।

९. प्रतिकूल वर्ण :

आठम प्रहर संझा समै, धण ठव्वै सिणगार।
पान कजल पाखर करै, फूलाँकौ गलि हार ।। ५८९ ।।

यहाँ अष्टयाम वर्णन में अनुराग भाव चल रहा है किन्तु 'ठकार' युक्तशब्दों का प्रयोग दोष है।

१०. हत-वृत :

ज्यूं थे जाणउं त्यू करउ, राजा आइस दीध।
राँणी राजानूँ कहइ, ओ म्हा नातरउ कीध ।। ८ ।।

इस दोहे के अन्तिम चरण में हतवृत्त दोप हैं।

१. प्रसिद्धि-हत :

चंपावाड़ी भमर ज्यउँ, नयण लगाइ रहंति ।। ७३ ।।

चम्पा पर भ्रमर कभी आकर्षित नहीं होता—यह कवि-प्रसिद्धि यहाँ हत हो गई है।

ख: अर्थ-गत दोष :

जहाँ अभीष्ट तात्पर्य का पोषण न हो सके वहाँ अर्थगत दोष होता है। एक दो उदाहरण प्रयास करने पर इसके भी प्राप्त हो सकते हैं—

१. क्लिष्टार्थ :

वायस वीजउ नाँम, ते आगलि लल्लउ ठवइ।
जइ तू हुई सुजाँड़, तउ तूँ वहिलउ मोकले ।। १४२ ।।

इसमें कागल (पत्र) अर्थ देरी से समझ में आता है।

२. पुनरुक्ति :

राति ज रूँनी निसह भरि, सुणी महाजनि लोइ।
हाथाली छाला पड़्या, चीर निचोइ निचोइ ।। १५६ ।।

इसमें यदि 'राति' और 'निसह' का अर्थ एक ही लिया जाय, जैसा कि कुछ ने किया है तो पुनरुक्ति दोष माना जा सकता है।

३. अश्लील :

इसके उदाहरण हेतु अष्टयाम वर्णन के दो. सं. ५८३ एवं ५७४ लिये जा सकते हैं।

४. दुष्क्रमत्व :

> हंस चलण, कदलीह जंघ, कटि केहर जिम खीण।
> मुख सिसहर, खंजर नयण, कुच श्रीफल, कँठ वीण ।। १३ ।।

इसमें नखशिख वर्णन की दृष्टि से उचित क्रम नहीं हैं।

ग : रसगत दोष :

जहाँ रस की प्रतीति में बाधा उपस्थित हो वहाँ रसगत दोष माना जाता है। वैसे शब्दगत दोष और अर्थगत दोष भी परोक्ष रूप से रस में बाधक होते हैं; किन्तु कुछ दोष सीधे ही रस-विरोध करते हैं। प्रस्तुत काव्य रसात्मक कृति है। अतः रस गत दोष के उदाहरण इसमें नगण्य प्रायः मिलते हैं। एकाध उदाहरण इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण :

> फौज घटा, खग दाँमणी, बूँद लगइ सर जेम।
> पावस पिउ विण वल्लहा, कहि जीवीजइ केम ।। २५५ ।।

यहाँ वियोग शृंगार में फौज, तलवार, बाण आदि के उपमान प्रयुक्त हुए हैं जो कि वीर-रस के लिये अधिक उपयुक्त हैं। अतः यह रसगत दोष है।

राजस्थानी में अंध, छबकाल, हींण, निनंग, पांगलो, जात विरूध, अपस, नालछेद, पखतूट और बहरो—ये दस दोष माने गये हैं।[1] ये तनिक भेद के साथ सभी हिन्दी में माने गये दोषों में समाहित हो जाते हैं।

निर्दोष रचना काव्य का महान गुण है पर ऐसी कृति की प्राप्ति दुर्लभ है। कर्त्ता ने सृष्टि को ही गुण-दोषमय रचा है।अतः 'ढोला मारू रा दूहा' में भी काव्य दोषों का प्रवेश आश्चर्य की वस्तु नहीं। परन्तु फिर भी इनकी संख्या अत्यल्प है और यह विशिष्टता कवि की उच्च कलात्मक प्रतिभा की परिचायिका है।

अभिव्यक्ति-पक्ष का विविध दृष्टिकोणों से विश्लेषण और अध्ययन करने के उपरान्त यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ढोला मारू रा दूहा' का बहिरंग उच्च कलात्मकता से पुष्ट है। इसके रचयिता की काव्य-निपुणता और उसका वाग्वैदग्ध्य भावानुभूति को सशक्त रूप में अभिव्यंजित करने में सक्षम है। कवि शास्त्र, लोक और काव्य—तीनों से सुपरिचित है और उसने इस भाव-प्रधान रचना में कला-पक्ष के उपकरणों का अत्यन्त सहज और अनायास निर्वाह किया है जो काव्य और काव्य-स्रष्टा—दोनों की उच्च कलात्मकता का सम्पूर्ण आभास देता है।

१. रघुनाथ रूपक गीतां रो : मूल कवि मंछ : संपा० श्री म. च. खारैड़ : पृ० १४।

षष्ठ परिच्छेद

परम्परा एवं प्रादेशिक रूप

षष्ठ परिच्छेद :
परम्परा एवं प्रादेशिक रूप

(अ) राजस्थानी साहित्य में परम्परा :

राजस्थान भी प्रणयाख्यानों की रम्य रंगस्थली रहा है। राजस्थानी साहित्य में प्रेमाख्यानों की प्रचुर परिमाण में रचना हुई है। 'ढोला-मारू' को इस सुदीर्घ परवर्ती प्रेमाख्यान-परपरा का जनक कहना असंगत नहीं होगा। प्रेमाख्यानों की यह परंपरा अक्षुण्ण रूप से लम्बे समय तक चली और 'ढोलामारू' की भाव-निधि, अभिव्यक्ति-सौष्ठव आदि से प्रभावित कालान्तर में कितने ही प्रणयाख्यानों का प्रणयन हुआ। इस दृष्टि से 'ढोला-मारू' का ऐतिहासिक महत्व है।

राजस्थानी प्रेमाख्यानों के इस विकास-क्रम में हमें अनेक प्रेमाख्यान मिलते हैं। यहाँ कतिपय चुनी हुई राजस्थानी प्रेमकथाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है जिनके अध्ययनोपरांत हमें भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में उन पर 'ढोलामारू' का न्यूनाधिक प्रभाव है।

क : जेठवा-ऊजली :

ऊजली अमरा चारण की लाडली कन्या थी। तूफान में वेहोश हुआ पोरबन्दर का राजकुमार मेहा जेठवा उसके द्वार पर आया, जहाँ दोनों में प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ। क्षत्रिय होने के कारण जेठवा चारण कन्या से विवाह करने हेतु लोक-लज्जा-वश कच्ची खा गया। उसने ऊजली को पहचानने तक से मना कर दिया। ऊजली उस 'दुष्यन्त' के विरह में जीवन भर तड़फती रही—

टोली सूं टलतांह, हिरणां मन माठा हुवै।
वाल्हा वीछंतांह, जीणो किण विध जेठवा॥
पैली कीन्हीप्रीत, भूल गयो वाल्हा सजन।
मन में म्हारे मीत, जीव बसै थूं जेठवा॥
जेठवा पलटूं जूण, मिनख देह पलटूं मुदै।
कहो वणासी कूण, जीव रुखालो जेठवा॥
वीणा जतर तार, थें छेड़्या उण राग रा।
गुण ने रोऊँ गंवार, जात न झींकूं जेठवा॥
थें पटकी पाताल, ऊंची ले आकास तक।
पगथ्यो वण पाताल, जीव उठूँ रे जेठवा॥
मोटो उफण्यो मेह, आयो धरती धरवतो।
मुझ पांती रो अेह, छांट न वरस्यो जेठवा॥

जेठवा जल् इक जात, जल् में जात हुवै नहीं।
आया वरे री भांत, पाँणी पा वरसा तणो ।।
घटघल हलियो जाहि, पिंजर पग मांडै नहीं।
काल्जे में कोइ, म्यांन विहूणी मेहउत ।।[1]

ख : सैणी-वीजाणद :

कच्छ देश के वैकरे ग्राम में वेदा नामक चारण निवास करता था। उसके सयणी नामक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। एक दिवस उस गांव में घोड़ों का सौदागर वीजाणद आया जो संगीत में निष्णात था। वीजाणद की संगीत-लहरी सुनकर सयणी अपनी सुध-बुध खो बैठी। सयणी ने अत्यन्त प्रसन्न हो उसे कुछ पुरस्कार देना चाहा। वीजाणद ने सयणी को ही मांग लिया। सयणी ने छः मास की अवधि में सवा करोड़ रुपयों के गहने लाने की शर्त रखी। वीजाणद मंगलीक गढ, गढ गिरनार आदि गया; पर उसे आवश्यक धन नहीं मिला। वह मुगल भोजराज बादशाह के यहाँ गया जहाँ उसे धन मिला, परन्तु तब तक निर्धारित अवधि व्यतीत हो चुकी थी। सयणी हिमालय पर गलने चली गयी। पीछे-पीछे वीजाणद भी हिमालय पर गलने चला गया।[2] इस कहानी के अनेक रूपान्तर हैं। कहीं वीजाणद को अनाथ कहा गया है और गहनों के स्थान पर एक साल में नौ चंदरियु भैंसे लाने की शर्त का उल्लेख है।[3]

वीजाणद के वियोग में सैणी का विरह हृदय को हिला देता है। वह कहती है—

ऊला परानें ऊतरै' पैल परा नै जाय।
सैंणी तंणा संदेसड़ा, वगड़ विचाऊ खाय ।। १ ।।
वीझड़ धंण विलखी हुई, जल विण नागर वेल।
विणजारा री भाह ज्यू, गयो धुखंती मेल ।। २ ।।
वीझड़ आभ वरसणौ वरस ज वाजै वाव।
छांट ज लागै पीव विण, जांण कटारी घाव ।। ३ ।।

---

१. ग्रं. ३५४६ (३) : जेटवा रा दूहा आदि। रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।
ग्रं. ७५ पु. सं. १३ : जेठवा रा दूहा : पु. वि. बीकानेर।
ग्रं. ७६ : दोहा जेठवा रा : अ. सं. ला. बीकानेर।
ग्रं १२१ (ठ) : जेठवै रा दूहा : अ. सं. ला. बीकानेर।
ग्रं. १०६ (ड़) : भँवर गीता तथा फुटकर कविता : अ. सं. ला. बीकानेर।
परंपरा : भाग ५ : जेठवा रा सोरठा अंक।
२. (i) विस्ता ८ : ग्रं. ३४ : गीत कवित्त संग्रह : पु. वि. बीकानेर।
(ii) वास ८ ग्रं ३५ : गीत कवित्त संग्रह : पु. वि. बीकानेर।
३. ग्रं. ७४ : फुटकर वार्ता : अ. सं. ला. बीकानेर।
४. परम्परा : अंक ८ : पृ० ११३।

विभ्रड़ उभी थी आँगणें, संजन संभरियाह ।
च्यारूँ चहूड़ा चूनड़ो, भत्रक जल भरियाह ।। ४ ।।
अे वागड़ अे वाड़ियां, यौ गोरडियो गाँम ।
धणं वींभ्रण मिलवा तणी, हिये विलग्गी हांम ।। ५ ।।
जिण देसै साजंण वसै, वाजो वोहिज वाव ।
ऊहां लागौ मौ लागसी, उहिज लाख पसाव ।। ६ ।।
सैणीं काय सरजीं नंही, नाजक नींवड़ियांह ।
बींभ्रल रमतौ सोगवै, सिर परि छांहड़ियाह ।। ७ ।।[1]
टोली सूं टलताह, हिरणांई फाटै हियौ ।
ससनेहा सेणांह, कहि केड़ै रहणौं किसौ ।। ८ ।।[2]

सैणी के विरह-विलाप से जो दोहे उद्धृत किये गये हैं, उनसे 'ढोला मारू' के दोहों का अपूर्व साम्य है। 'ढोला मारू' के इन समानता वाले दोहों को क्रमशः इस प्रकार रखा जा सकता है—

न को आवइ पूगलई, सहु को नरवर जाइ ।
मारू तणा सँदेसड़ा, बगड़ विचाहू खाइ ।। ८२ ।।
हूं कुमलाँणी कंत विण, जलह विहूणी बेल ।
विणजारारी भाइ जिउँ, गया धुकंती मेल्ह ।। १६३।।
काली कंठलि वादली वरसि ज मेल्हइ वाउ ।
प्री विण लागइ वूँदड़ी, जाँणि कटारी घाउ ।। २६७।।
कूँभ्रड़ियाँ करलव कियउ, घरि पाछिले वणेहि ।
सूती साजण संभर्या, द्रह भरिया नयणेहि ।। ५४ ।।
ए वाड़ी, ए बावड़ी, ए सर केरी पाल ।
वै साजण, वै दीहड़ा, रही संभाल संभाल ।।३८३।।
जिणि देसे सज्जण वसइ, तिणि दिसि वज्जउ वाउ ।
उआँ लगे मो लग्गसी, ऊही लाख पसाउ ।। (७४)
साँवलि काँई न सिरजियाँ, अंबर लागि रहंत ।
वाट चलता साल्ह प्रिय, ऊपर छाँह करंत ।। ४१५।। एवं
दो. सं. ४१४ तथा ४१६ ।

ग : जलाल-बूबना :

यह 'ठटा भखर' के वादशाह मृगतमायची की बहिन गहांणी के पुत्र जलाल खाँ

---

१. ग्रं. ७५ : पुस्तकांक १३ : सेणी रा दूहा प्रस्तावीक : पु. वि. वीकानेर ।
२. इस दोहे का 'जेठवा-ऊजली' के इस दोहे से पूर्ण भाव-साम्य है

टोली सूं टलतांह, हिरणां मन माठा हुवै ।
वाल्हा वीछतांह, जीणो किण विध जेठवा ।। १ ।। परंपरा : वर्ष २ अंक ५ : पृ० २३ ।

और 'ईय मिद्ध शमंद' के वादशाह भँवर की छोटी पुत्री वूवना के प्रेम की कहानी है।[1]

नीचे जलाल और वूवना के विरह के दोहे रखे जाते हैं—

जलाल : लोचन प्यासे दीद के, निरखें नित की मित्त।
दरसण ही पावें नहीं मिलवै कहीं न मित्त ॥
आंख्यां आक चरांह, पारिवा ज्यु रतियां।
हियड़ो तेण घरांह, वैठा ऊठण नां करे।
कीचुवां की न चुवां, कंचण मुण दी वात।
मनड़ौ चाहै रात दिन, सयणां हुंदे साथ ॥
केकांणां विण पंथडौ, धण विण रयण विहाय।
सोभागां विण दीहडा यही अक्यारथ जाय ॥

वूवना : आपर पिउ केउ नांम के, लिष कलेजे मांही।
मैं डरती जल नां पिउ, मतवे धोए जांहि ॥[2]
इक घड़ी आधी घड़ी, ताऊ आधोआध।
जव ही मिलकर वैसियै सो सुकियारथ काध ॥
एहिज मंदिर ए नगर- ए पलिंग ए ठोड।
मन रे उवे शजन नहीं' तातें लागत ओर ॥[3]
अवके दोसत ज्यो मिले, कवहु न छाडु संग।
प्रीय हरण की हरणास ज्यु, होय इहू अरधंग ॥
जीव उहां पिंजर इहां, हिवड़ौ हूलाहूल।
के परदेशी वलहो, वेल विहूणा फूल ॥
सजन सेरी साँकड़ी, का वरजालो लोक।
मुजरो नैणां मानज्यो, नहीं मिलण को जोग ॥
उँचै गोपे वैठवो, नीचैं वहै पलक।
पलक पलक सजन मिलै, अइयो वाह हलक ॥
जला तो विण कोटड़ी, चंद विहूणी रेंण।
तो आया चंदो हुई, भला दीशै सहू सेण ॥

---

१. ग्रं. २२०५–१ : जलाल-वूवना वार्ता (सचित्र) रा. प्रा. वि. प्र. शा. जयपुर।
जलाल गाहांणी वार्ता : श्री मोहनलाल पुरोहित सग्रह : वीकानेर।
ग्रं. ४४५२ (३२) : जलाल गहाणी री वारता : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।
ग्रं. १६ (२) : क्रिसन रुकमणी री वेलि सटीक आदि : अ. सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. ४८ (४) : जलाल गहाणी री वात : अ. सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. ७४ (१२) : जलाल गहाणी री वात : अ. सं. ला. वीकानेर।

२. 'ढोला-मारू' के दो. स. १६० में इस कारण मारवणी गर्म भात नहीं खाती।

३. भाव-साम्य के लिये देखिये—दो. सं. ३५२।

घ : नागजी-नागमती :

यह कच्छ के जाखड़ा अहीर की बेटी नागमती और बागड़ के घोल वाले के लड़के नागजी की प्रणय-कथा है। नागमती और नागजी प्रेमाभिभूत हो विवाह-सूत्र में बंध जाते हैं। पर विधाता को उनका मधुर-मिलन स्वीकार नहीं। नागजी आत्महत्या कर लेता है और नागमती पीछे सती हो जाती है। इस करुण कथा से नागमती के विरह के कुछ दोहे अधोलिखित हैं—

हे विधना तोसूं कहू, एक अरज सुण लेह।
विछरन अंकज मेट करि, मिलवो को लिख देह॥
नागजी तुं मीणो नेह, रात दिवस सालै हियै।
किणनै कहीयै तेह, नित-नित सालै नागजी॥
टीपां टपटपीयांह, विण बादल विछुटीयां।
आंख्यां आभ थयांह, नेह तुमीणै नागजी॥
जा जोवन अर जीव जा, जा पांणेचा नैण।
नागो सेण गमाय कर, रही किसा सुख लैण॥
कटारी कुनार, थूं बैवतड़ी बिरची नहीं।
नाग तणैं घट पार, लोहवाली लाजी नहीं॥
मिलवा री मन मांय, मोड़ बांध मिलिया नहीं।
मिलस्यां मसाणां मांय, खीरा माथे नागजी॥
नागड़ा नवलौ नेह, किणही सूं कीजै नहीं।
वलै सुरंगी देह, धुखै न धुंओ नीसरै॥
नागड़ा नवलौ नेह, जिण तिण सूं कीजै नहीं।
लीजै उणरो छेह, आपणपौ दीजै नहीं॥[1]

ङ. : बींझा-सोरठ :

सोरठ साँचोर के राजा रायचंद की मूल-नक्षत्र में पैदा हुई कन्या थी। इस परित्यक्ता कन्या को चांपा कुम्हार ने पाला और रोर बनजारे से शादी की। बाद में इसका बींझा से प्रेम हो गया। सोरठ का रूप-सौंदर्य अद्भुत था—

ऊँचो गढ गिरनार, आबू पै छींया पड़ै।
सोरठ रो सिणगार, बादल सूं वातां करै॥
सोरठ रंग री साँवली, सुपारी रे रंग।
लूंगा जेड़ी चरपरी, उड़ उड़ लागै अंग॥

---

१. नागजी री वात : श्री मोहनलाल पुरोहित संग्रह बीकानेर।
ग्रं. ७५ : पु. सं. १३ : नागड़े रा दूहा : पु. वि. बीकानेर।
ग्रं. १४४ : नागड़ै रा दूहा : अ. सं. ला बीकानेर।
ग्रं. ७४ (११) नागजी नागमती री बात : अ. सं. ला. बीकानेर।
ग्रं. १०६ (ड़) : भँवर गीता तथा फुटकर कविता अ. सं. ला. बीकानेर।

सोरठ साकर री डली, मुख मेल्यां घुल जाय ।
हिवड़ै आय विलूंवतां, हेमालो ढुल जाय ।।[1]

सोरठ राव खंगार और नवाब की वासना का शिकार भी बनी; परन्तु उसका बींझा के प्रति प्रेम बना ही रहा—

बींझा तूं मत जाणे नेह गयौ, दूर वसंता वास ।
खोल फिरै घरि आंगणौ, जीव तुम्हारै पासि ।।[2]
नींतरतै नयणेह, जल काजल भेलो कियो ।
ऊभी हाथ घसेस, विलखी हुई ज वालहा ।।
वीभा थे पांणी पीवउ, कह्यउ तुहारउ कीजस्यइ ।
पिंजर माहे जीव, हाथ तुहारइ दीजस्यइ ।।
वीजा पिसुणां देखतां, लटकण नेह निवारि ।
म्हांकइ माथइ इम चढ्यउ, जिम चावल चढ्यउ निलाडि ।।
वीभा थांकइ नेह की, जड़ पसरी मन मांहि ।
सींचू पिण काटुं नही, जउ वरसा सो जाइ ।।[3]
वीभा रूप न राचीयइ, गुण राचइ सहु कोइ ।
थाल परूस्यउ छोडिजइ, कुइ टुक लूण न होइ ।।
वीभा थांकइ कारणइ, उन्हो धांन न खांउ ।
पिंजर माहे थे वसउ, दाजणथी डरपांउ ।।[4]
वीभा थांकइ कारणइ, तोड्यउ नवसर हार ।
लोक जांणइ मोती चुणइ, निम-निम करूं जुहार ।।[5]
सजण दुरजण कइ कह्यइ, भटक न दीजइ गालि ।
हलवइ हलवइ छोड़िजइ, जिम जल छंडइ पालि ।।[6]

---

१. ग्रं ८३ (४४) : सोरठ री वार्ता : रा. प्रा. वि. प्र. शा. बीकानेर ।
ग्रं. ७८ (घ) : सोरठ रा दूहा : अ. सं. ला. बीकानेर ।
ग्रं. १२० (ड़) : सोरठ रा दूहा : अ. सं. ला. बीकानेर ।
गुटका ६२ : दूहा बीजे रा : आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर ।
ग्रं. ३५५६ (३) : बीभा सोरठ री बात दूहा : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर ।
ग्रं. ३५६२ (१३) : बीभा सोरठ री वारता : प्रा. वि. प्र. जोधपुर ।
ग्रं. ७७२२ (३) : सोरठ रा दूहा : रा. प्रा. वि. प्र, जोधपुर ।
ग्रं. २१४२ (३) : सोरठ बीभै री बात : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर ।

२. इस भाव के लिये 'ढोला-मारू' के दो. सं. २७, ११४, १६२ उल्लेखनीय है ।

३. मारू के हृदय में ऐसा ही उपमित साजन रूपी वृक्ष उगा है—दो. सं १५८ ।

४. प्रीतम, तोरइ कारणइ, ताता भात न खाहि ।
हियड़ा भीतर प्रिय वसइ, दाझणती डरपाहि ।। १६० ।। ढोला मारू रा दूहा ।

५. साम्य—दो. सं. ५८६ ।

६. यह 'ढोला मारू' में भी इसी रूप में प्राप्त है—दो. सं. १६६ ।

घ : जमाल-सुन्दर :[1]

जमाल 'काफी' रागिनी के निर्माता गम्भीर का पुत्र था—ऐसा अनेक लोक-गायकों का मत है। सुन्दर और जमाल में गहरा प्रेम सम्बन्ध था। परन्तु दोनों का मिलन न हो सका। तब जमाल और उसके साथी कमाल ने एक दूसरे को सम्बोधित करके उनकी इस प्रेमजन्य दुविधा को व्यक्त किया।[2] इनसे सम्बद्ध कुछ दोहे इस प्रकार हैं—

जमला जोवन फूल है, इक फूलै कमलाय।
जांनि वटाऊ पंथ सिरि, वैसे भी उठि जाय।।
जोवन कीहु जिह करों, तन मन करों कमांन।
नयन नि के दोइ सर करों, जे कोई मिले सुजांन।।
जमला करो तो क्या डरो, करि करि क्या पछताहु।
सेवे पेड़ वबूंल के, अंब कहां ते खाहु।।
मन उमग्यो हसती भयो, चिके पाट असराल।
संकल तोरे सार की, मुझ वसि नहीं जमाल।।[3]
मन दारू तन तुपक है, विरह पलीता लाल।
आही आवाज न निकसती, जाती फूटि जमाल।।
वायस राय भुयंग हर, त्रीया लिखित अेक काल।
लिखि लिखि मेटत सा त्रिया, कारण कंवण जमाल।।[4]
तन सरवर मन मच्छली, पड़ी विरह कैं जाल।
तरफि तरफि जीउ जात है, सु वेगही मिलो जमाल।।
अलक ज लागी पलक सुं, पलक रही अह झाल।
आंखिन पेमु करक की, नींद न परत जमाल।।
अलक जु लागी पलक सुं, देख पलक कै ताल।
दोइ वगला इक मछली, दोइ दुख भए जमाल।।

---

१. ग्र. ७७ (ज) : फुटकर दूहा : अ. सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. १२१ (थ) : जमलै रा दूहा : अ सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. १०६ (ड़) : भँवर गीता तथा फुटकर कविता : अ: सं. ला. बीकाने:।
ग्रं. १६६ : फुटकर कविता : अ. सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. १७३ . फुटकर कविता : अ. सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. १६६ : फुटकर कविता : अ. सं. ला. ीकानेर।
ग्रं. २१७ : फुटकर कविता : अ. सं. ल. वीकानेर।
२. परम्परा : अंक ८ : पृ० ११४।
३. भावों की समानता के लिये 'ढोला-मारू' के दो. सं. ११५, १२४ देखिये।
४. यह पहेली 'ढोला मारू रा दूहा' में भी तनिक रूपान्तरित होकर आई है—दो. सं. ५७७।

कोइल काली किसह गुण, दीदेउ वाके लाल ।
जिभ्या छाले परिहरै, करत जमाल जमाल ।।[1]
मुख ग्रीपम पावस नयन, होयै मध्य जढ काल ।
पीय विछुरत तन तीन रित, कवहु न मिटत जमाल ।।

छ : सुहप[2]

यह घाट के सुखदेव जोहिये की लड़की थी जो सुजेर में व्याही गयी थी ।[3] सुहप के दोहों में उसके अपूर्व सौन्दर्य और विरह का चिताकर्षक वर्णन है । दूसरों के द्वारा रूठे हुए पति को मना लेने का भी आग्रह भी इन दोहों में हुआ है ।

सूहव सर पांणी गई, अवसर पेली आल ।
दांत मलूकै जल हसै, थरहर कंपी पाल ।।[4]
सूहव सीस गूंथाय कै, चंदै सांम्हो म जोय ।
कदाच जो चंदो षडभडै, मत रैण अधारो होय ।।
सूहव नैन विताहरा, जांण कटौरै तेल ।
रिण रुधै रजपूत ज्यूं, वद वद वाहै सेल ।।
सूहव नैण विताहारा, चमकत घूंघट मांही ।
मृगां हिलीये मृग ज्यूं, हालंता ही षांहि ।।
सूहव नैण विताहरा, मेल्हा कजल ढोइ ।
आपसही मै कट मरै, जे विच नाक न होइ ।।
सूहव मण तो प्रमांण घण, रूप न रचे कोई ।
थाल परूसै छोड़ियै, जे टुक लूंण न होइ ।।[5]
तन तोला मन ताकडी, सुहव सागर सुठ ।
मन रा धोखा मेटणा, किम दांम भरणो मुठ ।।
सूहव आयां सजनां, क्यौ कर दोजै पूठ ।
ध्याये नै मिलजै नहीं, तो ऊभा हुयजै उठ ।।
सूहव आयां सजनां, भड़क न दीजै गाल ।
हलवै हलवै छंडिजै, ज्यूं जल छडै पाल ।।[6]

१, 'ढोला मारू में भी मारवणी की हथेली में चीर निचोते-निचोते छाले पड़े है—
२. सूहव रा दूहा : रा. प्रा. वि. प्र. शा. बीकानेर ।
ग्रं, १६ (६) : किसन रुकमणी री वेलि सटीक आदि : अ. सं. ला. बीकानेर ।
ग्रं. १०६ (ड) भंवर गीता तथा फुटकर कविता : अ. सं. ला. बीकानेर ।
३. परम्परा : अंक ८ : पृ० ११० ।
४. दो. सं. ३६४ से समानता द्रष्टव्य है ।
५. वींझा-सोरठ में भी यही दोहा तनिक रूपान्तर से आया है ।
६. यही दोहा ढोला मारू में इसी रूप में प्राप्त है दो. सं. १६६ । वींझा-सोरठ में भी यही दोहा मिलता है ।

ज : पन्ना-वीरमदे

पन्ना पूगल के रतन शाह की अपूर्व सुन्दरी कन्या थी। 'सौ पन्नां किण भांतरी, सीस री सोभा नालेर परवांण, निलाड़ दौज रो चंद जांण, अलकां जिकै सौ वांरी सौंती, वेणी किसैक जांणै कंचन खंभ मं गिण सूती, पंना रा ववारा धक सारीख, आँखियां मद प्याला आरीख, नासिका जांणि दीपक री लौय, मुख जिस्यौ पून्यूं रौ चंद होय, मुखरी कसत्रौय किसतूरी सारीज, दांत जांणि दाड्यू रा बीज, पातल अहर अतिरंग चौल, तिम विचि नांखै तंवोल, चौका परि राजै मिसी अंक, कपौल जिकै कंचन तवक, कंठ घणौ कोमल दरसावै जिको (पाणी) पीवंना निजर आवै।"[1]

"ऐसी 'सीतल गंग मति मरसती, सोभा खीर सरांह"[2] पन्ना का ईडर के राव राइभांण के कुंवर वीरमदे से प्रेम हो गया। यह उसी की कहानी है। पन्ना के विरह-उद्‌गार इन दोहों में हैं—

देख वटाऊ आ दसा, सरकां दाह सुणाय।
विरह वभक्कै उर भरै, जीव निसांसा जाय ॥
मंनमथ मारै पंचसर, चंद करै चित चूर।
जावक म्हैंदी तंन जले, पावक हियै कपूर ॥
पींजर सूकै पिक दहै, मदन सरां दै मार।
ताप वुजावण वदन तंन, आव प्रिया रिझवार ॥[3]
पपिया आस पजोवसी, तो नोछावर जीव।
बैरो थूं फिर वोल रै, पीव पीव कह पीव ॥[4]

---

१. ग्रं. ३३२ : पन्ना वीरमदे : रा. प्रा. वि. प्र. शा. अलवर।
वंडल ७२ : ग्रं. ६ : वार्ता पन्ना री : पु. वि. वीकानेर।
ग्रं. २७६ : कंवर वीरमदे पन्ना की वात : भा. वि. मं शो. सं वीकानेर।
ग्रं. ४४ : पन्ना वीरमदे की वात : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर (इन्द्रगढ़ पोथी खाना)।
ग्रं. ७७६६ (१) वीरमदे पन्ना री वारता (सचित्र) : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।
ग्रं. ४६–५ : ढोला मारू री नै पन्ना वीरमदे री वार्त्ता : अ. सं. ला. वीकानेर।
ग्रं. ५२ : पन्ना वीरमदे री वात : अ. सं. ला. बीकानेर।
ग्रं. ७४ (८) : पन्ना वीरमदे री वात : अ. सं. ला. वीकानेर।

२. 'ढोला-मारू रा दूहा' में मारू के लिये भी यही उपमान दिए गये हैं दो. सं. ४५१।

३. भाव साम्य हेतु मिलाइये—दो. सं. १६१।

४. इसके विपरीत मारवणी पपीहे से प्रियतम का नाम न लेने को कहती है—दो. सं. ३५।

दुसमंण सपनी मो दई, सारी रैन संताय।
देह धरी रह ढौलियै, जीव पीव मैं जाय ॥[1]
कर काँपै भरता कलम, अंग उठै अकुलाय।
चख उलटै छाती फटै, कागल लिख्यो न जाय ॥
खरवट छोलै पिक थकी पपियौ बोलै पीव।
दा दा ऊपर लूंण दै, जो किम रहसी जीव ॥[2]
तन सुद छूटी थां बिना, ऊठी विरह बलाय।
लूटी लड़ ज्यूं मोतियां, ऊजलिया चख हाय ॥

कहानी में वीरमदे का यह कथन—

कछिया वावन कूप कर, जको पेंड भर जाय।
चाय करै छै धण चंगी, हाथ मिलाय मिलाय ॥

ढोला के इस कथन से कैसा मिलता है—

करहा वामन रूप करि, चिहुँ, चलणे पग पूरि।
तूँ थाकउ, हूँ ऊसनउ, भुइँ भारी, घर दूरि ॥४६७॥

झ : रतना-हमीर :

'सरां मैं ज्यूं मांनसरोवर, तरां मैं ज्यूं कल्पतरोवर, षगां मैं ज्यूं राजहंस, नगां मे ज्यूं भीम रो ग्रंस, रसां मैं ज्यूं सिगार रस, नसां मैं ज्यूं नेह रो नसो, तुरंगां मैं जेह सूरज रो तुरंग, दुरगा में जिण भांत चंद्रगढ़ रा दुरग'—ऐसे चंद्रगढ-निवासी हीरानंद के रतना नामक पुत्री पैदा हुई। वह रतना चोसठ कला री जाण इन्द्र परी रै अहिनाण, सरूप रै भार भरयो नाजुक सो अंग, जिण आगै कांइ केसर नै कंचन रो रंग, नारेल जिसा सीस पर कांई केसां रो भार तिकै जाणै तम रा ही तार, तीका हालती लजावे हंसरी गत, जिण री ओपमां दीनी रंभा हर रतन्न ओर ओपमा दीनी इण नैं किसी, आतो करतार निज हाथां घड़ी जिसी'—ऐसी थी।[3]

रतना के नेत्र सूरजगढ़ के रावल दलपत के पुत्र हमीर से लग गये—

ऊभै द्रग जुड़िया उचक, काट जिणी पट कोर।
हलवैं कटक हरोलूहै, ज्यूं वूमर पर जोर ॥

हमीर के विरह में रतना विलखती है—

होयो हूव कागद हुवो, पलकांन्ह पलियांह।
तुठी मुकतावल तिसी, ग्रांसू ऊजलयाह ॥

---

१. 'ढोला मारू' के दो. सं. ५११. ५१२, ५१४ आदि समान-भावी हैं।

२. भाव साम्य के लिये 'ढोला मारू' का दो. सं. ३३ द्रष्टव्य है।

३. ग्रं. ३४१ : वार्ता रतना हमीर : रा. प्रा. वि. प्र. शा. अलवर।
ग्रं. १५१६–६ : रतना हमीर की वात : आ. विनयचंद्र ज्ञान भण्डार, जयपुर।
ग्रं. ४६१५ (३) : रतना हमीर री वात : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।

निमष तरस होता नहीं, दीसण लागा दूर ।
भाषै इण विध कामणो, बचन विसूर विसूर ।।
सषी किम रहै सयाण, दाह करू पी दरसवै ।
पावस पीव पयाण, हुवो ककार सकार हिव ।।
सागर रीत जिसीर, मो द्रग जल ले पीव मग ।
बरसै बारधी बीर तौ, जांणू लायक तुनौ ।।
साँभल समरथ सूर, पवन ले आवै पीवसूं ।
पद रज राषूं पूर, अंजन री पर आंषियां ।।[१]
गाढों पीय रो गात, परस परस मो परसजे ।
बात सुणी इक बात, पिय मत परसे मो परसि ।।
चुगतां उठतां चालतां, बिछुडण री नह बात ।
वर दे विधनां पीव रै, रहूँ संग दिन रात ।।
सरस निहोरै दोय जसि, थरू थेक डग थाय ।
द्रग वालम री दीठ सूं, जुड़ै दीठ मो जाय ।।
जीहां कही न जाय, पिय जूँ गूंगा फारसी ।
मन री मन रै मांहि, हुवो जोक केहर हुवो ।।
पलकन छोड़ू पास, रोम रोम मैं रम रहूँ ।
ज्यूं फूलन मैं बास, सूकै तन जाय न सही ।।
रुति आई रतिराज री, अलि अलि पूरण आस ।
कामण जींवै विध कमण, बिंण बालम विसवास ।
विरह विथा जल झपट बिच, सह जल गयो सरीर ।
जांणे पटत न किण जुगत नैणां निसरत नीर ।।

न : उमा साँखली-अचलदास :

यह गागरूण गढ़ (मेवाड़) के अचलदास खींची और जांगलू (वीकानेर) के राजा की लड़की उमा की प्रेम-कहानी है । उमा अनुपम रूपसी थी—'आसमान से उतरी इन्द्र री अपसरा, सरवर रो हंस, सरद रो कमल, वसंत री मीजर, भाद्रवा रै दल बादल री वीज, मेह रो ममोल्यो, बावनो चन्दन, सोलमो सोनो, राय केल रो गरभ, राजहंस रो बछो, लिखमी रो अवतार, प्रभात रो सूरिज, पूनिम रो चंद, तरग री झांक, ससनही लहर, गुण रो प्रवाह, रूप री निधान, गुण चतुराई रो आगर, जोवन पषणो काख रो लाडू, चावल रो चोथो, हांसो षाय, फूंक री मारी फल सै जाय, भूंह जाणै धनुष, पातला हाथ, राता, पग, दांत जाणै दाडीम री कुली, बांह जांणै चंपा री माल, कुच जाणै श्रीफल, नासिका जाणै दीपक री सीषी, अधर जाणै प्रवाल, हंस री गत चालै, बत्तीस लषणी, चौसठ कला री जाणै, विधाता सै

१. मारू भी ऐसे पवन के स्पर्श को 'लाख पसाव' मानती है— दो. सं. ७४ ।

हये घड़ी।"[१] उमा झीमा चारणी से अपना विरह निवेदन करती है—

वाल पणा रो प्रीतड़ी, सालै साल समान।
बीजो जोवन प्राहुणो, म्हांने करे हरांन।।[२]
सुपनो तै मोनै दही, ज्यौ तोने दहिज्यो आग।
जाणुं अचल कनै गई, सूती थी गलि लागि।।[३]
उमां झूरै कंत नै, ए दुष षह्यो न जाय।
विरह दावानल प्रझलै, प्रीतम वेगि बुलाय।।
वालम मौनै परिहरि, मैं दुख सह्यां सरीर।
सेजै सालै वालमौ, अगै रहे करीर।।
संगति वूढांहि संपझौ, पिण ए दिन कदे लहेस।
सरस रागि हसि वोलिवौ, एतौ जोवन वेस।।[४]
सुपना में अचला कनें, सूती थी गल लाग।
जागी नै विलखी भई जांणै डसी भुयांग।।[५]

ट : मोहमदिये रा दूहा

यह किसी मोहम्मद और माढू के प्रेम की कथा है। कथा का शेष विवरण अज्ञात है। उदाहरण स्वरूप माढू के विरह के कुछ दोहे रखे जाते हैं—

मुहमदिया मन चोर, मन चोरै माढू तणो।
ले कालजौ कोर, पंजर पैसारो हुयो।।
मोहमदिया न मरेह, मरै तो मोती नीपजै।
सारी थ्रिष्टि फिरेह, तोनूं हार कियै ही डोलीस्यां।।
मुहमदिया ताहरै मरणि, हुईस जांणै मंन्न।
किसूक धीर संभालीयइ, छूटि गयो सोव्रंन।।
डूगरीया गलिसइ सही, सोसीज सइ समुद्र।
मेल्हीजसी मीठी दुनी, मरीजसइ मुहमंद।।
मरीजसइ मोहमंद, मेल्हीजसी मीठी दुनी।
आग दहेसी तंन, जीव जंव रांणे लेजाइसी।।
ठाकुर सरसो रूसणे. विसहर सरसी आलि।
अस्त्री सरसो प्रेम रस, परतख तीनू काल।।[६]

१. क्र. ६४ : अचलदास खींची की वात : रा. प्रा. वि. प्र. शा. अलवर।
ग्रं. १४५ : अचलदास खींची री वात : रा. प्रा. वि. प्र. शा. अलवर।
ग्रं. १७१ : अचलदास खींची री वात : भा. वि. मं. शो. प्र. बीकानेर।
२. 'ढोला मारु' में भी यौवन को अतिथि कहा है—दो. सं. १३४।
३. मारू भी इसी तरह स्वप्न को कोसती है—दो, सं. ५१२।
४. भाव-साम्य के लिये 'ढोला मारू' का दो. सं. १७८।
५. द्रष्टव्य 'ढोला-मारू' का दो. सं. २३६।
६. ग्रं. ७६ (ग) : अ. सं. ला., बीकानेर।

पिछले पृष्ठों में उदाहरण-स्वरूप जो राजस्थानी प्रेमाख्यान दिये गये हैं, उनके परिशीलन से उन पर 'ढोला मारू' का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। संक्षेप में उस साम्य-वैषम्य को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

१. यदि हम **शीर्षक** से प्रारम्भ करें तो हमें ज्ञात होगा कि इन प्रेमाख्यानों के शीर्षक 'ढोला-मारू रा दूहा' शीर्षक से अपूर्व साम्य रखते हैं। इन प्रेमकथाओं के शीर्षकों में भी नायक-नायिका के नाम और बहुलांश में 'रा दूहा' अथवा 'रीवात' जैसी शब्दावली मिलती है।

२. पूर्ण गद्यात्मक 'वातों' को हम छोड़ दें तो लगभग शेष सब प्रेम कहानियों का **प्रारम्भ** सरस दोहों के परम आकर्षण से प्रारम्भ हुआ है। 'ढोला-मारू' का जो 'वात' रूप है वह इसी प्रकार का है।

३. 'ढोला मारू' की तरह इन प्रेमाख्यानों का **कथानक** सामन्त–जीवन से सम्बन्ध रखता है, यद्यपि साधारण जन-समाज से सम्बद्ध कथानक भी इनमें आये हैं।

४. कथानक के सामन्त-वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था का चित्रण इन प्रेम-कहानियों में सजीव और साकार रूप में उपस्थित हुआ है। 'ढोला मारू' में सामन्त वर्ग के रीति-रिवाजों और सामाजिक मान्यताओं का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

५. इतना होने पर भी जिस तरह 'ढोला मारू' में **लोक-हृदय का स्पन्दन** है वैसा ही स्पन्दन इन काव्यों में भी है। ये प्रेम-कहानियाँ भी लोक-हृदय के सन्निकट हैं और यह लोक-भावना अत्यन्त कलात्मक ढंग से इनमें रूपायित हुई है।

६. कथानक विशेष के कारण **पात्र** भी अधिकतर सामन्त-पुरुष हैं परन्तु वे साधारण जन समाज की भाव-भूमि का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें व्यक्तिगत और जातीय स्वभाव का अद्भुत सम्मिश्रण है।

७. पात्रों का **चरित्र-चित्रण** एक ही 'टाइप' का नहीं है। वह व्यक्तिगत विशिष्टताओं से भी संचालित है।

८. वस्तु के **घटना-संघटन** तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का भी पूर्ण समावेश है। पाठक उन्हें अपने निकट पाता है। कथानक और पात्रों में इस प्रकार अस्वाभाविकता का संचार नहीं हो पाया है। घटना-प्रवाह भी सहज और चरित्र चित्रण भी स्वभाविक है।

९. जिस तरह 'ढोला मारू' के कथानक में निजन्धरी विश्वास पर आधारित तथा कवि-कल्पना-जन्य दोनों प्रकार की अनेक **कथानक रूढ़ियाँ** विद्यमान है, ठीक उसी तरह इन प्रेम कथाओं में भी भारतीय परंपरित कथानक अभिप्रायों का कलात्मक समावेश हुआ है। इससे कथानक में नाटकीयता, त्वरा और गति तथा अभिलषित मोड़ों का संयोजन सम्भव हो सका है।

१०. इन कथानकों में **अलौकिक और अतिमानवीय तत्वों** का समावेश भी प्रचुरता से हुआ है। जिस प्रकार 'ढोला मारू' में योगी मारवणी को जीवित करता है

उसी प्रकार नाग जी को महादेव जीवित करते हैं। इनमें दैवी-पात्र नायक-नायिका को हर सम्भव सहायता देते दिखाई पड़ते हैं और इस तरह प्रेमी अमरता का वरण करते हैं।

११. 'ढोला मारू' का **काव्य-स्वरूप** जिस तरह एक नहीं, वैसी ही अवस्था इन प्रेमाख्यानों की भी है। इनके काव्य-स्वरूप में भी एकता नहीं, है।

१२. 'ढोला मारू' **लोकप्रियता** में यद्यपि इनसे आगे हैं, परन्तु ये प्रेम-कथानक भी कम प्रख्यात नहीं रहे। राजस्थान के भिन्न-भिन्न संग्रहालयों में इनकी बहुल हस्त-लिखित प्रतियाँ इनकी लोकप्रियता की द्योतक हैं।

१३. **अभिव्यंग्य** की दृष्टि से भी 'ढोला मारू' और इनमें अत्यधिक साम्य है। 'ढोला मारू' में जिस तरह शृंगार का विप्रलम्भ पक्ष प्रधान और संयोग पक्ष गौण है, वैसा ही इन प्रेमकथानकों में भी है। जितने भी प्रेमी-युगल हैं, वे वियोग से पीड़ित दृष्टिगोचर होते हैं। इन प्रेमकथाओं में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है। 'ढोला मारू' इस विप्रलम्भ प्रधान प्रेमाख्यान परम्परा का जनक है।

१४. 'ढोला मारू' की तरह अन्य प्रेमाख्यानों में **संयोग शृंगार** का भी अति न्यून चित्रण है। उसमें भी लेखकों ने व्यंजना से ही अधिक काम लिया है। अश्लीलता जैसी वस्तु का अभाव इन प्रेमकाव्यों की विशेषता है।

१५. 'ढोला मारू'-के **अभिव्यक्ति पक्ष** से भी इन कथानकों के अभिव्यक्ति पक्ष की अपूर्व समानता है। 'ढोला मारू' में जिस तरह लोक-भाषा के माध्यम से विरह वेदना को वाणी दी गई है, ठीक उसी तरह प्रेमाख्यानो में भी लोक प्रचलित भाषा को ही अपनाया गया है। इस लोक भाषा में भी कला की तराश है और निखार है। वह अनगढ़ और अस्वाभाविक नहीं है। समय पर लिपिबद्ध न होने के कारण इनकी भाषा विभिन्न स्तरीय है।

१६. 'ढोला मारू' **दोहा छंद प्रधान** प्रबन्ध है जिसके बीच-बीच में गाहा, चंद्रायणा आदि हैं। इन प्रेम कथाओं में भी दोहा छन्द ही अपनाया गया है और मध्य में चंद्रायणा आदि छन्द आते हैं परन्तु जो दोहामयी प्रेमगाथाएँ हैं वे आकार में 'ढोला मारू' से लघु हैं। अत: प्रबन्धात्मकता उनमें क्षीण और शिथिल हैं।

१७. ये प्रणयाख्यान **भावना-प्रधान** काव्य हैं, घटना-प्रधान नहीं। 'ढोला मारू' में भावना ही मुख्य है और घटना-संयोजन कथा में भावना को तीव्रतर बनाने में सहायक है। अन्य प्रणयगाथाओं में भी इसी तरह भावना ही मुख्य रूप से मुखरित हुई है और घटना-बाहुल्य की तरफ ध्यान कम गया है।

१८. इन सबकी **प्रेम-भावना** भी शील-समन्वित स्वकीय प्रेमभावना है। कुछेक अपवादों को छोड़कर सर्वत्र दाम्पत्य–प्रेम का स्वर ही प्रमुख है। यही ऐसी विशेषता है जो इन्हें अन्य प्रेमाख्यानों से विलग करके उच्च स्थान देती है।

१९. इन प्रणयाख्यानों में **नखशिख वर्णन** भी पर्याप्त हुआ है यह तत्कालीन सामन्त-समाज की सौन्दर्योन्मुखी भावना का परिचायक है। जहाँ गद्य में भी सौन्दर्य-चित्रण आया है, वहाँ 'दवावैत' की कलात्मकता देखते ही बनती है। 'ढोला

मारू' का नखशिख जिस तरह संस्कृत-कवियों आदि की तरह बँधी परिपाटी और एक ही ढाँचे में ढला हुआ न होकर भी मर्मस्पर्शी और हृदयहारी है ठीक वैसी ही विशेषता इन इतर प्रेमाख्यानों के नखशिख की है।

२०. उपर्युक्त कारण से 'ढोला मारू' में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्राधान्य है और अन्य अलकार विरहानुभूति आदि को व्यक्त करते समय आये हैं। इन प्रेमाख्यानों में भी सौन्दर्य-चित्रण में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का आधिक्य है।

२१. प्रकृति-वर्णन की भी किसी बंधी परिपाटी में ये काव्य बंधे दृष्टिगोचर नहीं होते। प्रकृति-वर्णन की षड्-ऋतु अथवा बारहमासा प्रणाली का इनमें पूर्ण पालन नहीं किया गया है। 'ढोला मारू' में जहाँ वर्षा और शिशिर का अधिक वर्णन है और अन्य ऋतुएँ मात्र नामोल्लेख तक ही सीमित रही हैं, वही प्रकृति की दशा इन काव्यों में भी है। ज्यादा हुआ तो कहीं-कहीं महीनों का नाम ले लिया गया है। इन प्रणय-काव्यों में प्रकृति का उद्दीपन रूप ही विशेष प्राप्त होता है। भावना-प्रधान काव्य होने के कारण यह सहज और स्वाभाविक भी है। प्रकृति वर्णन के लिये ही प्रकृति-वर्णन स्वतंत्र रूप से उपलब्ध नहीं होता।

२१. ये प्रणय-काव्य भारतीय कथा-शैली की परंपरा में आते हैं। इनमें विशुद्ध भारतीय कथा-शैली के दर्शन होते है। सूफी अथवा अन्य किसी धारा का प्रभाव स्पष्टतः नहीं है।

२३. 'ढोला-मारू' में सहजता, सरलता, स्वाभाविकता और शास्त्रीय अलंकारिता का अभाव है। ठीक उसी तरह अनलंकृति ही इन काव्यों की सबसे बड़ी विशिष्टता है। सर्वत्र हृदय से निकली भाव-निधि ही व्यापक है—सहज स्वरूप में। यह निश्छल कलात्मकता से और भी अनूठी बन पड़ी है। शास्त्रीय तत्वों को भरने का कृत्रिम प्रयास कहीं भी नहीं किया गया है।

२४. 'ढोला-मारू' की भाव-आभा ने जिस तरह दूर-दूर तक के लोक-मानस को समान रूप से आकर्षित किया, वैसा ही लोक-मानस का समादृत व्यवहार इन काव्यों के साथ भी हुआ। अतः लोकप्रियता में अभिवृद्धि के साथ-साथ इनमें स्थानीय-तत्व भी प्रचुर परिमाण में समाविष्ट हो गये। स्थानीय रंगत से प्रभावित होने पर इनके भाव-सौन्दर्य में निखार ही आया है— न्यूनता नहीं।

२५. 'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थान का जातीय काव्य है जिसमें राजस्थान का सामाजिक चित्रण साकार हुआ है। इन काव्यों में भी सामाजिक और प्राकृतिक पर्यावरण सम्पूर्ण विशिष्टताओं से संयुक्त होकर उपस्थित है। तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और ऐतिहासिकता का पुट अपनी समस्त यथार्थता और स्वाभाविकता के साथ काव्यों में प्राप्त है।

२६. इन प्रेम-कथाओं के पात्र तो ऐतिहासिक हैं परन्तु उनकी ऐतिहासिकता सुरक्षित नहीं रह पायी है। 'ढोला मारू' की भी ऐतिहासिकता पर भावना का अनूठा

रंग है। ऐसी ही दशा इन काव्यों की भी है। कथानकों में नाम-मात्र की ही ऐतिहासिकता का सहारा लेकर समस्त कलेवर का सृजन हुआ है। ऐतिहासिक तथ्यों के साथ सर्वत्र अलौकिक और अतिमानवीय तत्वों का प्रसंगानुसार सफल सामंजस्य समायोजित है।

२७. इन समस्त काव्यों में लोकानुरंजन का पक्ष ही प्रवल है। इसके माध्यम से सर्वत्र प्रेम की दुहाई दी गयी है।

२८. अन्त की दृष्टि से 'ढोला मारू' और इन प्रेमी-युगल काव्यों में विभिन्नता है। 'ढोला मारू' का अन्त सुखद है। कुछ अन्य प्रेम काव्यों का अन्त भी संयोग की भूमि पर हुआ है। परन्तु अधिकांश में इन शेष प्रेमीयुगल काव्यों में मिलन का अभाव है। विरहाग्नि में जलते हुए ही इनकी दैहिक-लीला समाप्त होती है।

२६. 'ढोला मारू' श्रुति-परम्परा का भी काव्य रहा है। ये प्रेम कहानियाँ भी जन-जिह्वा पर जीवित रही हैं।

३०. मौखिक परम्परा के कारण जिस तरह 'ढोला-मारू' का मूल पाठ रचनाकाल, रचनाकार, रचना-स्थान आदि संदिग्ध हैं; ऐसी ही संदेहावस्था इन प्रेमकाव्यों में भी विद्यमान है। समय पर लिपि-बद्ध न होने के कारण दो-चार दृष्टान्तों को छोड़कर[1] रचनाओं के लेखक, मूल-पाठ आदि अज्ञेय हैं।

इस प्रकार हमें दृष्टिगोचर होता है कि राजस्थानी प्रेम-काव्यों पर 'ढोला मारू रा दूहा' का विशेप प्रभाव पड़ा है। शीर्पक से लेकर कथा, कथानक-रूढियाँ, पात्र, मार्मिक विप्रलंभ-व्यंजना भापा, शैली, छंद, अलंकार, नखशिख-चित्रण आदि सभी अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्ष के अंग-उपाँगों पर 'ढोला मारू' का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। 'ढोला-मारू' के दोहों का इन कथाओं के दोहों से अपूर्व साम्य है इसके कुछ दोहे तो मूल रूप में ही अन्य प्रेम-कथानकों में उपलब्ध हैं।

(आ) अन्य प्रादेशिक रूप :

'ढोला मारू' की प्रेम-कथा राजस्थान तक ही सीमित नहीं रही, उसने उत्तर और मध्य भारत के समस्त लोक-मानस को भी अपने प्रेम-पाश में आवद्ध कर लिया। वह सुदूर भोजपुरी-क्षेत्र तक जा पहुँची। ढोला और मारू आदर्श दम्पती के रूप में रूढ़ होकर वहाँ के लिखित-मौखिक साहित्य में व्यंजित हुए हैं। इन क्षेत्रों में स्थानीय तत्वों से प्रभावित, परिवर्तित और परिवर्द्धित 'ढोला मारू' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त होती हैं। इतना ही नहीं, विशेप कर लोक-नाटकों के रूप मे—ढोला और मारू का प्रणयाख्यान अति प्रसिद्ध रहा है और वहाँ इस पर अनेक लोक-नाटककारों

---

१. यथा चंद कुंवरी वात (हंस, वीर चंद्रैण, कलश कवि); चंदन मलियागिरी री वाय (भद्रसेन); पन्ना वीरमदे (सेरसिंह); फूल जी फूलमती (मंछ पुरी); पुष्पसेन पद्मावती री वारता (सांमलदास); पनरहमी विद्या (व्यास भवानी दास) आदि।

ने अनेक लोक-नाटकों की रचनाएँ की हैं और वे लोकानुरंजन की दृष्टि से अत्यन्त सफल हुई हैं।

सिन्धी, पंजावी, हरियाणवी, ब्रज, गुजराती, मालवी, भोजपुरी आदि प्रादेशिक भाषाओं में भी 'ढोला मारू' का प्रणयाख्यान उपलब्ध होता है।

क : ब्रज-प्रदेशीय रूप :

इस क्षेत्र में प्रचलित 'ढोला-मारू' की कथा नल-दमयन्ती कथा का अन्तर्भाग होकर आयी है। इसमें सर्वप्रथम नरवर के राजा प्रथम पिरथम एवं उसकी पत्नी मंझा की कथा आती है। गर्भवती मंझा को चरित्रहीनता के आक्षेप पर घर से निकाल दिया जाना, वन में नल का जन्म होना, एक वणिक द्वारा मंझा-नल का पालन करना, समुद्री-यात्रा के अवसर पर नल और मोतिनी का गंधर्व विवाह करना, ईर्ष्यावश वणिक-पुत्रों का नल को समुद्र में डाल देना, नल का पाताल-लोक जाकर भौमासुर को मारना तथा वासुकी से मित्रता स्थापित करना, पुनः राजा पिरथम से भेंट होना, नल एवं मोतिनी का पुनः संयोग होना, फूलसिंह पंजावी द्वारा पिरथम और मंझा को कैद करना, नल और मोतिनी द्वारा उन्हें मुक्त कराना और तत्पश्चात् नल के राजा वनना आदि अनेक प्रसंग प्रारंभ में आये हैं।

तदनन्तर इस कथा में राजा भीम की कन्या दमयन्ती नल के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर हंस द्वारा प्रणय-निवेदन करती है। इन्द्र आदि देवताओं का षड्यन्त्र होता है। पर अन्तिम विजय प्रेम की ही होती है। दमयन्ती स्वयंवर में नल का वरण कर लेती है। इस विवाह पर मोतिनी प्राण छोड़ देती है। नल से शनि देवता प्रतिशोध लेते हैं। नल पुष्कर के साथ जुएँ में हार जाता है। राज्य से परित्यक्त नल-दमयन्ती पिंगल देश जाकर रंगू तेली के यहाँ कोल्हू हाँकने का कार्य करते हैं।

रंगू तेली की पिंगल के राजा बुध से अच्छी मैत्री थी। एक समय दोनों पासा खेल रहे थे कि उसमें रंगू सब कुछ हार गया। अब नल द्वारा पासा डाला गया तो रंगू जीतने लगा और धीरे-धीरे वह मारवाड़ के परगने जीतने लगा। इस पर बुध ने नल से ही पासा खेला। दोनों ने अपनी आसन्न-गर्भा पत्नियों को दांव पर रख दिया। नल जीत गया। निश्चय यह हुआ कि सन्तान होने पर उनका विवाह कर दिया जाय। नल के यहाँ ढोला राजकुमार हुआ और बुध के मारू राजकुमारी। बाल्यावस्था में पूर्व निश्चयानुसार दोनों का विवाह कर दिया गया।

पुनः नल और दमयन्ती अच्छे दिनों की कामना करते हुए नरवर की ओर चले। पर दुर्भाग्य ने पल्ला नहीं छोड़ा। भीषमपुर के राजा ने दमयन्ती को उठा मंगवाया। इसके आगे नल का दुर्गा और वासुकी को स्मरण करना, कौशल के ऋतुपूर्ण की कथा, दमयन्ती का दूसरा स्वयंवर रचाया जाना आदि कथा-प्रसंग है। स्वयंवर के पश्चात नल-दमयन्ती का पुनर्मिलन हुआ। नल ने फिर पुष्कर को जुआ खेलने के लिए ललकारा। नल इस बार जीत गया और पुनः राज्य हस्तगत कर लिया।

नरवर में ढोला के युवा होने पर गौने का संदेश पिंगल भेजा गया। ढोला गौना करने हेतु पिंगल जाता है, परन्तु मार्ग में रेवा जादूगरनी ने उसे वन्दी वना

लिया। यहाँ करिहा ऊँट की सहायता से ढोला इस जादूगरनी कैद से छूट गया और पिंगल पहुँच गया। पिंगल में ढोला के लिये यह शर्त थी कि वह सिंह-द्वार से आये जिसमें एक दानव चुन दिया गया था। मारू ने गुप्त-रीति से इसकी सूचना ढोला को दे दी। ढोला फुर्ती से निकल गया, पर उसके करिहे की एक टाँग दीवार गिरने से टूट गयी। ढोला परीक्षा में सफल हुआ। वह पिंगल में अपनी ससुराल खूब रहा और मारू को गौना कराकर ले आया।

इसके आगे ढोला के किशुनलाल नामक भतीजे के विवाह का वर्णन आता है। दोनों को चंदना और चुनिया जादूगरनियाँ चुरा लेती हैं। नल फिर दुर्गा, मोतिनी एवं वासुकी को स्मरण करता है जो उन्हें दोनों जादूगरनियों के चंगुल से छुड़ाते हैं।

यहाँ कथा के बहुलांश पर नल-दमयन्ती ही छाये रहते हैं जिससे ढोला और मारू की कथा इसमें गौण बनाकर रह गयी है। राजा पिंगल का नाम यहाँ बुध है। इसमें ढोला तथा मारू के विवाह का निश्चय पासे पर होता है। यहाँ ढोला गौना करके हेतु पहल करता है। इसमें भी रेवा जादूगरनी अवतरित है जो ढोला को बन्दी बना लेती है। सिंह-द्वार से निकलना, राक्षस का उसमें चुनवाया जाना एवं मारू का ढोला को यह सब अग्रिम सूचित कर देना आदि के प्रसंग राजस्थानी रूप से भिन्नता रखते हैं। आगे ढोला के भतीजे किशुनलाल की शादी का होना; दोनों का चंदना चुनिया जादूगरनी के कुचल में फँसना; दुर्गा, मोतिनी और वासुकी की कृपा की से उनका छूटना आदि भी नये प्रसंग हैं।

ख : हरियाणवी रूप :

किसी समय की बात है कि नरवर गढ़ के राजा नल और पिंगल गढ़ के बुद्धसिंह में चौसर की बाजी लगी। खेल के प्रारम्भ में निश्चय किया गया कि वे अपनी-अपनी रानियों के गर्भ से होने वाली सन्तानों का परस्पर विवाह कर देंगे। कालान्तर में राजा बुद्धसिंह के मरवण और उधर नल के ढोल कँवर ने जन्म लिया। पूर्व निश्चयानुसार मरवण और ढोल कँवर का एक पलड़े में बैठाकर विवाह कर दिया गया।

ढोल कँवर को यह शाप था कि उसके ऊपर पिंगल गढ़ का दरवाजा गिरेगा। अतः मृत्यु-भय से वह उधर नहीं गया। इधर राजा नल ने रेवती रेवा के साथ ढोल कँवर का विवाह कर दिया।

उधर पिंगल गढ़ में मरवण ने यौवनावस्था में पदार्पण किया। मरवण की माता ने वस्तुस्थिति समझ राजा नल के यहाँ ढोल कँवर के पास एक तोते को दूत बनाकर भेजा। संयोगवशात् तोता रेवा के हाथ पड़ गया और इस प्रकार मरवण का सन्देश ढोल कँवर तक नहीं पहुंच सका।

समय व्यतीत होता गया और कोई सूचना नहीं मिलने पर मरवण व्याकुल हो उठी। उसने अपनी साड़ी पर अपनी विरह-व्यथा लिखकर एक बनजारे को दे दी।

वनजारे ने उस साड़ी को ले जाकर ढोल कँवर को दिखाया। इस पर ढोल कँवर के मन में मरवरा से मिलने की तीव्र आकांक्षा का उदय हुआ।

ढोल कँवर पिंगलगढ़ चलने की तैयारी करने लगा। उसने एक ऊँट से सहायता माँगी। एक 'वोदा-सा' 'करिया' इस कार्य के लिये तैयार हुआ। 'करिया' ने उसे पिंगल गढ़ के दरवाजे से बचा लिया और अंततः मारू तथा ढोला का मिलन हो गया।

इस कथा में पूगल पिंगलगढ़ हो गया है और पिंगल राव का नाम यहाँ बुद्धसिंह है। यहाँ ढोल कँवर एवं मरवरा के विवाह का निश्चय उनके जन्म के पहले ही ले लिया जाता है और वह भी चौसर की बाजी पर। ढोला के ऊपर शाप के कारण पिंगल गढ़ का दरवाजा गिरने की कथा भी राजस्थानी कथा-स्वरूप में नहीं मिलती। इस कथा में मालवणी के प्रसंग का स्थान रेवती रेवा के प्रसंग ने लिया है। मरवरा की माता का सर्वप्रथम तोते को दूत बनाकर ढोल कँवर के पास भेजना, उसका रेवती रेवा के हाथों पड़ जाना, फिर मारवणी का अपनी साड़ी पर विरह-व्यथा लिखना तथा वनजारे के द्वारा ढोल कँवर के पास पहुंचाना आदि प्रसंग भी इस कथा में नए हैं।

ग: पंजाबी रूप :

पंजावी-क्षेत्र में जो 'ढोला-मारू' का कथा-रूप प्रचलित है उसका हरियाणवी कथा-स्वरूप से बहुत साम्य है। वीच-वीच में कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत कथान्तर है, अन्यथा दोनों में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं मिलता। इसी कारण पिष्टपेषण से बचने हेतु उसे यहाँ पृथक से नहीं दिया जा रहा है।

घ: छत्तीसगढ़ी रूप :

ढोला लाल नरहुल के राजा नल का इकलौता बेटा था जिसका विवाह वचपन में पिंगला नरेश वेन की पुत्री मारू के साथ हुआ। राजा नल के राज्य में रेवा नाम की एक जादूगरनी थी जिसके डर के कारण वह अपने इकलौते पुत्र को बाहर नहीं निकलने देता था। इस तरह बारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन ढोला लाल अपने राज्य को देखने की प्रबल इच्छा के वशीभूत हो किसी प्रकार गढ़ से बाहर निकल गया और नगर को देखता-देखता रेवा के उद्यान तक जा पहुँचा। वहाँ उसने रेवा के पालतू तोते का शिकार किया। रेवा को जब इस घटना का पता चला तो वह महल के बाहर आयी। रेवा ढोला लाल के सौन्दर्य पर मुग्ध हो अपना हृदय गँवा बैठी। वह हठ करके ढोला लाल से अपना तोता पुनः जिलाने का आग्रह करने लगी। अन्त में उसने अपने तोते को इस शर्त पर जिला दिया कि बाद में ढोला लाल उससे विवाह कर लेगा। इसके पश्चात् ढोला लाल रेवा के घर रहने लगा परन्तु उसका हृदय वहाँ नहीं रमा। उसने निकलने का प्रयास किया। एक दिन रेवा को नशे में चूर करके वह निकल भागा, पर रेवा ने उसे पकड़ लिया।

उधर मारू पूर्ण युवा हुई और उसने ढोला के पास एक तोते के द्वारा अपना सन्देश भेजा। तोते ने किसी तरह ढोला को ढूँढ लिया। ढोला पत्र पढ़ रहा था

और तोता उसके हाथ पर बैठा था कि उस तरफ रेवा निकल आई। उसने तोते की जान लेनी चाही पर तोता किसी प्रकार वच निकला।

अव ढोला येन-केन प्रकारेण वहाँ से भागने का प्रयत्न करने लगा। एक दिन रेवा को उसने विषाक्त मिष्ठान्न खिलाकर मूर्छित कर दिया और उस मूर्छितावस्था में उसे छोड़ 'जुरहा ऊँट' पर आधी रात को भाग निकला। उधर रेवा को जब होश आया तो उसने अपने जादू के प्रभाव से मार्ग में ही ढोला लाल को ऊँट सहित रोक लिया। ऊँट के घुटनों में उसने 'सब्बल' ठोक दी ताकि वह भाग न सके और ढोला लाल को पुनः पकड़ लाई।

वियोग-दुःख से व्यग्र हुई मारू ने 'ढोढा वावा' नामक एक जादूगर की सहायता ली। 'ढोढा वावा' ने रेवा के घर पहुँच कर उससे भिक्षा माँगी। रेवा सब कुछ समझ गई। उसने अपने शरीर में फफोले निकल आने का बहाना वनाकर ढोढा वावा को भिक्षा नहीं दी। ढोढा वावा को असफल ही लौट आना पड़ा। तत्पश्चात् मारू ने एक और तोते को भेजा। वह तोता रेवा के हाथ लग गया जिसे वह भून कर खा जाने का उपक्रम करने लगी। तोता किसी तरह नाली में से गुजर कर शंकर भगवान के मन्दिर तक पहुँच गया। वहाँ एक सर्प ने उसे रोक लिया। पुनः लौट आने का वचन देकर तोता वहाँ से उड़कर पिंगला में मारू के पास पहुँचा और उसे सारे समाचार दिये।

उधर एक दिन ढोला अवसर पाकर रेवा के चंगुल से ऊँट पर भाग निकलने में सफल हो गया और पिंगला पहुंच गया। वहाँ उसका अपूर्व स्वागत हुआ। वेन राजा पुत्रहीन था। अतः उसने ढोला लाल को अपने राज्य का उत्तराधिकारी वना दिया। इस प्रकार ढोला लाल पिंगल में ही रह गया और आनन्दोपभोग करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

इस कथा-रूप में ढोला का नाम ढोला लाल, पूगल का नाम पिंगला, नरवर गढ़ का नाम नरहुल तथा पिंगल राव का नाम वेन राजा है। कथा में रेवा के भय से नल द्वारा ढोला को छिपाये रखना, संयोग से रेवा के उद्यान तक ढोला का पहुँचना, रेवा के तोते का शिकार करना, ढोला का रेवा जादूगरनी के कुचक्र में फँसना, तोता एवं सर्प का कथांश, रेवा से छुटकारे के लिये ढोढा वावा नामक जादूगर की सहायता लेना, वेन के पुत्रहीन होने के कारण ढोला लाल का उत्तराधिकारी वनना आदि प्रसंग इस कथा में नवीन हैं।

ङ : भोजपुरी रूप :

इसमें भी सर्वप्रथम नल और दमयन्ती की कथा आती है। राजा नल एवं दमयन्ती के प्रणय से ऋतुपर्ण तक की कथा नल-दमयन्ती के प्रणयाख्यान जैसी ही है।

तत्पश्चात् नल राजा भीम से आज्ञा लेकर विदर्भ रवाना हुए। मार्ग में उन्होंने मृगराज का शिकार किया। इस पर व्याघिनी ने १४ वर्ष वाद पिंगल गढ़ में लड़के का गौना कराते समय वदला लेने का शाप दिया। फिर राजा नल ने पुष्कर से

जीतकर अपना राज्य पुनः हस्तगत कर लिया और राजा बने। इससे पूर्व नारद ने राजा बुध को पहले ही कह दिया था कि तुम्हारी लड़की की शादी नल के लड़के से होगी। राजा नल जब निरंजन तेली के यहाँ विपदा के मारे ठहरे थे, उस समय यह विवाह सम्पन्न हो गया।

वाघिनी के शाप के कारण नल ने जवान ढोलन का दूसरा विवाह गढ़ उपमा के राजा परमाजीत की कन्या रेवा के साथ कर दिया। साथ ही राजा नल ने यह डुंडी भी पिटवा दी कि ढोला से पिंगल गढ़ के व्याह की कोई चर्चा नहीं करे।

दिन व्यतीत होते गये। उधर मारू सयानी हुई। यौवन की उमंग में मारू ने अपनी विरह व्यथा अपनी सहेली चम्पा से कहीं। चंपा ने मारू का विरह उसकी माता से कहा। मारू की माता ने राजा बुध से कहा कि वह नरवरगढ़ राजा नल को समाचार भेजे कि मारू का गौना कराकर ले जावे। परन्तु लड़की वाले की तरफ से पहल करने पर अपनी हेठी लगेगी—इस विचार से राजा बुध ऐसा प्रयास नहीं करता। उधर गौना न करने के कारण और मारू के रूप-सौन्दर्य के वशीभूत हो कई राजकुमार ढोलन बन-बन कर आये। भेद खुलने पर राजा बुध ने उन्हें कैद कर लिया। राजा नल के डर के कारण कोई भी व्यापारी मारू का सन्देश लेकर नरवर नहीं जाता। व्यापारियों को सखी चम्पा ने सिपाही बनकर बुलवाया। मरूअन ने चिट्ठी लिखी। व्यापारियों ने वह चिट्ठी राजा नल को दे दी। नल ने क्रोधित हो उन्हें जेल में डाल दिया। इस तरह फिर कोई खबर नहीं आई। फिर चम्पा से हीरामन सुग्गा मँगाया गया। हीरामन नरवर गढ़ गया। वहाँ उसने महल पर रेवा को टहलते हुए देखा। रेवा सुग्गे पर मोहित हो गयी। हीरामन रेवा की मीठी-मीठी बातों में सब कुछ भूल गया और अपने आने का मन्तव्य और पत्र लाने का सब हाल कह सुनाया। अगले ही क्षण हीरामन ने पिंजरे में अपने-आप को पाया।

तत्पश्चात मारू ने पुरोहित को नरवर भेजा। पुरोहित ने नल राजा से भेंट की। परन्तु पुरोहित अपने कार्य में सफल नहीं हो सका। राजा नल ने उसे धक्का देकर निकाल दिया। अन्त में चम्पा सखी का बाप वहाँ गया। मारू ने अपना चित्र एक चीर पर उतारा, सन्देश लिखा और चम्पा सखी के पिता को दे दिया। राजा नल से चम्पा का पिता मिला परन्तु उसके साथ भी वही व्यवहार हुआ जो पुरोहित के साथ हुआ था। राजा नल ने चीर रख लिया। रात्रि को नल ने वह चीर दयमन्ती को दिखाया। ढोलन ने यह सब कुछ देख लिया। उसने गौना लाने का दृढ़ विचार कर लिया और रेवा के पूछने पर उसे भी सब कह सुनाया।

ढोलन 'करहा' घोड़े पर चल दिया। रेवा उसकी पूंछ पकड़ कर लटक गयी। ढोला ने उसकी पूंछ काट दी रेवा बिलखने लगी। सुग्गे ने उसकी दशा देख ढोलन से मिलाने का वादा किया जिस पर रेवा ने उसे पिंजरे के बाहर निकाला। इस तरह सुग्गा भी स्वतन्त्र होकर भाग छूटा। नल ने अपने पुत्र के पीछे सिपाही भी भेजे पर ढोलन हाथ नहीं आया।

ढोला को चलते-चलते रास्ते में एक बाग मिला। उसमें 'हरेवा-परेवा' नाम की दो जादूगर मालिन बहनें रहती थीं। उन्होंने ढोला की सुन्दरता पर रीझ कर उस पर जादू करके अपने यहाँ रख लिया। इस पर करहा घबराया। पीछे से सुग्गा भी आ पहुँचा। एक दिन झूला झूलने के पश्चात् वे दोनों थकी हुई सो गयी। सुग्गे के खबर करने पर ढोलन भाग निकला। रास्ते में एक कलवारिन ने ढोला पर मुग्ध हो उसे फाँसना चाहा परन्तु वह वहाँ से भी निकल कर पिंगल गढ़ पहुँच गया।

पिंगल गढ़ पहुँचने पर ढोला एक बाग में ठहरा। ढोला ने मालिन को एक पुष्पहार गूंथ कर दिया जिसके सम्बन्ध में मारू ने मालिन से पूछा। ढोला और मारू बाग में मिले पर इसके पहले मारू की छोटी बहिन तारा द्वारा सत की परीक्षा ली गयी। मारू के सत की परीक्षा हुई। उसके सत से कुआ पूरे जल से भर गया। ढोला ने अपने सत से कुए में बाण चलाकर पानी को बिठा दिया। ढोला दरवाजे से भी सकुशल निकल गया और उसने लखिया वन से काले गांडे भी मंगवा दिये।

तारा का पति भारमल ढोला को मारकर मारू को दासी बनाने पर तुला हुआ था। उसने अमरकोट में ऐसा षड्यन्त्र रचा। अमर कोट पहुँचने पर उसने मारू व करहा को एक बाग में रखा। ढोला सुग्गे को लेकर भारमल के दरबार में गया जहाँ अधिक शराब पिलाकर उसे बेहोश बना दिया गया। इस पर सुग्गे ने आकर मारू को खबर दी। मारू करहा पर चढ़कर आयी और ढोला को उठा कर ले गयी। करहा उड़ा और उसने ढोला मारू सहित सीधा नरवर गढ़ का रास्ता लिया। सकुशल नरवरगढ़ पहुँचने पर अपार खुशी हुई। एक दिन रेवा और मारू—दोनों सौतों में लड़ाई हो गयी पर उन्हें समझा दिया गया। तत्पश्चात् दोनों साथ रहने लगीं।

सर्व प्रथम यह कथानक भी नल-दमयन्ती की गाथा से प्रारंभ होता है। बाघिनी द्वारा शाप दिया जाना, नल द्वारा पिंगल गढ़ के व्याह की चर्चा न करने का आदेश, व्यापारी, पुरोहित तथा चम्पा के पिता द्वारा सन्देश ले जाना, अनेक राजकुमारों का ढोलन बन कर आना, हीरामन तोते का कथानक, हरेवा-परेवा जादूगर बहिनों की कहानी आदि कितने ही नये प्रसंग इस कथानक में जुड़े मिलते हैं। यहाँ ढोला ढोलन हो गया है, करहा उड़ने वाला घोड़ा हो गया है। पूगल, पिंगल गढ़ बन गया है। मालवणी का स्थान यहाँ रेवा ने लिया है और वह गढ़ उपमा के राजा परमाजीत की कन्या बतलायी गयी है। ऊमर सूमरा का स्थान तारा के पति भारमल ने लिया है। यह कथानक स्थानीय तत्वों से अत्यधिक प्रभावित है।

निष्कर्षतः ढोला मारू की कथा अपनी लोकप्रियता के कारण उत्तरी भारत और मध्यभारत के क्षेत्रों में खूब प्रचलित रही। यहाँ इस परिच्छेद में जो ब्रज, हरियाणवी, पंजाबी, छत्तीस गढ़ी, भोजपुरी आदि अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों के कथा-स्वरूप परिचयात्मक दृष्टिकोण को लेकर दिये गये हैं; इनमें नये पात्र, नई घटनाएँ तथा नामों, स्थानों आदि-आदि में पर्याप्त अन्तर आ गया है। ये कथा-रूप 'ढोला-मारू' के राजस्थानी दोहा रूप से साम्य नहीं रखते। यह सब स्थानीय प्रभाव के कारण हुआ है। लोक-प्रचलित काव्यों के साथ ऐसा जन-व्यवहार सदैव हुआ है।

सप्तम परिच्छेद

सांस्कृतिक-निरूपण

सप्तम परिच्छेद : सांस्कृतिक-निरूपण

(अ) साहित्य और संस्कृति

"ढोला मारू रा दूहा" में मध्ययुगीन लोक और सामन्त संस्कृति-सभ्यता का सांकेतिक एवं संश्लिष्ट चित्रण उपलब्ध होता है। इस पर क्षेत्रीयता का गहरा रंग भी चढ़ा हुआ है। कवि ने अत्यन्त निपुणता से सीमित कलेवर में संस्कृति एवं सभ्यता को संजोया है। फलतः न तो वस्तुवर्णनात्मकता बढ़ी है और न रसात्मकता में व्यवधान ही आया है।

(आ) धर्म, दर्शन, शिक्षा एवं नीति

आध्यात्मिक निष्ठा एवं धर्मपरायणता भारतीय संस्कृति के प्राण-तत्व रहे हैं। धर्म-हीन मनुष्य को भर्तृहरि ने पशु की संज्ञा का उपहार दिया है।

"ढोला-मारू" के पात्र हिन्दू हैं। अतः वे हिन्दू-धर्म प्रवृत्ति से परिचालित हैं। इस काव्य में जगन्नियन्ता ईश्वर की शक्ति और महत्ता पर अनेक बार अटूट विश्वास व्यक्त किया गया है।[1] अनैतिक आचरण के विरुद्ध जन साधारण में व्याप्त शाप-भय को कवि ने ऊँट के माध्यम से व्यक्त किया है—

कहियउ लोपाँ साँमिकउ, सुंदरि लहाँ सराप ।। ३२३ ।।

समाज में सिद्धि-साधना एवं गुह्य-विद्याओं के प्रचलन का संकेत योगी-योगिनी पात्रों द्वारा मारवणी को पुनः जीवन-दान दिये जाने की घटना से मिलता है।[2] उन्हें सिद्ध कहा जाता था।[3] भारतीय नारी की धर्म-श्रद्धा की झलक राजकुमारी मारवणी मन्दिर में पूजन–हेतु जाकर देती है।[4] मध्ययुग में राजस्थान की ओर नाथपंथ का प्रचलन अधिक था। उपर्युक्त चित्र से समाज के धार्मिक वातावरण पर नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव परिलक्षित होता है।

देवी-देवता एवं अलौकिक प्राणियों में कामदेव[5], सुरपति इन्द्र और अप्सरा (जाँणें अपछर इन्द्र क बैठा आप घरि–५७५), महादेव (जाणें हर सिरि फूलड़ा–६३६), राहु[6], वामन (करहा वामन रूप करि–४६७) आदि प्रसंगतः आए हैं।

भारत में अत्यन्त प्राचीन-काल से ही शिक्षा का प्रचार-प्रसार रहा; परन्तु मध्ययुग तक आते-आते यह बात नहीं रही। 'ढोला मारू' के मध्ययुगीन समाज का

---

१. दो सं. ४५३, ४७७, ४८५ आदि। २. पांणी मंत्रे पाइयउ, हुई सचेती नार। ६२१ ।। ३. दो. सं. २२०। ४. दो. सं. ६८। ५. दो. सं. १६। ६. दो. सं. ४६६।

सामान्य शिक्षा-स्तर इस काव्य से हमें ज्ञात नहीं होता। काव्य-नायिका मारू ललित कलाओं में दक्ष और निष्णात थी। वह चर्चरी नृत्य में पारंगत,[1] घुड़सवारी में चतुर[2] और संगीत की राग-रागनियों से सुपरिचित थी।[3] उसकी साहित्याभिरुचि ढोला से हुए वार्तालाप में प्राप्त है —

मारवणी इम वीनवइ, धनि आजूणी राति।
गाहा-गूढा-गीत-गुण, कहि का नवली वाति ।। ५६७ ।।
गाहा-गीत-विनोद-रस, सगुणाँ दीह लियंति
कइ निद्रा, कइ कलह करि, मूरिख दीह गमंति ।। ५६८ ।।

उस युग की शिक्षा का सामान्य-सा यह परिचय है।

सारांशतः 'ढोलामारू' के लघु कलेवर में धर्म, दर्शन एवं शिक्षा के इससे ज्यादा संकेत सूत्र नहीं मिलते।

डॉ. भोलानाथ तिवारी नीति को मनुष्य की सर्वोन्मुखी उन्नति की प्रदर्शिका मानते हुए कहते हैं कि समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिये जिन विधि या निषेध मूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, उन्हें नीति शब्द से अभिहित करते हैं।[4] काव्य में नीति के समावेश का प्रश्न जटिल और वाद-विवाद का विषय रहा है।

'ढोला मारू रा दूहा' का वर्ण्य प्रेम रहा है। अतः इसका अधिकांश नीति-तत्व प्रेम के बिन्दु की ही परिधि बना हुआ है और प्रेम विषयक नीति में शृंगार स्वाभाविक रूप से आ गया है। मारवणी के संदेश में प्रेमी के लिये आत्मसमर्पणता का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। पतिव्रता नारी अपने हृदय से प्रियतम को क्षणभर भी विलग नहीं कर सकती—

हियड़इ भीतर इसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख ।। १५८ ।।

वास्तव में "रोम रोम में व्याप्त प्रेम की क्षण में निराशा से मुरझाती और दूसरे क्षण में आशा की दीप्ति से प्रदीप्त होती दशा का इससे बढ़कर क्या स्वभाव-चित्र होगा!"[5]

'ढोला मारू' के अनेक दोहों में पारिवारिक नीति प्रगट हुई है। कहीं शादी हेतु अभिभावकों की चिन्ता व्यक्त हुई है[6] तो कहीं इन शब्दों में सच्चे और झूठे प्रेमी का अन्तर—

ससनेही समदाँ परइ, वसत हिया मंझार।
कुसनेही घर आँगणई, जाँण समंदाँ पार ।। २२ ।।

---

१. दो. सं. १४५।   २. दो. सं. १४६।   ३. दो. सं. १०९।
४. हिन्दी नीति काव्य : पृ. ४।
५. ढोला मारू रा दूहा : सम्पादक-त्रय : पृ. ८३।   ६. दो. सं. ८।

ओछे पुरुषों के प्रेम पर इस दोहे में कैसा कटाक्ष है—

डूंगर केरा वाहला. औछाँ केरा नेह।
वहता वहइ उतामला. झटक दिखावइ छेह ॥ ३३८ ॥

सन्देश-प्रेषण दूरस्थ प्रेमियों की प्रेम-लता को मुरझाने नहीं देता,[१] वियोग में प्रेम द्विगुणित हो जाता है,[२] नारी का सर्वोत्तम धन प्रियतम है,[३] दूरस्थ प्रेमी को अपनी प्रिया का ध्यान रखना चाहिये[४] तथा प्रेम-बन्धन की दृढ़ता[५] आदि की ओर नीति-संकेत दिये गये हैं।

इसमें सामाजिक नीति से सम्बन्ध रखने वाले नीति-सूत्र भी प्राप्त हैं यथा स्वामिभक्ति-दो. सं. ३२३, कर्त्तव्य परायणता—दो. सं. ५६८, दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना—दो. सं. ३१८, वियोगावस्था में सौन्दर्य-प्रसाधन निन्द्य—दो. सं. ३६४, दुष्ट मनुष्यों के वचन अविश्वसनीय—दो. सं. ४४६ तथा पराया पुरुष नारी के लिये अग्रज तुल्य—दो. सं. ५१८ आदि।

वैयक्तिक नीति सम्बन्धी सूचना इसमें कम है तथापि मन को कोई व्यवधान रोक नहीं सकता, संसार के समस्त प्राणी चिन्ताग्रस्त हैं एवं बिछुड़े हुए प्रियतम का मिलन हृदय को अपूर्व शीतलता प्रदान करने वाला होता है। क्रमशः दो. सं. २१३, २२० एवं ५५६ आदि में ये नीति सूत्र मिल ही जाते हैं।

मिश्रित नीति के क्षेत्र में भी हम इस काव्य के अनेक दोहों का परिगणन कर सकते हैं। भाग्य की विपरीतता में पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है,[६] स्वाद पाथेय से ही मिलता है विश्वास से नहीं,[७] घर का सुख ही वस्तुतः स्थायी सुख है,[८] अंग-स्फुरण भावी घटनाओं के सूचक होते हैं,[९] आदि अनेक बातें इस क्षेत्र में उदाहरणार्थ हम सम्मिलित कर सकते हैं। कहीं-कहीं तो कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति की बड़ी ही अनूठी अभिव्यक्ति हुई है। यदि विरहिणी का प्रियतम मेघों के प्रथम धारापात पर नहीं आया तो नदी-नालों के वहने से जो दूर हैं वे दूर से भी दूर हो जायेंगे—

जउ साहिब तू नावियउ, मेहाँ पहलइ पूर।
विचइ वहेसी वाहला, दूर स दूरे दूर ॥ १४७ ॥

एक अन्य दृष्टांत रखने के लोभ का भी संवरण नहीं हो रहा है। प्रेमिका का यदि परित्याग ही करना हो तो इस तरह जैसे तालाब का जल उसके किनारों को शनैः शनैः त्यागता है—

सज्जण, दुज्जण के कहे, भड़िक न दीजइ गालि।
हलिवइ हलिवइ छंडियइ. जिमि जल छंडइ पालि ॥ १६६ ॥

निश्चित ही 'इस दूहे में दी गई उपमा भाव-सौंदर्य और बिम्ब-सादृश्य की

१. दो. सं. १११ एवं १४१। २. दो. सं. १६२। ३. दो. सं. १६६।
४. दो. सं. २०२। ५. दो. सं. २७५। ६. दो. सं. ७१।
७. दो. सं. १३३। ८. दो. सं. २२३, २३४, २८६ आदि।
९. दो. सं. ६५८।

दृष्टि से सर्वथा मौलिक और अनूठी है। ऐसी कि (इस प्रसंग की) इसकी टक्कर की उपमा शायद ही कहीं देखने को मिले।'[१]

(इ) कला एवं विज्ञान

क : कला :

विवेच्य काव्य में अनेक कलाओं के विषय में भी न्यूनाधिक संकेत-सूत्र उपलब्ध हैं। इन्हें वर्गीकृत कर इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

१. स्थापत्य—

इस काव्य के परिशीलन से हमें उस युग की स्थापत्य-कला की सुष्ठु झलक भी प्राप्त होती है। राजा लोग अपने आवास के लिये गढ़,[२] कोट, महल आदि का निर्माण करते थे। यहाँ नरवर के कोट,[३] महल[४] आदि का अनेक बार जिक्र आया है।

महलों में विशाल आँगन[५] रखे जाते थे। अनेक खम्भे[६] उनकी विशालता और भव्यता को प्रकट करते थे। उनमें गवाक्ष,[७] झरोखे,[८] छज्जे[९] आदि होते थे। वस्तुओं को टाँगने के लिये खूँटियाँ[१०] लगायी जाती थीं। यथास्थान फव्वारे[११] भी महलों की शोभा बढ़ाते थे। कबूतर के झूले[१२] इत्यादि से महलों को सजाया भी जाता था। पास ही भ्रमणार्थ वाटिका[१३] आदि भी लगायी जाती थी। महलों में निश्चित शयन-कक्ष रहते थे जिसमें सेज बिछी रहती थी।[१४] झूलों पर पालकियाँ सजी रहती थीं।[१५] दीपक के रखने के लिये स्थान-विशेष सुरक्षित थे, जहाँ विभिन्न आकृतियों के-यथा सर्पाकार-दीपक रखे जाते थे।[१६]

जानवरों के लिये भी गढ़-किलों में स्थान सुरक्षित थे। ढोला के पास ऊँटशाला थी जिसमें अच्छे अच्छे ऊँट थे।[१७] घोड़े के बार-बार उल्लेख से अस्तबल होने का भान होता है।[१८]

'ढोला-मारू' के कवि ने साधारण जन-समाज के रहने के घरों[१९], झोंपड़ों[२०]

---

१. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : श्री शंभुसिंह मनोहर : पृ. २४०।
२. दो. सं. २२२।
३. दो. सं. ३४७।
४. दो. सं. २, १९४, २२२, २६८, ३१४, ३५२, ३७१
५. दो. सं. २९०, ३३७, ३९९।
६. दो. सं. ५४१।
७. दो. सं. २८।
८. दो. सं. २४३, ३६२, ३७२।
९. दो. सं. २७२।
१०. दो. सं. ३७५।
११. दो. स. ५३९, ५४०।
१२. दो. सं. १४३।
१३. दो. सं. ३११, ५८८।
१४. दो. सं. ११, १९६, ५४१, ५४४ आदि।
१५. दो. सं. ३५२।
१६. दो. सं. ५०६।
१७. दो. सं. ३१६।
१८. दो. सं. ३७५।
१९. दो. सं. ३५२।
२०. दो. सं. ३१४।

और डेरों[१] का उल्लेख भी किया है। उनकी दृष्टि सामन्ती आवास-व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रही।

समाज द्वारा मन्दिरों का निर्माण भी होता था जहाँ जन-साधारण के साथ-साथ सामन्त-कुल के दर्शनार्थी भी जाते थे।[२]

नगर-रचना का भी अप्रतिम सांस्कृतिक महत्व है। "नागरिकों के जीवन की, उसकी प्रेरक शक्तियों और प्रवृत्तियों की मूर्तिमान अभिव्यक्ति होने के नाते नगर मानवीय-कला और सौन्दर्य-भावना का सर्वोत्कृष्ट स्मारक हैं। नगर-रचना के मूल में बहुत कुछ उसके निर्माताओं की सभ्यता और संस्कृति निहित रहती है।"[३] 'ढोला-मारू' में पूगल, उसकी गलियों[४], नरवर, मुल्तान, बूंदी, पुष्कर, चंदेरी, लोद्र, ईडर, आदि नगरों का प्रसंगानुसार नाम आया' है।[५]

२. संगीत

ल्यूथर के शब्दों में संगीत पैगम्बरों की कला है जो कि आत्मा की अशान्तियों को शान्त करती है।[६] उस समय के सामन्त समाज में संगीत का आदर था। पेशेवर गायक जातियाँ भी थीं। मारवणी की माता ने संगीत-निष्णात ढाढियों को ही ढोला के पास भेजा था।[७] डूमणी ने भी ऊमर-सूमरा एवं ढोला-मारू को पथ गोष्ठी में संगीत सुनाया था।[८] ढोला स्वयं संगीत की संजीवनी-शक्ति से परिचित था—

दुख वीसारण, मनहरण, जउ ई दाद न हुंति।
हियड़उ रतन-तलाव ज्यऊं, फूटी दह दिसि जंति॥ १९३॥

इसीलिये सादी ने संगीत का दूसरा नाम संजीवनी रखा है।[९] ढोला से प्रथम भेंट पर मारवणी भी गीत सुनने के लिये आग्रह करती है।[१०] ढोला ने 'मांगणहार' मल्हार-गायकों को आदर एव भेंट दी।[११] यह सब राजकुलों में संगीत की प्रतिष्ठा का द्योतक है।

राग-रागनियाँ

ढोला-मारू रा दूहा में 'मारू' राग एवं 'मल्हार' राग का जिक्र आया है।

---

१. दो. सं. १८७, ५९८
२. दो. सं. ९८।
३. टाउन प्लानिंग इन एनशिएन्ट इन्डिया : श्री बी. बी. दत्त : पृ. २११।
४. दो. सं. १८९।
५. इसी परिच्छेद में इन पर विस्तृत टिप्पणियाँ दी गयी हैं।
६. ज्ञान-गंगा : प्रथम भाग : श्री ना. प्र. जैन : पृ. ४८३।
७. दो. सं. १०४।
८. दोहा सं. ६३०।
९. ज्ञान गंगा : द्वितीय भाग : श्री ना. प्र. जैन : पृ. ३५४।
१०. दो सं. ५६७। ११. दो. सं. २०९।

मारवणी 'मारू' राग में निष्णात थी और उसने अपना संदेश इसी राग में ढाढियों को समझाया था—

मारुवणी भगताविया मारू राग निपाइ ।। १०६ ।।

ढाढियों ने ढोला के महल के नीचे मल्हार राग रचकर गाया—

ढाढी गाया निसह भरि, राग मल्हार निवाज ।
च्यार पहर झड़ मंडियउ, घण गुहिरइ सुरगाज ।। १८८ ।।

नृत्य

नृत्यों में 'ढोला-मारू' में चर्चरी नृत्य-विशेष का नाम आया है—

चाचरिकइ मिस खेलती होली झंपावेसि ।। १४५ ।।

वाद्य :

अनुभूति का स्वरात्मक रूप ही संगीत है । वाद्यों के संसर्ग से स्वरों को पूर्णता प्राप्त होती है । सामान्यतः वाद्य चार प्रकार के माने जाते हैं—तत, आनद्ध, सुषिर घन । राजस्थान में वाद्य साढ़े तीन प्रकार के ही माने गये हैं—

जग में सव श्रोता कहे, वाजा साढ़ा-तीन ।
खाल, तार, और फूंक है, अद्ध ताल सुर-हीन ।।[1]

'ढोला-मारू' में जिन वाद्यों का उल्लेख हुआ है वे इस प्रकार हैं ।

खाल वाद्य : नगारा—दो. सं. ३४६, ३५१, ५२-५३ ।
ढोल—दो. सं. ३५३, ६७४ ।
तार वाद्य : वीणा—दो. सं. २२३, ६७४ ।
फूंक वाद्य : सींगणी—दो. सं. ४१६ ।

गायक जातियां—

इस काव्य में सामन्त-वर्ग से सम्वन्वित ढाढी और डूम नामक पेशेवर गायक जातियां भी आई हैं ।

मारवणी का सन्देश 'गुणी' एवं सुविचार' कर वात करने वाले ढाढियों ने ही ढोला तक पहुँचाया था । यह संगीत-व्यवसायी याचक जाति है जो अपनी उत्पत्ति राजपूतों से मानती है । ये शाही समय में मुसलमान हुए ।[2] आइने अकवरी में इनका संगीत-व्यवसायी जातियों में नाम है ।

ये हिन्दू भी होते हैं और मुसलमान भी । हिन्दू ढाढियों की वावरा, सीहोल, वागडवा, डेडरा, चमगा, पालणा आदि खाँपें हैं ।[3] मुसलमान ढाढियों के अनुसार उनके एक पूर्वज मलानूर ने भगवान राम के विवाहोपरान्त जनकपुर से अयोध्या जाते समय वारात में वाद्य वजाया था;[4] जिसका साक्षी यह 'सलोका' विख्यात है—

१. परम्परा : १-१ : पृ. १४५ पर श्री कोमल कोठारी के निवन्ध से उद्धृत ।
२. ग्रं. २१७ : कापी नं. ६ : जाति अन्वेषण पृ. ३६६ : पु. वि. वीकानेर ।
३. रिपोर्ट मरदुम शुमारी राज मारवाड़ : पृ. ३७० ।
४. राजस्थान की जातियां : श्री व. ला. लोहिया : पृ. १४३ ।

दशरथ रे घर राम जनमियाँ, हँस ढाढिन मुख बोली ।
अठास करोड़ लै चौक मेलिया, काम करन को छोरी ।।[१]

कृष्ण-जन्माष्टमी के दूसरे दिन दधि-महोत्सव पर वैष्णव-मन्दिरों में ढाढी-ढाढिन का स्वाँग बनाकर लोग नाचते भी हैं ।

इनका कार्य वीरों को काव्यमयी वाणी से सिवूड़े देकर प्रोत्साहित करना और अपने आश्रयदाताओं का यश-वर्णन करना रहा है ।

डूम भी गाने-बजाने का व्यवसाय करने वाली एक गायक जाति है । सर एच. एम. डलियट के मतानुसार यह भाटों से उत्पन्न एक मुसलमान फिरका है ।[२] मिरासी एवं ढोली इनको अपने से भी नीचा मानते हैं । मारवाड़ की तरफ ये मिरासियों तथा मुसलमान ढोलियों से अलग नहीं माने जाते ।

'डूमणी' ढोला एवं ऊमरसूमरा को पथ-गोष्ठी में संगीत सुनाती है एवं मारू को भावी अनिष्ट की (सूमरा के षड्यन्त्र) पूर्व सूचना भी देती है ।[३]

इनकी विचित्र आदतों इत्यादि के बारे में राजस्थानी में अनेक कथन प्रचलत हैं—

सींगाला सी ऊतरे आधे जाते मास,
तुरियां फागण ऊतरे, नर, बांदर वैसाख,
डूमां कदे न ऊतरे, थितिया बारे मास।[४]

ये वाचाल एवं झूठे भी अधिक होते हैं । स्वयं 'झूठ' अपना निवास इन्हीं में बताती है—

कारीगरां कमनीगरां और बजाजां हट्ट ।
जो एतां में नहीं मिलू तो डूमां में अलबत्त ।।[५]

यह श्रृंगार रस के गीत गाने में ही निष्णात जाति है, भक्ति में नहीं जैसा कि इस दोहे में कहा गया है—

डूम न जाणे देव-जस, सूम न जाणे मौज ।
मुगल न जाणै गउ-दया, चुगल न जाणै चोज ।।

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ मोतीलाल मेनारिया पृ. ३६ ।
२. राजस्थान का लोक संगीत : पृ. ७३ से उद्धृत ।
३. (i) दो. सं. ६३० ।
(ii) राव जोधा के पिता की हत्या की सूचना भी इसी तरह किसी ढोली ने जोधा को ढोल के बोल में दी थी—जोधा भाग सके तो भाग थारो रिड़मल मारियो ।
४. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ : तीसरा हिस्सा : पृ. ३६८ ।
५. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ : तीसरा हिस्सा : पृ. ३६६ ।

३. चित्र :

राजस्थानी में इन्हें 'चित्राम' कहा जाता है। इस काव्य में मारू ने ढोला का कामदेव के सदृश चित्र स्वप्न में देखा था—

कांम चित्राम जु दिट्ठ मइँ, रूप न भूलइ तास ।। १६ ।।

तद्युगीन समाज की चित्र-कला में सुरुचि का अन्य कोई भी संकेत इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता।

४. काव्य :

'ढोला-मारू रा दूहा' से उस युग की साहित्यिक परम्पराओं और मान्यताओं का संकेत भी मिलता है। गाथा-गीत, गुणोक्ति, सुभाषित, पहेली, कथा, आदि का प्रचलन मारवणी के कथन से विदित होता है।[1] साहित्य लोकानुरंजन का साधन था। मारवणी कहती भी है कि गुणी मनुष्यों के दिन गाथा, गीत और विनोद के रस में बीतते हैं और मूर्खों के नींद या कलह में।[2]

ख : विज्ञान

१. धातु-प्रयोग

प्रस्तुत काव्य में सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुओं का नामोल्लेख हुआ है। सोना[3] और चाँदी[4] का प्रयोग आभूषणों के लिये तथा विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में लोहे का प्रयोग होता था।

२. अस्त्र-शस्त्र

'ढोला-मारू रा दूहा' में विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के नाम स्वतन्त्र-रूप से तथा उपमान रूप से आए हैं। इनकी घातक शक्ति के कारण विरह-व्यंजना में मार्मिकता और प्रभविष्णुता बढ़ गई है। उदाहरण स्वरूप, खंग (दो. सं. २५५) बाण (दो. सं. २५५, ४१२, ६८, ४८३, २६६ आदि), खुरासानी तलवार (दो. सं. ६४०); धनुष (दो. सं. २४६), कटारी (दो. सं. २६७), छुरी (दो. सं. ६४५), शल्य (दो. सं २६६), कवच (दो. सं. ४१२) आदि लिये जा सकते हैं।

३. अन्य

'ढोला-मारू' में दो-एक स्थानों पर अनाम महाविष,[5] सींगियां विष[6] आदि विषों का भी उल्लेख हुआ है जिससे विष-प्रयोग का पता चलता है। समाज में मंत्र-विद्या का प्रचार-प्रसार योगी-योगिनी की कथा[7] से स्पष्ट है। वशीभूत करने की मंत्र-क्रिया 'कामण करना' का उल्लेख भी कवि ने किया है।[8] वशीकरण-मंत्र का

१. दो. सं ५६७।
२. दो. सं. ५६८।
३. दो. सं. ८७, ८८, २०७, ४६३ आदि।
४. दो. सं. ४६४।
५. दो. स. १२७।
६. दो. स. ३८१।
७. दो. सं. ६१६ से ६२३
८. दो. सं. २४८।

उल्लेख अन्य स्थानों पर भी हुआ है।[1] पशु-चिकित्सा में जानवरों का दागा जाता,[2] उनके 'डाँभ' को सहलाना और तेल से मले जाने[3] आदि का परिचय भी मिलता है।

(ई) सामाजिक जीवन

क : वर्ण व्यवस्था

'ढोला-मारू' का समाज मध्ययुगीन सामन्ती समाज है। यह समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भागों में विभाजित है।

ब्राह्मण :

मनु के अनुसार ब्राह्मण के कर्म हैं—**अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान, और प्रतिग्रह। अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह-कर्म** जीविका के निमित्त हैं।[4]

किसी समय ब्राह्मणों का हिन्दू समाज-संचालन में प्रमुख हाथ रहा। चतुर्वर्ण व्यवस्था इन्हीं की देन है। परन्तु 'ढोला मारू' के मध्यकालीन सामन्तयुग में सार्वभौमता इनके हाथ से छिन गई। यद्यपि इन्हें 'उत्तम जाति' अवश्य समझा जाता था, पर थे ये क्षत्रियाश्रित ही। उन्हीं के विभिन्न धार्मिकक्रिया कलाप कराकर जीविकोपार्जन करते थे। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के वध से बढ़कर और कोई पाप नहीं।[5] शायद इसीलिये मारवणी की माता ने पुरोहित को नरवर ढोला के पास नहीं भेजा। कहीं मालवणी के गुप्तचर इसका वध न कर दें।

क्षत्रिय :

क्षत्रिय समाज के मेरुदण्ड रहे हैं। 'प्रजा का रक्षण' इनका परमधर्म रहा है। शुक्राचार्य के अनुसार **जो प्रजा का रक्षण करने में निपुण हो, शूर एवं पराक्रमी हो, जो दुष्टों का दमन करने में समर्थ हो, वही क्षत्रिय कहलाता है**[6]।

प्रस्तुत काव्य की कहानी ही क्षत्रिय-समाज की कहानी है। ढोला मध्ययुग का सामन्त है। वह शूरवीर और साथ ही ललित गुणों का आगार भी है। यह कथा मध्ययुग के सामन्त-कुल के प्रेम-पक्ष की सजीव अभिव्यक्ति है।

वैश्य :

समाज की अर्थ-व्यवस्था वैश्य के हाथ में रहती थी। यहाँ इस वर्ग के योगदान का अपरोक्ष उल्लेख ही व्यापार इत्यादि के प्रसंग में हम पाते हैं। प्रस्तुत काव्य में 'सौदागर' वैश्य के ही अन्तर्गत आएगा।

शूद्र :

मनु के अनुसार शुद्र का एक मात्र कर्म है—**ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा शुश्रूषा करना**।[7] इस काव्य में इनकी सामाजिक अवस्था का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं मिलता। परन्तु परोक्षतः आभास अवश्य मिलता है। यह आगे जातियों में चित्रित हुआ है।

---

१. दो. सं. १६६। २. ६. दो. सं. ३३३।
३. दो. सं. ३२०। ४. मानव धर्मशास्त्र : १०/७५-७६।
५. मनुस्मृति : ८/८१। ६. शुक्रनीति : १-४१।
७. मनुस्मृति : १-६१।

जातियाँ :

"पहले 'श्रम-विभाजन' और तत्पश्चात् 'आर्थिक सम्बन्ध'-विभिन्न जातियों-उपजातियों के अस्तित्व के उत्तरदायी रहे हैं।"[१] 'ढोला-मारू रा दूहा' में पुरोहित, चारण, रैवारी, जोगी, विणजारा, खवास, ढाढी एवं डूम जातियाँ प्रसंगानुसार आई हैं। इनमें से अधिकांश जातियाँ सामन्त-वर्ग से अधिक सम्बन्धित हैं।

पुरोहित

'ढोला-मारू' में पुरोहित को आदरणीय और उत्तम समझा गया है।[२] ये राजाओं और जागीरदारों के परम्परागत पुरोहित हैं। इनका कार्य राजाओं की कन्याओं के लिये वर ढूंढना, विवाह की धार्मिक रीतियाँ सम्पन्न करना, नवीन उत्तराधिकारी के सिंहासनासीन होने पर राज्याभिषेक करना एवं अन्य धार्मिक-सामाजिक कार्य सम्पन्न कराना रहा है।

ये वैष्णव धर्मानुयायी हैं। इनकी खाँपे राजगुरू, ओदीचा, मनणा, महीवाल, जागरवाल, पाँचलोड पुरोहित, सीहा, भँवरिया, पालीवाल, दूधा, सोढा, सेवड़ आदि हैं, जो राजपूतों से मिलती हैं।

चारण[३]

कीर्ति का संचार करने के कारण ही ये चारण कहलाये-चारयन्ति कीर्त्तिम् इति चारणः। यह एक प्राचीन जाति है जिसका उल्लेख रामायण, महाभारत आदि में भी हुआ है। ये शक्ति के उपासक हैं। देशनोक (बीकानेर) में करणी माता का मन्दिर इनका श्रद्धा-स्थल है। इनका अभिवादन भी 'जय श्री माताजी' होता है। अपनी सन्तान का नाम भी ये देवियों के नाम पर रखते हैं। 'आवड़ माता' ने बिना ज्ञानार्जन ही इन्हें कवित्व-शक्ति प्रदान की—ऐसी किंवदन्ति है।

राजपूतों और चारणों को शरीर और आत्मा की तरह पृथक नहीं किया जा सकता। राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन में चारणों की स्थिति ब्राह्मणों एवं राजपूतों के मध्य की स्थिति रही है। चारणों के चरित्र में ब्राह्मणों के बुद्धि जीवियों एवं राजपूतों के बाहुबल का मणिकांचन योग रहा है।

वीरता-प्रेरक कविता करना ही इनका धर्म रहा। समय आने पर इन्होंने तलवार भी उठाई। इस प्रकार कलम-करवाल से इन्होंने बलिदान और स्वामिभक्ति का दिव्य आदर्श संसार के समक्ष रखा। चारण की तो प्रार्थना होती थी—

भल्ला ऊग्या भाण, भाण तुम्हारा भामणां।
मरण जियण लग माण, राखो कश्यपरावउत।।[४]

---

१. जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री : पृ. ७७१ पर श्री ललनजी गोपाल का 'ऐकॉनामिक ग्रुप्स एंड दी कास्ट सिस्टिम इन एनशिएन्ट इण्डिया' निबन्ध।

२. दो. सं. १०३। ३. दो. सं. ४४१ एवं ४४७।

४. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद : डॉ. क. ला. सहल : पृ. १० से उद्धृत।

राजस्थानी साहित्य का बहुत बड़ा अंश इन्हीं की कलम से निःसृत हुआ है जिसमें 'ओज' टपकता है।

पिंगल की कवितान में, डिंगल को न अमेज।
तारन में कबहूं न हुवे, चन्द्रकिरण सो तेज ।।

समय के साथ इस जाति में भी ह्रास आया। अधिक से अधिक 'त्याग' लेने के कारण ये 'बारहठ' (द्वार पर हठ करने वाले) कहलाये। इस शोषण वृत्ति के लिये कहा भी गया है।

चारण, चींचड़, चुरणिया, बुग खटमल न जूँ।
अरज करूँ करतार ने, इतरा रचिया क्यूँ ।।

किसी ने तो इन्हें कविकर्म तक छोड़ने का आग्रह कर दिया।

कवि राजा खेती करो, हल सूं राखो हेत।
गीत जमीं में गाड़ दो, ऊपर रालो रेत ।।

रैबारी [1]

ये अपनी उत्पत्ति महादेव से मानते हैं जिन्होंने पार्वती के ऊँट की रक्षार्थ इन्हें उत्पन्न किया। [2] कैलाश इनका आदि-निवास है।

इनमें साँभर के उतराधिकारी ही पवित्र-रक्त माने जाते हैं। यों इनकी लगभग १०३ खाँपें हैं, परन्तु मुख्य भेद हैं—मारू एवं चलकिया। मारू केवल ऊंट पालते हैं और चलकिया भेड़-बकरी भी। पीतल के आभूषण पहनने के कारण ये पीतलिया भी कहलाते हैं—

वंश-परम्परा से ऊँट चराने का कार्य और सन्देश-प्रेषण का कार्य-इनके मुख्य कार्य रहे हैं। एक राजस्थानी लोक-गीत की पंक्ति भी है—

"खड़ियो राइको कोस पचास रा कांई
दिनड़ो उगायो बावोसा रा देस में ।।"

जंगलों में ऊंट के 'टोलों' के साथ रहना एवं घूमना, ऊंटनी का दूध पीना एवं ऊंटों की जट (ऊन) का भाखला (कम्बल) ओढना-बिछाना-यही इनकी दिनचर्या तथा खानपान है। प्राकृतिक-जीवन व्यतीत करने के कारण इनकी शारीरिक-क्षमता असाधारण है।

जोगी [3]

यह 'योगी' शब्द का अपभ्रंश है। योग महादेव की देन है। अतः ये लोग शिव के बड़े भक्त होते हैं। ये अपने पंथ की परंपरा का प्रारंभ गुरु गोरखनाथ से मानते हैं। इनके मुख्य दो थोक हैं--कनफटे और जोगेश्वर स्वरूप अथवा आयस जी। मसा-

१. दो. सं. ३०६।
२. ग्रं. २१७ : जाति अन्वेषण-कापी ८ : पु. वि. बीकानेर।
३. दो. सं. ६१६।

गिया, कालबेलिया, अघोरी, रावल आदि इनके अन्य उपभेद हैं। टोंक की तरफ मुसलमान जोगी भी हैं। इनके १२ मठ प्रसिद्ध हैं।

ये गोपीचन्द, भरथरी, शिव-ब्यावला, निहालदे सुलतान, निगुर्णी भजन, सबद जैसे प्रबन्धात्मक-मुक्तक गीतों को सारंगी पर गाकर सुनाते हैं। जोधपुर एवं शेखावटी की तरफ ये गाने-बजाने का कार्य भी करते हैं। इनमें घर गृहस्थी वाले अधिक हैं एवं नहंग कम। ये मिट्टी का खप्पर साथ में रखते हैं जिस पर व्यंग है—
जोगी-जोगी लड़े और खप्परों की हानि।

विणजारा[1]

विणजारा (वाणिज्यकार) एक घुमन्तू व्यापारिक जाति है। बैलों पर सामान लादकर उसे बेचा करते हैं। अब इन्होंने बसना प्रारंभ कर दिया है। इनकी 'वालद' को 'टांडा' कहते हैं। ये व्यापारिक ईमानदारी के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं।

इनमें हिन्दू एवं मुसलमान दोनों होते हैं। इनकी ९ न्याते हैं। इनका धर्म शाक्तिक है और इनकी कुलदेवी गाजन माता है।[2]

ऊँचा कद और सिर पर दो-तीन रंग के कपड़ों का गुँथा साफा, तन पर अंगरखी और गले में चीड़ के हार-ऐसी निराली पोशाक है इनकी। विणजारिनों की चोलियाँ कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

नाई[3]

इनकी व्युत्पत्ति 'नियोगी' से मानी जाती है।[4] हिन्दू और मुसलमान दोनों में नाई होते हैं। ये सेन भगत के आराधक हैं। मारवाड़ के नाइयों में तीन वर्ग हैं—मारू, वैद, पुरबिया।

अपनी चालाकी के लिये यह जाति प्रसिद्ध रही है। अनुभवी व्यक्ति इनका विश्वास नहीं करते—

मिनखा में नाई, पंखेरूवां में काग।
पाणी वालो काछवो, तीनूँ दग्गाबाज॥

हर कौटुम्बिक अवसर पर नाई की उपस्थिति अनिवार्य समझी जाती है। इसलिये कहावत भी है—

नाई, दाई, वैद, कसाई, इनका सूतक कदै न जाइ॥

इनका शकुन भी अच्छा समझा जाता है—

---

१. दो. सं. १६३।
२. रिपोर्ट मरदम शुमारी राज मारवाड़ : तीसरा हिस्सा : पृ. ४४५।
३. दो. सं. ८८।
४. रिपोर्ट मरदम शुमारी राज मारवाड़ : तीसरा हिस्सा पृ. ४५५।

नाई सामो आवतो, दरपण लीधां हाथ।
सुकन विचारे पंथिया, सम्पत आवै साथ ॥[1]

ढाढी तथा डूम जातियाँ संगीत-व्यवसायी जातियाँ हैं। इसी परिच्छेद में इन पर अलग से टिप्पणियाँ दी गई हैं।

ख : परिवार :

परिवार की कल्पना अत्यन्त पुरातन है। यह मानव के सामाजिक विकास का प्रथम सोपान और मानवीय संगठन की मूल इकाई तथा आधार सांस्कृतिक संस्था है। परिवार के दो रूप गिने गये हैं—

(क) पैतृक और (ख) मातृक।

'ढोला-मारू' में दो राज-परिवार हैं। एक पूगल का और द्वितीय नरवर का। इन परिवारों का स्वरूप पैतृक है।

पूगल के परिवार में राजा पिंगल पिता गृहस्वामी हैं, उनकी रानी उमा गृहस्वामिनी माता है और उनके मारू पुत्री है। राजकुल होने के नाते पुरोहित, खवास ढाढी, दास-दासियाँ आदि की श्रेणी के लोग भी उनसे सम्बद्ध हैं। राजा पिंगल इस परिवार के प्रधान है जिनका परिवार की हर गतिविधि और सामाजिक क्रिया-व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण और अधिकार हैं। कुटुम्ब के सब सदस्यों में पूर्ण सौहार्द है। पिंगल इस परिवार के प्रधान तो हैं परन्तु वे निरंकुश नहीं हैं। वे किसी भी महत्वपूर्ण कार्य का स्वतन्त्र निर्णय नहीं लेते। मारू के सम्बन्ध के लिये वे अपनी रानी से परामर्श करते हैं और अन्ततः रानी का ही आग्रह मानते हैं।

मारू के माता-पिता वात्सल्य की साकार मूर्ति हैं। उन्होंने उसके अनुरूप सुयोग्य और सुन्दर वर तो ढूँढा ही, परन्तु बाद में भी उसे अपने घर ससुराल भेजने में कोई कसर उठा न रखी। अन्ततः वे ढाढियों के माध्यम से अपने प्रयास में पूर्णतः सफल होते हैं। अपनी पुत्री के प्रति उनकी ममता अनेक स्थलों पर प्रकट होती है क्योंकि मारू ही तो उनके स्नेह का केन्द्र–बिन्दु है।

वे अपने पारिवारिक संस्कारों और परम्पराओं का मनोयोग-पूर्वक पालन भी करते हैं। साँढनी सवारों को भेजना, ढाढियों को भेजना, पूगल आने पर ढोला का स्वागत-सत्कार और विदा होने पर दहेज इत्यादि देकर उन्होंने अपने स्तरानुरूप कार्य किया और परम्परित रूढ़ियों को संरक्षण दिया।

इस काव्य का द्वितीय राज-परिवार है नरवर नरेश नल का। यह भी सुसंपन्न राज परिवार है। नल इसके मुखिया हैं। रानी चम्पावती इस परिवार की गृहस्वामिनी है और इस परिवार में ढोला तथा उसकी पत्नी मालवणी अन्य सदस्य हैं। रैवारी, दास-दासियाँ इत्यादि अन्य राजकुल से सम्बद्ध नौकर-चाकर हैं। इस परिवार में भी नल की आज्ञा ही शिरोधार्य है। वे ही ढोला का प्रथम परिणय मारू से करते हैं और द्वितीय मालवगढ़ की राजकुमारी मालवणी से। यह राज-

१. राजस्थान की जातियाँ : श्री बजरंग लाल लोहिया : पृ. १७२।

परिवार मालवणी के षड्यंत्र का शिकार भी है। गधे की व्यर्थ ही दगवाने पर चम्पावती ने मालवणी की भर्त्सना कर सास-हृदय की कठोरता का परिचय दिया है।

ग : विवाह :

'ढोला-मारू' में नायक और नायिका का सामाजिक मान-मर्यादा एवं परम्परा के अनुसार विवाह होता है। विवाह के पूर्व प्रेम जैसी वस्तु का प्रादुर्भाव ही नहीं होता। विवाह-पुष्ट स्वकीय प्रेम ही इस काव्य को अन्य प्रेमाख्यानों की सुदीर्घ परम्परा में एक विशिष्ट स्थान का अधिकार देता है। जहाँ अन्य प्रेमाख्यान परकीया प्रेम के विज्ञापन से प्रतीत होते हैं वहाँ इसमें स्वकीय प्रेम की स्तुति है।

वर-वधू निर्वाचन—

ढोला-मारू का विवाह प्राजापत्य माना जा सकता है। विवाह के पूर्व वर और वधू का अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टियों से परीक्षण किया जाता है। वर-वधू के निर्वाचन में कुल-परंपरा और वर-कन्या के गुण-दोष देखे जाते हैं।

ढोला और मारू के वर-वधू रूप के निर्वाचन में कुल-परंपरा तो दृष्टि में थी ही; परन्तु ढोला की सुन्दरता ने भी पिंगल की रानी को विमोहित कर दिया था—

रांणि राउ पिंगल तणी, रीझी देखे रूप ॥४॥

राजा पिंगल लोकोपवाद के भय से कहता भी है कि—

आज विखइ द्यां दीकरी, हाँसउ हसिसी लोइ ॥७॥

परन्तु रानी का यह उत्तर—

अंब तजइ नहि कोइलाँ, सरवर सालूराह।
राज हिवइ मा पांतरउ, आ धण द्यउ अवरांह ॥८॥

पिंगल को निरुत्तर कर देता है और इस तरह ढोला और मारू का परिणय-संस्कार सम्पन्न हो जाता है।

बाल-विवाह

समाज में सौन्दर्योन्मुखता और रसिकता के कारण उच्छृंखलता का आविर्भाव हुआ। शील की सीमाओं का अतिक्रमण होने लगा और विवाह-पूर्व ही स्त्री-पुरुषों में परस्पर ऐन्द्रिक सम्पर्क बढ़ने लगे। इस को सीमित-मर्यादित करने और गर्भवती होने की घटनाओं को रोकने के लिये कन्या के ऋतुकाल के पूर्व ही विवाह करने का सामाजिक विधान बन गया।

ढोला-मारू के विवाह ने तो इस सीमा के पालनकर्त्ताओं को भी पीछे रख दिया। इनका विवाह अत्यन्त ही छोटी अबोधावस्था में हुआ—

दउढ वरस री मारुवी, त्रिहुं वरसार उ कंत ॥९१॥

मध्ययुग तक आते-आते वाल-विवाह का प्रचलन खूव वढ़ गया था। आज भी हमारे गाँवों में गर्भावस्था में ही वालक-वालिकाओं के सम्वन्ध स्थापित कर दिये जाते हैं और वाद में थाली में विठाकर अग्नि के सामने विवाह-संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता है। विज्ञान और सभ्यता के विकास से इसमें गिरावट अवश्य आयी है पर नीची जातियों में अव भी उदाहरण मिल ही जाते हैं।

बहु विवाह :

ढोला के वहुविवाह से सामन्तकुलों में प्रचलित इस वहुविवाह प्रथा का अवश्य प्रचलन मालूम होता है।

सामाजिक-असामाजिक कई कारणों से वहुपत्नी-प्रथा ने अति प्राचीनकाल से ही जन्म ले लिया था। ढोला-मारू के अवलोकन से भी मध्ययुगीन सामन्त समाज में व्याप्त इस विलास-साधना का आभास मिलता है। ढोला का मालवदेस की राजकुमारी मालवणी से दूसरा विवाह होता है।[1] यह उस युग की सामन्त-मनोवृत्ति का परिचायक है।

सोहागरात :

वर एवं वधू का विवाहोपरान्त प्रथम-मिलन सोहागरात को होता है। दो प्राणी उस रात एक दूसरे को जीवनधन समझते हुए अपना अपना हृदय उंडेलते हैं। ढोला एवं मारू का विवाह वचपन में ही हो गया था। तत्पश्चात वे कई वर्ष तक विलग रहे। अत: उनके प्रथम संयोग को सोहागरात की संज्ञा दी जा सकती है। कवि ने इसका वहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। सखी-सहेलियाँ मारवणी के तन रूपी मण्डप को कन्त-मिलनार्थ सजाती हैं

सखिए ऊगट माँजिणउ, खिजमति करइ अनंत।
मारू तन मंडप रचयउ, मिलण सुहावा कंत ॥ ५३५ ॥

एवं उसे महल की ओर ले जाती है—

घमघमन्तइ घाघरइ, उलट्यउ जाँण गयंद।
मारू चाली मंदिरे, झीणे वादल् चंद ॥ ५३७ ॥

उसके पैरों में छम छम वजते हुए घुंघरू और सोने की पायल है।[2]

इस तरह उसे लेजाकर सखियाँ प्रियतम के पास एकान्त में छोड़ देती है—

सखि वउलावी फिरि गई, प्री मिलियउ एकंत।
मुलकत ढोलउ चमकियउ, वीजल् खिन्नी क दंत ॥५४२.

गौना :

विवाह के पश्चात् गौना होता है जिसके वाद वधू ससुराल आने-जाने लग जाती है।

---

१. दो. सं. ६४।

२. घम्मघमन्तइ घूमरइ पग सोने री पाल्। ५३९।

राजस्थानी समाज में प्रचलित इस प्रथा का ढोलामारू में उल्लेख है। साल्हकुमार अपार हर्ष के साथ पन्द्रह दिनों तक ससुराल रहता है।[१] तत्पश्चात् पिंगल दहेज देकर मारू का गौना करते हैं।

दहेज

विवाह पर पिता द्वारा अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वेच्छाजन्य उपहार देने की प्रथा अत्यन्त पुरातन रही है। दहेज प्रथा धीरे धीरे इसी से रूढ़ि बन गई।

पिंगल भी दहेज में खूब धन देते हैं।[२] सामन्तों में राजकुमारी को 'डावड़ी' देने की प्रथा भी रही है। 'ढोलामारू' में भी इस समान्त समाज की प्रथा का पालन किया गया है—

साथे दीन्ही छोकरी, दीन्ही पिंगलराव ।५६६।।

साथ में इनको ससुराल पहुँचाने के लिये भी पिंगल प्रबन्ध करते हैं।

पिंगल् वोल़ावा दिया, सोहड़ सो असवार ।।५६७

एक राजा के स्तर के अनुरूप दहेज का यह सुन्दर दृष्टान्त है।

घ : समाज में नारी

'ढोला-मारू रा दूहा' में मारवणी और मालवणी के माध्यम से कवि ने नारी हृदय को वाणी दी है। अनेक कारणों से इस प्रकार हम आलोच्य काव्य को पुरुष-प्रधान काव्य की अपेक्षा नारी-प्रधान काव्य की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं। इस काव्य में हमें मध्ययुग की नारी-संस्कृत का सुन्दर निदर्शन उपलब्ध होता है। यद्यपि उसका बहुलांश पत्नीत्व की परिधि में ही संगुंफित है तथापि नारी जीवन के अन्य पक्षों का भी न्यूनाधिक उद्घाटन हुआ है।

नारी की प्रथम स्थिति है कन्या रूप की। इस रूप में कन्या को हमारे यहाँ धरोहर माना जाता रहा है। कालिदास ने लिखा भी है।

अर्थो हि कन्या परकीय एव,
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः
जातो ममायं विशदः प्रकामं,
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।

अपने माता-पिता की लाडली कन्या होने के कारण माता-पिता की मारू पर अपूर्व ममता है। विशेषतः माता का मारू के प्रति स्नेहाधिक्य है। कन्या के विवाह की चिन्ता अवश्य उस समय समाज में प्रबल रही होगी। इस आगत चिन्ता का वर्तमान में ही निराकण मारू की माता कर देना चाहती है। एतदर्थ उसने छोटी

---

१. पनरह दिन लग सासरइ रहियउ साल्हकुमार ।
   पूगल् भगतां नव-नवीं कीधो हरख अपार ।।५६४।।
२. सोवँन-जड़ित सिंघार बहू, माल्वणी मुकलाइ ।
   गय, हॅंवर दासी बहुत, दीन्ही पिंगल्-राइ ।।५६५।।

अवस्था में ही मारू का विवाह ढोला से कर दिया ।[1] वह अपनी कन्या के लिये अनुरूप और सुयोग्य वर को खो देना नहीं चाहती यद्यपि राजा पिंगल लोकापवाद से ऐसा करने में हिचकिचाते हैं ।[2] राज-वंशों के स्तरानुरूप कन्या को समुचित शिक्षा भी दी जाती थी ।[3] वह नृत्य,[4] संगीत[5] आदि ललितकलाओं में विशारद थी । वह घुड़सवारी में भी सुदीक्षित थी ।[6] इस प्रकार गृह में कन्या ममता का केन्द्र थी और उसे भावी गृहस्थ जीवन के लिये हर प्रकार से योग्य बनाने का प्रयास किया जाता था ।

नारी की द्वितीय महत्वपूर्ण स्थिति है पत्नीत्व की । मारवणी और मालवणी दोनों ही आदर्श पत्नियाँ हैं ।[7] मारवणी को ज्योंही ढोला से विवाहिता होने का भान होता है कि उसका पत्नीत्व का गर्व जाग्रत् हो जाता है । प्रियतम को देखा नहीं, तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

जे जीवण तिन्हाँ-तणाँ, तन ही माँहि वसंत ।
धारइ दूध पयोहरे, बालक किम काढंत ।।१२।।
ससनेही समदाँ परइ, वसत हिया मंझार ।
कुसनेही घर आँगणई, जाँण समंदाँ पार ।।२२।।

वह प्राणपण से ढोला को प्राप्त करने में लग जाती है और अन्ततः उसका सच्चा प्रेम फलीभूत भी होता है । उसका 'सन्देश' आदर्श पत्नीत्व की पताका है जिसमें पति के प्रति ऐकांतिक निष्ठा कूट-कूट कर भरी है ।

मालवणी भी ऐसी ही एकनिष्ठ पतिव्रता है जो अपने प्रेम का विभाजन नहीं चाहती । ढोला के मुख से मारवणी-मिलनोत्कण्ठा सुनते ही उसका हृदय चोट खाकर तड़प उठता है और वह ढोला को येन-केन प्रकारेण विभिन्न ऋतुओं में यौवनोपभोग का लालच देकर रोकती है । प्रेमावद्ध ढोला रुक जाता है[8] और अन्त में जाता भी है तो उसे सुप्तावस्था में छोड़कर ।[9] इससे पूर्व वह मारवणी से ढोला को अपरिचित रखने के लिये पूगल-पथिकों को मरवा भी डालती है ।[10] यह मर्यादा-विरुद्ध आचरण है, पर युद्ध और प्रेम में कार्य अकार्य सब कुछ उचित है । वह शुक द्वारा अपनी मृत्यु का सन्देश प्रेषित कर पूगल-मार्ग से फिर ढोला को फेर देना चाहती है ।

१. दो. सं. १० ।
२. दो. सं. ७ ।
३. दो. सं. ५६७,५६८ ।
४. दो. सं. १४५ ।
५. दो. सं. १०९ ।
६. दो सं. १४६ ।
७ मारवणी और मालवणी कीं चारित्रिक विशेषताओं का उद्‌घाटन इस प्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है ।
८. वयणें माल.वणी--तणइ रहियउ साल्हकुमार ।
प्रेम वंध्यउ प्री रहइ जउ प्री चालणहार ।।२७५।।
९. दो. सं. ३४६ ।
१०. दो. सं. ९६ ।

इस प्रकार उसकी हर चेष्टा उसके अनन्य पति-प्रेम की परिचायिका है। उसके चरित्र का उज्ज्वल पक्ष उसके विरह में भी निखरा है। प्रियतम के वियोग में उसे कुछ भी नहीं सुहाता। उसे आश्चर्य है अपने निर्लज्ज प्राण पर—

हइ रे जीव, निलज्ज तूँ, निकस्यू जात न तोहि।
प्रिय विछुड़त निकस्यउ नहीं, रह्यउ लजावण मोहि ।।३७३।।

वह अपने मन को समझाती हुई कहती है कि नयनों ने तो प्रिय को विसार दिया; पर हे चित्त, तू उन्हें मत विसारना।[1] मारवणी और मालवणी में हमें आदर्श पतिव्रता भारतीय नारी के चरित्र की उज्ज्वल आभा मिलती है।

मातृत्व की स्थिति भी नारी जीवन की विशिष्ट और महत्वशाली स्थिति है। अपनी सन्तान के प्रति मोह और वात्सल्य की झलक मारवणी की माता के चरित्र में हमें उपलब्ध होती है। अपनी पुत्री की मनभावती सखियों से जब उसे मारवणी के विरह का पता लगता है[2] तो वह एक क्षण भी न खोकर पिंगल को ढोला को लिवा लाने हेतु प्रेषित करती है।[3] पिंगल भी प्रयत्न में संलग्न हो जाते हैं—

नितु नितु नवला सांढ़िया, नितु नितु नवला साजि।
पिंगल राजा पाठवइ, ढोला तेड़न काजि ।।४२१।।

इससे पूर्व भी मारू के योग्य और अनुरूप वर को वह हाथ से जाने देना नहीं चाहती। मारवणी की माता तत्कालीन सामाजिक जीवन में नारी की स्थिति से भली भांति परिचित थी। नारी-जीवन की सार्थकता सुयोग्य पत्नी बनने में ही थी। वह अपनी पुत्री को इसी योग्य देखना चाहती थी। इस प्रकार इन कार्यों में हमें उसके सुन्दर मातृ-हृदय की झलक मिलती है।

सास का उग्ररूप भी हमें उस समय देखने को मिलता है जब मालवणी निर्दोष गधे को दगवा देती है।

समाज में—

'ढोला मारू' की नारी मध्ययुग के सामन्त-समाज की नारी है। गुप्तकाल से कतिपय अपवादों को छोड़कर अतीव वेग से जो नारी के अधिकारों की कब्र खुदी उसमें से नारी राजपूत काल में भी पुनः उभर न सकी। पुरुष का नारी के प्रति ऐन्द्रिकता प्रधान दृष्टिकोण ही बना रहा और उन्हें उद्दाम वासनापूर्ति के नयनाभिराम पुष्प-गुच्छ समझा जाता रहा।

मुसलमानों के आगमन और आक्रमण के पश्चात् निस्सन्देह नारी जीवन की सामाजिक अवस्था में गिरावट आयी। अशिक्षा का प्रचार-प्रसार, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा और भोग-विलास में आकण्ठ-मग्न, राजवर्ग की बहुविवाह प्रथा आदि की

१. सज्जण दीसंतर हुवा, जे दीसंता नित्त।
नयणे तो वीसारिया, तूँ मत विसरे चित्त ।।४२६।।

२. दो. सं. ७७ और ७८।   ३. दो. सं. ८०।

दूषित वायु से राजपूत रमणी भी अछूती नहीं रह सकी। ढोला और मारू का भी बाल-विवाह हुआ था। ढोला के मालवणी नामक द्वितीय परिणिता भी थी जो तत्कालीन बहु-विवाह प्रथा की द्योतक है। नारी के रूप सौन्दर्य को प्रमुखता भी दी जाती थी। अपने-अपने विरह में मारवणी और मालवणी ने भी ढोला को यौवनोपभोग का निमन्त्रण दिया है। स्वयं ढोला का चित्त भी उस समय विचलित हो जाता है। जब ऊमर-सूमरे का चारण उससे पूगल के मार्ग में मारू की वृद्धावस्था और शिथिल देहयष्टि की चर्चा करता है। 'ढोला-मारू' में नारी हृदय के उज्ज्वल पक्ष की अपूर्व आभा भी है।

'ढोला-मारू रा दूहा' में राजपूत रमणी की अन्तःपुर में सत्ता का आभास मिलता है; भले ही इसे कोई अपवाद स्वरूप माने। राजपूत उन्हें आदर देते थे और सामाजिक क्रिया-कलापों में उनकी सलाह लेते थे। राजा पिंगल की रानी उमा ही ढोला और मारू का सम्बन्ध निश्चित करती है जिसे पिंगल भी स्वीकार करते हैं। रानी उमा के कहने से ही ढोला को लिवा लाने के लिये ढाढी भेजे जाते हैं। रानी उमा का यह बार-बार हस्तक्षेप यही सिद्ध करता है कि कम-से-कम सामाजिक क्रिया-व्यापारों में अन्तःपुर का स्वर प्रबल होता था।

शारीरिक आकर्षणों और नैतिक गुणावली से अलंकृत एक आदर्श नारी के गुणों की ओर 'ढोला-मारू' में स्थान-स्थान पर संकेत दिया गया है। **लज्जा सुन्दरता और सद्गुणशीलता का किला है।**[1] **लज्जा का आकर्षण सौन्दर्य से भी बढ़कर है।**[2] नारी का यह गुण मारवणी में खूब है जिससे उसका चरित्र आदर्श नारी का प्रतिनिधित्व करता है।[3] इस प्रकार उच्चकुलीन सामन्त स्त्रियाँ अभावों के अभाव में अपने मनोनुकूल सुख-वैभव से परिपूर्ण अंतःपुरीय जीवन यापन करती थीं।

समाज में साधारण कुलों की स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। दासियों के रूप में स्त्रियों को उपहार में देने की प्रथा थी। राजा पिंगल मारवणी के दहेज में दासी देते हैं।[4] 'डावड़ी' देने की यह प्रथा आज भी सामन्त-समाज में दृष्टिगोचर होती है। नारी का अपहरण भी किया जाता था। ऊमर सूमरा ने षड्यन्त्र रचकर ढोला को समाप्त कर मारू को हथियाना चाहा था।[5]

ङ : आचार-विचार शिष्टाचार :

तद्युगीन समाज के आचार-विचार और शिष्टाचार की सुष्ठु झलक हमें इस काव्य में देखने को मिलती है—

१. डिमेट्स का कथन : ज्ञान गंगा : भाग २ : पृ. २८५।
२. शेक्सपियर का कथन : ज्ञान गंगा : भाग २ : पृ. २८५।
३. मारवणी और मालवणी के विस्तृत चरित्रचित्रण के लिये इस प्रबन्ध का द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य है।
४. दो. सं. ५९५ और ५९६।
५. दो. सं. ६२६ से ६४२।

अतिथि सत्कार

यह भारतीय संस्कृति की अप्रतिम विशिष्टता एवं धर्माचरण का अभिन्न अंग रहा है। राजस्थान में तो 'घर आया वैरी पाहुरणा' जैसी कहावतें इसकी साक्षी हैं। 'ढोला-मारू' में इस परम्परा का पालन हुआ है जब अकाल-ग्रस्त होकर पिंगल नल के देश जाते हैं।[1] उधर पिंगल भी नवागन्तुक सौदागर का स्वागत-सत्कार कर इस प्रथा का पालन करते हैं।

राउदागर पिंगल मिल्यउ, बहुत दियउ सनमान। ८५॥

घूंघट प्रथा

'ढोला-मारू' का युग मध्य युग है। घूंघट-प्रथा के प्रचलन का संकेत इस काव्य में भी आया है। मारवणी का तन रूपी मण्डप सजा हुआ है। प्रियतम से मिलने के लिये जाते समय उसका मुख रूपी चन्द्रमा घूंघट-रूपी 'भीणे' बादल से आवृत है।[2]

सती प्रथा

राजस्थानी नारी ने अपने सतीत्व का इतिहास आग की लपटों में पद्मासन लगाकर लिखा है। उसने देवांगनाओं को भी अप्राप्य पातिव्रत्य-धर्म को रोमांचकारी जौहर द्वारा बचाया है। मारू की सर्प-दंश से मृत्यु पर ढोला जब चितारोहण के लिये प्रस्तुत होता है उस समय जोगी के निम्नलिखित कथन से इस प्रथा के प्रचलित रहने की साक्षी मिलती है—

नर नारी सूं क्यूं जलइ, नर सूं नारि जलंत॥ ६१८॥

जन्मभूमि अनुराग

मनुष्य का अपनी जन्मभूमि के प्रति नैसर्गिक अनुराग रहा है। राजस्थानी माता तो घुट्टी के साथ ही भूमि-अनुराग का महामंत्र बच्चे को पिला देती है—

इला न देणी आपणी, हालरिये हुलराय।

'ढोला-मारू रा दूहा' में यह अनुराग जगह-जगह प्रगट हुआ है। पूगल में निरन्तर अकाल-कष्ट सहते हुए भी पिंगल उसे नहीं छोड़ते। सुकाल होने पर लौट आते हैं।[3] ढोला पूगल जा रहा है। उस समय नरवर के प्रति उसका अनुराग इन शब्दों में उमड़ पड़ा है—

आस्यां तउ मिलस्यां वले, नरवर कोट, जुहार॥३४७॥

सौतिया-डाह से उद्भूत मारवणी-मालवणी की नोक-झोंक में वस्तुतः दोनों नारियों के देशानुराग की अंतः सलिला ही प्रवाहित है।[4]

---

१. नल राजा आदर दियउ, जउ राजवियां जोग। ३॥
२. दो. सं. ४५५ ५३७, ५३८ ३. दो. सं. ११
४. दो. सं. ६५४ से ६६६

गोष्ठी—

'ढोला-मारू' में ऊमरसूमरा ढोला को आमन्त्रित करता है और इस तरह पथ-गोष्ठी का आयोजन हो जाता है।[1] डूमणी गा रही है, ढोला एवं ऊमर पी रहे हैं, ऊँट जुगाली कर रहा है और उसकी मुहरी मारवणी के हाथ में है—कवि ने एक ही पंक्ति में इस गोष्ठी का कैसा अनूठा चित्र उतार दिया है—

तंत तणक्कइ, पिउ पियइ, करहउ ऊगाले.ह ।। ६३१ ।।

लाख पसाव

कला-विलासी सामन्तों द्वारा पुरस्कार प्रदान करने की प्रथा सामन्त-समाज में बहुत प्रचलित रही है। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार गुण-ग्राहक राजा लाख, करोड़ और अरब पसाव दिया करते थे।

'ढोला-मारू' में ढोला वीसू चारण को मोहरों का 'पसाव' देता है। विरहिणी मारवणी के लिये उस वायु का स्पर्श ही 'लाख पसाव' है जो प्रियतम का स्पर्श कर उसके पास आए—

जिणि देसे सज्जण वसइ, तिणि दिसि वज्जउ वाउ ।
उआँ लगे मो लगसी, ऊ ही लाख पसाउ ।। ७४ ।।

नजर लगना

अच्छी वस्तु लोगों की आँखों में चढ़ जाती है और उसे नजर लग जाती है। मारवणी के सौन्दर्य के लिये कवि के इन शब्दों में यही लोक-मानस की भावना मुखरित है—

खंजर नेत, विसाल गय, चाही लागइ चक्ख ।। ४५८ ।।

मंत्र-तंत्र

इनकी सिद्धि में भी लोक-मानस का अटल विश्वास रहा है। 'विज्ञान' के अंतर्गत इन पर लिखा जा चुका है।

भूत-प्रेत

अज्ञात डर ने साकार आसुरी शक्तियों का निर्माण किया। इनके अस्तित्व में भी जन-मानस का गहन विश्वास है। मारवणी ने चिन्ता को 'डाइन' कहा है—

चिन्ता डाइणि ज्याँ नरां, त्याँ दृढ़ अग न थाइ ।। २१६ ।।

शकुन

शकुन में भारतीय लोक-मानस का सदैव दृढ़ विश्वास रहा है। रहस्यमय एवं अस्पष्ट अनागत के कारण इससे मानव कार्य की सिद्धि-असिद्धि का पूर्वाभास पाने की चेष्टा करता है। 'मिनख सूण की दई रोटी खाय है'—ऐसा हमारे जन-साधारण का विश्वास है। शकुन चार प्रकार के होते हैं—प्रकृति, पशु-पक्षी, शारीरिक विकार एवं मनः स्थिति से संबंधित।

१. दो. सं. ६२८।

'ढोला-मारू रा दूहा' में शकुन सम्बन्धी सार्वजनीन विश्वास का अनेक जगह प्रदर्शन हुआ है। प्रिय मिलन के लिये कौए का शकुन लिया जाता है। मारवणी की भुजाएँ भी कौआ उड़ाते-उड़ाते थक गई हैं—

वाहड़ियाँ वे थाक्कियाँ काग उड़ाइ उड़ाइ ॥ १६७ ॥

'ढोला-मारू' में अंगों के स्फुरण से भी शुभाशुभ का शकुन लिया गया है। स्त्रियों का वामांग एवं पुरुषों का दक्षिणांग फड़कना शुभ माना जाता है। ढोला पूगल के मार्ग में है और उधर मारवणी को प्रिय-मिलन-सूचक शुभ शकुन होते हैं—

आज फरूकइ अंखियाँ, नाभि, भुजा, अहराँह।
सही ज घोड़ा सज्जणाँ, साम्हा किया घराँह ॥ ५१६ ॥

कहावत भी है आंख फड़के बांई, कै बीर मिलै कै सांई। स्वप्न से भी भावी घटनाओं की पूर्व-सूचना मिलती है ऐसा जन-मानस का प्रगाढ़ विश्वास रहा है। ढोला-मिलन से पूर्व मारू को भी ऐसा ही शुभ स्वप्न आता है जिसमें वह ढोला से मिलती है। जागने पर मारू स्वप्न को कोसती है पर सखियाँ उसे समझाती हैं—

सहिए फिर समझावियउ, सुहिणइ दोस न कोइ।
सउ जोयण साहिब वसइ, आँण मिलावइ तोइ ॥ ५१५ ॥

मनःस्थिति में भी कभी-कभी आकस्मिक परिवर्तन हो जाता है। चित्त की अनायास प्रफुल्लना शुभ शकुन मानी जाती है। ढोला मार्ग में है और उधर मारवणी का चित्त उल्लसित हो रहा है।

ऐसी स्थिति में उसे विश्वास हो जाता है कि—

सहिए साहिब आविस्यइ, मो मन हुई सुजाँण।
आगम-वाधाऊ हुया, अंग-तणा अहिनाँण ॥ ५१६ ॥

भाग्य में विश्वास

'ढोला-मारू' में इस प्रवृत्ति के अनेक बार दर्शन होते हैं। सरल-हृदया नारी का तो भाग्य की प्रबलता में अत्यन्त विश्वास रहा है। मालवणी विरह में भाग्य को कोस रही है—

सूती सेजड़ें एकली, हइ हइ दइव म मारि ॥ ४७ ॥

वह विधाता से पंख माँगती है ताकि उड़कर प्रियतम से भेंट कर सके—

देइ विधाता पंखड़ी, मिलि मिलि आवउँ नित्त। ६९ ॥

पर जब दैव ही विपरीत हो तो—

पांखड़ियाँ ई किउँ नहीं, दैव अवाडू ज्याँह।
चकवीकइ हइ पंखड़ी, रयणि न मेलउ त्याँह ॥ ७१ ॥

सत्य है—अनुकूले सदा दैवे क्रियाल्पा सुफला भवेत।

मालवणी भी जब ढोला को पूगल जाने के लिये कटिबद्ध देखती है तो 'विधाता

के लेख अवश्य पूरे होंगे[1] कहकर भाग्य की दुर्निवारता को अभिव्यक्त करती है। डूमणी ने भी ऊमरसूमरा के षड्यन्त्र से मालवणी को सचेत करते हुए कहा था—

भल व उलावो दोहड़ा, दई वलवाण देह ।। ६३१ ।।

अन्य

इनके अतिरिक्त इस काव्य में अनेक प्रथाओं, आचार-विचारों आदि का सूक्ष्म अध्ययनोपरान्त पता चला है जिनका संक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है—हाथ ऊँचे कर पानी की गहरा नापना दो. सं. १५, किसी की प्रतीक्षा हेतु ऊँचे स्थान पर चढ़ मार्ग देखना -१६. अनचाहे से गाँव छुड़ाना -३६, हाथ फैलाकर प्रिय का आलिंगन करना-४५, राजकुमारी का सहेलियों के साथ निकलना -७६, अपनी बात बड़ों के सामने स्वयं न कह कर दूसरों से कहलाना-७७, दरबार में व्यापारियों का स्वागत करना-६५. याचकों को दान देना-६३, प्रेम सम्बन्धी बातों को छिपकर सुनना-६८, बड़ों के सामने विरह में रोना-१५६, सर्दी में अंगारों से तपना-२०६, स्त्रियों का शृंगार करके ही प्रियतम के पास जाना-२१५, झरोखे में बैठ कर प्रिय-प्रतीक्षा करना-३६२, स्त्रियों का लम्बे-लम्बे पैर भर कर न चलना-३८४, अस्त्रशस्त्र लेकर बाहर निकालना ३६६, राज्य-पुरुषों के अंतिम संस्कार के समय चंदन और अगर का प्रयोग-४०५, मरने वाले के पीछे धाड़ मार कर रोना-४०६, आगे आकर बधाई देना-४६०, बधावे गाना-५३२, जुहार करना-५८६, लापसी में ऊपर से घी डालना-५८७, किसी को पहुँचाने के लिये साथ में आदमी भेजना-५६७, सोते समय राज्यपुरुषों के पहरा देना-५६६, बात सुनते समय हुंकारा भरना-६११, स्वागत में अमल पेश करना-६२८ गोष्ठी के समय संगीत आयोजन-६३०, चारण का विशेष अभिवादन 'शुभराज'-६४३, प्रिय के आगमन पर नारियों द्वारा मंगल गीत गाना-६५१ आदि ।

च: खान-पान

'ढोला-मारू' में राजस्थान के प्रिय खाद्यान्न बाजरी[2] तथा मूंग[3], तिल तिल्ली[4] एवं भुरट[5] का उल्लेख हुआ है। ढोला-मारू का समाज राजस्थानी समाज है। अतः विशेष अवसरों पर बनाये जाने वाले 'लापसी मिष्ठान्न का उल्लेख भी आया है। इसमें घी छोड़कर इसे और भी स्वादिष्ट बनाने की प्रथा भी है। 'ढोला-मारू' की इस साँग-रूपक 'लापसी' की बानगी निहारने योग्य है—

छट्ठे प्रहरैं दिवस कै हुई ज जीमणवार ।
मन चावल, तन लापसी, नैंण ज घी की धार ।। ५८७ ।।

एकाध स्थान पर मारवणी की ऊहा-समन्वित उक्ति में गरम 'भात' का समावेश भी हुआ है—

प्रीतम तोरइ कारणइ, ताता भात न खाहि ।। १६० ।।

पेय-पदार्थों में जल, दूध एवं मदिरा का उल्लेख हुआ है। मारु-देश का जल स्वच्छ एवं स्वास्थ्य-प्रद है—

---

१. दो. सं. २७३ २. दो. सं. २५० । ३. दो. सं. ३१६ ।
४. दो. सं. २८२-२८३ । ५. दो. सं. ६६१ ।

देस निवाणू, सजल. जल., मीठा बोला लोइ ।। ६६८ ।।

हाँ वह गहरा अवश्य है और इसीलिये मालवणी मारू-देश को कोसे तो आश्चर्य नहीं—

बालूं, बाबा, देसडउ, जइं पाँणी कूँवेण ।
कूंकूं वरणा हथ्थड़ा, नहीं सुं घाढा जेंण ।। ६५७ ।।

दूध के आविक्य की चर्चा मालवणी के मुँह से ही हुई है ।[1] मदिरा सामन्त-समाज का प्रिय पेय रहा ।[2] ढोला ऊमर-सूमरा के साथ मद्यपान करता है ।[3] राजस्थान की शीत-ऋतु तो मद्य-सेवन की ही ऋतु है—

उत्तर आज स उत्तरउ पालउ पड़इ रवंद ।
का वासंदर सेवियइ, कइ तरूणी, कइ मद ।। २९४ ।।

राजस्थान में 'अमल' (अफीम) का सेवन भी अत्यन्त प्रिय रहा है—

अमल तू उणमादियो, सैंणा हन्दा सैण ।
थां विन घड़ी न आवडै, फीका लागे नैण ।।

इस काव्य में भी ऊमर-सूमरा ढोला को अमल लेने की मनुहार करता है—

फिऊँ, ठाकुर अलगा बहउ, आवउ, अमल करांह ।। ६२८ ।।

मारवणी सौन्दर्य-प्रसाधन रूप में तांबूल का सेवन भी करती है—

पान, कजल पारवर करै, फूलाँ को गलिहार ।।५८९।।

प्रिय-वियोग के कारण उधर मालवणी ढोला के पूंगल-प्रस्थान पर ताम्बूल का परित्याग भी कर देती है—

मालवणी तीने तज्या, काजल तिलक, तँबोल ।।३५३।।

फलाहार का जिक्र इस उद्धरण में प्रस्तुत है जिसमें मारवणी ढोला को वाटिका से दाख-विजोरे लाकर खिलाती है—

आंणी द्राख-विजोरियां, धण छोलइ, प्रिउ खाइ ।।५८८।।

उपमान रूप में एक स्थल पर मधु एवं द्राक्षा का उल्लेख भी हुआ है—

अहर, पयोहर, दुइ नयण, मीठा जेहा मख्ख ।
ढोला एही मारूई, जाणे मीठी दख्ख ।।४७०।।

---

१. दोहा सं. ६६२ । राजस्थान में पानी की कमी रही है पर दूध की नहीं । यहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में दूध बेचना पाप समझा जाता रहा है—दूध वेचाँ पूत वेचाँ ।

२. (i) भरला ए सुघड़ सजनी दारूड़ो दाखाँ रो ।
(ii) दारू तो प्यालो भरो दुपटा रो झालोह ।।
(iii) दारू पियो रंग करो, राता राखो नेण ।
वैरी थांरा जल मरे, सुख पावेला सेण ।।

३. दो. सं, ६३१ ।

इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में प्रयोग में लिये जाने वाले बर्तनों में घड़ा[१], कटोरा,[२] सुराही,[३] प्याला,[४] इत्यादि, तथा शृंगार-पात्रों में मोतियों से जड़ा हुआ इत्र आदि का सुगन्धि-पात्र,[५] अरगजा-पात्र[६] एवं शराब के पात्र बत्तक[७] का नाम आया है।

'ढोला मारू' में इस तरह तद्‌युगीन समाज के खान-पान का विवरण बहुत कम-आंशिक रूप में ही आया है।

छ : वस्त्राभूषण :

वस्त्र :

भौगोलिक परिस्थिति, जातीय संस्कार एवं अवसर विशेष ही मानव की वेश-भूषा का निर्माण करते हैं। 'ढोला-मारू' के पात्र राज-कुटुम्ब के हैं। अतः उनके वस्त्रों में विविधता, चमक-दमक और ठाठ-बाट का समावेश है। इनमें सामाजिक स्तरानुरूप शालीनता तो है ही; साथ स्थानीयता का वैशिष्ट्य भी उनमें है। 'ढोला-मारू' में राजस्थान तथा मालवा क्षेत्र के वस्त्र ही आए हैं।

पुरुषों के वस्त्रों में पगड़ी (सकती बाँधे पीट्टुली-५००) एवं विवाह पर पहनी जाने वाली विशेष पोशाक (चोल बरन्ने कप्पड़े-१३९) का नाम ही आया है।

स्त्रियों के वस्त्रों में घाघरा[८] (घम्मघमन्तइ घाघरइ-५३७), दिखणी चीर (आणाँ दखणी चीर-२३७), चीर (चीर निचोइ निचोइ-१५६), साड़ी एवं कंचुकी (सिर साड़ी, गलि कंचुवउ-३५७), पट्टकूल (पट्टोला पहिरेसि-२३३), झीणे वस्त्र (झीणा कप्पण पहिरणइ-४६३), काले वस्त्र (दो. सं. ६६५) आदि का उल्लेख हुआ है।

ऊनी वस्त्रों में मात्र कम्बल का ही नामोल्लेख है—

पहिरण-ओढण कंवला, साठे पुरसे नीर ।६६२।।

दैनिक आवश्यकता की अन्य वस्तुओं में जूती[९] आई है।

---

१. दो. सं. ६५८ एवं ६५९।
२. दो. सं. ६५९।
३. दो. सं. ४१८।
४. दो. सं. ५३४।
५. मोती जड़ी ज हाथि, सुरह-सुगन्धी वाटली ।।५०५।।
६. चोवा केरै कूँपले, ढोली साहिब सीस ।।५९२।।
७. मतवाला री बतक ज्यउँ, पिय नइँ परहरियाह ।४१८।।
८. राजस्थानी स्त्रियों की वेश-भूषा में घाघरा, दक्षिणी चीर, आँगी आदि का अतिशय प्रचलन रहा है—

नीचै पहरयो घूम घाघरो, ऊपर दिखणी चीर।
हरे पाट की आँगी पहरी, भई दिल्ली नै भीर।।

९. दो. सं. ३७५।

राजस्थानी नारी-समाज का आभूषणों के प्रति अगाध स्नेह रहा है। 'ढोला-मारू रा दूहा' में नारी-समाज में व्यवहृत होने वाले अनेक आभूषणों का उल्लेख हुआ है जिन्हें शारीरिक अंगानुसार निम्नांकित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है—

शीश	शीश-फूल	: सीस फूल सिणगार-४८०,
ललाट	सोंहली	: भ्रुहां ऊपर सोहलो परिठिउ जाणि क चंग-४६५,
नाक	नकफूली	: नकफूली लीधी नहीं-५७१,
कान	कुंडल	: काने कुंडल झलहलइ-४८०,
	मोती	: मोती काने झूलकते ५०७,
गला	मोतियों का हार	: कंठ टंकावल हार-४८०,
बाहु	बोरखा एवं चूड़ा	: बांहे सुंदरि बहरखा, चुड़ स वचार-४८१,
कलाई	चूड़ियां	: हाथे चूड़ी खिस पड़ी-३४६
कटि	करधनी	: मनुहरि कटि थल मेखला-४८१,
पैर	पायल	: पग वाजंती पाल-५४०,
	घुंघरू	: घम्मघमंतइ घूघरइ-५३६,
	झांझर	: पग झांझर झणकार-४८१, आदि।

इनके अतिरिक्त हीरा[1], मोती,[2] मूंगा[3] आदि आभूषणों में प्रयुक्त होने वाले बहुमूल्यों रत्नों का भी नामोल्लेख हुआ है। पुष्पाभरणों में गले का हार[4], चंपे का हार[5] आदि आए हैं।

पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले आभूषणों का उल्लेख प्रस्तुत काव्य में नहीं हुआ है। वे मूंछें अवश्य रखते थे।[6]

शृंगार-प्रसाधन

नारी अपनी सौन्दर्यमयी-संरचना को और भी मनोहारी बनाने के लिये शृंगार-प्रसाधनों से स्वयं को सजाती है। ये प्रसाधन उसके सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं। मालवणी स्वयं को 'षोडश शृंगार' से सुसज्जित रखती थी।

सुन्दर सोल सिंगार सजि, गई सरोवर पाल ॥३६४॥

ये इस प्रकार हैं—उबटन, मंजन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, मांग भरना, अंजन, महावर, बिन्दी, ठोढ़ी पर तिल बनाना, मेंहदी, गंध-द्रव्य, आभूषण, फूल-माला और पान।[7]

१. दो. सं. ४५४।
२. दो. सं. २३०, ४७५, ५७३ आदि।
३. दो. सं. ३७७, ४५४।
४. दो. सं. ५८६।
५. दो. सं. ३६६।
६. दो. सं. ५८५।
७. प्रमाणिक हिन्दी कोश: श्री रामचन्द्र वर्मा: पृ. १२२८।

'ढोला-मारू रा दूहा' में भी नारी शृंगार-प्रसाधन के अनेक उपकरण आये हैं—

उबटन, स्नान : सखिए ऊगट माँजिणउ, खिजमति करइ अनंत ।५३५।।,
केश-विन्यास : रायजादी घर-अंगणइ, छुटे पटे छंछाल ।।५३६।।
अलक्तक : सुंदरि सोवन वर्ण तसु, अहर अलत्ता रंगि ।।८७।।
पान, अंजन,
पुष्पहार : पान, कजल पाखर करै, फूलाँ कौ गलिहार ।।५८६।।
बिंदी, तिलक : मालवणी तीने तज्या, काजल, तिलक, तंबोल ।।३५३,
गंध-द्रव्य : मृगमद (मृगमद तिलक निलाट-४६६), चोवा (चोवा केरे कूँपलं-५६२), चंदन एवं कपूर (चंदन देह, कपूर रस-१६१), अगर (नवमण चंदण,मण अगर-४०५), गुलाब-जल (दो. सं. २४०), इत्र (दो. सं.२२३, ५०७), चमेली का तेल (दो. सं ३२०), कुंकुम (दो. सं. ४६६, ६३८, ६५७)।

शृंगार-प्रसाधनों से सम्बन्धित पात्रों में दर्पण,[1] कूँपली,[2] सुगन्धी पात्र[3] का नाम आया है।

ज : क्रीड़ा-विनोद :

सांसारिक क्रिया-कलापों से ऊबे हुए मन के रंजनार्थ मानव ने अनेक मनोविनोद और क्रीड़ा-कौतुकों का सर्जन किया है। 'ढोला-मारू रा दूहा' में भी क्रीड़ा-विनोद के विभिन्न साधनों का समावेश हुआ है। यथा फाग खेलना,[4] चंग उठाना पहेलियाँ पूछना,[6] साहित्यिक-चर्चा,[7] संगीत,[8] नृत्य,[9] वाटिका-विहार,[10] जल-केलि[11] आदि। इनके अतिरिक्त उपमान रूप में कहीं-कहीं जो सूक्ष्म संकेत मिलते हैं उनसे पशु-पक्षी पालना (कबूतर-१४३ तोता-३६७, बाज-२११. सिंह-४५६), मृगया (बाज को मूठ भर कर शिकार पर उड़ाना-२१२) ,देशाटन की प्रवृत्ति (ढोला-मालवणी का संवाद, जिसमें ढोला आभूषण, मोती, घोड़े, ऊँट, दिखणी चीर आदि लाने के लिये ईडर, मुलतान, कच्छ आदि स्थानों को जाना चाहता है) आदि मनोरंजन

१. दो. सं, ५७६ ।
२. दो. सं. ५६२ ।
३. दो. स. ५०५ ।
४. फागण मास सुहामणउ, फाग रमइ नव वेस ।३०२।।
५. दो. सं. ४६५ ।
६. दो. सं. ५६७ से ५८० तक ।
७. दो. सं. ५६७ ।
८. दो. सं. ६३१ ।
९. दो. सं. १४५ ।
१०. दो. सं. ५८८ ।
११. दो. सं. ३६३ ।

के साधनों का आभास भी प्राप्त होता है। ये समस्त साधन सामन्त-समाज के सामाजिक स्तरानुरूप भी हैं।

ऋ : पर्व एवं त्यौहार

त्योंहार भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। कहावत भी है—सात वार नौ त्यौहार तीज, गणगौर, घुड़ला, शील-सप्तमी, तुलसी–पूजन आदि ऐसे पर्व हैं, जहाँ नारी अपनी मुक्त चेतना से अपने समस्त हर्षोल्लास को निस्संकोच होकर व्यक्त करती है। 'ढोला-मारू रा दूहा' में सावन की तीज, काजलिया तीज, होली, दशहरा आदि त्योहारों का उल्लेख हुआ है। विरह-प्रधान काव्य होने के कारण इन त्योंहारों के समावेश से विरह-व्यंजना अत्यन्त ही मर्म-स्पर्शी बन गई है। निस्संदेह प्रियतम बिना त्योहार कैसा ?—

मोराँ बिन डूँगर किसा, मेह बिन किसी मलार !
तिरियाँ बिन तीजाँ किसी, पिव बिन किसा तिंवार !

सावण-तीज

श्रावण स्त्रियों के लिये मंगल मास है। मरुधर देश सावन में अत्यन्त सुहावना होता है। गीतों में सास को उलाहना, देवर-भाभी एवं ननद-भाभी की चिकोटियाँ देखते ही बनती हैं। किसी गीत में प्रिय-प्रतीक्षा की व्यथा है तो किसी में प्रिय-संगति का उल्लास। मारवणी भी ज्यादा प्रतीक्षा नहीं कर सकती

जउ तू साहिब, नावियउ, सावन पहली तीज।
बीजल तणइ झबूकड़इ, मूँध मरेसी खीज। १४६

क्योंकि—

तीजां पूंगल देस री, गवरल उदिया दीप ।
दिली दसेरी देखिये, मोती समंदां सीप ।।[1]

काजलिया तीज

भादों में मरुधर और भी सुहावना हो उठता है। भादों कृष्ण-पक्ष की तृतीया को 'काजलिया तीज' का उत्सव मनाया जाता है। जन जीवन में जहाँ इनसे उल्लास की सृष्टि होती है वहाँ ये प्राणों में प्रेरणा भी भरते हैं।

मारवणी भी इस रंगीन वातावरण में प्रियतम का सांनिध्य चाहती है—

जइ तू ढोला नावियउ, काजलिया री तीज।
चमक मरेसी मारवी देख खिवंता बीज।। १५०.

होली :

इस वासन्ती त्योहार में लोक मानस खुलकर रंगरेलियाँ मनाता है। इस त्योंहार का लोकजीवन से जितना गहरा तादात्म्य है उतना अन्य किसी त्योंहार

१. संग्रहांक ३३२ : पन्ना वीरमदे री वारता : रा. प्रा. वि. प्र. शा. अलवर।

का नहीं । होली के मादक त्यौंहार पर मारवणी विह्वल हो होली में कूद पड़े तो कोई अत्युक्ति नहीं—

फागुण मासि वसंत रुत, आयउ जइ न सुणेसि ।
चाचरिकइ मिस खेलती, होली झँपावेसि ।।१५४।।

दशहरा :

मालवणी ढोला को दशहरे तक रोके रखना चाहती है इस प्रसंग में इस त्यौहार का नाम आया है ।[१] यह भगवान राम की रावण पर विजय का प्रतीक त्यौहार है ।

'ढोला-मारू' में स्त्रियों के प्रिय त्यौहारों तीज, होली आदि का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है । विरहव्यंजना में इनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही थी ।

(उ) आर्थिक जीवन

'ढोला-मारू' के अध्ययन के पश्चात तद्युगीन समाज की आर्थिक जीवनावस्था का संकेत भी प्राप्त होता है । इस काव्य के कथानक में दो प्रदेशों का उल्लेख विशेषकर हुआ है- एक पूगल का, जहाँ प्रकृति सदैव रुष्ट रही है और दूसरा मालव प्रदेश का जहां प्रकृति की सदैव कृपा रही है । काव्य-कथा इन दोनों प्रदेशों के सामन्त घरानों से संबंधित है । अतः प्रदेशों के सामान्य आर्थिक जीवन में पर्याप्त अन्तर रहते हुए भी इन राजकुटुम्बों की आर्थिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं दृष्टिगोचर होता । नरवर के साल्हकुमार का याचकों को मुक्त-हस्त से दान देना एवं अपने अधीनस्थ अनेक योद्धाओं को रखना[२] उसकी सुदृढ़ धन-धान्य-सम्पन्न स्थिति को प्रकट करते हैं । इसके अतिरिक्त यद्यपि पूगल-नरेश को अकाल के समय 'ऊचाला' करना पड़ता है, फिर भी वह मारू के गौने के समय बहुमूल्य स्वर्णाभरण, हाथी, घोड़े, दास-दासियाँ आदि देता है[३] जो उसकी अच्छी आर्थिक-सम्पन्नता के द्योतक हैं ।

अन्य विवरणों से जन-सामान्य के आर्थिक क्रिया-कलापों का जो संकेत मिलता है, उससे हमें अनेक व्यवसायों एवं जीविका-साधनों का बोध होता है—

१. व्यापार :

उस समय अच्छे-अच्छे ऊँटों एवं घोड़ों की सामन्तों द्वारा खरीद होती थी । ढोला मालवणी से कच्छ के बड़ी थूही वाले ऊँट खरीदने की अभिलाषा प्रकट करता है ।[४] इसी तरह उसकी मुलतान के प्रसिद्ध सेलार घोड़े खरीदने की भी इच्छा प्रकट हुई है ।[५] पूगल में घोड़ों के सौदागर ने ही आकर पिंगल से मालवणी के रहस्य का रहस्योद्घाटन किया था ।[६] इनके अतिरिक्त ईडर के क्षेत्र में आभूषणों का व्यापार,[७]

१. पूगल हुइस ज प्राहुणउ, दसराहा लग देखि ।।२७३।। एवं दो. सं. २७४।।
२. दो. सं. ९३ एवं २०९ ।
३, दो. सं. ५९५ ।
४. दो. सं. २२८ ।
५. दो. सं. २२६ ।
६. दो. सं. ८३ ।
७. दो. सं. २२५ ।

गुजरात से दक्षिणी-वस्त्रों का व्यापार,[१] कच्छ में मोतियों का व्यापार[२] आदि भी उत्थान पर थे।

वंजारे घूम-घूम कर व्यापार करते थे।[३] कुछ लोग इत्र वेचने का व्यवसाय भी करते थे।[४]

२. कृषि:

मारू-देश में बाजरी इत्यादि की खेती के लहलहाने का इस कृति में वर्णन हुआ है।[५]

३. पशुपालन:

मरू-देश का अन्य प्रमुख आजीविका-साधन पशुपालन है। 'ढोला-मारू' में भेड़-बकरी-पालन का दृश्य उपस्थित हुआ है।[६]

४. विदेश जाकर कमाना:

मरुवासियों का जीवन प्रवासी-जीवन रहा है। विदेश जाकर कमाना आज की तरह उन दिनों भी प्रचलित था। मारवणी के एक कथन से इसका आभास मिलता है।[७]

५. नौकरी करना:

मनुष्य किसी सामर्थ्यवान के यहाँ कुछ धन-राशि के बदले अपनी सेवाएँ अर्पित करते थे। राजा नल ने पूगल-नरेश की सेवार्थ अनेक नौकर-चाकर दिये।[८] पूगल नरेश ने सुभट पहरेदारों को ढोला-मारू के साथ भेजा था।[९] ढोला एवं ऊमरसूमरा के पास अपनी-अपनी सेना थी।[१०] अतः सैनिक वृत्ति भी प्रचलित थी। शिक्षित-वर्ग लिपिक इत्यादि का कार्य भी करता था।[११] पुरोहित एवं ढाढी वर्ग संदेश-प्रेषण तथा ढाढी एवं डूम जातियाँ संगीत से उदर निर्वाह करते थे। 'ढोला-मारू' के अवलोकन से उस समय वेगार इत्यादि लेने की प्रथा का भी भान होता है। ऐसे दास-दासियों का अनेक जगह उल्लेख हुआ है जिनका स्वतन्त्र आर्थिक जीवन नहीं था।

६. आर्थिक क्षेत्र में नारी :

हमारी संस्कृति में नारी के सुगृहिणी-स्वरूप की ही पूजा की गई है। अतः इस काव्य में नारी के आर्थिकक्षेत्र में योगदान को स्थान नहीं मिला है। न यह तात्कालिक सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही था। पर उस युग में भी निम्न-वर्ग की

---

१. दो. सं. २३३।
२. दो. सं. २३०, २३१।
३. दो. सं. १६३।
४. दो. सं. ५६६।
५. दो. सं. २५०।
६. दो. सं. ४३५, ६५८।
७. दो. सं. १७७, १७८, २३१।
८. दो. सं. ३।
९. दो. सं. ५२६।
१०. दो. सं. ९३ एवं ६४०
११. दो. सं. १४०।

नारी को अन्तःपुर में ताम्बूलवाहिनी, पुष्पवाहिनी, दीपवाहिनी आदि का कार्य मिलता था। 'ढोला-मारू' में एक दीपकवाहिनी का उल्लेख आया है।[१] डूमणी जैसी अन्य स्त्रियाँ संगीत से ही अपना पेट पालती थीं।[२]

७. मुद्रा :

तद्युगीन समाज में कौड़ी,[३] मोहरें[४] आदि का मुद्रा रूप में प्रचलन था। आपस में वस्तुओं का 'आटा-साटा' भी होता था।[५]

८. यातायात के साधनः

'ढोला-मारू रा दूहा' में ऊँट, घोड़ा, हाथी, रथ, पालकी आदि यातायात के साधनों का नाम आया है इनमें ऊँट का सविस्तार चित्रण हुआ है।[६] ये साधन सामन्त-कुल से विशेष सम्बन्धित हैं।

(ऊ) राजनीतिक जीवन

यद्यपि तत्कालीन शासन-व्यवस्था एवं राजनीति इत्यादि के बारे में ,ढोला-मारू रा दूहा' मौन-सा है और कवि भी इस चित्रण में निष्क्रिय ही रहा है; इतने पर भी परोक्षतः हमें अनेक संकेत-सूत्र उस युग के राजतंत्र का परिचय देते हैं।

१. शासन एवं नीतिः

उस समय क्षत्रियों के हाथ में राजतन्त्र था। पूगल में पिंगल राजा थे तो उधर नरवर में नल।[७] राजाओं में एक दूसरे के यहाँ आना-जाना था। पूगल में अकाल पड़ने पर पिंगल नरवर जाता है जहाँ नल राजा उससे वैसा ही राजोचित शालीन व्यवहार करता है।[८] इनमें आपस में दूर-दूर तक संबंध भी होते थे। ढोला एवं मारू का सम्बन्ध इसका साक्षी है। इन राजाओं में आपस में प्रतिद्वन्द्विता भी थी।

रानी का राजतन्त्र में क्या अधिकार था-इस संबंध में हम कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हैं। इतना अवश्य है कि सामाजिक संबंधों में उनकी राय ली जाती थी। उधर सपत्नी-ईर्ष्या इत्यादि के कारण अन्तःपुर षड्यन्त्रों के केन्द्र भी थे। ढोला और मारू के मिलन में बाधक मालवणी के षड्यन्त्र से हम भलीभाँति परिचित हैं।[९]

राजघराने से संबंधित अन्य कर्मचारियों में अंग-रक्षक एवं दास-दासियों का नामोल्लेख हुआ है। पिंगल ढोला के साथ अनेक अंग-रक्षक सवार भेजता है।[१०] रात्रि में पहरा देना एवं धन-माल की रक्षा करना इनका कार्य था।[१०] दास-दासियोंको दहेज में दिया जाता था। पिंगल ने मारू के गौने पर अनेक दास-दासियाँ दी।[१२]

---

१. दो. सं. ६०६।
२. दो. सं. ६३०।
३. दो. सं. ३७०।
४. दो. सं. ४८६।
५. दो. सं. २३३।
६. द्वितीय परिच्छेद में विस्तृत टिप्पणी।
७. दो. सं. १।
८. दो. सं. ३।
९. दो सं. ६६।
१०. दो. सं. ५६७।
११. दो सं. ५६६।
१२. ५६५।

२. युद्ध :

'ढोलामारू' में स्पष्ट युद्ध की घटना तो घटित नहीं हुई है, परन्तु अपने शत्रु को किस तरह षड्यन्त्र में फँसाया जाता है—यह ऊमरसूमरा की कथा से स्पष्ट होता है। ऊमरसूमरा संगोष्ठी के बहाने ढोला को नशे में चूर कर मारू को हथियाना चाहता है। ढोला-मारू के बच निकलने पर वह उनका पीछा भी करता है। परन्तु कवि ने दोनों के टकराव का प्रसंग बड़े ही कलात्मक ढंग से टाल दिया। अतः हम दोनों के युद्ध-कौशल से वंचित रह जाते हैं। विप्रलम्भ शृंगार रस से परिप्लुत इस काव्य में यह वर्णन शोभा का प्रसंग भी नहीं रहता।

३. सेना का प्रकार :

युद्ध प्रसंग की अनुपस्थिति के कारण सेना इत्यादि के वर्णन से भी 'ढोलामारू' अछूता है। 'ढोलामारू' में केवल उस जगह चतुरंगिनी सेना का रूढि रूप में उल्लेख हुआ है जहाँ ऊमरसूमरा ढोला-मारू का पीछा करता है।

ऊमर ऊतावलि करई, पल्लाणियाँ पवंग।
खुरसाणी सूधा खयंग, चढ़िया दल चतुरंग ॥६४०॥

४. गुप्त-चर :

विपक्ष की सूचनाएँ गुप्त रूप से ज्ञात करने एवं उन्हें अपने राजा को प्रदान करने वाले को गुप्तचर कहा जाता है। कौटिल्य ने गुप्तचर को गूढ़ पुरुष [1]कहा है एवं इसके दो भेद किये हैं—

क : संस्था—छद्म वेश धारण कर एक ही स्थान पर रहने वाले गुप्तचर
ख : संचार—घूमकर अपना कार्य करने गुप्तचर।[2]

ढोला मारू में भी 'संचार' गुप्तचर का उल्लेख मिलता है जो ढोला एवं मारू के आने का समाचार ऊमरसूमरा के कानों में डालते हैं—

हेरा ग्या ऊँमर कन्हइ, कहिजइ एही बात।
ढोलउ मारू एकला, लहसि न एही घात ॥६२६

मालवणी भी मारवणी एवं उसके पिता द्वारा भेजे गये संदेशवाहकों को अपने गुप्तचरों द्वारा ही मरवा देती थी—-ऐसा लगता है।

अंतःपुर के नौकरों को फुसलाकर भी सूचनाएँ एकत्र की जाती थीं। सौदागर ने इसी तरह खवास को फुसलाकर अपनी मारू-सम्बन्धी जिज्ञासा का परितोष किया था।[3]

५. दूत

दूत का प्रमुख कार्य होता है संदेश पहुँचाना और यदि अधिकार मिला हुआ हो तो वार्ता एवं समझौता करना।

---

१. अर्थशास्त्र : १-११-१ २. अर्थशास्त्र : १-११-८-९।
३. सउदागर खवास नूँ पूछइ, लइ तिण मन्न।
दीसइ रायंगणमहीं, कुँवरी कंचन वन्न। ८८। एवं दो. सं. ८९ से ९१।

'ढोला-मारू' में दूत कार्य किया है—ढाढियों ने। उन्होंने अपने आचरण से मालवणी के मनुष्यों में कोई शक-संदेह पैदा नहीं होने दिया और ढोला को मारवणी का सदेश सुनाया। केवल सुनाया ही नहीं; उसके हृदय में मारू के प्रति अनुराग भी उत्पन्न कर दिया।

(ए) प्राकृतिक-जीवन

'ढोला-मारू रा दूहा' का वस्तु-फलक विस्तृत न होने के कारण प्रकृति एवं तत्सम्बद्ध मानवीय क्रिया-कलाप संश्लिष्ट रूप में ही चित्रित हुए हैं। विवेचन के सुविधार्थ प्राकृतिक जीवन का अधोलिखित वर्गीकरण किया जाता है—

क : स्थल
ख : वनस्पति,
ग : प्राणी।

(क) स्थल :

'ढोला-मारू' में प्रसंगतः अनेक पर्वत, नदियाँ, समुद्र, नक्षत्र, वन, उपवन, वाटिका, ताल-तलैया, बावड़ी आदि प्राकृतिक स्थलों का उल्लेख हुआ है।

पर्वत :

इस काव्य में पर्वतों में हिमालय और अरावली का उल्लेख आया है। हिमालय का ढोला के पूगल-आगमन प्रसंग में मारवणी की हर्षोन्मत्त दशा के चित्रण हेतु[१] और अरावली का ढोला की यात्रा के प्रसंग में[२] राजस्थानी साहित्य में आबू की छटा अवलोकनीय रही है—

> **टूकै-टूकै केतकी, झिरणै-झिरणै जाय।**
> **अरवुद की छवि देखताँ, और न सालै दाय॥**
> **जाणै जिके सुजाण नर, नहिं जाणै सो बोक।**
> **जमी और असमान विच, आबू तीजो लोक॥**
> **गह घूमी, लूमी घटा, वीजाँ सहिराँ वद्द।**
> **वादल मांय विराजियो, आजूणो अरवद्ध॥**

नदी :

इसमें केवल गंगा नदी का ही नाम आया है। कवि ने गंगा का उपयोग एक पवित्र उपमान के रूप में किया है—सीतल गंग प्रवाह (दो. सं. १६१), गति गंगा (दो. सं. ४५१), गोरी गंगा नीर ज्यूं (दो. सं. ४५२), जिम सिव मस्तक गंग (दो. सं. ४५३) आदि। इससे मारू के शील-समन्वित सौन्दर्य में पवित्रता की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

---

१. हियड़उ हेमाँगिर भयउ, तन-पंजरे न माइ॥ ५२६॥
२. दो. सं. ४२४ एवं दो. सं. ६४७।

सरोवर :

सरोवरों में मान सरोवर को उपमान रूप में कवि ने प्रयुक्त किया है—

घूमइ पड़िया हंसड़ा, भूला मानसरांह ।। ५५२ ।।

मानसरोवर से उनके वक्षःस्थल की विशालता एवं हंसों से कुच-युग की सदृशता, स्निग्धता को द्योतित कर कवि ने यथार्थ सौन्दर्य को और भी निखार दिया है।

सागर :

इसके अन्तर्गत 'क्षीर सागर' का उल्लेख हुआ है। मारवणी ने अपने संदेश में यौवन को क्षीर सागर कहा है—

जोवन खीर समुंद्र हुइ, रतन ज काढइ आइ ।।१३१।।

वन :

कवि ने मारवणी को कजली-वन में भ्रमण करते हुए गजेन्द्र से उपमित किया है—

जाणे गयंद उलट्टियउ, कज्जल-वन महँ जाहि ।। ५३८ ।।

मदोन्मत्त गजेन्द्र को कजली-वन में भ्रमणशीलता से मारू का आन्तरिक हर्षोल्लास और गति—दोनों अभिव्यक्त हुए हैं। एक ही उपमान से अन्तर्बाह्य दशाओं का उद्घाटन सुन्दर बन पड़ा है।

नक्षत्र और आकाशीय पिंड

इसके अन्तर्गत आकाश (दो. सं. ४८७), तारे (दो. सं. ४८७), पृथ्वी (दो. सं २५१, ५६३), सूर्य (दो. सं. ३०१, ४६३, ४६४, ४६६), चन्द्रमा (दो. सं. ३६५ ५३७, ५३८, ५४५), स्वाति (दो. सं. ११६, १२५) आदि हुए हैं। इनका प्रयोग भी उपमान रूप में ही हुआ है।

अन्य प्राकृतिक स्थल

इस काव्य में अन्य प्राकृतिक स्थलों का यथा प्रसंग उल्लेख भी किया गया है—

पहाड़-दो. सं. २६, ६६ आदि। सरोवर का कगार दो. सं. ४६, ३८३ आदि।
डूंगर-दो. सं. ६१, ७३ आदि। समुद्र एवं कीचड़-दो. सं. ६२, ४६५, ।
घाटियाँ-दो. सं' ३८५, वावड़ी-दो. सं. ३८३,
वाटिका-दो. सं. ३८३, ५८८, पहाड़ी नाले-दो. सं.३३८,
रेतीला एवं सूखा थल- दो. सं. ३६० तलैया-दो . सं. १२२,
टीला-दो. सं. ५५, छीलर-दो. सं. ३६३,
समतल भूमि-दो. सं. ६०, लहर-दो. सं. ३६३,
ढलुआँ भूमि-दो. सं. ४३६, जंगल-दो. सं, ५६८,
ऊबड़ खाबड़ भूमि-दो- सं. ६४८, ।

इनका उल्लेख कहीं तो किसी प्रसंग की पृष्ठभूमि में और कहीं उपमान रूप में हुआ है।

भौगोलिक स्थल

'ढोला-मारू रा दूहा' में नगरों में पूगल, नरवर, पुष्कर, ईडर, मुलतान, लोद्र, माँगलोर, चंदेरी, बूँदी का तथा भू-प्रदेशों में मरु देश, मालव देश, कच्छ, गुजरात (गूजर घरा) का नामोल्लेख हुआ है। इन पर आगे परिचयात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं।

पूगल

काव्य-नायिका मारू का यह जन्म-स्थान बीकानेर (राजस्थान) नगर से ५० मील पश्चिमोत्तर दिशा में २९ उ. अ. एवं ७३ पू. दे. पर स्थित है।

राजस्थानी साहित्य में पूगल अपनी पद्मिनी स्त्रियों के कारण लोक-प्रसिद्ध रहा है। कथा-साहित्य में आगे चल कर पूगल की पद्मिनी से विवाह करना कथानक-रूढि का रूप हो गया था।[१] यहाँ की 'नवल सुरंगी' दासियाँ तक पद्मिनी-सदृश दीप्ति-युक्त थी।[२]

यहाँ के मानवीय सौन्दर्य से रुष्ट होकर प्रकृति उतनी ही यहाँ अकृपालु भी रही है। अकाल का पैर तो यहाँ अंगद के पैर की तरह अडिग है—

पग पूगल धड़ कोटड़ै, बाहू बायड़मेर।
फिरता-घिरतो बीकपुर, ठावो जैसलमेर॥

प्रकृति का यह कठोरपन किसी 'गणेश राव' की प्रकृति में भी समाविष्ट हो गया था। इस पर किसी अज्ञात कवि का यह 'बीसर' देखिये—

जल ऊँडा, थल अति घणा, पेंण तणा प्रवेस।
वालूं पूगल देसड़ो, जिण दिसि राव गणेश॥[३]

पूगल की ओर प्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार यहाँ मारू एक ताम्र-कोट में रहती थी जो 'बूढ़ी थल' स्थान पर कालान्तर में दब गया।

मेजर इर्सकिन के अनुसार पूगल उस क्षेत्र का प्राचीनतम स्थान है जिसे नवीं शताब्दी के मध्य में भाटियों ने परमारों से छीन लिया।[४] पंवार वंश-दर्पण में आबू के परमारवंशीय राजा धरणी वाराह के नौ-भाइयों के 'नौ-कोटी मारवाड़' में यह भी सम्मिलित था[५], परन्तु इतिहासकार इस कथन में विश्वास नहीं करते। बीकाजी के समय (सं. १४९५-१५६१) में यहाँ के शेखा ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली

१. वरदा: १०-१: पृ. ४०।
२. कलस बंदावण नीसरी, नवल सुरंगी नार।
दास्यां पदमण ज्यूं दिपै, गढ पूंगल गिरनार॥
—बात भिणाय राजा कर्मसेण री।
३. ग्रं. ८६: राठौड़ प्रिथीराज रा दूहा आदि: पृ. १०३: अ. सं. ला. बीकानेर।
४. दी डवल्यू. आर. एस. रेजीडेन्सी एंड दी बीकानेर एजेंसी: पृ. ३८०।
५. पृ. १३।

और इस तरह इनकी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गई। तब से इनकी गणना परसंगियों में की जाने लगी।[1] यहां से काबुल को रास्ता जाता था। एलफिंस्टन इसी मार्ग से काबुल गया था और उसका कथन 'वनस्पति-शून्य-बालू का समुद्र' आज भी इस पर सही उतरता है।[2] इसका राज-सिंहासन गजनी से लाया बतलाया गया है।[3]

संप्रति इसकी महत्ता अतीत का विषय बन चुकी है। लेकिन जो कुछ भी प्राप्त है, उसमें पूगल-निवासी का सन्तोष है—

मीठो देस मदारियां, खाजर वारां खाण।
नीकी गूंजी नीपजै, पूगल देसप्रमाण॥

नरवर :

नल राजा की राजधानी एवं ढोला का जन्म-स्थान नरवर मध्य-प्रदेश में २०.३६ उ. अ. और ७७.५४ पू. दे. पर स्थित है। सीपरी से २० मील ईशानकोण में काली सिन्ध के दाहिने तट पर ४ मील की दूरी पर यह बसा है। इसका प्राचीन नाम नलपुर था जहाँ मध्यकालीन अनेक संस्कृत के शिलालेख प्राप्त हुए हैं।[4]

वर्तमान आबादी से ठीक उत्तर की ओर त्रि-फला पहाड़ी पर २४ मील के घेरे में गगनस्पर्शी किला बना है जिसमें राजा नल का रनिवास, ढोला का बाग, ढोला-पोल, ढोला राय की छतरी आदि हैं।

चारण रामनाथ रत्नू के अनुसार इसे महाराज नल (महाभारतकालीन) ने सं. ३५१ में बनाया।[5] इसका इतिहास अत्यन्त पुराना है और वह सदा ग्वालियर के साथ जुड़ा रहा है। पहले यह कछवाहों के अधिकार में रहा। फिर सन् ११२९ ई. में परिहारों के अधिकार में चला गया।[6] श्री गौ. ही. ओझा के अनुसार ये. सं. ११७७ तक अकंटक रूप से नरवर में राज्य करते रहे।[7] फिर इस पर तँवरों का राज्य रहा। सं. १५६४ में यह सिकन्दर लोदी के हाथ में चला गया[8] और उसने ही फिर राजसिंह कछवाहा को वापस दे दिया।

नरवर साहित्य-ग्रन्थों एवं लोक-काव्यों में भी खूब प्रचलित रहा है। यहाँ के राजा नरपति की कन्या फुलवा से ऊदल का विवाह हुआ था जिसका आल्हा खण्ड में उल्लेख है। बीसलदेव रास में भी नरवर का नाम आया है।

१. बीकानेर राज्य का इतिहास: द्वितीय खंड: श्री गौ. ही: ओझा: पृ. ६६४।
२. दी डब्ल्यू. आर. एस. रेजीडेन्सी एंड दी बीकानेर एजेंसी: पृ. ३८०।
३. आउट लाइन आफ एन आर्ट हिस्ट्री ऑफ बीकानेर: एच. गोएट्ज: पृ. ४।
४. देश दर्शन-ग्वालियर: ३-३: पृ. १२७।
५. इतिहास राजस्थान।
६. सेन्ट्रल इन्डिया गजेटियर सीरीज-ग्वालियर स्टेट: वाल्यूम I: पृ. २७२-२७४।
७. टॉड राजस्थान: पृ. ३७५।
८. बीकानेर राज्य का इतिहास: द्वितीय खंड: श्री गौ. ही. ओझा: पृ. २१६।

पुष्कर :

ढोला एवं मारू का यहाँ विवाह हुआ था। यह अजमेर से ७ मील पश्चिम में २६.२९ उ. अ, और ७४.३६ पू. दे. पर समुद्रतल से २३८९ फुट ऊँचा स्थित है।

पुष्कर तीन हैं—ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। पुष्कर के देव मन्दिरों में ब्रह्मा, सावित्री, बद्रीनारायण, वाराह एवं शिव-आत्मेश्वर—पाँच प्रधान मन्दिर हैं। अनेक मन्दिर औरंगजेब की धर्मांधता के फलस्वरूप ध्वस्त भी कर दिये गये।[1] 'ढोला-मारू' की अन्य प्रतियों में ऐसा उल्लेख है कि नल राजा वाराह भगवान के पूजार्थ ही पुष्कर आये थे क्योंकि उन्हीं की मनौती से उन्हें ढोला की प्राप्ति हुई थी।[2]

पुष्कर सम्पूर्ण तीर्थों का गुरू है एवं हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों के पृष्ठ इसकी महिमा से मण्डित हैं। श्रद्धालु भारतीयों के लिये यह अब भी उतना ही श्रद्धा का केन्द्र है। आए दिन असंख्य यात्रियों का जमघट यहाँ देखने को मिलता है। कार्तिक शुक्ला ११ से १५ तक यहाँ विशाल मेला लगता है। लोक-गीतों में इन दिनों 'हालो वेली पोकर हालाँ' की धुन हवा में तैरती रहती है।

ईडर

यह २३.५० उ. अ. और ७३.४ पू. दे. पर गुजरात में आया हुआ है। ढोला मालवणी से ईडर जाकर आभूषण लाने का अनुरोध करता है।[3]

यह भी अत्यन्त प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान रहा है। प्राचीन समय में यहाँ सन् ८०० से ९७० ई. तक गहलोतों का राज्य रहा। तत्पश्चात् परमारों ने इस पर अधिकार कर लिया। प्राचीन समय में 'ओलग' (प्रवास सेवा) के लिये मनुष्य ईडर की ओर खूब आते थे। राजस्थानी काव्य में तो इसका प्रवास सेवा के अर्थ में एक वर्णनात्मक रूढार्थ हो गया था।

मुलतान

अब पश्चिमी पाकिस्तान में यह नगर ३०.१२ उ. अ. एवं ७१.३१ पू. दे. पर स्थित है। इसका नाम सूर्य देवता के पीछे पड़ा।[4]

कविराज बाँकीदास की ख्यात के अनुसार बगपुर, हंसपुर साम्भपुरा, और मुलतानपुर, ये चारयुगों में रहे।[5] ऐसा प्रसिद्ध है कि इसे महर्षि कश्यप ने बसाया जो आगे चलकर हिरण्यकशिपु एवं प्रहलाद की राजधानी रहा। इस नगर पर सिकन्दर ने ३२७ ई. पू. में आक्रमण किया था। तत्पश्चात् यह विदेशी आक्रान्ताओं का शिकार बना ही रहा। प्रसिद्ध चीनी यात्री **हुएन्त्सांग** ने भी सन् ६४१ में इसे देखा और सूर्य की स्वर्ण प्रतिमा के दर्शन किए थे। सन् १३९७ में तैमूर ने भी इसे जीता।

---

१. इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया वाल्यूम :XXI: पृ. १।

२. ग्रं. २२३९: ढोला मारौंणी री बातः रा. प्रा. वि. प्र. शा. उदयपुर।

३. ईडर की धर अउलगऊँ, जइ तूँ कहइ तु जाँह।
अउथि घड़ाऊँ आभरन, माल्हवणी मेलाँह।।२२४।।

४. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इन्डियाः वाल्यूम XVIII: पृ. ३५।

५. संपा. श्री नरोत्तम स्वामी: पृ. २०७।

प्राचीन समय में यह सुप्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र रहा था। ढोला 'मुलताणी धरा' से 'मेलार' घोड़े खरीदने का मालवणी से आग्रह करता है।[१] यहाँ से होकर फारस तक व्यापार होता था।

लोद्र

पश्चिमी राजस्थान का भू-प्रदेश पहले इसी नाम से विख्यात था। लौद्र परमारवंशीय क्षत्रियों की एक शाखा भी है। उनका पहले यहाँ राज्य था जिसके खण्डहर आज भी जैसलमेर के उत्तर-पश्चिम में उससे १० मील दूर पर देखे जा सकते हैं। भाटी जैसल ने सुरक्षा की दृष्टि से सं. १२१२ के श्रावण मास में लोद्रवा से राजधानी हटाकर जैसलमेर की नींव डाली।[२]

पहले लोद्र प्रदेश पर परमार क्षत्रियों का शासन था। चंद्रवंशी भाटी-वंश में विजयराज प्रथम के बेटे देवराज ने वड़हा (पहले राजपूत थे पर अब मुसलमान हो गये) एवं लंवा (सोलंकियों की एक शाखा) पर विजय प्राप्त की और तत्पश्चात् लोद्रवा पर कब्जा कर लिया।[३] देवराज का समय सं. ९०४ से १०३० तक माना गया है।[४] जैसलमेर के इतिहास में देवराज सबसे अधिक प्रतापी राजा हुए जिनके राज्य में बड़े-बड़े नौ परगने थे-पूगल, लुद्रवा, देरावल, शन्तलमेर, करोहड़, कैराडू, पारकर, भटनेर, और रोहड़ी भक्खर।[५]

लोद्र काक नदी के किनारे बसा था जहाँ अनिंद्य सुन्दरी एवं महेन्द्र की प्रेमिका मूमल की मेड़ी (महल) के खण्डहर आज भी देखे जा सकते हैं। यद्यपि प्रकृति की हरियाली और सम्पदा से यह क्षेत्र वंचित रहा है, परन्तु परमात्मा ने मानवीय रूप-लावण्य का उपहार देकर उस कमी की पूर्ति अवश्य कर दी है।

माँगलोर

इससे मिलते-जुलते नाम कई स्थानों के हैं जो भारत के विभिन्न भागों में स्थित हैं। ढोला का सबसे तेज करहा माँगलोर स्थित किसी वाटिका से ही चरता था।[६] यह रतलाम के पास है। नैणसी की ख्यात के अनुसार लछमण के पौत्र मांगल ने इसे बसाया।[७] इससे यह प्रसंग ढोला के मूल काव्य में बाद में जोड़ा गया लगता है। किसी समय यह अत्यन्त सम्पन्न स्थान रहा होगा। कवि जोद्धण ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है।

---

१. दो. सं. २२६।
२. इतिहास राजस्थान: चारण रामनाथ रत्नू: पृ. २२७-२२८।
३. दी डब्ल्यू. ग्रार. एस. रेजीडेन्सी एंड दी बीकानेर एजेंसी: इर्सकिन: पृ. ११।
४. इतिहास राजस्थान: चारण रामनाथ रत्नू: पृ. २३७।
५. इतिहास राजस्थान: चारण रामनाथ रत्नू: पृ. २३८।
६. मांगलोर वाड़ी चरइ, पाणी पीवइ गंग ॥२११॥
७. मुंहता नैणसी री ख्यात: भाग १: संपा. श्री. ब. प्र. साकरिया: पृ. २९३।

मंगलोर सहर मोटे मंडाण, ज्योत जगन मांहि कैलास जाण।
पहलो जु कोट अतही प्रचंड, नहीं इसौ अवरन वही जु खंड ।।[1]

चँदेरी

मध्य-प्रदेश के ग्वालियर जिले का यह सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर २४.४३ उ. अ. और ७८.९ पू. दे. पर समुद्रतल से १३०० फुट ऊंचा वसा है।

मुहता नैणसी के अनुसार राठौड़ राजा धुंधमार के १३ पुत्रों में से एक चंदेल ने चंदेरी को वसाया और यहाँ के शासक चँदेल कहलाये।[2] चँदेरी दो भागों में विभक्त है—बूढ़ी चन्देरी एवं चन्देरी। प्राचीन चन्देरी के खण्डहर वर्तमान चन्देरी से ९ मील उत्तर-पश्चिम में हैं।

इसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन रहा है। ९-१० वीं शती के कई जैन मन्दिर यहाँ हैं। यहाँ के पहाड़ी किले का ११ वीं शती में राजा कीर्तिपाल द्वारा वनवाये जाने का उल्लेख हैं।[3]

साहित्य में भी यह स्थान खूब प्रसिद्ध रहा है। राजस्थानी कवि छीहल के 'पंच सहेली रा दूहा' की सहेलियाँ इसी चन्देरी नगर की थीं—

देख्या नगर सुहावणा, अधिक सुचंगा थान।
नांव चन्देरी प्रगटिऊ, जिऊं सुरलोक समान ।।[4]

बूँदी

मालवणी द्वारा भेजा गया शुक ढोला को बूँदी के किसी सरोवर की तीर पर मिला था।[5] बूँदी २५.२७ उ. अ. एवं ७५.३९ पू. दे. पर कोटा से २० मील पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित है।

इसका नाम 'बूँदा' नामक मीणा सरदार के नाम पर पड़ा।[6] पहले यहां मीणों का राज्य था। सं. १३९८ में हाड़ा देव (देव सिंह) ने बूँदा के पौत्र से इसे छीना और अपनी राजधानी वनाथा।[7] राजवंश के हाड़ा होने के कारण यह क्षेत्र हाड़ावती भी कहलाता है।

मरू-देश

कवि ने मारवणी के इस प्रदेश का ऐसा सजीव एवं यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया है कि वह सारा प्रदेश साकार हो उठा है।

---

१ राजस्थानी में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोजः भाग २ः पृ. १११।
२. नैणसी की ख्यातः भाग २ः संपा. श्री रा. ना. दूगड़ः पृ. ४७।
३. देश-दर्शनः ग्वालियरः ३-३ः पृ. १२८।
४. ग्रं २३९७ः पंच सहेली रा दूहाः रा. प्रा. वि. प्र. शा. उदयपुर।
५. दो. सं. ४००।
६. राजपूताने का इतिहास : भाग २ः श्री ज. सि. गहलोत : पृ. ३।
७. इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया : वाल्यूम xi : पृ, ८७।

मालवणी के इन शब्दों में प्रकृति के अनुराग से वंचित मारू-देश का वर्णन द्रष्टव्य है—

बाल.उँ, बाबा, देसड़उ, पाँणी संदी ताति ।
पाणी केरइ कारणइ, प्री छंड़इ अधराति ।।६५५।।
मारू थांकइ देसड़इ, एक न भाजइ रिड्ड ।
ऊचाल.उ क अवरसणउ, कइ फाकउ, कइ तिड्ड ।।६६०।।
जिण भुइ पन्नग पीवणा, कयर :कँटाल.ा रूँख ।
आके फोगे छांहड़ी, हूँछाँ भाँजइ भूख ।।६६१।।
पहिरण ओढण कंवला, साठे पुरसे नीर ।
आपण लोक उभाँखरा, गाडर छाली खीर ।।६६२।।

जीवन की इन कठिनाइयों के विपरीत मरू-देश का मानवीय सौन्दर्य एवं स्वभावगत-मधुरता अन्यतम है—

मारू देस उपन्नियाँ, सर ज्यउँ पध्धरियाह ।
कड़वा कदे न बोलही, मीठा बोलणियाह ।।६६७।।
देस निवाणूँ, सजल.जल., मीठा बोला लोइ ।
मारू काँमिणि दिखणि घर, हरि दीयइ तउ होइ ।।६६८।।
देस सुरंगउ, भुँइ निजल., न दियाँ दोस थलाँह ।
घरि घरि चंद वदन्नियाँ, नीर चड़इ कमलाँह ।।६६९।।

निस्सन्देह इस कथन में अत्युक्ति नहीं है। मरुधर में जो प्रकृति की कठोरता है, वह मानवीय स्वभाव में उतनी ही सरस बन कर ढल गई है—

नभ नेही, नेही पवन, नेही धरा निसेस ।
नर नारी नेही निखल, नेही मुरधर देस ।।

मालव-देश

भारत के इस समृद्ध और प्राचीन भू-प्रदेश का नाम मालव जाति के नाम पर पड़ा।[1] इसका प्राचीन नाम 'अवन्ती' और 'आकर' था।

ढोला की द्वितीय पत्नी मालवणी मालवा के राजा की बेटी थी।[2] मालवणी द्वारा मरुधर देश की निन्दा किए जाने पर मारवणी द्वारा दिये गये दो टूक प्रत्युत्तर में मालवा अपनी सही अवस्था में उभर आया है। यहाँ सेवार से आच्छादित पानी है, पनिहारिनों का मुखरित स्वर नहीं है, लोग नीरस हैं, काले वस्त्र धारण करने के कारण घर-घर शोक छाया हुआ लगता है एवं कोई गौर-वर्ण की सुन्दरी नहीं दिखाई पड़ती।[3]

परन्तु इस प्रदेश पर प्रकृति की सदैव अनुकम्पा रही है। अकाल के समय

१. ओझा निबन्ध संग्रह : प्रथम भाग : पृ. १२ एवं ३६ ।
२. दो. सं. ९४ ।
३. दो. सं. ६६४-६५ ।

मालव मरुधरवासियों को गले लगाता रहा है। किसी राजस्थानी कवि ने इस प्रान्त के प्रति अपनी हृदयस्थ भावना इस प्रकार व्यक्त की है—

अमल, चिणा, गेहूँ अधिक, साँठा, वाड़ विसेस।
काल नहीं व्यापै कदै, अइयो मालव देस ॥

विक्रमादित्य और भोज के इस देश का अतीत प्रोज्ज्वल तथा आर्य जाति के स्थान में अद्वितीय रहा है। ईसा से भी ८५० वर्ष पूर्व यह एक पृथक् राज्य था। यह उत्तरी एवं दक्षिणी दो भागों में विभाजित था जिनकी उज्जैन और महिष्मती क्रमशः राजधानियाँ थीं।[१] अकबर के समय अबुफजल ने २२° और २५° उ. अ. तथा ७५° और ७८° पू. दे. के मध्य इसका सीमांकन दिया है।[२]

कच्छ :

भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर कच्छप के आकार का यह भू-भाग २२.४६ से २४ उ. अ. एवं ६८.२२ से ७१.३ पू. दे. के मध्य स्थित है। इसके तीन ओर समुद्र तथा दलदली मैदान हैं।

ऐसा कहा जाता है कि पहले कच्छ की भूमि का सम्बन्ध सिन्ध की भूमि के साथ था जो १८ वीं शती में भूकम्प के कारण टूट गया। यह भी इतिहास एवं पुराण-प्रसिद्ध प्रदेश रहा है। महाभारत (भीष्म पर्व ९/५६) एवं जैन-हरिवंश (१२।६८) में इस जनपद का नामोल्लेख हुआ है। विलसन के मतानुसार स्ट्राबो वर्णित सिर्गातिन (स्त्रीगर्त) नामक जनपद का नाम ही वर्तमान कच्छ है।[३]

यहाँ के ऊँट बड़े प्रसिद्ध होते हैं। ढोला का ऊँट यहाँ का ही था।[४] यहाँ का लाखाफूलाणी राजा अपनी दानशीलता एवं प्रेम-प्रसिद्धि के कारण अनेक राजस्थानी एवं गुजराती कथा-कहानियों का नायक है।

गूजर-धरा :

इसका प्राचीन संस्कृत नाम गुर्जरत्रा था। उस समय इसकी सीमाएँ भी विशाल थीं। श्री गौ. ही. ओझा के मतानुसार यह नाम इस देश पर किसी समय गुर्जर (गूजर) जाति का राज्य रहने से पड़ा होगा (जैसे मेद या मेव से मेदपाट या मेवाड़); परन्तु वहाँ पर गुर्जर जाति का राज्य कब हुआ और कब तक रहा, इसका अब तक कोई पता नहीं लगा।[५] प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्त्साँग, जो सं. ६९८ में भीनमाल आया था, ने अपनी यात्रा पुस्तक 'सि-यु-कि' में गुजरात का वर्णन किया है। उसके समय में यह चावड़ा राजाओं के अधिकार में था। श्री गौ. ही. ओझा

१. हिस्ट्री आफ मालवा : प्रथम भाग : श्री सु, सं. भंडारी : पृ. २।
२. मेमोअर्स आफ सेन्ट्रल इन्डिया इन्क्लूडिंग मालवा : मेल्कम : पृ. १।
३. हिन्दी विश्व कोष : भाग iii : श्री न. ना. वसु : पृ. ६१२।
४. दो. सं. ४६६।
५. ओझा निबन्ध संग्रह : प्रथम भाग : पृ. ३०।

लिखते हैं कि सं. ७९६ और ८६५ के बीच रघुवंशी प्रतिहारों ने गुर्जर देश का राज्य चावड़ों से छीना।[1]

ढोला गज-गामिनी मालवणी से 'गूजर-धरा' जाकर 'दखणी-चीर' लाने का आग्रह करता है।[2] गुजरात प्रकृति की शस्य-सम्पदा से सदैव समृद्ध रहा है। यहाँ का कला-कौशल एवं व्यवसाय प्राचीन काल से ही शिखरारूढ़ रहा है। गुजरात की नैतिक एवं भौतिक सम्पदा किसी राजस्थानी कवि के इस दोहे में सिमट कर समा गई है—

घनो दरव अर धन घणो, निज सेवा श्री नाथ।
साजै तिरिया सील व्रत, राजै वर गुजरात॥

(ख) वनस्पति :

'आदिम-मानव-शिशु की उस असहाय अवस्था में, वनस्पति और पशु — माँ धरती के दो स्तन के समान थे, जिनसे उसे अपना जीवन मिलता रहा था[3]। 'ढोला मारू रा दूहा' में स्थानीय वनस्पति की सुष्ठु झलक है। यह स्वतन्त्र रूप से भी चित्रित हुई है और उपमान-रूप में भी। प्रसंगतः अन्य पेड़-पौधे, पुष्प, फल इत्यादि भी उपमान-रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

वृक्ष, पौधे, और लताएँ :

इनमें आम्र (अंब तजइउ नहि कोइलां।८।, जोवण आँबउ फलि रह्यउ ११७), आम्र-मौर (मारू अंबा-मउर जिम कर लग्गइ कुँमलाइ ४७१), कदली (जंघा केलिनी फलि गई १३२, नमणा जेही केलि ५६३), कदली-गर्भ (नासिका दीप-सिखा जिसी, केल-गरभ सुकमाल-४७९), करील (करि कइराँ ही पारणउ-४३०, कइराँ कूँपल नवि चरूँ-४३१, जिण भुइ पन्नग पीयणा कयर कँटाला रूँख-६६१), कनेर (घण कणयर री कंब ज्यउँ-१३५), चंपा (चंपा वाड़ी भमर ज्यऊँ ७३, जोबन चाँपउ मउरियउ-१२०), चंदन (जाँणे चंदन-रूँखड़इ विलगी नागर-वेलि-५५५), बबूल वाँवलि काँइ न सिरिजियाँ-४१४), वड़ (वाँधउँ वड़ री छाँहड़ी-३२०), जाल (तू काँई नीली जाल-३९१, जालि करीराँ झाड़ि-४३२), शिरीष (ऊकटिया सारेह-२९५), आक (थल जाली वलि अक्क-२८९, आँव सरीखउ आक गिणि-४३२), पीपल (दो. सं. ४४७) आदि की गणना की जा सकती है। अन्य स्थानों पर प्रेम-रूपी वृक्ष[4] साजन रूपी वृक्ष[5] तथा ऐसे अद्भुत वृक्ष की कल्पना भी सराहनीय बन पड़ी है—

---

१. ओझा निबन्ध संग्रह : प्रथम भाग : पृ. ३३।

२. दो. सं. २३२।

३. परम्परा : १-१ : पृ. ९३ पर श्री विजयदान देथा के 'पशु और पक्षी' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत।

४. दो. सं. ५६०।

५. हियड़इ भीतर पइसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख। १५८॥

जइ रूँखा मारू हुई, छवड़उ पड़ियउ तास।
तइ हुंती चन्दउ कियइ, लइ रचियउ आकास ।। ४३७ ।।

पौधों में लवंग (दो. सं. ५६१), दाख एवं बिजोरा (द्राख विजउरा नीरती-४२६), केतकी (जाँगिक निकसी केतकी-५६१), बाजरी (बाजरियाँ हरियालियाँ-२५०) तिल (जिणि दीहे तिल्ली त्रिड़इ-२८२), मूँग (जाउँ ढोलारइ सासरइ, सफला मूँग चरूँह-३१६), जल-पौधा सेवार (जहाँ पाँणी सेवार-६६४) आदि आए हैं।

लताओं में नागर-बेलि का अनेक वार उल्लेख हुआ है—जिणि मुखि नागर वेलियाँ-३०६ एवं ३१०, ३११, ३२०, ३२६, ४२८, ४३०, ५५५ आदि। मारू के लिये लता का उपमान अनेक स्थानों पर कवि ने प्रयुक्त किया है—मोहन-वेली मारूई, कंत पेम-रस पीध-५५४; गुण-लता एवं रस—वेलि-वाही थी गुण वेलडी, वाही थी रसवेलि-६१०) आदि।

अन्य घास, झाड़ियाँ आदि में ऊँट-कटारा (दूजा दोवड़-चोवड़ा, ऊँट कटालउ खाँण-३०६ एवं ४२७, ४६१), फोग (आके फोगे छाँहड़ी-६६१), भुरट (हूंछाँ भाँजइ भूख-६६१), बूर (थल मथ्थइ जल वाहिरी, काँइ लबूकी बूरि-३६०) आदि का सूक्ष्म-चित्रण राजस्थान के प्राकृतिक-चित्रण को पूर्णता प्रदान करता है।

फल :

फल मानव को प्रकृति की अनुपम देन है। राजशेखर ने फलों को छः कोटियों में रखा है—

अन्तर्व्याज=वड़हल आदि,	सर्वव्याज=ककुभ-फल आदि,
वहिर्व्याज=केला आदि,	बहुव्याज=कटहल आदि,
उभयव्याज=आम आदि,	निर्व्याज=नेल-केथ आदि,[1]

'ढोला-मारू' में भी ताजे एवं सूखे फलों का उल्लेख हुआ है यथा-श्री-फल (कुच श्रीफल कंठ वीण-१३), आम (मारू पक्का अंब ज्यूँ, झरइ ज लग्गे वाय-४७२), अनार (दंत जिसा दाड़म कुली-४८०), दाख और बिजौरा (आँणे द्राख-विजोरियाँ, धण छोलइ, प्रिउ खाइ-५५८), गुंजाफल (जाँण्यउ गुँजाहल अछइ-५७२) आदि। फल भी अधिकतर उपमान-रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं।

पुष्प :

पुष्प प्रकृति के सुवासित हृदय की सुरभि-पूर्ण साकार अभिव्यक्ति हैं। 'शोभा, अन्न, गन्ध, रस, फल और अर्चन (पूजन)—इन छः कारणों से पुष्प उपयोग होता है। इनके अतिरिक्त सातवाँ अनुपयोगी या अवर्णनीय है[2]। 'ढोला-मारू' में जिन पुष्पों का उल्लेख हुआ है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं—कमल (जोवण कमल विकासि-यउ-११६, कालर काझा कमल ज्यऊँ-४६५ एवं ४५५, ४७३, ५४६, ६६६ आदि), कुमुदिनी (धण कँमलाँणी, कमदणी-१२६), कमलिनी (धँण कँमलाणी

१. काव्य-मीमांसा : पृ. २६३।
२. काव्य-मीमांसा : राजेश्वर : पृ. २६२।

कँमलणी-१३०, जल पोइणिए छाइयउ-२४५), केतकी (जाँणि क विकसी केतकी–५६१), केवड़े की कली (कस्तूरी कड़ि केवड़ो-४७६), चंपा, (जोवन चाँपउ मउरियउ-१२८, चंपा केरी पाँखड़ी-३६६ चंपावरनी, नाक सल-४६२), चमेली (दो. सं. ३२०), दाड़िम का फूल (मारू दाड़म-फूल जिम-४७६) आदि ।

मानवेतर प्राणी :

मानव-जीवन की सुदीर्घ विकास-यात्रा में पशुओं का सहयोग अन्यतम रहा है । 'ढोला-मारू रा दूहा' में पशु-जगत् के प्रति रागात्मक सम्बन्ध स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है । इस काव्य में सर्वाधिक चर्चित पशु ऊँट रहा है । इस पर द्वितीय परिच्छेद में वस्तु वर्णान्तिर्गत टिप्पणी दी जा चुकी है ।

घोड़ा राजस्थानी जीवन का अभिन्न अंग रहा है । इस काव्य में घोडे का उल्लेख अनेक वार हुआ है । नल ने पिंगल को अन्य वस्तुओं के साथ घोड़े भी दिये ।[१] उस समय इनका व्यापार भी तेजी पर था । सौदागर के पास अनेक मूल्यवान घोड़े थे ।

तिणपइ घोड़ा अति घणा, वेच्या लाख लवंत ।। ८३ ।।

घोड़ों ने अनेक विछुड़े हृदयों को संयुक्त किया है । यदि ढोला फागुन या चैत्र तक नहीं पहुँचा तो मारवणी घोड़े पर जीन कस लेगी ।[२] क्षत्रिय समाज में यह दहेज की वस्तु भी रहा है । पिंगल ने ढोला को दहेज में अनेक घोड़े दिये ।[३] 'ढोला-मारू' में घोड़ों की अनेक जातियों में से एक उत्तम जाति 'सेलार' का उल्लेख भी हुआ है जिसे ढोला मुल्तान जाकर खरीदने की इच्छा प्रकट करता है ।[४] इससे सम्बद्ध उपकरणों में वाग,[५] जीण,[६] टापर[७] आदि का उल्लेख भी यथा–प्रसंग हुआ है । ढोला के चलायमान चित्त को घोड़ों के वाग उठा लेने की उपमा दी गयी है—

साहिव चित्त उपाड़ियउ जिम के काँणाँ वग्ग ।। ३२४ ।।

घोड़ों के हिनहिनाने[८] और गति-विशेष 'टाप'[९] की चर्चा भी कवि ने की है ।

यहाँ के क्षत्रिय जीवन में घोड़ा इस तरह समाया हुआ था कि इसके विना जीवन ही व्यर्थ समझा जाता था—

तीखा तुरीय न माणिया, भड़ सिर खग्ग न भग्ग ।
जलम अकारथ ही गयो, गौरी गले न लग्ग ।।

राजस्थान के इतिहास में इसका अप्रतिम महत्व रहा और इसी कारण इसे स्वर्ग का सोपान तक समझा गया—

---

१. दो. सं. ३ ।

२. जइ तूँ ढोला नावियउ, कइ फागुण कइ चेत्रि ।
तउ म्हे घोड़ा वाँविस्याँ, काती कुड़ियाँ खेत्रि ।।१४६।।

३. दो. सं. ५६५ ।

४. दो. सं. २२६ ।

५. दो. सं. ३२४ ।

६. दो. सं. २४६ ।

७. दो. सं. २७६,२८० ।

८. दो. सं. ६०२ ।

९. दो. सं. ६२७ ।

साठी चावल, भैंस दुध, घर सिलवंती नार।
चौथी पीठ तुरंग री, सुरग निसाणी च्यार ।।

वास्तव में कहा भी है—वलदाँ खेती, घोड़ां राज। इसके विना भूमि का उपभोग अधूरा है जैसा कि श्री सूर्यमल मीसण कहते हैं।

घर घोड़ां ढालाँ पटल, भालाँ खम्भ वणाय।
जे ठाकर भोगै जमीं, अवर न दूजा काय ।।६०।।[१]

घोड़े ही भू-दाता हैं—

घोड़ाँ सूँ आई धराँ, रिपु धरा जग रीत।
तिण कारण चढ़ियो तुरँग, जियो जितै रणजीत ।।

यह पशु पितृकुल का अनुगामी है—ऐसा एक राजस्थानी कहावत से चरितार्थ होता है—

मा पर पूत, पिता पर घोड़ो
घणों नहीं तो थोड़म थोड़ो ।।

घोड़ों को भाद्रपद का महीना असह्य होता है।[२] इन्हें प्रातः काल खूब प्यास लगती है।[३]

समाज के अभिजात वर्ग में हाथी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यह राजा-महाराजाओं का वाहन तो वना ही, युद्ध में भी वहुत प्रयुक्त हुआ है। मारवणी ने अपने यौवन को मदोन्मत्त हाथी से उपमित किया है।[४] हाथी अपनी झूमती हुई मस्त चाल के लिये विख्यात है। कवि ने मारवणी की गति को हाथी सदृश वताया है।[५] उसका उरस्थल हाथी के कुंभस्थल जैसा है।[६] प्रियतम के प्रेम-रस में आकण्ठ डूवी मारवणी मद-चढ़े हाथी के समान हो गयी।[७] इन्द्र का यह वाहन[८] राजकुलों में दहेज की वस्तु रहा है। पिंगल ने ढोला को नरवर लौटते समय अनेक हाथी दिये।[९]

गधा मूर्ख-शिरोमणि गिना जाता है। यहाँ यह मालवणी की चाल का शिकार वन कर दागा जाता है।[१०]

---

१. वीर सतसईः पृ. १५३.।

२. घोड़ाँ दूभर भादवो, भैंसाँ दूभर जेठ।
मरदाँ दूभर पीसणो, नारी दूभर पेट ।।

३. सेराँ, मदवाँ, घायलाँ, गलती माँझल रात।
घोड़., चिड़ाँ, पारेवड़ाँ तिस लागै परभात ।।

४. जोवण हस्ती मद चढ्यउ, अंकुस लइ धरि आइ ।।११५।।

५. दो. सं. ४५४, ४५५, ५३६, ५३७, ५३८।

६. दो. सं ४७४।

७. पंचाइण नइँ पाखर्यउ, मइँगल् नइ मद कीध।
मोहण वेली मारूई, कंत पेम-रस पीध ।।५५४।।

८. दो. सं. ५८०। ९. दो. सं. ५९५।

१०. दो. सं, ३३३, ३३५, ३३६।

भेड़ और बकरी भी राजस्थानी जीवन के अभिन्न अंग है। अनेक स्थानों पर[1] कवि ने इनका उल्लेख कर यहाँ के सामान्य जीवन-चित्रण में स्वाभाविकता का संचार किया है, मालवणी मारुदेश के सीधे-सादे भेड़ चराने वाले से विवाह करना नहीं चाहती। (दो. स. ६५८)। वह सत्य कहती है। मरु देश में—

पाहिरण ओढण कंबला, साठे पुरिसे नीर।
आपण लोक उभांखरा, गाडर छाल खीर ॥६६२॥

राजस्थानी में भेड़ों के झुंड को 'एवड़' कहा जाता है।[2]

वन्य पशुओं में यहाँ सिंह, बाघ, हरिण-हरिणी आदि का उल्लेख हुआ है। कवियों ने नायिका के कटि प्रदेश के लिये परम्परा से सिंह-कटि का प्रयोग किया है। 'ढोला-मारू' के कवि ने भी मारवणी की कटि को सिंह-कटि के सदृश बताते हुए इस परम्परा का पालन किया है।[3] कवि के शब्दों में मारवणी तो स्वयं पालतू सिंह है—

ढोला थांकी मारुइ, जांणि विलूधउ सीह ॥४५६॥

बाघ भयंकर हिंस्र पशु है। मारवणी ने अपने यौवन रूपी बाघ के दर्प को चूर्ण करने के लिये प्रियतम-रूपी मेघ को आमन्त्रित किया है—

विरह बाघ वनि तनि वसइ, सेहर गाजइ आइ ॥१२८॥[4]

हरिण अपने नेत्रों के आकार और भोलेपन के कारण कवियों का प्रिय रहा है। इस काव्य में भी अनेक स्थलों पर कवि ने मारवणी और मालवणी के नेत्रों के लिये हरिण के नेत्रों का उपमान-रूप में प्रयोग किया है।[5] चन्द्रमा के रथ-वाहन मृगों[6] की गति से मालवणी अपनी नेत्र-गति की तुलना करती है उसका यह कथन अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन गया है—

सयणां पांखां प्रेम की, तइं अब पहिरी तात।
नयण कुरंगउ ज्यूं वहइ, लगइ दीह नइं रात ॥३६४.

---

१. (i) भेड़—दो. सं, ४३५,।
   (ii) बकरी—दो. सं. ६६२।
२. दो. सं. ४३६।
३. (i) ……………,कटि केहर जिम खीण।१३॥
   (ii) दो. सं. ४५४, ४५५, ४६६, ४६६।
४. राजस्थानी के अनेक कवियों ने सिंघ और घन-गर्जन की कवि परम्परा का अपने-अपने काव्यों में पालन किया है—

सादूलो आपा समो, वियो न कोय गिणंत।
हाक विडाणी किम सहै, घण गाजिए मरंत ॥६॥

—ईसर दास कृत 'हालां झालां रा कुंडलिया'

५. दो. सं. ८७. २२२, २२६, २६६, ४६६।
६. दो. सं. ५७०।

मालवणी ने शीत-ऋतु में ढोला को पूगल-प्रस्थान से रोकने के लिए हरिणियों की गर्भ-धारण क्रिया का भी दृष्टान्त रखा है।[१]

भूमि पर रेंगने वाले नाग-नागिन, साधारण सर्प एवं मरुस्थल के सर्प-विशेष पीणे सर्प का उल्लेख 'ढोला-मारू' में हुआ है। मालवणी ढोला के मुख से मारू-मिलन की मनोइच्छा प्रकट होते ही धड़ाम से गिर पड़ी मानों भुजंग ने उसे डस लिया हो।[२] ढोला को रोकती हुई मालवणी की उक्ति है कि जिस ऋतु में नाग भी घर से नहीं निकलते भला उस ऋतु में कौन परदेश जाता है?[३] ढोला के पूगल-प्रस्थान के पश्चात् मालवणी के लिये सेज सर्प-रूप हो जाती है।[४] उसे सरोवर का जल काले नाग की तरह लहरें ले लेकर काटता है(—ऊ जल काला नाग जिऊँ, लहिरी ले ले खाइ ॥३६३॥) उसे महल भी काले नाग के सदृश काटता है।[५] कवि ने वेणी को भी नागिन से उपमित किया है।[६] मारू का कथन है—

निकसी वेणी सापणी, स्वात न बरसउ आइ ॥१२५॥

स्वप्न में विरह रूपी सर्प से ग्रसित मारू डगमगा कर ढोला के गले लग जाती है—

आज ज सूती निसह भरि, प्रीय जगाई आइ।
विरह-भुयंगम की डसी, लबथबती गल लाइ ॥५०४॥

पीणे सर्प का उपयोग कवि ने नाटकीयता की सृष्टि के लिये इस काव्य में किया है। इस सर्प-विशेष की कथा ने मरुस्थलीय जीवन के प्राकृतिक परिवेश का इस काव्य में संचार किया है। पीणे-सर्प दंश की यह कथा दो. सं. ६०१ से ६२३ तक है जहाँ अंततः योगी मारू को पुनर्जीवित कर देता है। महादेव के हार सर्प की पवन-भक्षण क्रिया का उल्लेख भी कवि ने किया है।[७] सर्प-भक्षण का आयोजन कवियों ने कथानक रूढ़ि के रूप में भी किया है और वह अनेक काव्यों में मिलता है।[८]

कम उड़ने वाले पक्षियों में मोर और मुर्गे का उल्लेख कवि ने किया है। मोर भारत का राष्ट्रीय पक्षी है। अपनी सुन्दरता में वह अपनी सानी नहीं रखता। सर्वांग-सुन्दर श्री कृष्ण ने मोर-मुकुट धारण कर इसकी सुन्दरता निर्विवाद सिद्ध कर दी। प्रस्तुत काव्य में मोर-वाणी मारवणी को उद्दीप्त करती है।[९] बरसता हुआ सावन और उसमें बोलता हुआ मोर-मारवणी को असह्य है—

---

१. दो. सं. २८२।
२. ऊभी थी खडहड़ पड़ी, जाणे डसी भुयंगि ॥२३६॥
३. दो. सं. २८४।
४. पालंखी बिसहर भई, मंदिर भयउ मसांण ॥३५२॥
५. दो. सं. ३७१।
६. दो. सं. ४५५।
७. दो. सं. ५७७, ५७८, ५८०।
८. इस कथानक रूढ़ि के विस्तृत परिचय के लिये द्वितीय परिच्छेद का 'कथानक रूढियाँ' शीर्षक उप-विभाग देखिये।
९. दो. सं. ३८, ३६, ४८।

जल, थल, थल, जल, हुइ रह्यउ, बोलइ मोर किंगार ।
स्रावण दूभर हे सखी, किहाँ मुझ प्राण अधार ।।४६।।

वर्षा का महीना । प्रियतम परदेश में और शुद्ध कुलांगना घर में । ऐसे में मोर का शब्द कोमलांगी के लिये मृत्यु का निमन्त्रण है—

पावस मास, विदेस प्रिय, घरि तरुणी कुल सुध्ध ।
सारँग सिरवर ,निसह करि, मरइ स कोमल मुध्ध ।।१७४।।

पृथ्वी पर मोर मंडप बनाकर नाच रहे हैं और काम अंगों में नहीं समाता ।[1] ऐसे समय तो भिखारी, नौकर और चोर ही घर से निकलते हैं—

डूँगरिया हरिया हुआ, वर्ण झिंगोरचा मोर ।
इणि रिति तीनइ नीसरइ, जाचक, चाकर, चोर ।।२५३।।

मुर्गा रात्रि का प्रहरी और उषा के आगमन की सूचना देने वाला है । कवि ने अष्टयाम चित्रण में दम्पति को मुर्गे की बांग द्वारा विलग होने की पूर्व–सूचना दिलायी है—

चौथे प्रहरै रैणकै, कूकड़ मेल्ही रालि ।
धण संभालै कंचुवो, प्री मूँछाँ रा वालि ।।५८५।।

अनेक जलचर जीव भी उपमानों के रूप में और सामान्य चित्रण में प्रसंगत: आए हैं । मछली का प्राण पानी है । उसके बिना वह तड़प-तड़प प्राण त्याग देती है । ढाढियों से मारू का सन्देश सुनकर ढोला भी रात्रि भर उसी तरह तड़फता रहा—

ढाढी गाया निसह भरि, सुणिजउ साल्ह सुजाँह ।
ओछइ पाँणी मच्छ ज्यँउ, वेलत थयउ विहाँण ।।१६२।।

इस उपमा पर श्री शंभुसिंह मनोहर की टिप्पणी उल्लेखनीय है—इस दूहे में दी गयी उपमा बड़ी कारुणिक है । क्षीण जल में प्राण-रक्षा के लिये छटपटाती मछली को जिन्होंने देखा है वे नायक की विरह-व्याकुल दशा का अनुमान कर सकेंगे । शय्या पर विकलता से करवट बदलने और कम जल में मछली के तड़पने में निहित साम्य को लक्ष्य कीजिए ।[2] आगे मालवणी ने भी ढोला की प्रेम प्रतीति पर इसी उपमान से कड़ा व्यंग्य कसा है—

साहिब, तुझ्झ सनेहड़इ, प्रीति-तणी पति जाइ ।
जल खिण ही जाणइ नहीं, मच्छ मरइ खिण माँह ।।४१३।।

मेंढक भी अनेक बार इस काव्य में उपमान होकर आया है । रानी ने मेंढक सरोवर का दृष्टान्त देकर राजा को ढोला-मारू के दूसरे शब्दों में पुरुष और नारी

१. महि मोरां मंडव करइ, मनमथ अंगि न माइ ।
हूँ एकलड़ी किम रहउँ, मेह पधारउ माइ ।।२६३।।

२. ढोला मारू रा दूहा: व्याख्या और विवेचन:पृ. २३७-२३८ ।

के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है।[1] मारवणी का मन प्रियतम बिना ऐसा है—

सालूरा पाँणी बिना, रहइ विलक्खा जेम ।
ढाढी, साहिब सूँ कहइ, मो मन तो विण एम ।।१७३।।

अत: वह 'जिम सालूराँ सरवराँ' की तरह नेह का पालन करे।[2] ढोला के आगमन के पश्चात् अपनी प्रसन्नता-को मारवणी ने मेंढक के उदाहरण से अत्यन्त सुन्दर रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

पहुइ हुवउ ज पधारियाँ, मो चाहंती चित्त ।
डेडरिया खिण-मइ हुवइ, घण बूठइ सरजित्त ।।५४८।।

प्रिय प्रतीक्षा के लिये निरन्तर व्याकुल और खुली हुई अपनी आँखों को मारवणी ने सीपी के उपमान से व्यंजित किया है—

ढाढी जे साहिब मिलइ यूँ दाखविया जाइ ।
आँख्या सीप विकासियाँ, स्वाति ज बरसउ आइ ।।११६।।

यहाँ नयन-सीपियों को प्रियतम- स्वाति से दर्शन-मुक्ता लभ्य होने की कामना कितनी मर्मस्पर्शी बन पड़ी है। आगे मालवणी भी ढोला को शीत ऋतु में जाने से रोकती हुई कहती हैं—

जिणि रिती मोती नीपजइ, सीप समुंदा माँहि ।
तिणि रिति ढोलउ ऊमह्यउ,इँम को माणस जाहि ।।२८१।।

यहाँ नायिका की कामभावना की सांकेतिक व्यंजना के साथ-साथ कवि की बहुज्ञता भी प्रदर्शित है।

सारस और सारसी को आदर्श प्रेमी-युगल माना गया है।[3] इनमें से एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा आजन्म वियोगी ही रहता है। मारवणी ने ऐसे वियोगी सारस के कारुणिक स्वर में अपनी व्यथा को ही देखा है और कहा है—

राति ज सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ।।५३।।

मालवणी भी सारस के शब्द से धोखें में पड़ जाती है।[4] उसे सारसी का कुरलना समझ में नहीं आता—

---

१. दो. सं. ८ ।
२. दो सं. १६८ एवं. ५६४ ।
१. (i) जुग में जोड़ी दोय, चकवा नइ सारस सुणी ।
तीजो मिली न मोय, जो जो हारी जेठवा ।।
(ii) चकवा सारस बांण,नारी नेह तीनूँ निरखर ।
जीणो मुसकल जाँण, जोड़ी बिछड़्या जेठवा ।।
—परम्परा: वर्ष अंक--जेठवे रा सोरठा ।।
२. दो. सं. ३८८ ।

सारसड़ी मोती चुणइ, कुणइ त कुरलइ काँइ।
सगुण पियारा जउ मिलइ, मिलइ त विछुड़इ काँइ ॥३८९॥

बगुले पावस में धरती पर पैर नहीं रखते। मालवणी ढोला से कहती है कि भला ऐसी पावस ऋतु में कोई परदेश जाता है?[1] बगुले की इसी चेष्टा का मालवणी ने अनेक बार दोहरा कर ढोला से नहीं जाने का अनुरोध किया है।[2]

हंस के वर्ण एवं उसकी गति ने कवियों को बहुत आकृष्ट किया है। कवि ने अनेक स्थानों पर मारवणी को मराल-चाला कहा है।[3] वह सरोवर में स्थित हंस के समान शोभायमान है—

ढोला एही मारूई, जेहा हंभ्क निवाँणि ॥४६०॥
मल्हपइ माँभ्क सहेलियाँ, माँनसरोवर हंस ॥४६१॥

एक स्थान पर कवि ने मारवणी के कुच-युगल को मानसरोवर भले हंसों की नवीन उपमा से विभूषित किया है—

आसालूँध उतारियउ, घण कुंचुवउ गलांह।
घूमइ पड़िया हंसड़ा, भूला माँनसरांह ॥५५२॥

जलचरों में अन्य स्थलों पर अनामी समुद्री जीव[4] एवं सरोवर पंडुख[5] का उल्लेख भी हुआ है।

नभचर पक्षियों में भी अनेक पक्षियों का मार्मिक व्यापारों में उपमा रूप में प्रयोग किया गया है।

कोयल अपनी मधुर स्वर लहरी के कारण संसार की प्रीति-पात्र है। अपने कंठ-माधुर्य के कारण वह संसार को वशीभूत कर लेती है. इसलिये कंठ की मधुरता हेतु कवि उपमान रूप में इसे स्मरण करते हैं।

मालवणी ढोला से पूछती है कि पपीहे के पीउ-पीउ स्वर और कोयल के सुरंग शब्द को छोड़कर पावस ऋतु में प्रवास करने में क्या स्वाद मिलता है?[6] कवि ने मारू की वाणी को पिक के समान भी कहा है।[7] आम्रवृक्ष और कोकिल के आदर्श प्रेम की दुहाई भी कवि ने दो स्थलों पर दी है—

अंब तजइ कहि कोइलाँ, सरवर सालूराह ।८॥
जिम मधुकर नइँ केतकी, जिम कोइल सहकार ।४७३॥

---

१. दो. सं. २४६।
२ दो. सं- २५७ एवं २५८।
३. दो. सं. १३, २०७, ४६०, ४७४ तथा ५४०।
४. दो. सं. २३१।
५. दो. सं. ४६५।
६. दो. सं. २५२।
७. दो. सं. ४५५, ४६०।

विरहिणी के लिये कोयल की मधुर कुहुक संवेदक और कष्टवर्धक है और इसलिये उसकी बोली को 'बिरहिया' कहा जाता है—

मोरा पिछुवारावा रे घनी बसवरिया।
ताहि चढ़ि कोइल री बोले रे बिरहिया।[1]

क्रौंच अथवा कुरझों को भी मीठी वाणी और जातीय स्नेह के कारण राजस्थानी साहित्य में विशेषकर लोकगीतों में अत्यधिक सम्मान मिला है। इस पर स्वतंत्र लोकगीत 'कुरझाँ' विख्यात है। यह एकान्तप्रिय और भीरु पक्षी है। इसकी वाणी का मनुष्य के रुदन के साथ अपूर्व सादृश्य है।[2]

'ढोलामारू के कवि ने इसे बार-बार याद किया है। कुरंझों के कलरव से मारू के नयनों में आँसुओं का सरोवर भर आया[3], उसके अंगों पर मानो आरी चल गयी,[4] प्रियतम की स्मृति शरीर में सार की तरह सालने लगी।[5] मारू वह दोष जानना चाहती है जिसके कारण उसे आधीरात को कूकना पड़ता है—

मंझि समंदा वीहूँ घर, जल सूँ जामोपत्त।
किणहीं अवगुण कूँझड़ी, कुरली माँझिम रत्त ॥५७॥

कवि ने कुरंझा-मारवणी के मार्मिक संवाद का आयोजन भी किया है।[6] मारवणी कुंझों से उनके पंख माँगती है और प्रियतम से मिलकर वापस लौटा देने का वादा करती है।[7] कुँझे उत्तर देती हैं—

माणस हवाँ त मुख चवाँ, म्हे छाँ कूँझड़ियाँह।
प्रिउ संदेसउ पाठविसु, लिखिदे पंखड़ियाँह ॥६५॥

मारवणी का प्रयास अधूरा रह जाता है और वे उड़ जाती हैं। मारवणी

---

१. भोजपुरी ग्रामगीतः भाग: डॉ. कृ. दे. उपाध्यायः पृ. ८१ से उद्धृत।
२. कालिदास का भारत : प्रथम खण्ड : डॉ. भगवत शरण उपाध्यायः पृ. ७३।
३. ....द्रह भरिया नयणेहि ॥५४॥
४. ....करवत वूही अंगि ॥५५॥
५. (i) सारहली जिउँ सल्हियाँ, सज्जण मंझ सरीर ॥५६॥
   (ii) दो. सं. ५८, ५६, ६०।
६. दो. सं. ६२ से ६७।
७. कुंझा, द्यउ नइ पंखड़ी, थाकउ विनउ वहेसि।
   सायर लंघी प्री मिलिउँ, प्री मिलि पाछी देसि ॥६२॥

की ढोला में निरन्तर अनुरक्ति के लिये भी कवि ने कुंझों और उसके बच्चों का अनेक बार दृष्टान्त दिया है।[1] वह अनुरागिनी मुग्धा मारवणी प्रिय-प्रतीक्षा में बार-बार ग्रीवा उठाती हुई कुंझ-शिशु के समान लम्बी ग्रीवा वाली हो गयी है,[2] लम्बे पैर वाली हो गयी है।[3] मालवणी भी कुंझों के कारुणिक स्वर के समय ढोला को नहीं जाने देती—

तिणि दिन जाए प्राहुणउ, कलियल् कुरझड़ियाँह ॥२८३॥

यद्यपि, ढोला को यही शब्द वर्षा में सुहावना लगता है—

लागे सदा सुहाँमणउ, नस भर कुंझड़ियाँह ॥२४५॥

कुंझों के श्वेत निर्मल बच्चों की मरु-गोरांगनाओं से उपमा भी दी है—

मारू देस उपन्निया, तिहाँ का दंत सुसेत ।
कूझ बची गोरंगियाँ, खंजर जेहानेत ॥६६६॥

कपोत की ग्रीवा सुन्दर कंठ का उपमान और उसका प्रेम पूर्ण दाम्पत्य जीवन आदर्श प्रेम का उपमान रहा है। यहाँ कवि ने मारू के नेत्रों को इस तरह अनूठी उद्भावना से अलंकृत किया है—

मारू पारेवाह ज्यउँ अंखी रत्ता मंझ ॥४७४॥

मारवणी उसकी प्रीति की दुहाई देती हुई भी कहती है—

संदेसउ जिन पाठवइ, मरिस्यउँ हीया फूटि ।
पारेवा का झूल जिउँ, पड़िनइँ आँगणि त्रूटि ॥१४३॥

कवि साधारण पक्षी पिंडुकी को भी नहीं भूला। कवि ने शीतऋतु में कामिनी को काम की पिंडुकी कहा है जिस पर उत्तरी पवन बाज बनकर झपटेगा—

कांमिणि कांम कमेड़िज्यउँ, हइ लागउ सीचाँण ॥२९७॥

काग अपने बेसुरे स्वर के लिये जितना ही तिरस्कृत हुआ है उतना ही विरहिणियों का स्नेहभाजन भी है। इसका स्वर किसी प्रेमी अथवा अतिथि के आगमन का सूचक है। अतः प्राचीन काल से ही यह आदर का पात्र बना हुआ है—

आयान् सूचितो येन, येनानीताश्च मे पतिः ।
प्रथमं सखि! कः पूज्यः काकः किम्वा क्रमेलकः ।[4]

---

१. कूझाँ लाल बचाँह ज्यउँ खिण खिण चीतारेह ॥१९८॥
तथा दो॰ सं. २०२ एवं २०३ ।

२. दिसि चाहंती सज्जणा, नेहालंदी मुंध ।
साधण कुंझि बचाह ज्यउँ लंबी थई तुँ कंध ॥२०४॥

३. चीतारंती सज्जणाँ, नीहालंती मग्ग ।
धण कुंझाह बचाहि जिउँ, लाँबा हूया पग्ग ॥२०५॥

४. भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन : डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : पृ. ३५४ से उद्धृत ।

नीति-शास्त्र के प्रेरक और प्रेम-शास्त्र के पंडित इस पक्षी के प्रति राजस्थान का हृदय अत्यन्त उदार रहा है। मारवणी उसे अपना कलेजा निकालकर खिलाने को तत्पर है यदि वह उसे प्रियतम से मिलादे—

कउआ, दिऊँ वधाइयाँ, प्रीतम मेलइ मुज्झ।
काढि कलेजउ आपणउ, भोजन दिउँली तुज्झ ॥७५॥

क्योंकि उसकी दोनों बाहें काग उड़ाते-उड़ाते थक गयी हैं।[1] एक अन्य राजस्थानी प्रियतम-वियुक्ता की भी ऐसी ही चेष्टा है—

सावण रो आवण भयो, प्राण वस्या जा दूर।
काग उड़ावै कामणी, राज विना भरपूर ॥

नायिका बैठी है और—

'वाजरा री रोटी पोयी, फोफलिया रो साग जी,
जीमण बैठी गोरड़ी, जद बोलण लाग्यो कागजी"

तव उसकी आकांक्षा है—

कागा तू उड़ ज्याव, सोनै चाँचड़ली मँढू।
यूँ उड़ देय वताय, आसी कवै परीत धन ॥

और यदि कौआ असफल रहा और नित्य कचोटता ही रहा तो—

मारो अे रतना दे दासी कागलिया रै तीर,
नित नित आय करूकै म्हारी नीमड़ली रै बीच।

भगवान काकभुशुण्डी जी के अवतार और देवराज इन्द्र के लाडले पुत्र जयन्त से विरहिणी की वांच्छा है—

कागा सब तन खाइयो, चुन चुन खइयो माँस।
दो नैणाँ मत खाइयो पिया मिलण की आस ॥

ढोला समय पर न आया तो क्या मारवणी के अस्थिपंजर पर कौवे उड़ायेगा—

मारुतणइ करंकडइ, वाइस ऊडावेसि ॥ १५७ ॥

मारवणी कौए का शकुन भी लेती है।[2] कवि ने दृष्टि-कूट शैली में वायस के पर्याय 'काग' और उसके लिए 'ल' कार लगाकर 'कागल' रूप में भी प्रयोग किया है। कौआ है कुरूप पर अत्यन्त भाग्यशाली भी; तभी तो रसखान को ईर्ष्या है इन शब्दों में—

---

१. बाँहड़िया वे थक्कियाँ काग उड़ाइ उड़ाइ ॥१६७॥
वीसलदेव रास की नायिका भी ऐसा ही कहती है—
दीह गिणंता नह घस्या
म्हांकी काग उडावतां थाकीय जीमणी बाँह ॥६१॥

२. दो. सं. ५२०

काग के भाग कहा कहोरी, हरि हाथ सों ले गयो माखन रोटी ॥

नेत्रों की चपलता के लिये अत्यन्त रूपवान खंजन पक्षी की उपमा दी जाती है।[1] राजस्थानी में इसे 'किसन कोडियो' कहते हैं। कवि ने मारू के नेत्रों को खंजन पक्षी के नेत्रों की उपमा दी है।[2]

ऐसा लोकविश्वास है कि यदि वर्षा में इसका पंख प्राप्त हो जाय तो उससे मनुष्य अदृश्य हो सकता है।[3]

चकोर और चकोरी विरही दम्पति के प्रतीक हैं। भारतीय साहित्य के विरह वर्णन में ये अनिवार्यतः उपस्थित मिलते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि किसी ऋषि के शाप-वश यह युगल रात्रि में विछुड़ जाता है। चकोर के विरह में चकोरी का करुण क्रन्दन इतना मार्मिक होता है कि उससे दूब तक जम जाती है—

ए राम तालवा में रोवेले चकइया।
त वटिया में दूवि जामे ए राम ॥[4]

चकोरी मारवणी पपीहे की टेर से अपने शशांकधर चन्द्र ढोला का आगमन समझने की भूल कर बैठती है।[5] सुदूर प्रियतम से उसी प्रकार मिलन हो सकता है जिस तरह चकवी सूरज को हृदय से नहीं हटाती।[6] परन्तु जिनका भाग्य विपरीत हो वह क्या करे ?—

पांखड़ियां ई किऊं नहीं, दैव अवाड़ू ज्यांह।
चकवीकइ हइ पंखडी रयणि, न मेलउ त्यांह ॥ ७१ ॥

पपीहा भी हमारे साहित्य में सरस उक्तियों का जनक है और वहुत समादृत रहा है। वोली तो इसकी मनभावनी, पर इसकी इसी वाणी ने वियोगिनियों को वहुत जलाया है।

इस काव्य में मारवणी और पपीहे का संवाद भी अनेक मर्मस्पर्शी प्रसंगों में से एक है। प्रियोत्कंठिता और प्रेमलुब्धा मारू प्रियतम की प्रतीक्षा में शून्य-मनस्क

---

१. वायस वीजउ नांम ते, आगलि लल्लउ ठवइ।
जइ तू हुई सुजांण, तउ तूं वहिलउ मोकले ॥ १४२ ॥

२. दो. सं. १३।

३. वरदा : वर्ष ५ अंक १ : पृ. ८२ पर श्री श्यामलाल कलावटिया के 'राजस्थान के के पक्षी' लेख से उद्धृत।

४. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन : डॉ कृष्णदेव उपाध्याय : पृ ३५३।

५. दो. सं. ३२।

६. दो सं ७२।

हो चातक की तरह मार्ग निहारती है ।[१] जैसे पपीहा आषाढ़ में मेघ के लिये तरसता और विलाप करता है वैसे ही विरहिणी मारू भी कातर विलाप करती है ।[२] दोनों का एक ही स्वभाव जो है—

बाबहियउ नइ विरहणी, दुहुवाँ कए सहाव ।
जब ही बरसइ घण घणउ, तबही कहइ प्रीयाव ।। २७ ।।

अतः उससे निरन्तर पुकारते रहने का ही मारू आग्रह करती है ।[३] रात्रि में अकारण ही चातक पुकार उठा । जिससे मारू को प्रियागमन की भ्रांति हो गयी ।[४] अतः मारू उस पर खीझ उठती है—

बाबहिया, तू चोर, थारी चाँच कटाविसूँ ।
राति ज दीन्हीं लोर, मइँ जाण्यउ प्री आवियउ ।। ३० ।।

पपीहे की टेर उसकी विरह व्यथा को और उद्दीप्त कर रही है—

बावहिया निलपंखिया, बाढत दइ दइ लूण ।
प्रिउ मेरा मइँ प्रीउ की, तू प्रिउ कहइ स कूण ।। ३३ ।।

कहीं विरहिणी तड़फ-तड़फ कर प्राण नहीं त्याग दे ।[५] अतः वह या तो चुप रहे अथवा उसके प्रियतम को ला दे ।[६] यदि नहीं मानता है तो उसका ग्राम ही छोड़ दे ।[७]

मारू की विरह वेदना की कोई सीमा ही नहीं । कवि के शब्दों में तो मारू ही चातक बनकर पुकार रही है—

चहुँ दिसि दामिनि सघन घन, पीउ तजि तिण वार ।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार ।। ३७ ।।

मालवणी भी वर्षा की झड़ी और पपीहे की वाणी के समय ढोला को परदेश-गमन से रोकती है ।[८] ऐसे समय का दुख उससे कैसे सहा जायगा ?—

---

१. दो स. १६ ।
२. दो. सं. २६ ।
३. दो. सं. २८, २९ ।
४. दो. सं. ३२ ।
५. दो. सं. ३१, ३५
६. काइ लवंतउ माठि करि, परदेसी प्रिय आँणि ।। ३४ ।।
७. बावहिया डूंगर दहण छाँडि हमारउ गाँम ।
सारी रात पुकारियउ लइ-लइ प्रिउकउ नाम ।। ३६ ।।
८. दो. सं. २४७, २५२,

जिण दीहे पावस झरइ, वावीहउ कुरलाइ।
तिणि दिनकउ दुख वल्लहा, महँ क्यउँ सहणउ जाइ ।। २६१ ।।

ऐसी कवि प्रसिद्धि और प्रवाद है कि चातक स्वाति नक्षत्र में बरसने वाला पानी ही पीता है।[1] कवि ने मारू के रक्ताभ उरोजों को भी पपीहे से उपमित किया है—

तीखा लोयण, कटि करल, उरं रत्तड़ा विवीह ।। ४५६ ।।

वाज शिकारी पक्षी है और अपनी तीव्र गति और झपट के लिये विख्यात है। याचकों से मारू-सन्देश को सुनकर ढोला कहता है—

मन सींचाणउ जइ हुवइ, पाँखाँ हुवइ त प्राण।
जाई मिलीजइ साजणाँ, डोहीजई महिराँण ।। २११ ।।

वाज की भाँति मन को मूँठ में भरकर उड़ा दिया जाय—

आडा डूंगर वन घणा, ताँह मिलीजई केम।
उलालीजई मूँठ भरि, मन सांचाणउ जेम ।। २१२ ।।

कवि ने उत्तर-वात को एक स्थल पर वाज की उपमा दी है।[2]

तोता अपनी सुन्दर नासिका, और अनुकरण-वृत्ति के कारण हमारे साहित्य में प्रमुख सन्देश-वाहक है। प्रस्तुत काव्य में भी शुक मालवणी का सन्देश-वाहक बनकर पूगल मार्ग पर जाते हुए ढोला से मालवणी की मृत्यु का संवाद कह देता है।[3] परन्तु ढोला मालवणी के त्रिया-चरित्र से अनजान नहीं है अतः वापस नहीं आता।[4] ढोला कहता है—

---

१. (i) तुलसी ने ऐसा कहा भी है—
जांचे बारहमास पिये पपीहा स्वाति जल ।। २०७ ।।—दोहावली।

(ii) पपीहे को लेकर अनेक राजस्थानी दोहों में सुन्दर भाव प्रकट किये गये हैं। उदाहरणार्थ—

अरे पपीहा बावरा, आधी रात न कूक।
होले होले सुलगती, सो तें डारी फूंक ।।
पीहू पीहू करण री, बुरी पपीहा बाण।
थारा सहज सुभाव ओ, म्हारे लागै बाँण ।।

२. उत्तर आज सवज्जियउ, ऊकठियइ केकाँण।
फाँमिण काँम कमेड़ि ज्यँउ, हइ लागउ सींचाँण ।। २९७ ।।

३. यह कथा दो. सं. ३९७ से दो. सं. ४११ तक आयी है।

४. दो. सं. ४५५।

सूड़ा, सगुण ज पंखिया, म्हांकउ कह्यउ करेज।
नव मण चंदण, मण अगर, मालवणी दागे ज ॥ ४०५ ॥

कवियों ने कीर से नासिका की उपमा भी दी है। मारवणी की नासिका भी कीर नासिका सदृश हैं।

कीट-पतंग वर्ग के अंतर्गत बर्रं, टिड्डी और भ्रमर आदि इस काव्य में आये हैं। कवि ने मारू की कटि को बर्रं के सदृश बतलाया है।[1]

टिड्डी का उल्लेख कवि ने मालवणी द्वारा मारू-प्रदेश के प्रति निन्दा-भाव प्रकट कराते हुए किया है। मरू-प्रदेश में टिड्डी का आतंक छाया रहता है। मालवणी का कथन है—

मारू, थाँकइ देसड़इ एक न भाजइ रिड्ड।
ऊचालउ क अवरसणउ, कइ फाकउ, कइ तिड्ड ॥६६०॥

इससे वर्णन अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक बन पड़ा है।

अपने रूप, रंग और वृत्ति के कारण भ्रमर कवियों द्वारा बहु-प्रयुक्त उपमान है। सच्चे प्रेम का शिकार तो वही है। उसी के ये शब्द हैं—

सुण भँवरा. भँवरी कहे, जरद पीठ पर क्यूं ह ?
बरछी लागी प्रेम की, हलद पीठ पर ज्यूं ह ॥[2]

हिन्दी का भ्रमर-गीत साहित्य इसी प्रेम-दग्ध श्यामवर्ण कीट द्वारा अर्पित निधि है।

'ढोला-मारू' में भी अनेक स्थलों पर भ्रमर का नाम आया है। मारू के प्रियतम यदि उसके समक्ष होते तो वह उन्हें दृष्टि से हटाती ही नहीं

ज्यूं ए डूंगर संमुहा, त्यूं जई सज्जण हुंति।
चंपावाड़ी भमर ज्यउं नयण लगाइ रहंति ॥७३॥[3]

वह अपने संदेश में ढोला रूपी भ्रमर से अपने यौवन रूपी कमल के रस पान का आनुग्रह करती है—

जोबण कमल विकासियउ, भमर न बइसइ आइ ॥११६॥,

मारू के भ्रू भ्रमर-वर्ण हैं,[4] उसके पैर स्वर्ण निर्मित नूपुरों से भ्रमर की भाँति मुखरित हैं[5] और जिसकी मुख-सौरभ पर ढोला रूपी भ्रमर मँडराता है—

---

१. (i) डीभू लंक, मरालि गय पिक सर एही वाँणि ।४६०।
(ii) ऊमर दीठी मारूई, डींभू जेही लंकि ।६३६॥
२. राजस्थानी में भँवरा-भँवरी संवाद के अनेक दोहे मिलते हैं। इसे लेकर 'भ्रमर बत्तीसी' इत्यादि काव्यों की रचना भी हुई है। देखिये-ग्रंथ सं. ७५, पुस्तक सं. १३ : विविध गीत संग्रह : पु. वि. बीकानेर।
३. कवि-समय के अनुसार भ्रमर चंपा के फूल के समीप नहीं जाता।
४. दो. सं. ४५५।
५. दो सं. ४७४।

मारू मुख सोरंभियउ, आवि भमर भणकेह ॥५५०॥

मधुकर और कमलिनी की भांति प्रेम-लुब्धा मारू अपने प्रियतम ढोला के साथ केलि-क्रीड़ा कर रही है। क्षण भर का भी अन्तर उन्हें असह्य है—

सेज रमंता मारुवी, खिण मेल्हणी म जाइ ।
जांणि क विकसी केतकी, भमर वयट्ठउ श्राइ ॥५६१॥

मारू ने ढोला का हृदय जीत लिया। कवि ने इसकी साक्षी में मधुकर और केतकी को फिर याद किया है—

जिम मधुकर नइं केतकी, जिम कोइल सहकार ।
मारवणी मन हरखियउ, तिम ढोलइ भरतार ॥६७३॥

इस तरह 'ढोला-मारू रा दूहा' सांस्कृतिक दृष्टि से एक सम्पन्न काव्य है। सांस्कृतिक चित्रण में कवि की परिगणनात्मक प्रवृति दृष्टिगत नहीं होती। चित्रण संक्षिप्त-संश्लिष्ट होने पर भी तद्युगीन समाज का पूर्ण परिचय देने में पूर्णतया सक्षम है और इसकी यही विशिष्टता इसे जातीय काव्य होने का अधिकारी बनाती है।

१. जिस मधुकर नइ कमलणी, गंगासागर वेल् ।
लुबधा ढोलउ-मारुवी, कांम-कतूहल-केल् ॥५६२॥

———

अष्टम परिच्छेद

ऐतिहासिक विवेचन

अष्टम परिच्छेद : ऐतिहासिक विवेचन

(अ) साहित्य और इतिहास :

भारतीय काव्य-शास्त्रों में साहित्याचार्यों ने ऐतिहासिक सामग्री को ग्रहण करके प्रयोग में लाने का स्पष्ट शब्दों में संकेत दिया है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से ही गृहीत हो उसमें यत्किंचित्, परिवर्तन-परिवर्द्धन करके उसे रसानुकूल स्वरूप अवश्य प्रदान कर दिया जाय। आनन्दवर्द्धन का कथन है कि "ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त कथा को कल्पना के संयोग से रसानुरूप बनाकर" ग्रहण करना चाहिये।[1] साहित्य दर्पणकार का इसी से साम्य रखता हुआ मत है कि अनुचित या रसविरुद्ध वस्तु (ऐतिहासिक) छोड़ देनी अथवा बदल देनी चाहिये।[2] आचार्य कुन्तक ने भी 'इतिहास प्रसिद्ध किसी घटना में अपनी प्रतिभा से हल्का-सा परिवर्तन कर आख्यात वस्तु को सजीव और उदात्त बनाकर काव्य या नाटक में चमत्कार उत्पन्न करने का विधान किया है।[3] वे आगे लिखते हैं—निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण महाकवियों की वाणी केवल (इतिहास में प्रसिद्ध) कथा-मात्र के आशय से ही नहीं जीवित रहती।[4] राजशेखर की अत्यन्त सबल मान्यता है, प्राचीन विद्वानों ने कहा है—वेदों, उनके अंगों और शाखाओं, इतिहास और पुराणों के अर्थों का गुम्फन करना और उनमें वर्णित कथाओं का अनुशीलन या अभ्यास करना कवित्व की एकमात्र महौषधि है। सत्कवि विवेक रूपी अँजन से विशुद्ध इतिहास-पुराण-रूपी आँखों से सूक्ष्म तत्वों का अवलोकन करते हैं।—

इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ॥[5]

इसी प्रकार आचार्य भामह,[6] दण्डी[7] आदि ने भी महाकाव्य की कथावस्तु के इतिहास-सम्मत होने एवं उसमें काव्य-रसोत्पत्ति हेतु परिवर्तन करने पर बल दिया है। इतिहास की आत्मपरकता स्वीकार करने में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इतिहास का काव्यात्मक उपयोग यथापूर्व मान्य जान पड़ता है। मानव जीवन की चिरकाल से

---

१. ध्वन्यालोक : ३–११।
२. साहित्यदर्पण : ६–५०।
३. (हिन्दी) वक्रोक्ति जीवित : संपा. आ. विश्वेश्वर : पृ. ४८३।
४. (हिन्दी) वक्रोक्ति जीवित : संपा. आ. विश्वेश्वर : पृ. ४९५।
५. काव्य मीमांसा (आठवाँ अध्याय) : पृ ८९।
६. काव्यालंकार : १–१९–२३।
७. काव्यादर्श : १–१५।

चली आती हुई अखण्ड परम्परा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता अखण्डता और व्यापकता का आभास देती है।[१] ऐतिहासिक सामग्री में रसात्मकता देखकर टैगोर ने 'इतिहास को दसवाँ रस' तक कहा है।[२]

इस प्रकार हमारे मनीषियों की चिन्तना में साहित्य और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्त हुआ है। साहित्य और इतिहास एक दूसरे के पूरक हैं, सहायक हैं। एक की सामग्री दूसरे के अध्ययन और रचना में प्रचुर योग देती है। साहित्य सामाजिक जीवन के इतिहास के साथ कदम मिलाकर चलता है। इतिहास की यथातथ्य उद्धरणी देना ही साहित्य नहीं है। उसका ग्रहण रसाभिव्यक्ति की ही दृष्टि से समीचीन है, चाहे उसके स्वरूप को इसके लिये बदलना भी पड़े। वस्तुतः साहित्यकार के हाथ पड़कर इतिहास तथ्याश्रितता खो बैठता है पर साथ ही शाश्वत आनन्द की सृष्टि करने में भी सक्षम हो जाता है।

(आ) कथा-वस्तु का ऐतिहासिक विवेचन :-

'ढोला-मारू' की प्रणय-गाथा सांकेतिक तथा संक्षिप्त रूप में अनेक इतिहास-ग्रन्थों में प्राप्य है। पति-पत्नी के रूप में चित्रित की हुई इनकी अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं।[३] नरवर के किले में इनके आवास इत्यादि विश्रुत हैं।[४] लोक एवं अभिजात्य साहित्य में ढोला-मारू पति-पत्नी रूप में स्मरण किये गये हैं।[५] ढोला की नायक और मारू की नायिका रूप में सुप्रसिद्धि भी कम प्राचीन नहीं है।[६] इस तरह इनके विवाह का उल्लेख जो स्फुट रूप में इतिहास ग्रन्थों और लोकवार्त्ताओं में यत्र-तत्र मिलता है वह इतिहास-सम्मत है। एक बड़े राज-वंश में ऐसा छोटी अवस्था का विवाह आश्चर्य अवश्य पैदा करता है पर अविश्वास नहीं। राजस्थान में तो गर्भ में ही सम्बंध स्थापित किये जाते रहे हैं और पात्र में बैठाकर 'फेरे' कर दिये जाते हैं। अस्तु, इस प्रेमाख्यानक काव्य के इस प्रेमी-युगल की प्रणय-गाथा इतिहासानुमोदित है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है। तत्सम्बद्ध मूल-कथा तो ऐतिहासिक है, परन्तु काव्य में उपलब्ध अन्य प्रासंगिक कथाओं एवं गौण पात्रों के विषय में ऐतिहासिकता को आधार बनाकर कुछ कहना संभव नहीं। ये कल्पना-प्रसूत ही प्रतीत होते हैं। यथार्थ जीवन की कथावस्तु को रूढ़ियों के सायास प्रयास से अपेक्षाकृत चमत्कारिक और विस्तृत बनाया जाता है। इस काव्य म निजन्धरी-विश्वासाश्रित

---

१. चिन्तामणि : भाग १ पृ. ३५१-३५७।

२. ज्ञानगंगा : भाग २ पृ. ४५।

३. ऐसी मूर्तियों का प्रथम परिच्छेद के 'लोकप्रियता' खण्ड में परिचय दिया गया है।

४. इसी परिच्छेद में हुआ 'ढोला' पर ऐतिहासिक विमर्श द्रष्टव्य है।

५. देखिये ढोला और मारू शब्द की व्युत्पत्तिलभ्य शाब्दिक व्याख्या, प्रथम परिच्छेद।

६. (i) शब्दानुशासन : हेमचन्द्र : ८-४-३३०, ४२५।

(ii) प्राकृत पैंगलम : भाग १ संपा: डॉ. भोलाशंकर व्यास : पृ. १३०।

तथा कवि-कल्पनाश्रित कथानक-रूढ़ियों [1] की प्रचुरता भी यही सिद्ध करती है कि इसमें अनैतिहासिक और कल्पित घटनाओं का समावेश है जिसका प्रधान लक्ष्य ऐतिहासिक इतिवृत्त कथन न होकर अलौकिक, रोमांचक और काल्पनिक कथावस्तु द्वारा लोकानुरंजन है ।

'ढोला मारू' की कथा बड़े ही चाव से कही-सुनी जाती रही है । इस तरह इसमें अनेक प्रसंग यथावसर जुड़ गये । यह बात सर्वसामान्य है कि लोकमानस द्वारा अत्यन्त समादरित काव्य में क्षेपकता का बाहुल्य रहता है और वह समय के साथ-साथ प्रवृद्ध होता ही चला जाता है । श्री शंभुसिंह मनोहर का यह कथन समीचीन है कि "ऐसी स्थिति में लोक-काव्यों में इतिहास और कल्पना को अलग-अलग खोज निकालना प्रायः असंभव हैं । ताने-बाने के सदृश इतिहास और कल्पना के इस अविच्छेद्य गुम्फन के कारण एकान्ततः ऐतिहासिक आधार पर की गयी इनकी विवेचना महत्वहीन हो जाती है ।" [2] लोकोन्मुखी काव्य में जन-जिह्वा अपनी ओर से कुछ मिलाती ही रहती है । मूल-कथा के साथ इस प्रकार अनेक अनुश्रुतियों, किवदन्तियों आदि का संगुंफन हो जाता है । लेकिन फिर भी तत्सम्बद्ध मूल-कथा का अस्तित्व इन अनुश्रुतियों के अम्बार में अक्षुण्ण और सुरक्षित रहता है । इस प्रणयाख्यान की मूल-कथा–ढोला और मारू का प्रणय–इतिहास की कसौटी पर खरा उतरता है और यही इसमें नाम-मात्र का सत्य है । अन्य प्रासंगिक कथाओं एवं गौण-पात्रों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता ।

अन्य पात्रों और घटनाओं के लिये दी गयी यह टिप्पणी 'ढोला मारू' के कथानक के मूल-स्रोत के संदर्भ में अक्षरशः सत्य उतरती है । 'ढोला मारू' का यह स्वरूप मध्य युग की देन है—१६ वीं शती की । प्रायः समस्त मध्ययुगीन साहित्य इसका साक्षी है कि उसके सृजन का मूल-स्रोत जन-जिह्वा पर आसीन लोक-कथाएँ ही रही हैं । लोकानुरंजक साहित्य में, विशेषकर प्रेम-गाथाओं का आधार तो लोक-विश्रुत गाथाएँ ही रही हैं । लोक-जीवन में व्याप्त गीत, कथा, वार्ता इत्यादि में जो वस्तु-स्वरूप तद्‌युगीन रचनाकारों को हस्तगत हुआ, उसी को उन्होंने अपने काव्य का वर्ण्य बनाया । मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों का अनुशीलन करने के पश्चात् यदि यह कह दिया जाय कि इन सबमें ऐतिहासिक तथ्यों को लोक-वार्त्ता के माध्यम से ही ग्रहण किया गया है तो असंगत नहीं होगा ।

'ढोला मारू' की कथा पर भी दृष्टिपात करें तो यही लगेगा कि उसका मूलाधार मौखिक परम्परा में ढला हुआ ही एक कथानक है । उसका स्रोत लोक-प्रचलित आख्यान है और लोक-जीवन की परम्परा से गृहीत है । धुर-संबंध की ऐतिहासिक विसंगति भी यही ध्वनित करती है । मध्ययुग के लोकरंजन में इतिहास-कल्पना, सत्य-असत्य, तथ्य-अतथ्य की लक्ष्मण-रेखाएँ मिट चुकी थीं । किसी समय

१. द्वितीय परिच्छेद का 'कथानक-रूढ़ियाँ' अनुखण्ड ।
२. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ. १७ ।

का इतिहास इस युग में कल्पना से ही पोषित होकर कवियों को ग्राह्य बना। इस प्रकार इस कथा का मूल बिन्दु तो इतिहास-संपुष्ट है, शेषांश लोक मानस प्रसूत। इस कथानक के गुंफन और विकास में इतिहास का नहीं कवि-कल्पना का ही प्राचुर्य है।

(इ) पात्रों पर इतिहास-दृष्टि :

(क) ढोला :

नाम : ढोला इस काव्य का नायक है जिसका इतर नाम साल्हकुमार है।[१] एक किंवदन्ती के अनुसार जन्मते ही ढोल के सदृश आवाज करने के कारण यह नाम पड़ा।[२] कुशललाभ की 'चउपई' के अनुसार मृतवत्सा होने के भय से उसकी माता ने यह नाम दिया—

> **माय ताय मनि पूगी हाम। साल्हकुमार तसु दीधउ नाम।**
> **मृतवच्छा माता भय होइ। ढोलउ नाम कहइ सहु कोई।**

जिनकी सन्तान जीवित नहीं रहती, वे आज भी अपनी सन्तान को माँगी, कचरिया, बघाड, गलकाड, लूणिया आदि तुच्छ नामों से संबोधित करते हैं। तो क्या यहाँ 'ढोला' शब्द ऐसा ही अर्थापकर्ष लिए हुए है ? बाद के साहित्य में अवश्य ढोला को 'पोण आदमी' कहा गया है जो वर्तमान तक व्यंगार्थ में प्रयुक्त होता है।

इतिहास में कुछ ऐसे राजाओं के दृष्टान्त पाये जाते हैं जिनके दो-दो नाम थे। उदाहरणार्थ ग्वालियर शाखा के कछवाहा राजा मूलदेन का त्रैलोक्य मल्ल, देवपाल का अपराजित, महिपाल का भुवनैक मल्ल आदि। सामान्य जीवन में भी हमें प्यार का नाम और वास्तविक नाम अलग-अलग मिलते हैं। अतः संभव है कि 'ढोला' नाम उसके माता-पिता द्वारा प्यार में उसे प्रदत्त हुआ हो।

ढोला का साल्हकुमार नाम 'वातों'[३] गीतों में तो अवश्य मिलता है परन्तु किसी शिला-लेख, वंशावली, इतिहास-ग्रंथ आदि में उपलब्ध नहीं होता। हर जगह ढोला नाम ही दिया गया है। अनेक बार सांस्कारिक नाम की अपेक्षा उपनाम लोक में अधिक व्यवहार और प्रचलन पा जाता है।

स्त्री अपने पति का नामोच्चारण नहीं किया करती। मारवणी के ढोला सम्बोधन में इस तरह 'ढोला' शब्द प्रिय का वाचक बनकर ही यहाँ आया है। ढोला नाम की पुष्टि हर कछवाहा-वंशावली से होती है और नरवर के किले में ढोला पोल आदि अनेक स्थान उससे सम्बद्ध प्राप्य हैं। अतएव इस पुरुष का मूल नाम चाहे जो कुछ रहा हो और अब वह अप्राप्य हो, परन्तु वह ऐतिहासिक पुरुष अवश्य है।

---

१. पु० २६ : प्राचीन राजवंशों की कापियाँ : पृ. १५ : पु. वि. बीकानेर।

२. राजस्थान : १-२ : पृ. १०-११ पर श्री किशोर सिंह बार्हस्पत्य का 'डिंगल भाषा के प्राचीन ऐतिह्य' शीर्षक लेख।

३. एक अन्य बात "वात साल्ह कुंवर मारवी नै परणियो तैरी" भी मिली है। मरुभारती : वर्ष १४ अंक ३ : पृ. १२-१६।

राजस्थान के विश्रुत इतिहासज्ञ श्री गौरी शंकर हीराचन्द ओझा की भी यही मान्यता है।[१] यह नाम बाद में इतना प्रिय बना कि अनेक माता-पिता द्वारा अपनी सन्तान को दिया गया। कछवाह-वंशीय राजा मलय सिंह (समय संवत् ११५१ संवत् १२०३) के ३२ पुत्रों में ढोलो जी हुए जो निःसंतान गये।[२] इन्हें 'म्हार' की जागीर दी गयी थी।[३] स्वयं ढोला के समय में ढोल कुमार परिहार नामक एक उत्तम प्रबन्धकर्त्ता का उल्लेख है।[४]

निवास-स्थान : 'ढोला मारू' काव्य के प्रत्येक रूपान्तर की प्रत्येक प्रति में इस काव्य के नायक को नरवर-निवासी ही बतलाया गया है। नरवर-ग्वालियर से सम्बन्धित कछवाहा क्षत्रियों की ख्यातों, वंशावलियों, इतिहास-ग्रन्थों आदि में भी यही बात दोहरायी गयी है।

नरवर के किले में ढोला से सम्बद्ध अनेक स्थान भी देखने में आये यथा-ढोला पोल, बाग राजा ढोल, चन्दन की सीप आदि। वहीं इनकी कुलदेवी का मन्दिर भी है और वह सारा क्षेत्र ढोल अहाते के नाम से प्रसिद्ध है।[५] इन सबके नामकरण और इतिहास आदि के बारे में जानने की चेष्टा की गयी, परन्तु जिज्ञासा-परितोष नहीं मिल सका। इतना विश्वास अवश्य जम गया कि ढोला नाम का राजा वहाँ अवश्य हुआ। 'बात साल्ह कुँवर मारवी नै परणियो तैरी'[६] में नायक साल्ह कुँवर को पाटण के राजा भोज सोलंकी का पाटवी-पुत्र कहा गया है। परन्तु यह कथन इतिहास-सम्मत नहीं है।

वंश : नरवर कछवाहा-राजवंश की प्रमुख राज्यस्थली रही है। नरवर में इनके राज्य-स्थापन के समय का निश्चित पता तो नहीं चलता;[७] परन्तु ९ वीं से ११ वीं वि. शती तक इनका वहाँ शासन था-यह तोसुनिश्चित है। सन् ११२९ (सं. ११७७) में यह परिहारों के अधिकार में गया।[८]

---

१. ढोला मारु रा दूहा : संपादक-त्रय : प्रवचन : पृ. ५।
२. पु० ८३ : ऐतिहासिक नोट्स (मलयसिंह) : पृ. ११ : पु० वि० बीकानेर।
३. पु० ८३ : ऐतिहासिक नोट्स (मलयसिंह) : पृ. ५५५: पु० वि० बीकानेर।
४. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : ठाकुर वीरसिंह तंवर : पृ. १०।
५. निजी-यात्रा : १४ से २७ अक्टूबर १९६६।
६. मरू भारती : वर्ष १४ अंक ३ : पृ. १२-१६।
७. (i) मुहँणोत नैणसी री ख्यात : द्वितीय खंड : अनु-श्री रा. ना. दूगड़ : पृ. ४४।
(ii) कविराज बाँकीदास ने कछवाहा-वंश की शासन-यात्रा इस प्रकार दी है—
कछवाहां रो राज थेटू पूरब में रोहितास गढ़ जठै। उठासूं नरवर वसिया। नरवर सूं दौसे ठकुराइ वांधी। दौसा सूं आंवेर। आंवेर सूं जयपुर।
बाँकीदास री ख्यात : संपा. श्री नरोत्तम स्वामी : पृ. १२३।
८. (i) इम्पीरियल गजेटियर : वाल्यूम १८ : पृ. ३९६-९७।
(ii) सेन्ट्रल इण्डिया गजेटियर सीरीज : ग्वालिर स्टेट : वाल्यूम। पृ. २८९, २९३।

इस तरह ढोला के समय कछवाहा-राज्यवंश ही नरवर का शासक था। कछवाहा-राजवंश की वंशावलियों नल के पुत्र ढोला का सामान्यतः हर जगह उल्लेख मिलता है। एकाध वंशावली में ढोला का उल्लेख नहीं भी मिला,[1] परन्तु इससे कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। लिपि की भूल संभव है। कहीं पर ढोला को चौहान-वंशोत्पन्न भी बतलाया गया है।[2] इस मत को प्रामाणिक मानने का औचित्य ही नहीं क्योंकि चौहानों की ख्यातों और वंशावलियों में ढोला का नामोल्लेख नहीं हुआ है। न कभी नरवर में चौहानों का राज्य ही रहा है। अतः इन सब दृष्टियों में ढोला कछवाहा-वंशीय ही निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है।

विवाह : ढोला एवं मारवणी के विवाह-सूत्र में बँधने का उल्लेख संपादित संस्करण सहित अनेक प्रतियों में इस प्रकार आया है—

ढोलाउ मारू परणिया, वरदल् हुवउ उछाह।
आ पूगलची पदमिणी, अउ नरवर चउ नाह ॥१०॥

उनका विवाह पुष्कर नामक स्थान पर हुआ—

कुँवरी पिंगल् रायनी, मारूवणी तसु नाँम।
नरवर गढ़ ढोलइ भणी परणी पुहकर ठाँम ॥६०॥

कुछ अन्य प्रतियों में उनके विवाह-स्थल का नाम बघेरा ग्राम है—

ढोला मारू परणीया बघेरे वीवाह।[3]

बघेरा अति प्राचीन और पुरातत्व-दृष्टि से महत्वशाली ग्राम है। यह पुष्कर से थोड़ी दूर पर ही स्थित है। वहाँ किंवदन्तियाँ तो सुनने को अवश्य मिलीं परन्तु अन्य कोई प्रमाण नहीं मिला, जिससे इस घटना और इससे सम्बन्धित स्थान प्रामाणिक बन सके।[4] उस समय बघेरा में 'सावल दा सिसोदिया' का राज्य था और ककोड़ उसका प्रधानामात्य था।[5] इतिहास- ग्रन्थों में इनके लिये कुछ भी विवरण लिखा हुआ नहीं मिलता। विवाह के समय ढोला और मारवणी की आयु क्रमशः तीन एवं डेढ़ वर्ष की थी।[6] एक प्रति में मारू को विवाह के समय पाँच वर्ष की भी बतलाया गया है।[7] एक प्रति में दोनों के विवाह का समय इस प्रकार मिला—

---

१. पु. १३४ : जयपुर राज्य की वंशावली नोट्स : पृ. ६ : पु. वि. बीकानेर।
२. ग्रं. २४ : ढोला मारू चउपई : पु. प्र. जोधपुर एवं अन्य प्रतियाँ।
३. ढोला मारू री चोपई : अभयसिंह भण्डार : राँगड़ी जैन उपाश्रय, बीकानेर तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ।
४. निजी यात्रा।
५. ग्रं ११३९ : ढोला मारूजी री वात : पु. प्र. जोधपुर।
६. दउढ वरस री मारुवी, त्रिहुँ वरसाँरउ कन्त।
बाल पणइ परण्याँ पछइ, अन्तर पड़्यउ अनंत ॥६१॥
७. ढोला मारू रा दूहा : जयपाल सिंह संग्रह, बीकानेर।

संवत नवे अढोतरै हुवौ दुहुग्रह उछाह ।
ढोला मारू परणीया हुवौ बघेरै ब्याह ।।[१]

समय : ढोला कब हुआ और उसका समय क्या रहा-यह तथ्य किसी वंशावली, इतिहास-ग्रन्थ और शिलालेख से प्रकट नहीं होता । कछवाहा-वंशीय वंशावलियों में ढोला के पुत्र लक्ष्मण और पौत्र वज्रदामन का वंशानुक्रम में उल्लेख हुआ है । लक्ष्मण के समय से संबंधित कोई शिलालेख तो उपलब्ध नहीं होता परन्तु उसके आत्मज वज्रदामन का समय वि. सं. १०३४ है जो सुहनीय जैनमन्दिर में प्रतिमा के पद-स्थल पर इस प्रकार उत्कीर्ण हुआ है—

सम्वत: । १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइसाख वदि
पाचमि....................(आगे के अक्षर अवाच्य ।[२]

श्री वीरसिंह तँवर ने वज्रदामन की राज्य व्यवस्था के बारे में काश्मीरी पंडित दिवाकर मिहर की पुस्तक से उद्धरण देते हुए लिखा है कि इस वीर-पुंगव ने कन्नौज के परिहार राजा से ग्वालियर विजय किया और स्वतंत्र हुआ । पं. दिवाकर मिहर वि. सं. १०२२ में नरवर आया था । वह २ वर्ष ५ महिने १७ दिन तक वहाँ रहा और उसने नरवर तथा वज्रदामन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।[३]

कुछ वंशावलियों में लक्ष्मण के किसी पुत्र राजभान अथवा रामा का उल्लेख आया है और वज्रदाम अथवा वज्रदामन को इस राजभान का पुत्र माना गया है । [४] रामा के दो पुत्र थे जिनमें से वज्रदामा नरवर का राजा हुआ और त्रिधामा को एक गाँव जागीर में मिला । [५] परन्तु महिपाल देव के समय वि. सं. ११५० में जो शिलालेख मिला है । [६] उसमें उपलब्ध कच्छप-वंश वर्णन में लक्ष्मण के पुत्र का नाम

---

१. ग्रं. २२३६ (२) : ढोला मारौणी री बात : पृ. १०७ : रा. प्रा. वि. प्र. शाखा उदयपुर ।
२. (अ) जरनल आफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल : भाग ३१ : पृ. ३६६ ।
   (आ) (i) ग्वालियर राज्य के अभिलेख : श्री हरिहर निवास द्विवेदी : अभिलेख २० : पृ. ५ ।
   (ii) ग्वालियर राज्य के अभिलेख : श्री हरिहर निवास द्विवेदी : अभिलेख ५४-५६ : पृ. ११ ।
   (इ) ग्रं. २६७ : शिलालेख प्रतिलिपि संग्रह-(५) ३-(हस्तलिखित) : रा. प्रा. वि. प्र. शाखा, जयपुर ।
३. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : पृ. १० ।
४. पु. १३४ : जयपुर राज्य की वंशावली : पृ. १६ एवं वंश-संग्रह पृ. १-३ : पु. वि. बीकानेर ।
५. पु. २१५ : जाति अन्वेषण : पु. वि. बीकानेर ।
६. ग्वालियर राज्य के अभिलेख : श्री हरिहर द्विवेदी : अभिलेख ५५-५६ : पृ. ११ ।

वज्रदाम ही उत्कीर्ण है अतः राजभान त्रुटित लगता है। ऐसा भी संभव हैं कि राजभान ने अल्प समय के लिये ही राज्य किया हो और इस तरह वशावलियों और शिलालेखों में नामाल्लेख नहीं हुआ हो। चाहे बात कुछ भी रही हो परन्तु वज्रदामन का समय वि. सं. १०३४ अवश्य है। कछवाहों की विविवत् वंशावलियाँ लक्ष्मण से प्रारम्भ होती है। यह लक्ष्मण किसका पुत्र था—यह किसी शिलालेख से तो ज्ञात नहीं होता परन्तु लगभग हर वंशावली में इसे ढोला का पुत्र ही बतलाया गया है। इस तरह ढोला वज्रदामन का पितामह हुआ।

नरवर से कछवाहों की एक शाखा राजस्थान की तरफ १२ वीं शताब्दी में आयी।[१] इनमें सोढदेव का पुत्र दूलहराय हुआ है जिसे ही भ्रम-वंश अनेक इतिहास कारों ने ढोला मान लिया। सुविख्यात इतिहासविद् जेम्स टॉड ने दूल्हेराय को ढोला-राय मानकर मारू को उसकी अर्द्धांगिनी बता दिया और लोक प्रचलित ढोला-मारू के प्रेम-प्रसंग को चित्रित कर दिया।[२] देशी-विदेशी अनेक इतिहासकारों ने टॉड का अनुसरण किया और इस तरह ये भ्रामक सूचनाएँ दोहरायी गयीं। इम्पीरियल गेजे-टियर[३], विकाया राजपूताना[४], मदन कोष,[५] पोलिटिकल हिस्ट्री[६] आदि में टॉड द्वारा दिये गये वृत्तान्त का ही किंचित परिवर्तित पिष्टपेषण है और आज पर्यन्त भी उसकी पुनरावृत्ति[७] देखी जाती है।

ऐतिहासिक सत्य की दृष्टि से टॉड द्वारा यह विवरण गल्प-गुच्छ ही कहा जा सकता है। ढोला का पौराणिक नल से सम्बन्ध बताना भ्रमोत्पादक एवं अनर्गल है। वस्तुतः टॉड का इतिहास चारण-भाटों द्वारा सुना-सुनाया, भट्ट-भणन्त एवं त्रुटित तथ्यों से वेष्टित एक संकलन ग्रन्थ है। इतिहासकारों की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने टॉड पर अपना स्पष्ट मत देते हुए लिखा है:—एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक (जेम्स टॉड) की अति प्रसिद्ध कृति ने इन युगों के विषय में हमारी जनता की दृष्टि को पिछले सौ वर्षों में बहुत गुमराह किया है।.........वह विशेष रूप से राजस्थान का 'सर्वे' करने और राजस्थानी राज्यों को मराठों और मुसलमानों के विरुद्ध उभाड़ने के लिये नियुक्त था। उसे पूरी सफलता प्राप्त हुई।.........दुख की बात है कि हिन्दी, बंगला और गुजराती साहित्यों के तथा हिन्दुओं के रोपे हुए उर्दू साहित्य के पौधे, सौ बरस पहले बिखेरी गई इन विषमय असत्यों की खाद को आज

१. राजपूताने का इतिहास तृतीय खण्ड : श्री गौ. ही. ओझा : पृ. ४२।
२. एनल्स एंड एंटिक्वीटीज ऑफ राजस्थान : वाल्यूम ३ : पृ. १३२८-१३३१।
३. भाग १३ : पृ. ३८४-३८५।
४. श्री ज्वाला सहाय : पृ. ६१४-६१६।
५. श्री मदन लाल : पृ. ६१।
६. श्री जे. सी. ब्रूक : पृ. २८।
७. श्री महेश कुमार कटर पंच का नवभारत टाइम्स ११ मई सन् १९६५ में 'आमेर' विषयक लेख।

भी अमृत समझकर चूसते जा रहे हैं।"[1] राजस्थान के इतिहास के मर्मी-अध्येता, अन्वेषक एवं अनुशीलन-कर्त्ता श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी टॉड के राजस्थान का सम्यक अनुशीलन करने के पश्चात् निर्भ्रान्त सत्य के रूप में यही निष्कर्ष दिया और उसकी अनेकानेक त्रुटियों की ओर संकेत किया।[2] डॉ. का. रं. कानूनगो ने भी लिखा है कि टॉड ने कछवाहों के प्रारंभिक इतिहास को अत्यन्त विकृत स्वरूप में उपस्थित किया है और साथ ही इस सुन्दर कविता (ढोला-मारू) की भी हत्या कर दी है।[3]

वस्तुतः ढोला और दूलह राय क्रमशः पूर्वज और वंशज हैं। दोनों में दूर का सम्बन्ध है। ठाकुर वीर सिंह तंवर ने जो वंशावली दी है उसमें ढोला क्रम संख्या २२१ पर और दूल्हेराय क्र. सं. २३१ पर है।[4] चारण रामनाथ रत्नू ने दूलहराय को वज्रवामन का आठवाँ वंशधर लिखा है।[5] अन्य भी जितनी वंशावलियाँ हैं उनमें भी यही वृत्तान्त उपलब्ध होता है।[6] इस प्रकार ढोला और दूलहराय एक नहीं हैं। दूलहराय सोढदेव जी का पुत्र था। राजकुमार दूलहराय का विवाह पचवारा के चौहान वंशीय राजा सलहर सिंह की राजकन्या कुंकुम दे के साथ हुआ था[7] दूलहराय ने राजस्थान की तरफ आकर दौसा (द्यौसा) का प्रान्त बड़-गूजरों से छीना और उस पर अपना अधिकार जमाया।[8] चारण रामनाथ रत्नू के अनुसार दूलहराय ने संवत १०२३ में दौसा पर अधिकार किया था।[9] इतना स्पष्ट है कि ढूंढार में कछवाहा राज्य की नींव दूलहराय ने ही डाली। पुरोहित हरिनारायण शर्मा का यह कथन सत्य है।[10] दूलहराय आ. संवत् १०६३ माघ सुदि ७ को राजा बना और संवत् १०९३ तक[11] उसने

---

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर (१६३६ अप्रेल) के अवसर पर इतिहास परिषद के सभापति पद से दिया गया अभिभाषण : पृ. १६-१७।
२. राजपूताने का इतिहास : दूसरा खण्ड : पृ. ४६४-४६५।
३. स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री : पृ. २३।
४. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : परिशिष्ट : पृ. ३।
५. इतिहास राजस्थान : पृ. ८६।
६. कछवाहों की वंशावली : रामदत्त जी संग्रहालय, अलवर एवं अन्य अनेक वंशावलियाँ।
७. पृ.८३ : ऐतिहासिक नोट्स : पृ. २५ : बीकानेर।
८. सीकर का इतिहास : पं. झाबरमल शर्मा : पृ. ६-७।
९. इतिहास राजस्थान : पृ. ८६।
१०. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ. ७।
११. (i) हितैषी : वर्ष १-२ : अंक १२-१३ : पृ. ५१ पर पं. हनूमान शर्मा का 'जयपुर-राजवंश'
(ii) ९११-२१२ : गजेटियर रफ, अलवर : शीर्षक लेख बीकानेर।
(iii) इतिहास राजस्थान : चारण रामनाथ रत्नू : पृ. ८९।

३० वर्ष २ महिने १८ दिन[1] (संवत १०९३ माह वदि ५) तक राज्य किया। इनके राज्य में गंगेश के पुत्र करणसी की स्त्री कर्मेति (विजेराम की पुत्री) गोत्र मोरवाल गांव मोरां जापमाली के खेड़े वि. सं. १०९३ में सती हुई थी जिसका पूजन वैसाख सुदी ९ को होता है।[2] इनका देहान्त संवत् १०९३ में खोह, जयपुर से ६ कोस पूर्व की तरफ हुआ।[3] ये ग्वालियर के राजा की सहायतार्थ गये थे। उपरोक्त संवत् आनंद संवत् हैं। श्री ठाकुर वीर सिंह तंवर ने शुद्ध विक्रमी संवत् इस तरह दिये हैं—दूलहराय शुद्ध वि. सं. ११५४ में गद्दी पर बैठा और शुद्ध वि. सं. ११८४ में ग्वालियर में वीरगति पाई।[4] श्री गो. ही. ओझा आदि ने इनका विक्रम की १२ वीं शती में इस तरह राजपूताने की ओर आने को लिखा है वह सही उतरता है।[6]

कछवाहा-वंश का अनुसंधान जोन्स, विल्फर्ड, विन्टले, विलसन आदि अनेक शोधकों ने किया परन्तु उनके निष्कर्ष में रात दिन का अन्तर है। राज्यों के सरस्वती-भण्डारों के नष्ट हो जाने के बाद प्रसिद्ध–अप्रसिद्ध नामों को क्रम-बेक्रम जोड़ दिया गया और इस प्रकार वंशावलियों में भेद चल पड़ा। परन्तु सोढ़देव के बाद का जयपुर में क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। अतः ढोला और दूलहराय भ्रमात् एक मान लिये गये। पं. हनूमान शर्मा का यह कथन बड़ा सटीक है। इतिहास लिखने वालों में कई सज्जन देश, गांव या मनुष्यों के विख्यात नामों को बदल कर लिखा करते हैं यथा तोरावाटी को तोमरावती, सुनपत को सुवर्ण-पत्र, और जान्हड़दे को जान्हवदेव आदि। परन्तु इस भांति की अदला-बदली से असली नाम का लोप हो जाता है और शुद्ध नाम का तथ्य ढूंढने में आगे के लेखक भटक जाते हैं। यथा एक आदमी ने दूलैराय को अंग्रेजी में दोला राइ Dola rai लिखा, दूसरे ने उसे ढोला राव बना दिया, तीसरे ने घोला राव कर दिया और चौथे ने दूला राई कर दिया।"[7] ढोला और दूलह राय को एक मानने के भ्रम में यही तथ्य निहित है। अतः यह पर्याप्त अविश्वसनीय है कि दोनों एक हैं।

वज्रदामन का समय वि. सं. १०३४ निश्चित है। यदि ढोला को उसका

---

१. सं ९९ : वंशावलियाँ (लिफाफे में) याददास्ती वंशावली कुछावा....) पु. वि. बीकानेर।

२. ग्रं. ८८ : बड़गूजरों का वंशजात तथा ऐतिहासिक नोट्स : पृ. २ : पु. वि. बीकानेर।

३. सीकर का इतिहास : पं. झावर मल शर्मा : पृ. ६-७।

४. ग्र. ९११।२१२ : गेजेटियर रफ : पु. वि. बीकानेर।
ग्र. २२ : ऐतिहासिक नोट : पु. वि. बीकानेर : पृ. १६ पर बील्स डिक्शनरी ऑफ ओरियन्टल बायोग्राफी का हरिश्चन्द्र शुक्ल का नोट।

५. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : पृ. ११।

६. राजपूताने का इतिहास : तृतीय खण्ड : पृ. ४२।

७. जयपुर का इतिहास : पहला भागः भूमिका पृ. ५।

प्रपितामह मानें जैसा कि श्री वीर सिंह तंवर ने दिवाकर मिहर की पुस्तक से उद्धरण देकर माना है[१] और जो सही प्रतीत होता है—तो उसका समय १० वीं शती का पूर्वार्द्ध ठहरता है। इस काव्य की एक प्रति में मुझे ढोला-मारू के परिणय की तिथि भी इस प्रकार मिली—

संवत नवे अढोतरै, हुवौ दुहुग्रह उछाह।
ढोलो मारू परणीया हुवौ वधेरे ब्याह ॥[२]

अतः यह निर्णय लिया जा सकता है कि ढोला का जन्म संवत् ६०५ में हुआ। यदि एक व्यक्ति की औसत आयु ६० वर्ष की मानलें तो ढोला का समय संवत् ६०५ से संवत् ६६५ तक आता है। समस्त विवेचन से मुझे यह उचित प्रतीत होता है। 'ढोलामारू' की दो-एक प्रतियों में ढोला से हस्तलिखित प्रति के लिपिकरण तक की पीढ़ियाँ भी दी गयी हैं यथा—"ढोला जी सु राजा जी श्री रामस्यघ जी ताई पीढी एक सौ दस हुइी राजाधीराज माहाराजा श्री सवाई ईसरी स्यंघ जी तोड़ी पीढ़ी येक सौ चार हुई"[३] ढोला जी सूं राजा जगतसिंह जी तांई पीढ़ी येक सौ सात हुई।"[४] इससे भी उपर्युक्त निर्णय की ही पुष्टि होती है। अतः मेरी दृष्टि में ढोला का समय वि.स. ६६५ तक उचित है। संपादक-त्रय ने ढोला का समय १० वीं शती का उत्तरार्द्ध माना है।[५] जिसे थोड़ा और पीछे ले जाना इन परिस्थितियों में आवश्यक है।

सन्तान : कछवाह-वंश से संम्बद्ध ख्यातों एवं वंशावलियों में ढोला-मारू की संतान का नाम लक्ष्मण आया है। नकल पीढ़ी (जो किताब बारहठ साहब रतनसिंह जी राजगढ़ से इतिहास कार्यालय (अलवर) को प्राप्त हुई)—के अनुसार इनके लछमन राय, काम राय, हरी राय, और वामन राय नामक चार पुत्र थे।[६] आमेर शास्त्र भण्डार (दि. जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी) चौड़ारास्ता, जयपुर एवं अन्य संग्रहस्थ इस काव्य की प्रतियों में इस दम्पति की संतति के संदर्भ में यह उल्लेख आया है—"मारू जी की कुष कवर लीछमण स्यंघ जी हुआ, मालवण की कुषी कवर वीरभाण जी हुवा दोय कवर ढोला जी के हुवा"।[७] ढोला के पुत्र लक्ष्मण की पुष्टि तो अनेक

१. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास। पृ. १०
२. ग्रं २२३६ (२) : ढोला मारौंणी री वात : पृ. १०७ : रा. प्रा. वि. प्र. शाखा उदयपुर।
३. ग्रं २५७६ : ढोलामारूणी की वात : आमेर शास्त्र भंडार जयपुर।
४. ग्रं ३३५ : ढोला मारू री वार्ता : रा. प्रा. वि शाखा, अलवर।
५. ढोला मारू रा दूहा : पृ. २१
६. बारहठ श्री किशन सिंह जी जागावत संग्रह, बारहठ हाऊस, अलवर।
७. (i) सं २५७८ : ढोला मारूणी की वात : वेष्ट नं. १५६० अपूर्ण ह. प्रति।
(ii) सं. २५७६ : ढोला मारूणी की वात : वेष्टन नं. १५६१ पूर्ण ह. प्रति।
(iii) ग्रं ३३५ ढोला मारूरी वार्ता : रा. प्रा. वि. प्र. शाखा, अलवर।
(iv) सं ५४१६ : राजा नल ढोला मारू जी की वारता : शास्त्र भंडार, दि. जैन मन्दिर पाटोदी जयपुर आदि।

वंशावलियों से होती है परन्तु अन्य पुत्रों के बारे में कम वृत्तान्त हस्तगत होता है।

(ख) मारवणी

प्रस्तुत काव्य की नायिका मारवणी पूगल के पिंगल राव की पुत्री थी।[१] जिसका नरवर के राजकुमार ढोला से विवाह हुआ था।[२] विवाह के समय इसकी आयु १॥ वर्ष की थी[३] और पुष्कर नामक स्थान पर इनका पाणि-ग्रहण संस्कार हुआ था।[४] घोड़ों का सौदागर मारू के विवाह के १५ वर्ष ५ महीने पश्चात् पूगल आया।[५]

इस काव्य की अन्य हस्तलिखित प्रतियों में मारवणी नाम के अनेक रूपान्तर मरवण, मरवणी, मारवण, मारवी, मारू, मारुई, मारूनी मारूवनी, मारू,-वणी, मारुवी, मारोंणी आदि मिलते हैं। यह शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में इस काव्य में प्रयुक्त हुआ है। राजस्थान में पितृवंश तथा स्थान-विशेष के नाम पर राजकुलीन स्त्री-पुरुषों को पुकारा जाता रहा है। मारवणी नाम इसी परम्परा का द्योतक है—मरु-प्रदेश की रहने वाली।[६] यहाँ व्यक्तिवाचक होकर भी यह उसका वास्तविक मूल नाम नहीं है।

संपादित दोहा-संस्करण के अनुसार यह पूगल के पिंगल नरेश की कन्या है।[७] अन्य स्थान पर इसे बुधसिंह भाटी (कहीं-कहीं बुधसेन नाम भी) की कन्या कहा गया है।[८] मुहता नैणसी की डॉ. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा द्वारा संपादित ख्यात को तीसरी वंशावली में इसे वैण राजा की पुत्री बतलाया गया है।[९] आचार्य बदरी प्रसाद साकरिया द्वारा संपादित नैणसी की ख्यात भाग १ में इसे वंभ राजा की कन्या लिखा है।[१०] रावल नरेन्द्र सिंह इसे राजा पिंगल राय की पुत्री ही मानते हैं—बुधसिंह भाटी की नहीं।[११] पूगल की उपलब्ध वंशावलियों में पिंगल तथा बुधसिंह दोनों ही नाम नहीं मिलते। अतः कुछ भी इस सम्बन्ध में निश्चित नहीं कहा जा सकता; जैसा कि पिंगल नाम पर विवेचन में प्रकट किया गया है।[१२]

---

१. दो. सं. ५।
२. दो. सं. १०।
३. दो. सं. ६०।
४. दो. सं. ६१।
५. ढोला मारवण री चोपई : महिमा भक्ति भण्डार, रांगड़ी श्वेताम्बर जैन उपाश्रय, बीकानेर।
६. 'मारू' शब्द की विस्तृत विवेचना प्रथम परिच्छेद की गयी है।
७. दो. सं. ५।
८. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : ठाकुर वीरसिंह तंवर : पृ. ६।
९. द्वितीय खण्ड : पहला प्रकरण : पृ. ४।
१०. पृ. २६३।
११. थर्टी डिसीजिव बेटल्स ऑफ जयपुर : पृ ३८।
१२. इसी परिच्छेद में पिंगल पर टिप्पणी देखिये।

'ढोला मारू' काव्य के सब रूपान्तरों में इसे 'पूगल' की ही निवासिनी राजकन्या बताया गया है। पंजाब की ओर प्रचलित एक लोकगीत में मारू को सिंहल द्वीप स्थित पिंगलगढ़ की राजकन्या कहा गया है। वस्तुतः यह एक कथानक रूढ़ि ही है जिसका मध्यकालीन प्रेमकथाओं में बहुतायत से प्रयोग हुआ है। पूगल की तरफ प्रचलित किंवदन्ती में कहा भी जाता है कि वह 'बूढ़ी थल' स्थान में किसी समय निर्मित ताम्र-कोट में रहती थी। नरवर के किले में अवश्य मारू से सम्बन्धित कोई स्थान नहीं पाया जाता।

वंश :

मारू का वंश विवाद का विषय रहा है। विवेच्य संपादित काव्य में तो मारू के वंश से सम्बद्ध किसी सूचना का उल्लेख नहीं आया है, परन्तु अन्य हस्तलिखित प्रतियों में मारू की जाति-विषयक कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं और वे निम्नांकित हैं—

१. वह खींची वंश की थी—

	राजा नाम	रानी	पुत्र
नं. १७५	ढोला	मारुणी खींचण	लछमणराय, कामराय हरीराम, धामनराम।[1]

२. वह परमार वंश की थी—

पिंगल राय पमार री, कुमरी मारवणीह ।।[2]
पिंगल राव पमार री, मारू गुणे ग्रमोल।
कछवाहो नल छै सुतनु, छै कुल दीपक ढोल।[3]

३ वह भाटी वंश की थी—

धण भटियाँणी मारवणि, प्रीव ढोलो चहुवांण।[4]
धण भटियांणी मारवणी, ढोलो कूरम रांण ।।[5]

जहाँ तक मारू के खींची वंशीय होने का प्रश्न है उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके अनेक कारण हैं। जिस 'नकल पीढ़ी' में यह सूचना मिली वह २०-२५ वर्ष से प्राचीन नहीं है। ग्रतः उसके प्रक्षिप्त होने का संदेह है। खींची वंश की वंशावलियों, ख्यातों आदि से भी यह सूचना पुष्ट नहीं होती। इसके अतिरिक्त

१. नकल पीढ़ी जो किताब बारहठ जी साहब रतनसिंह जी, राजगढ़ से इतिहास कार्यालय (ग्रलवर) को प्राप्त हुई—श्री बारहठ जागावत किशनसिंह जी संग्रहालय बारहठ हाउस, ग्रलवर को ह. प्र.।
२. ग्रं. : ढोलै मारू रा दूहा : ग्र. सं. ला, बीकानेर।
३. ग्रं. २२०७ : ढोलै मारू री वार्त्ता : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।
ग्रं. ५०८४ (१) : ढोला मारू सचित्र : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।
४. ग्रं. २४ : ढोला मारू चउपई : पु. प्र., जोधपुर एवं अन्य प्रतियाँ।
५. ग्रं. २३ : ढोला मारूजी री वारा, पु. प्र., जोधपुर ग्रादि।

पूगल पर सींचियों का कभी राज्य नहीं रहा। यह इतिहास का प्रमाण मारू के सींची-वंशीय होने के सर्वथा विपरीत जाता है।

मारू को परमार-वंशीय मानने वालों की सूची लम्बी है। धुर संबंध-लेखक के अनुसार पिंगल के परमारवंशीय होने से यह परमार ही ठहरती है।[१] कुशल-लाभ ने भी अपने 'चउपई' रूप में इसे परमारवंश की ही लिखा है।[२] संपादक-त्रय[३] श्री नरेन्द्र सिंह,[४] श्री शंभुसिंह मनोहर,[५] डॉ. का. रं. कानूनगो[६] आदि ने उसे परमार-वंशीय कन्या माना है। अग्निवंशीय[७] पंवार अथवा परमार भारतीय इतिहास का प्रसिद्ध राज-वंश रहा है जिसमें विक्रमादित्य और भोज सदृश राजा हुए। सुविदित कथन भी है—

पृथ्वी वड़ा प्रमार, पृथ्वी परमांरा तणी।
एक उजेणी धार, दूजो आबू बैठणो॥

डॉ. कलिकारंजन कानूनगो मारू को परमार वंशीय मानते हुए लिखते हैं कि निश्चित ही किसी समय राजपूत इतिहास की प्रारंभिक शक्तियों में चम्बल और सिंध के बीच परमार छाये रहे और तभी यह कहावत चल पड़ी 'सारा भूम पमार का'। भाटी उस समय पंजाब और अफगानिस्तान की तरफ बिखरे हुए थे। मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरूप वे राजपूताना की तरफ बढ़े और वहाँ से परमारों को निष्कासित कर दिया। तभी मारवणी जो परमार-वंशीय थी उसे भाटी-वंशीय बतला दिया गया, कारण कि जैसलमेर की नारी अद्वितीय सुन्दर समझी जाती थी—

मारवाड़ नर नीपजे, नारी जैसलमेर।
सिन्ध तुरांही सांतरा, करहल बीकानेर॥[८]

परन्तु अनेक कारणों से इस कथन में विश्वास व्यक्त नहीं किया जा सकता। इतिहास से सम्बन्धित अनेक कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। डॉ. दशरथ शर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि वि. सं. १००३ तक मालवे में प्रतिहारों का साम्राज्य था। परमार

१. ढोला मारू रा दूहा : बाबू जयपाल सिंह संग्रह, बीकानेर।
२. कुशललाभ विरचित 'ढोला मारूई चउपई' की अनेक प्रतियां इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।
३. ढोला मारू रा दूहा : पृ. २३।
४. (i) थर्टी डिसीजिव बेटल्स ऑफ जयपुर : भूमिका पृ. ३८।
(ii) ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ जयपुर : पृ. ७।
५. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ. १४।
६. स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री : पृ. २३-२४।
७. इनकी उत्पत्ति विषयक यह कवित्त बड़ा प्रसिद्ध है—
ब्रह्मा विसनु महेस, सुर तेतीसूं सारा।
जपे अनल कुंड जाय, कीध, पैदास पंवारा........॥
८. स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री : पृ. २३-२४।

तो उभरने ही लगे थे । वास्तव में परमार राज्य का विस्तार वि. सं. १००० के पूर्व नहीं उसके बाद हुआ और श्रेय मुख्यतः हर्ष सीयक (सं. १००५-१०२६), वाक्पति-राज मुंज (सं. १०३५-१०५२), सिन्धुराज (सं. १०५२-१०६७) और भोज (सं. १०६७-१०९८) को है ।[1] इन्हीं के कथनानुसार पहले वल्लमाड प्रदेश में भाटियों का राज्य इससे प्राचीन है ।[2] धरणी वाराह (वि. सं. १०२५-१०५० लगभग) द्वारा अपने भाइयों में नव-कोटि मारवाड़ बाँटने की बात का जो छप्पय प्रसिद्ध है वह भी डॉ. दशरथ शर्मा[3] एवं श्री गौ. ही. ओझा[4] की दृष्टि में कोरी भटट्-भणन्त और सत्यता रहित है अतः अविश्वसनीय है । धुर संबंध में भी इसे परमावंशीय माना है परन्तु धुर संवंध इतिहास की दृष्टि से सर्वथा असत्य है अतः उसके आधार पर मारू को परमार नहीं माना जा सकता । कुशललाभ के वक्तव्य पर भी इस तरह विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि वह भी धुर-सम्बन्ध पर ही आधारित है ।

यदि पूगल और उसके आसपास के क्षेत्र पर परमारों का अधिकार मान भी लें तो भी वह निश्चित रूप से नवीं शती तक समाप्त हो चुका था ।[5] मुंहता नैणसी री ख्यात के अनुसार भाटियों की ख्यात में रावल केलण के वंशजों में पुंगलिया-वंशज हैं ।[6] पूगल पर केलणोत भाटियों के शासन के समय के बारे में नैणसी मौन है । नैणसी ने इसका परिचय देते हुए लिखा है कि केलण रावल का बेटा था और जालोर के चौहान देवड़ा आल्हण सी का दामाद था । उसका समय संवत् ८७० है ।[7] भाटियों में महारावल सिद्ध देवराजजी अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं । इनका इन नौ परगनों पर राज्य था—पूगल, लुद्रवा, देरावल, शन्तलमेर, करौहड़, कैराड़ु, पारकर, भटनेर और रोहड़ी भक्खर ।[8] देवराज जी ने लोद्रवा पर कब्जा किया जिस पर पहले परमारवंशीय क्षत्रियों की एक शाखा लौद्र का राज्य था ।[9] पूगल के राज्यकुल से

१. मरुभारती : वर्ष ११ अंक २ : पृ. ६ ।
२. मरुभारती : वर्ष ११ अंक २ : पृ. ७ ।
३. पंवार वंश दर्पण : पृ. ४-५ ।
४. राजपूताने का इतिहास : भाग १ : पृ. १७२ ।
५. दी वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजिडेन्सी एण्ड दी बीकानेर एजेन्सी : पृ. ३८० ।
६. संपा श्री व. प्र. साकरिया : भाग २ : पृ. ३ ।
७. नैणसी की ख्यात , भाग २ : अनु. श्री रा. ना. दूगड. : पृ. ४३९ ।
८. (i) इतिहास राजस्थान : चारण रामनाथ रत्नू : पृ. २३९ ।
   (ii) नैणसी ने भाटियों के नौ गढ इस प्रकार दिये हैं—जैसलमेर पूंगल, विकूपुर, वरसलपुर, ममण वाहण, मारोट, देरावर, आसणीकोट, केहरोर मुंहता नैणसी री ख्यात : भाग २ संपा : श्री व. प्र. साकरिया : पृ. १०
९. (i) दी वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजीडेन्सी एण्ड दी बीकानेर एजेन्सी : पृ. ९-११ ।
   (ii) भट्टी वंश प्रशस्ति : पं. हरिदत्त गोविन्द व्यास : छंद संख्या ८७ (टंकित प्रति) सार्दूल रिसर्च इंस्टीट्यूट बीकानेर ।

संबंधित श्री कल्याण सिंह जी द्वारा जो सूचना उपलब्ध हुई है उसके अनुसार पूगल पर सर्व प्रथम भाटियों का राज्य श्री देवराजजी के समय में हुआ। इनकी राजधानी देरावल थी। ये वंशावली के ११० वें राजा थे और इन्होंने पूगल पर पंवारों से कब्जा किया था।[1] इस तरह देवराज के समय में पूगल पर भाटियों का शासन हर तरह सिद्ध होता है। चारण रामनाथ रत्नू ने देवराज का समय संवत् ९०४-१०३० माना है।[2] यह अन्य इतिहासकारों द्वारा दिये गये समय से मेल नहीं खाता। श्री रा. ना. दूगड़ और श्री गौ. ही. ओझा ने रावल देवराज का समय सं. ८९०-८८० तक दिया है।[3] यह समय अन्य इतिहासकारों द्वारा भी स्वीकृत है। इस भूल-भूलैया में न भी पड़ें तो भी इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि विक्रमी १० वीं शती में पूगल एवं उसके आसपास के क्षेत्र में भाटी राज्य था। अतः मारू उस समय के किसी भाटी-नरेश की कन्या थी। डॉ दशरथ शर्मा की भी मान्यता रही है कि मारू विषयक भाटी पक्ष भी वास्तव में विशेष निर्बल नहीं है।[4]

(ग) मालवणी :

यह ढोला की द्वितीय पत्नी थी। मालवा की निवासिनी होने के कारण ही उसे राजस्थानी-नामकरण-परम्परा-सम्मत यह नाम दिया गया है। उसके मूल नाम का उल्लेख न तो कुशललाभ ने किया है और न अन्य किसी रचनाकार ने। इस काव्य की एक प्रति में अवश्य उसका नाम इस प्रकार मिला—

मालवदेस महीपती, भीमसेन भूपाल।
कनका कुमरी तस तणै, सुन्दर अति सुकमाल ॥२१२॥
....

कनकावती तसु कुंमरी नांम। अति सरूप अपछर अभिराम ॥२२३॥[5]

'ढोला मारू' काव्य की अन्य प्रतियों में यह चौपाई अनुपलब्ध है तथा 'कनका कुमरी तस तणै' का पाठान्तर 'मालवणी धू तसु तणई' अनेक प्रतियों में मिलता है।

संभव है कि कनक-वर्णी होने के कारण ही यहाँ उसे कनकावती कहा गया है। साहित्य में नायिका की देह-कान्ति को कंचन से उपमित किया गया है जिसके अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं।[6] राजस्थानी की अनेक 'वातों' में कनकावती नामक नारी-पात्र भी मिलता है। कछवाह-वंशीय वंशावलियों में जहाँ-जहाँ स्त्री-नाम आए हैं वहाँ

---

१. व्यक्तिगत पत्र : दिनांक १७-१२-६६
२. इतिहास राजस्थान : पृ. २३८।
३. नैणसी की ख्यात : भाग २ : पृ. ४४५।
४. मरुभारती : वर्ष ११ अंक २. : पृ. ६।
५. ढोला मारू री चोपई-अभयसिंह भण्डार, राँगड़ी जैन उपाश्रय, बीकानेर।
६. इसी काव्य में मारू की देह-कान्ति के लिये भी स्वर्ण की उपमा दी गयी है— दो. सं. ४६३।

इसका 'मालवणी' नाम ही आया है। नैणसी की ख्यात में भी यही नामोल्लेख हुआ है।[१] अन्य आधारों से उसके इस मूल नाम की पुष्टि नहीं होती।

वाचक कुशललाभ ने मालवणी के पिता का नाम भीमसेन दिया है— **मालवदेस महीपती, भीमसेन भूपाल ।।१८९।।**[२] इस काव्य की अन्य प्रतियों में भी भीमसेन नाम मिलता है। परन्तु नैणसी की ख्यात में दी गयी तीसरी वंशावली के अनुसार यह धारा नगरी के **राजा भोज पंवार की कन्या** उल्लिखित है।[३] मालवे और बागड़ के परमारों के वंश-वृक्ष में भोज का समय ११ वीं शती का है।[४] यह समय ढोला का समय (सं. ९०५-९६५) जिसे हम पूर्व निर्धारित कर चुके हैं[५], से मेल नहीं खाता। इतिहास से दोनों समसामयिक नहीं ठहरते। डॉ० दशरथ शर्मा का भी ऐसा ही मत है।[६]

भीम नाम के किसी राजा का कदवाह (गुना मध्य प्रदेश) में एक प्रस्तर-लेख हिन्दू-मठ में मिला है जिसमें वंश और संवत् उत्कीर्ण नहीं है। श्री हरिहर निवास द्विवेदी के अनुसार वह प्रतिहार-वंश का ज्ञात होता है।[७] डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा संपादित **'पंवार वंश दर्पण'** में दी गयी **'पंवार वंशावली'** में भीम नाम के दो राजाओं का एक क्रम-संख्या ६१ (राजा भीमसेन) पर और द्वितीय क्रम-संख्या १०१ (राजा भीम) पर नाम आया है,[८] परन्तु समय तथा स्थान उनका भी नहीं दिया गया है। हाँ, वे मालवा से अवश्य सम्बन्धित हैं। मालवा में परमारों का राज्य रहने के अनेक पुष्ट प्रमाण हैं। यह प्रसिद्ध कथन भी यही ध्वनित करता है—

पृथ्वी बड़ा प्रमार, पृथ्वी परमांरा तणी।
एक उजेणी धार, दूजो आबू बैठणो ।।

इस काव्य की एक प्रति में उसे चंदेरी-नरेश की कन्या भी बतलाया गया है[९]। चंदेरी महाभारत-काल से ही अति-प्रसिद्ध नगर रहा है। साहित्य में चंदेरी का

---

१. मुहँणौत नैणसी की ख्यात : द्वितीय खण्ड, पहला प्रकरण : पृ. ४।
२. ढोला मारूई चउपई-सुमेर सार्वजनिक पुस्तकालय, जोधपुर की ह. प्र.।
३. मुँहणौत नैणसी की ख्यात : द्वितीय खण्ड : पहला प्रकरण : पृ. ४।
४. (i) सं. १०७७ परमार भोज धर नगरी—राजस्थान भारती : भाग ७ अंक ४ : पृ. ४६।
   (ii) सं. १०७६-९९-राजपूताने का इतिहास : पहला खण्ड : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : पृ. २०९।
५. इसी परिच्छेद में 'ढोला' पर टिप्पणी देखिये।
६. मरु भारती : वर्ष ११ अंक २ : पृ. ६।
७ ग्वालियर राज्य के अभिलेख : अभिलेख ६२८ : पृ. ११।
८. पृ. १४-१५।
९. प्र. १८८१ (२) : ढोला जी की वात : रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर।

नाम बार-बार आया है[1]। इसी प्रसिद्धि के कारण मालवणी का नाम भी उससे जोड़ दिया गया हो तो आश्चर्य नहीं।

संपादक-त्रय ने उसके राजकन्या न होकर किसी सामन्त की कन्या होने की सम्भावना व्यक्त की है[2]। श्री शम्भुसिंह मनोहर ने भी इस सम्भावना का अनुमोदन किया है[3]। लेकिन इसका समर्थन अन्य ऐतिहासिक आधारों से नहीं होता।

ढोला और मालवणी के प्रणय-संस्कार का समय किसी इतिहास-ग्रंथ में नहीं मिलता। इस काव्य की एक प्रति में विवाह के समय दोनों की आयु अवश्य इस प्रकार बतायी गयी है—

सोलां वरसां मालवी, कंतो वरसां वीस॥[4]

दोनों का सन्तान-विषयक विवरण भी कम उपलब्ध होता है। 'राजा नल ढोला मारूजी की वारता'[5] में 'मालवणी जी की कुख कवर बीम्हाण जी हुवा'—ऐसा उल्लेख मिलता है।

(घ) ऊमर सूमरा :

इस काव्य में ऊमर सूमरा ढोला का प्रतिद्वन्द्वी है। वह मारवणी को येन-केन-प्रकारेण हथियाना चाहता है। सर्व प्रथम वह अपने चारण द्वारा भ्रामक सूचना से ढोला को मारू की ओर से विमुख करना चाहता है।[6] इसमें असफल होने पर 'मन खोटइ मनुहारि'[7] रखकर वह ढोला को आमन्त्रित करता है—'आवउ अमल कराह'।[8] डूमणी द्वारा षड्यन्त्र का रहस्योद्घाटन करने के फलस्वरूप ढोला-मारू के सकुशल निकल जाने पर वह अपनी चतुरंग सेना लेकर उनका पीछा करता है,[9] परन्तु अपने मन्तव्य में सफल नहीं होता।

प्रतिनायक ऊमर सूमरा के काल, वंश आदि से सम्बन्धित अन्य कोई सूचना न तो 'ढोलामारू' की धुरसम्बन्ध-युक्त प्रतियों में ही मिलती है और न अन्य प्रतियों में।

आलोच्य काव्य की हस्तलिखित प्रतियों में तो ऊमर सूमरा का मात्र नामो-

---

१. देष्या नगर सुहामणां अधिक सुचंगा थान।
नांव चंदेरी प्रगटिउ, जिऊँ सुरलोक समान॥—छीहल कृत 'पंच सहेली रा दूहा' : रचना सं. १५७५।

२. ढोला मारू रा दूहा : पृ. २५।

३. ढोला मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : पृ. १६।

४. ढोला मारवणी रा दूहा—श्वेताम्बर जैन उपाश्रय, नागौर।

५. सं. ५४१६ : शास्त्र भण्डार, दि. जैन मन्दिर, पाटोदी, जयपुर।

६. दो. सं. ४४१।

७. दो. सं. ६२६।

८. दो. सं. ६२८।

९. दो. सं. ६४०।

ल्लेख ही हुआ है परन्तु इतिहास ग्रन्थों की शरण में जाने पर ऊमर सूमरा विषयक कुछ बातें अवश्य मिलती हैं।

अली शेर कानी की तवारीख तुहफैतु-ल-कराम के अनुसार मुन्तखवत-तवारीख में लिखा है कि संवत् १११० में महमूद गजनी के उत्तराधिकारी अब्दुर्रशीद के शासन-काल में सिंध में विद्रोह हुआ और वहाँ सूमरा नामक व्यक्ति ने शासन सूत्र सँभाला जिसके वंशज संवत् १५०० के लगभग तक राज्यारूढ रहे।[१] इस वंश में ऊमर नाम के दो राजा हुए—प्रथम संवत् १२४० के लगभग जिसने ४० वर्ष राज्य किया और द्वितीय संवत् १४८० के लगभग जिसने ३५ वर्ष राज्य किया।[२]

मीर मोहम्मद मसूम की तारीखुश-सिन्ध में भी हिजरी सन् ४४३ (१०५१ ई. सन्.) में गजनी के अब्दुलर्रशीद के समय में इनके सिंध में विद्रोह करने एवं सत्ता हथियाने का लिखा है।[३] अबुल फजल ने आइने–अकबरी में इस वंश के ३६ राजाओं द्वारा ५०० वर्ष राज्य करने का उल्लेख किया है।[४] शाह कासिम खाँ द्वारा वेगलर नामा में तामीम जाति के बाद सिंध में सूमरा राज्य के ५०५ वर्ष रहने एवं मुहतारपुर में इनकी राजधानी रहने का कथन है।[५] पोटिंजर के अनुसार गजनी के तख्त पर मसूद (महमूद का पुत्र) के समय में सूमरा जाति ने सिन्ध में विद्रोह किया पर उनका मुखिया सूंगर तथा उनके वंशज १५० वर्ष तक गजनी-तख्त को कर देते रहे। तत्पश्चात् जब गौरी-वंश ने गजनवी-वंश का मूलोच्छेद कर दिया, तब ये भी स्वतन्त्र हो गये और इस वंश का दूदा राजा जो निःसंतान मरा (हिजरी सन् ६९४) तब तक इन्होंने ३३५ वर्ष तक राज्य किया।[६] हबीबुल्ला ने लिखा है कि सन् १३३६ में सम्मों ने इन्हें परास्त कर राज्यच्युत किया। इसके बाद भी जैसलमेर से लगते हुए मरुस्थली प्रदेश में सम्भवत: इनके छोटे-मोटे राज्य रहे हों।[७] हमजा के मुल्तान बहाउद्दीन द्वारा भी इब्न सूमरा (मुल्तान का शासक : हिजरी सन् ४२३, ईस्वी सन् १०३२) का उल्लेख हुआ है।[८]

इससे यह सुनिश्चित है कि सिंध में ऊमर सूमरा नाम के राजा हुए हैं, भले ही इस वंश की राज्यावधि में न्यूनाधिक अन्तर रहा हो।

---

१. दी हि. इ. टो. वा. इ. ओ. हि. : ईलियट और डॉसन : पृ. ३४३—३४५।
२. " " : " " : पृ. ३४३—३४५।
३. (i) दी हि. इ. टो. वा. इ. ओ. हि. : ईलियट और डॉसन : पृ. ४८३।
   (ii) मुहम्मद युसुफ ने मुन्तखबुत-तवारीख में सिंध विद्रोह का समय हिजरी सन् ४४५ दिया है।
४. दी हि. इ. टो. वा. इ. ओ. हि. : ईलियट और डॉसन : पृ. ४८४।
५. " " " " : " " " : पृ. ४८४।
६. ट्रेवल्स इन बलूचिस्तान : पृ. ३९१।
७. दी फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इन्डिया : पृ. ३७-३८।
८. दी हि. इ. टो. वा. इ. ओ. हि. : ईलियट और डॉसन : पृ. ४९१.।

सिन्ध के सूमरा-वंश का वंशानुक्रम एवं काल-क्रम अस्पष्ट और असंगत रहने के कारण इतिहास-कारों के लिये जटिल समस्या रहा है ! इसकी वंशोत्पत्ति के लिये कई कल्पनाएँ की गयी है। मीर ताहिर मोहम्मद नसयानी की तारीख-ए-ताहिर के अनुसार ये हिन्दू थे और इनका राज्य केवल १४३ वर्ष (हिजरी सन् ७०० से ८४३ तक) ही सीमित रहा।[१] अली शेर कानी की तुहफैतु-ल-कराम के अनुसार ये समीरा के अरबों से प्रादुर्भूत हुए एवं इनका सम्पूर्ण राज्य-काल ५५० वर्ष का था।[२] डॉ. बर्ड का मत है कि सूमरा मुसलमान थे जो पैगम्बर मोहम्मद के चाचा अबूलाहिन की औलाद थे। ये ११ वीं शती में सिंध में प्रबल बने। इनका नाम टिगरिस नदी पर स्थित सोमराह नगर के साम्य पर पड़ा।[३] फरिश्ता इनकी उत्पत्ति अंसारियों से मानते हैं जिन्होंने मुहम्मद कासिम की मृत्यु के पश्चात् सिंध में निजी राज्य प्रतिष्ठापित किया और ५०० वर्ष तक शासन किया।[४] तारीख-ए-बहादुरशाही के आधार पर कात्तुल महफूज द्वारा भी यही वृतान्त दिया गया है।[५] एलफिंस्टन लिखते हैं सूमरा मूलतः राजपूत थे।[६] ईलियट और डाउसन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनका कथन है कि इन्हें बलात् मुसलमान बनाया गया और 'समरा' नाम से साम्य होने के कारण इन्हें मुसलमान समझ लिया गया। वस्तुतः वे अरब वंशज नहीं थे।[७] इस कथन में सत्य का पर्याप्त अंश है। सूमरा वंशावली पर हम दृष्टिपात करें तो सूमरा-वंशजों के नामों इत्यादि से हिन्दुत्व ही ध्वनित होता है। यदि ये अरब के 'समरा' से आकर बहुत पहले बसे होते तो इतिहासों में उल्लेख अवश्य मिलता। इनके मूलतः हिन्दू राजपूत होने का सबसे बड़ा प्रमाण है परमार राजपूतों की शाखाओं में ऊमरा-सूमरा शाखा का होना। सिंध का रेगिस्तानी स्थल भी 'ऊमरा-सूमरा' नाम से विश्रुत रहा है।

अतः उमर सूमरा परमारवंशीय ही था। मारू को हमने भाटीवंशीय माना है। उसे हथियाने की चेष्टा उसका स्वजातीय नहीं कर सकता। यद्यपि आचार्य गौरी शंकर हीराचंद ओझा इनके वंश के बारे में सुनिश्चित नहीं हैं[८] परन्तु रेनार्ड[९] और टॉड[१०] इन्हें परमारवंशीय ही ठहराते हैं जो विश्वसनीय है।

---

१. दी हि. इ. टो. बा. इ. ओ. हि.: ईलियट और डाउसन : पृ. ४८४।
२. " " " " : " " " : पृ. ४८५।
३. स्केच ऑफ दी हिस्ट्री ऑफ कच्छ: परिशिष्ट ४।
४. दी हि. इ. टो. बा. इ. ओ. हि: ईलियट और डाउसन : पृ. ४८४।
५. " " " " : " " " : पृ. ४८४।
६. हिस्ट्री ऑफ इन्डिया : वॉल्यूम पृ. २८८ तथा ५११।
७. दी हि. इ. टो. बा. इ. ओ. हि.: ईलियट और डाउसन : पृ. ४८९।
८. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ. २५।
९. दी हि. इ. टो. बा. इ. ओ. हि. : ईलियट : और डाउसन : पृ. ४९०।
१०. एनल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान : ३ : पृ. १२८१-८२, १२९९।

रही वंशानुक्रम की बात। तुहफैतुल-कराम में जो वंशानुक्रम प्राप्त है, वही न्यूनाधिक अन्तर के साथ अन्य इतिहासों में मिलता है। सिंध के इतिहास के अधिकारी ईलियट और डाउसन ने उसे सही माना है।[१]

सूमरा-वंशज ऊमर का समय इस तरह ढोला के समय से मेल नहीं खाता। अतः वह ढोला का प्रतिद्वन्द्वी नहीं माना जा सकता। ऊमर सूमरा जो 'ढोला-मारू' में आया है वह अपने लोकनायकत्व के कारण ही आया है। डालूराय एवं ऊमर सूमरा सिंध की लोक-कथाओं के नायक रहे हैं। १४ वीं १५ वीं शती में ऊमर सूमरा जब लोक-कथाओं में नायक-रूप से प्रतिष्ठापित हो गया हो तो किसी ने उसके लोक कथानायक स्वरूप से प्रभावित हो इस कथा में भी उसे 'फिट' कर दिया। **संपादक-त्रय**[२] एवं **डॉ. दशरथ शर्मा**[३] भी ऐसा ही मत रखते हैं जो निराधार नहीं है। संपादक-त्रय ने ऊमर नाम व्यक्तिवाचक न मानकर यहाँ जातिवाचक माना है।[४] परन्तु मुझे इस दलील में दम नहीं लगता। यही युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि ऊमर सूमरा का लोककथानायकत्व ही उसे 'ढोला-मारू' की कथा में भी अवतरित कर गया और दोहाकार ने उसे उसी रूप में ग्रहण कर लिया।

मुझे ऊमर सोढा और मारवी के दो दोहे भी मिले। वे इस प्रकार हैं—

जेहवी तोउ तेहांण के जंगल री रोझड़ी।
ऊमर तो घर आंण सो मैं दीठी मारवी।।
ऊमर दूजा सैर मैं दीठी हेक लोहार।
नैंण भमर चरो पघर हालंदड़ी गिंवार।।[५]

यहाँ शीर्षक में ऊमर सोढा राजपूत लिखा मिला है। इस कथा के शेषांश का पता नहीं चला। मुझे तो इस कथा का ही यह एक रूपान्तर लगता है।

इस प्रकार ऊमर सूमरा परमारवंशीय था, वह ढोला का समकालीन नहीं था और उसका प्रकरण 'ढोलमारू' की कथा में बाद में जोड़ा गया।

च : पिंगल राव :

पिंगल मारू का पिता था, जिसका पूगल में राज्य था।[६] किसी समय विशेष में दुष्काल-ग्रस्त होकर उसने नरवर-नरेश नल के देश को प्रयाण किया।[७] वहाँ उसने अपनी रानी के विशेष आग्रह पर पुत्री मारू का नल-पुत्र ढोला से विवाह कर दिया।[८] देश में सु-काल होने पर पिंगल पूगल लौट आया। मारवणी अभी अबोध

---

१. दी हि. इ. टो. बा. इ. ओ. हि. : पृ. ४९४।
२. ढोलामारू रा दूहा : पृ. २५।
३. मरु भारती : वर्ष ११ अंक २ : पृ. ८।
४. ढोलामारू रा दूहा : पृ. २५५।
५. ग्र. १८ : बंडल ४३ : दोहा ऊमर सोढा रो : पु. वि. बीकानेर।
६. गाहा १।
७. दो. सं. २।
८. दो. सं. ६-१०।

बालिका ही थी। अतः उसे भी ससुराल में न छोड़कर साथ ही वह लिवा लाया—

पिंगल पूगल् आवियउ, देसे थयउ सुगाल्।
तेणि न राखी सासरइ, अजे स मारू बाल् ॥११॥

'ढोला-मारू' की हस्तलिखित प्रतियों में इससे अधिक सूचना कहीं भी नहीं मिलती। जिन प्रतियों में धुर-सम्बन्ध मिलता है, उनमें पिंगल और उमादे के विवाह का किंचित विशद वर्णन अवश्य मिलता है। कुशललाभ ने भी यही वृतान्त दिया है।

इतिहास-ग्रंथों से पिंगल नामक राजा का अस्तित्व ही प्रमाणित नहीं होता। नैणसी की ख्यात में उपलब्ध पूगल् के राजाओं की वंशावली में पिंगल का नामोल्लेख नहीं है।[1] भाटी-वंश की वंशावलियों तथा उस वंश से सम्बन्धित ग्रंथों में भी पिंगल नरेश का नाम नहीं मिलता।[2] दयाल दास सिढायच कृत 'पंवार वंश दर्पण' में जो पूगल के परमारवंशीय राजाओं की नामानुक्रमणिका दी गयी है।[3] वहाँ भी पिंगल नाम अनुपलब्ध है। इस राज-वंश से सम्बद्ध व्यक्तियों तक ने इस बारे में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है।[4] इस तरह दोनों वंशावलियों में पिंगल नाम की अनुपस्थिति इस राजा के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लगा देती है।

पूगल में १० वीं शती विक्रमी में भाटी-राज्य था जैसा कि मारवणी के वंश-विवेचन में मेरी मान्यता रही है।[5] पिंगल के भाटी होने का उल्लेख भी अनेक हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है।[6] अतः 'पंवार वंश दर्पण' में पिंगल का नाम न होना स्वाभाविक ही है। परन्तु भाटी वंशावलियों में क्यों नहीं नामोल्लेख हुआ?

डा० दशरथ शर्मा इस संबंध में विचार करते हुए लिखते हैं—किन्तु पिंगल के वंश के विषय में कुछ सूचना न होने से कुछ ऐसा भान होता है कि पूंगल-राय ही पिंगलराय के रूप में परिवर्तित है।[7] यह अनुमान निराधार प्रतीत नहीं होता। 'ढोला मारू' की अनेक प्रतियों में 'पूगलराय' नाम भी मिलता है। स्कन्दपुराण में जो सपादलक्ष (सात राज्यों का देश) भूभाग वर्णित है उसमें परेन्दु, अतिलंघल, सयाभंर, मेदपाट, तोमार करनाट के साथ पूंगल् भी है। यही पूगल पिंगल नाम से भी कहीं-कहीं पुकारा गया है।[8] मारू चूंकि इस देश के ही किसी राजा की कन्या थी, अतः

---

१. नैणसी की ख्यात : भाग २ : दूगड़ और ओझा : पृ. ४३६।
२. भट्टीवंश प्रशस्ति : पं. हरिदत्त गोविन्द व्यास (टंकित)
३. पृ. ४।
४. श्रीयुत कल्याणसिंह जी, नया पूगल हाउस, पुरानी गिनाणी, बीकानेर का पत्र : दिनांक १७-१२-६६।
५. इसी परिच्छेद में 'मारवणी' पर ऐतिहासिक विवेचन देखिये।
६. ग्रं. २२३९ : ढोला मारीणी री वात : रा. प्रा. लि. प्र. शा. उदयपुर तथा अन्य प्रतियां।
७. मरु भारती : वर्ष ११ अंक २ : पृ. ६।
८. हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया : पार्ट I : सी. वी. वैद्य : पृ. ४२।

उस राजा को बाद में कहीं तो पिंगलराय और कहीं पूगलराय पुकारा गया है। इसलिये पिंगल नाम उस नरेश का मूल नाम नहीं माना जा सकता और वंशावलियों में इसकी अनुपस्थिति का यही कारण है। इस भाटीवंशीय[१] अनाम राजा के मूल नाम का पता लगाना दुष्कर है। पूगल का सम्यक् इतिहास अद्यावधि अप्रकाशित है और शोध से वंचित रहा है। अतः इससे आगे और कुछ नहीं कहा जा सकता।

अनेक प्रतियों में पिंगल के साथ-साथ उसके भाई गोपाल दास का नाम भी लिया गया है जिसे वह 'ऊचाले' के समय राज्य-प्रबन्धार्थ पीछे छोड़ गया था।[२] कई प्रतियों में अजमेर के किसी सिसोदिया राजा ककोड़ दे को पिंगल का समकालीन बताया गया है।[३] कहीं पर बघेरे में उस समय (ढोलामारू के परिणय के समय) सांवल दा सिसोदिया का राज्य था और ककोड़ दे उसका प्रधान था—ऐसा लिखा मिलता है।[४] इन वृत्तान्तों की इतिहास से पुष्टि नहीं होती।

छ : नल :

नल ढोला का पिता था जिसका नरवर में राज्य था।[५] **नैणसी की ख्यात**[६] एवं **कछवाहा-वंश की अनेक वंशावलियों**[७] में ढोला के पिता के रूप में नल का नाम आया है। ऐसा प्रसिद्ध है कि इसी ने नरवर बसाया था।[८] कछवाहा-वंश से सम्बन्धित शिला-लेखों में अवश्य इसका उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु नरवर के किले में राजा नल का रनिवास, चन्दन की सीप, तालाब में इनके ज्येष्ठ-पुत्र का चबूतरा आदि परम्परा-प्रसिद्ध हैं। अतः नल नरवर के राज-वंश का प्रसिद्ध पुरुष रहा है—यह स्वतः प्रकट हो जाता है। एकाध 'ढोलामारू' की प्रति में इसे चौहान-वंशी बतलाया गया है।[९] नरवर में चौहानों का राज्य कभी नहीं रहा।

कछवाहा-वंशीय वंशावलियों में नल के उल्लेख के आधार पर संपादक-त्रय ने नल का समय संवत् ९५० और संवत् १००० के बीच माना है।[१०] ऐसी ही मान्यता

---

१. देखिये मारवणी पर इतिहास-विषयक टिप्पणी।
२. ग्रं. ६७२०, १०१८६ (२), १४८३६ (१), ३०११४ आदि : रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।
३. ग्रं. ४८ : ढोला मारूवणी री वात : अ. सं. ला. बीकानेर।
४. ग्रं. ११३९ : ढोला मारूजी री वात : पु. प्र. जोधपुर।
५. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : गाहा १।
६. भाग १ : श्री ब. प्र. साकरिया : २८९, २९३।
७. (i) जयपुर का इतिहास : पहला भाग : पं. हनूमान शर्मा : पृ. १२।
(ii) कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : ठाकुर वीरसिंह तंवर : पृ. ३ परिशिष्ट।
८. (i) मुंहता नैणसी री ख्यात : भाग-१ : संपा, श्री ब. प्र. साकरिया : पृ. २८९, २९३।
(ii) इतिहास राजस्थान : चारण रामनाथ रत्नू : पृ. ८६।
९. ग्रं. २२३९ : ढोला मारौणी री वात : रा. प्रा. वि. प्र. शाखा, उदयपुर।
१०. ढोला मारू रा दूहा : पृ. २३।

हिन्दी साहित्य कोश-भाग १ के संपादकों की भी रही है।[1] डॉ. दशरथ शर्मा इसका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का अनुमानित करते हैं।[2] मेरी दृष्टि से नल का समय नवीं शती का उत्तरार्द्ध और दसवीं शती का पूर्वार्द्ध मानना समीचीन होगा। ढोला का समय मैंने सं. ९७५ तक का माना है।[3] अतः नल के समय को थोड़ा और पीछे ले जाकर संवत् ८८०-८५ से संवत् ९४०-४५ के लगभग रखा जा सकता है। ठाकुर वीर सिंह तंवर के अनुसार वह वि. सं. ९४३ में गद्दी पर बैठा। अपने कथन[4] की पुष्टि में उन्होंने इस समय-स्रोत पर अवश्य प्रकाश नहीं डाला। नल सन्तान के जीवित न रहने के कारण दुखी था और उसने पुष्कर के वाराह देव की मनौती की थी।[5] अनेक हस्तलिखित प्रतियों में इसका उल्लेख है जो संभाव्य है।

ढोला का पुत्र-सम्बन्ध अनेक प्रतियों में पौराणिक नल से भी स्थापित किया गया है।[6] नलवर, नलपुर या नरवर इस पौराणिक नल का बसाया हुआ हो सकता है, (नरवर की संस्थापना इतिहास की दृष्टि से संदिग्ध है),[7] परन्तु ढोला का पिता और पौराणिक नल एक नहीं हो सकते। नाम-साम्य के कारण ही यह भ्रम उत्पन्न हुआ है।

ज : उमादेवड़ी :

यह पिंगल की पटरानी एवं मोहनवेलि मारवणी की माता थी।[8] यही ढोला के रूप पर रीझी थी[9] और इसी ने ही जोर देकर ढोला-मारू का सम्बन्ध किया था।[10]

---

१. पृ. ३१७।

२. मरु भारती : वर्ष ११ : अंक २ : पृ. ४।

३. इसी परिच्छेद में 'ढोला' पर ऐतिहासिक विवेचन देखिये।

४. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : पृ. ६।

५. पुत्र काजि मन चिंता घणी............।
जउ पुष्कर तणी जात्रपति करइ ॥—ढोला मारवण री चोपई : महिमा भक्ति भण्डार : रांगड़ी श्वेताम्बर जैन उपाश्रय, बीकानेर।

६. ग्रं. ३३५ : ढोला मारू री वार्ता : रा. प्रा. वि. प्र. शाखा, अलवर एवं अन्य अनेक प्रतियाँ।

७. टॉड ने नरवर संस्थापना का समय सं. ३५१ दिया है अन्य इतिहास ग्रन्थों यथा सीकर का इतिहास : पं. झावरमल शर्मा पृ. ६-७; इतिहास राजस्थान : चरण रामनाथ रत्नू पृ. ८६ आदि में भी यही समय लिखा मिलता है; परन्तु ये मत ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध हैं। श्री नरेन्द्रसिंह ने (थर्टी डिसीजिव बेटल्स ऑफ जयपुर : पृ. ३८ भूमिका) पर नरवर बसाने का समय ९५० से १००० संवत तक लिखा है। यह भी मत सत्य नहीं प्रतीत होता।

८. दो. सं. ७९-८०।

९. दो. सं. ४।

१०. दो. सं. ६।

विवेच्य-ग्रन्थ में इसके सम्बन्ध में और कोई सूचना नहीं मिलती।

जिन प्रतियों में धुर-सम्बन्ध अथवा प्रस्तावना मिलती है, उनमें उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त भी कुछ सूचना मिलती है। इसमें यह जालोर के सामन्तसिंह देवड़ा की पुत्री बताई गयी है जिसकी सगाई 'गुज्जरधणी' उदयचन्द चावड़ा के पुत्र रिणधवल से की गयी थी। बाद में सामन्तसिंह ने वचन बदलकर कुमारी उमा का पाणिग्रहण-संस्कार राजा पिंगल के साथ कर दिया। उस समय पिंगल १६ वर्ष का, उमा बारह वर्ष की थी।[१] लगभग यही वृत्तान्त कुशललाभ ने भी अपनी 'चउपई' में दिया है।[२]

सामन्तसिंह का समय विक्रम की १४ वीं शती का मध्य भाग है—यह तथ्य प्राप्त शिलालेखों से सिद्ध है। साथ ही वह देवड़ा भी नहीं था।[३] अतः उमा सामन्तसिंह की कन्या नहीं हो सकती। न सामन्तसिंह ढोला का समकालीन ही हो सकता है। धुरसम्बन्ध का यह परिचयात्मक आलेख बहुत बाद की रचना (संभवतः १६ वीं शती का पूर्वार्द्ध) है और अनेक ऐतिहासिक-असंगतियों से भरा है। "मारवणी की कथा मात्र से सन्तुष्ट न रह कर, जन-मानस ने उसकी पूर्व-पीठिका को भी आवश्यक समझा और उमादेवड़ी की रस-प्रद कथा जोड़ डाली"—डॉ. दशरथ शर्मा का यह कथन सर्वथा समीचीन है।[४] कथा असंगति पर वे आगे लिखते हैं—कथा असंगत सी है। उदयचन्द मालवे का राजा उदयादित्य का प्रतिरूप है जिसके पुत्र का नाम भी जन-कथाओं के अनुसार रिणधवल था। यह बताने की तो संभवतः आवश्यकता ही नहीं है कि जालोर का सामन्तसिंह न तो देवड़ा था और न उदयादित्य परमार का समकालीन। सब कथा भी संभवतः ऐसी ही जैसलमेर की एक कथा पर आश्रित है, जिसमें रावल लखणसेन जालोर के सामंतसिंह की पौत्री को विवाह कर पीहर में छोड़ जाता है और कान्हड़ देव (सामन्तसिंह का पुत्र) उसे सूर माल्हण के साथ जैसलमेर पहुंचाने का प्रयत्न करता है।[५] जैसलमेर वाली यह रावल लखणसेन की कथा नैणसी की ख्यात में प्राप्य है।[६]

झ : चंपावती :

यह ढोला की माता है।[७]

---

१. ढोला मारू रा दूहा : श्री जयपाल सिंह जी का संग्रह, बीकानेर।
  सात सै गुज्जर धणी, उदैचंद तसू राइ।
  कुवरी रिणधवलाँ भणी, पहिली दीधी जाइ।।४२
२. ढोला मारूई चउपई : पु. सा. पु. जोधपुर।
३. इसी परिच्छेद में 'सामन्तसिंह' पर टिप्पणी देखिये।
४. मरुभारती : वर्ष ११ अंकः २ : पृ. ७।
५. मरुभारती : वर्ष ११ अंकः २ : पृ. ७ :
६. भाग २ : पृ १८४-१८५।
७. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : पृ. ७८ दो. सं. ३३४।

कुशललाभ ने भी अपनी 'चउपई' में यही नाम दिया है—

तिसउइ माता चंपावती, अलगायी दीठी आवती ।।[१] लूणपाल मेहडू की ढोला-मारवणी री वात' में भी 'चंपावती' नाम ही आया है ।[२] कछवाहा-वंश से संबंधित एक वंश-वृक्ष में इसका नाम 'साखाजादून' मिला—

१७४ राजा नल रानी साखाजादून पुत्र ढोला[३]

अन्य प्रतियों में जिनमें ढोला का पौराणिक नल से संबंध स्थापित किया गया मिलता है, ढोला की माता का नाम दमयन्ती दिया गया है ।

चंपावती के नामोल्लेख के अतिरिक्त उसके वंश, स्थान, समय आदि के विषय में दोहे ही मौन नहीं हैं, अपितु अन्य चउपई, वात आदि की हस्तलिखित प्रतियों में भी कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती और न किसी इतिहास ग्रंथ से ही कोई विवरण ज्ञात होता है ।

८ : चाचिग देव और सामन्त सिंह देवड़ा :

धुर-संबंध अथवा प्रस्तावना में चाचिग देव और तत्पुत्र सामन्तसिंह का जिक्र भी किया गया है ।

चाचिग दे मनि पड़ियो सोच । सोढी साथि करइ आलोच ।।[४]

चाचग दे का समय संवत् १३१९ से संवत् १३३४ तक माना जाता है । ढोला के समय से उसका समय पहले होना चाहिये था । परन्तु ऐसा होना असंभव है । ढोला के समय में जालोर ही नहीं बसा था ।

उमा देवड़ी के पिता का नाम जालोर-निवासी सामन्तसिंह देवड़ा लिखा हुआ मिलता है—

गिरि अढार आबू धणी, गढ जालोर दुरंग ।
तिहाँ सामँत सी देवड़उ, अमली आण अमंग ।।
सबल सेन सोवन-गिरि-धणी ।
पटराणी झाली (सोढी) तसु तणी ।।
तसु पुत्री ऊमा देवड़ी ।
जाणि विधाता सइ हथि घड़ी ।।[५]

अन्य प्रतियों में सामन्तसिंह संबंधी यह दोहा भी मिलता है—

मा उमादे देवड़ी नानो सामँत सीह ।
पिंगल राय पमार री कुमरी मारवणीह ।।[६]

---

१. ढोला मारूई चउपई : मु. सा. पु., जोधपुर ।
२. ग्रं. ४८ : अ. सं. ला., बीकानेर ।
३. "नकल पीढ़ी"—बारहठ जागावत किशनसिंहजी संग्रह, अलवर ।
४. ढोला मारवण री चोपई : महिमा भक्ति भण्डार, राँगड़ी श्वेताम्बर जैन उपाश्रय, बीकानेर ।
५. ढोला मारूई चउपई : मु. सा. पु., जोधपुर ।
६. ग्रं. ३६ (ग) : ढोला मारू रा दूहा : अ. सं. ला., बीकानेर ।

मुंहणौत नैणसी के अनुसार सामन्तसिंह चाचग दे का टीकेत था। चाचग दे ने चावण्डा जी का मन्दिर सं. १३१२ में वनाया था। पर उसमें सामन्तसिंह (दूसरा) लिखा है,[१] सामन्तसिंह का समय प्राप्त शिलालेखों के अनुसार सं. १३३९ से सं. १३५३ तक तो है ही—

सं. १३५३ वर्षे वैसाख वद ५ सामी श्री सवरण गिरि अथाह महाराज कुं. श्री सामंतसिंह कल्याण विजयराजे तत्पाद पद्मोपजीव नीगराज श्री कान्हड़देव ।।[२]

डॉ० दशरथ शर्मा ने जो सामन्तसिंह को सभवतः कान्हड़देव का उत्तराधिकारी वतलाया है।[३] वह इस शिलालेख से सही नहीं उतरता। सामन्तसिंह का पुत्र कान्हड़देव सं. १३६८ में मरा।[४] साथ ही सामन्तसिंह देवड़ा भी नहीं था। वह चौहानों की २४ शाखाओं में से एक 'सोनिगरा' शाखा का राजा था।[५] 'इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया' में जो जालोर का वृत्तान्त दिया गया है उसके अनुसार १२ वीं शती के अंतिम दिनों तक यहाँ परमारों का राज्य रहा। फिर नाडौल के चौहान राव कीर्तिपाल ने इसे छीन लिया। उसके पौत्र उदयसिंह ने इसे सन् १२१० (सं. १२६६) में शमसुद्दीन अल्तमश को सौंपा जिसे उसी समय वापस सौंप दिया गया। फिर १०० वर्ष पश्चात् इसे अलाउद्दीन ने कान्हड़देव से छीना।[६] यह वृतान्त सामन्तसिंह वृत्तान्त से पर्याप्त साम्य रखता है।

इस प्रकार सामन्तसिंह का समय चौदहवीं शताब्दी है जो किसी भी हालत में ढोला का समसामयिक नहीं हो सकता।

ठ : उदैचंद और रिणधवल :

ढोला मारू' की धुर-संवंध वाली प्रतियों तथा कुशललाभ-प्रणीत 'चउपइ' में 'जूनागढ़ नो धणी' राजा उदय चन्द चावड़ा का नाम भी आया है जिसके कुँवर रणधवल से सर्वप्रथम उमा का वाग्दान हुआ—

पहिली जूनागढ़ नो धणी, माँगी हूँतीं राजा भणी।
....
उदयचन्द राजा चावड़उ, छइ रिणधवल कुमर तसु वड़उ ।।

१. मुंहणौत नैणसी की ख्यात : प्रथम भाग : दूगड़ और ओझा : पृ. १५३।
२. ग्रं. २३२ : जालोर के लेख आदि : भा. वि. मं. शो. संस्थान, वीकानेर।
३. राजस्थान भारती : भाग १ : अंक ४ : पृ. ९ पर 'चन्द्रावती एवं आबू के देवड़े चौहान' निवंध।
४. मुंहणौत नैणसी की ख्यात : प्रथम भाग : दूगड़ और ओझा : पृ. १५३।
५. मुंहता नैणसी री ख्यात : भाग १ : संपा. श्री वदरी प्रसाद साकरिया : पृ. २१३।
६. भाग XIV : पृ. २९३०।
७. ढोला मारूई चउपई : सु. सा. पु., जोधपुर।

गुजरात में चावड़ावंशीय जो राज्य रहा है, उसमें उदैचन्द एवं रणधवल नाम के राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता। उदयचन्द तो वास्तव में मालवे का परमार राजा हुआ है। वह और उसका पुत्र रिणधवल जन-कथाओं के नायक भी रहे हैं। जन-कथाओं में विश्रुत रहने के कारण ही संभवतः धुर-संबंध रचयिता ने उन्हें भी यहाँ स्थान दे दिया। उदयचन्द और रणधवल का समय भी ढोला से मेल नहीं खाता। उदयादीत का समय इतिहास के अनुसार सं. ११४० के आस-पास है। नैणसी ने लिखा है कि वीर्यराम (संवत् १०४०) के पुत्र विग्रहराज और दुर्लभराज के समय मालवे में उदयादित्य परमार ने गुजरात के सोलंकी राजा करणदेव को जीता।[१] इसके साथ ही चाचिग देव और सामन्तसिंह भी उदैचन्द-रणधवल के समकालीन नहीं थे। रिणधवल का वृत्तान्त भी लोक-विश्रुत होने के कारण ही यहाँ जोड़ा गया प्रतीत होता है।

ङ : अन्य पात्र :

आलोच्य संपादित संस्करण में तथा 'ढोला मारू' की अन्य हस्तलिखित अनेक प्रतियों में जेतल खवास, भीमसेन पुरोहित, सीमा भाटण, भाउ भाट, पंचानन, वीसू चारण, चंदनिया नाई, गोपालदास, सूरजमल पुरोहित, दमयन्ती, ककोड़ दे सिसोदिया आदि कितने ही पात्रों के नाम यथा-प्रसंग आये हैं। इतिहास से इन गौण पात्रों का अस्तित्व पुष्ट और अनुमोदित नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत दिनों तक जन-जिह्वा पर जीवित रहने के कारण हर कहने-सुनने वाले ने इसके कलेवर में अपनी ओर से इन पात्रों की काल्पनिक सृष्टि कर दी।

इतिहास से कथावृत्त ग्रहण करने एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों को कथानायक बनाने की परम्परा भी भारतीय काव्यकारों की रही है। पर उन ऐतिहासिक नायकों को शुद्ध साहित्यिक बनाकर ही काव्य-फलक पर उतारा गया है। अतः ऐसे इतिवृत्त में केवल नाम भर ही ऐतिहासिक रहे। कल्पना के समन्वय से अन्य ऐतिहासिक तथ्य गौण हो गये। श्री एस. एन. दास गुप्ता और श्री एस. के. डे के शब्दों में ऐतिहासिक-वस्तु के ग्रहण मात्र से कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। तत्वतः इस प्रकार की कृतियाँ उतनी ही अच्छी या बुरी हैं जितनी कि काल्पनिक कथाएँ।[२]

"कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्ति-भण्डार होने में दृढ़-विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रंगा है। यही कारण है जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।"[३] ऐसे काव्यों में इस प्रकार नीर-क्षीर

---

१. मुंहणोत नैणसी की ख्यात : भाग १ : दूगड़ और ओझा : पृ. १९८-९९ :

२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर : पृ. ३४८।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. ७७।

विवेक की क्षमता हार मान जाती है। "कौन जाने कवि कल्पना के प्रवाह में उपमा, रूपक, दीपक या श्लेष की उमंग में तथ्य को कितना बढ़ा रहा है, कितना आच्छादित कर रहा है, कितना दूसरे रंग में रंग रहा है। इस कवि के लिये कल्पना की दुनिया वास्तविक दुनिया से अधिक सत्य है और वास्तविक जगत की कोई घटना उसकी कल्पना-वृत्ति को उकसाने का सहारा भी है। इस प्रकार इतिहास उसकी दृष्टि में गौण है, वह केवल कल्पना-वृत्ति को उकसाने के लिये और मनोहरतर जगत के निर्माण के लिये सहायक मात्र है।"[1]

फिर "ऐतिहासिक कथावस्तु के ग्रहणमात्र से ही किसी काव्य की शैली, अन्तरात्मा और स्थापन-पद्धति ऐतिहासिक नहीं हो सकती।"[2] इसलिये हमारे काव्यों का महत्व भी काव्य की दृष्टि से ही है, ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं। इसके पक्ष में विद्वद्वर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहा जा सकता है कि "भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिनमें काव्य निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये हैं।"[3]

'ढोलामारू' के इतिहास-तत्व के परीक्षण के लिये ऐसी ही विशेष दृष्टि की आवश्यकता है। यह काव्य इसी परम्परा में ढला हुआ है। 'ढोला मारू' विकसनशील और क्षेपक काव्य रहा है।[4] समय पर आलेख-बद्ध नहीं हो पाने के कारण इसका मूल रूप अज्ञेय है। इसके विकास-प्रवाह में समय के साथ-साथ अनेक निजन्धरी और कल्पित घटनाओं का समावेश होता गया। जिसने आगे चलकर 'धुर सम्बन्ध' लिखा भी तो केवल अपना ऐतिहासिक अज्ञान ही प्रकट किया।

'ढोलामारू' लोकोन्मुखी काव्य है। इसका उत्स है लोक-मानसीय भाव-भूमि। लोकोन्मुखी काव्य का प्राण है कल्पना।

लोकोन्मुखी काव्यों में इतिहास-मूल्य का अवमूल्यन हो जाया करता है। वहाँ पात्र का अपना ऐतिहासिक व्यक्तित्व लोकभूमि पर आकर लोप हो जाता है और वह सामान्य लोक-मानस का प्रतिनिधित्व करता है। राजकुमार सामान्य सामाजिक प्राणी वन जाता है और राजकुमारी सामान्य विरहिणी। इस सामान्यी-कृत व्यक्तित्व से ही उसका अशेष-लोक में तादात्म्य स्थापित होता है जिससे वह कृति जन-जन का कंठ-हार वन जाती है। 'ढोलामारू' के पात्रों के साथ-साथ भी ऐसा ही हुआ है। इसी सामाजिक उत्पाद्यता एवं सामान्यीकृत व्यक्तित्व के कारण ही 'ढोलामारू' काव्य के नायक-नायिका एवं तत्सम्बद्ध मूल-कथा का कंकाल ही ऐतिहासिक है—शेष अनूठी

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. ६९।
२. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर : दासगुप्ता और डे : पृ. २२८।
३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ. ७०।

कल्पना का विलास।

डॉ. मोतीलाल मेनारिया ठीक लिखते हैं कि "ढोला नाम का कोई राजा हुआ हो या न हुआ हो, मारवणी उसकी राणी रही हो या न रही हो, कहानी फिर भी अमर है। इस कहानी का आकर्षण इसकी ऐतिहासिक कथावस्तु पर निर्भर नहीं है। इसकी भाव सरसता और मार्मिकता पर अवलम्बित है।"[१] पुरोहित हरिनारायण शर्मा का भी ऐसा कथन है कि "इतिहास की कसौटी पर कसे जाने से इसकी कांति में कुछ भी न्यूनता नहीं आने की। वास्तविक वृत्त एवं तिथि आदि के भेद से इसके अमरत्व और गौरव को कोई बाधा नहीं पहुंच सकती।"[२] "नायक-नायिकादि कवि-कल्पना-प्रसूत भी मान लिये जांय तो भी इसके रसास्वादन में कोई कमी नहीं होती।"[३]



१. राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ. १३८।
२. ढोला मारू रा दूहा : संपादक-त्रय : प्रवचन—२ : पृ. ७।
३. मरु भारती : वर्ष ११ : अंक २ : पृ. ८ पर डॉ. दशरथ शर्मा का 'ढोला मारू रा दूहा का ऐतिहासिक पक्ष' शीर्षक निबन्ध।

नवम परिच्छेद

उपसंहार

नवम परिच्छेद : उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में राजस्थानी के ललित प्रणयाख्यान 'ढोला-मारू रा दूहा' का काव्य-सौष्ठव, संस्कृति एवं इतिहास की त्रिकोणात्मक दृष्टि से अध्ययन-अन्वेषण तथा विश्लेषण-विवेचन किया गया है। इस शोधपरक अनुशीलन की उपलब्धियों को इस अंतिम परिच्छेद में उपसंहार के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है।

(अ) प्रस्तुत रचना का राजस्थानी व हिन्दी में स्थान :

'हिन्दी' के व्यापकार्थ में राजस्थानी का समावेश अत्यन्त सरलता से हो जाता है, किन्तु 'हिन्दी' का संकुचित अर्थ में व्यवहार करने वाले राजस्थानी की कतिपय अतिप्रसिद्ध रचनाओं का हिन्दी में सम्मिलन करके भी संपूर्ण राजस्थानी वाङ्मय को हिन्दी के अन्तर्गत ग्रहण नहीं करते। यह विषमता दुखद होने के साथ चिन्त्य भी है। अपभ्रंश की ज्येष्ठ पुत्री एवं हिन्दी की समस्त शाखाओं में प्राचीनतम राजस्थानी; अन्य ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों के ही सदृश हिन्दी-साहित्य में आदर की अधिकारिणी है। संपादक-त्रय की यह धारणा समुचित है कि '**हिन्दी साहित्य यदि त्रिवेणी का सुखद और महत्वपूर्ण संगम है, तो राजस्थानी उसकी एक शाखा यमुना है और अवधी उसकी दूसरी शाखा सरस्वती। इन दोनों के बीच ब्रज-भाषा-रूपी गंगा की पावन तरंगिणी अपने सरस काव्य-प्रवाह को लिए हुए उत्तर भारत के रसिक-समुदाय को आह्लादित करती हुई अनर्गल बह रही है। जब तक हिन्दी हिन्दी है, तब तक इनका साथ छूट नहीं सकता।**'[१]

दोनों ही दृष्टियों से 'ढोला-मारू रा दूहा' का अप्रतिम स्थान है। यदि राजस्थानी भाषा और साहित्य को स्वतन्त्र माना जाय तो भी और यदि उसे हिन्दी के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाय तो भी इस रचना की महत्ता भाषा और साहित्य के इतिहास में असंदिग्ध है तथा स्वीकार करनी ही पड़ेगी। डॉ० माता प्रसाद गुप्त के शब्दों में "यह (ढोला-मारू) राजस्थानी और हिन्दी में अपनी सरसता के कारण बेजोड़ रचना है।"[२] हिन्दी-वाटिका में ऐसे सुरभिमय प्रसून का समुचित प्रश्रय उसके लिये गौरव की बात होगी।

जहाँ तक राजस्थानी का प्रश्न है, यह गौरव-ग्रंथ उसके साहित्य में अद्वितीय स्थान रखता है। राजस्थानी के आदिकालीन साहित्य में ऐसी श्रेष्ठ कोटि की कृति का प्रणयन स्वयं में ही महत्वपूर्ण सिद्धि है। 'ढोला-मारू रा दूहा' वस्तुतः उत्तरकालीन अपभ्रंश एवं प्रारम्भिक राजस्थानी के संधि-स्थल की एक सशक्त रचना है। एतदर्थ

१. ढोला मारू रा दूहा : पृ. ६।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : वर्ष ६५ अंक : १ : पृ. १।

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्व तो है ही; साथ ही भाषा-विकास, भाषा-निर्धारण आदि भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं का समाधानात्मक निष्कर्ष भी इस रचना के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

वीर रसात्मक साहित्य के बहुल सृजन से राजस्थानी वीर रस का पर्याय ही मानी जाती रही है। यह भ्रम न्यूनाधिक अंशों में आज पर्यन्त बना हुआ है। इस अमूल धारणा का खण्डन इस महीयसी कृति के पारायण के पश्चात् अत्यन्त सरलता से हो जाता है। वीर रसात्मक काव्य-परम्परा के युग में श्रृंगार रस का प्रथम कोटि का यह काव्य ग्रंथ सुखद आश्चर्य है।

इस काव्य ने राजस्थानी-साहित्य में एक सुदीर्घ प्रेमाख्यान-परम्परा का प्रवर्तन भी किया। इसकी अनुभूति और कलात्मकता को लेकर अनेकानेक प्रेमी-युगल-कथाओं का कालान्तर में प्रणयन हुआ। इस दृष्टि से इसे राजस्थानी श्रृंगार काव्यों के आकाश-दीप की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। 'ढोला-मारू' के बहुविध रूपान्तर तो इसकी साक्षी देते ही हैं, दोहामयी श्रृंगार रचनाओं की बहुलता में भी किसी अंश तक इस दोहा-ग्रंथ का अनुकरण स्पष्टतः देखा जा सकता है।

राजस्थानी साहित्य एवं प्रदेश में 'मारवण' वस्तुतः इस महीयसी रचना के उपरान्त राजस्थानी सौन्दर्य और रमणी के परम आदर्श की प्रतिमा बनकर ही प्रतिष्ठित हो गयी। डॉ० मनोहर शर्मा के शब्दों में 'हर एक' देश की हेलन (परम सुन्दरी) अलग-अलग होती है। राजस्थान-प्रदेश की हेलन पूगल की पद्मिनी मारवणी है। यहाँ इस प्रदेश में वह रूप की अन्तिम सीमा है। वह नारी-सौन्दर्य का आदर्श है।"[१] सचमुच ही मारवणी के आदर्श को पाने वाली इसके पूर्व या पश्चात् कोई राजस्थानी रमणी प्रतिष्ठित नहीं हो सकी। यह राजस्थानी साहित्य को इस ग्रंथ की महान देन है।

'ढोला-मारू' लोकप्रियता में भी अद्वितीय रहा है। दाम्पत्य-प्रेम का पावन सन्देश लेकर 'ढोला-मारू' का राजस्थानी चित्रकला एवं मूर्तिकला को भी अद्भुत प्रदेय है। इन्हें वर्ण्य बनाकर हृदयहारी अद्भुत कलात्मक चित्रमालाओं का बहुल सर्जन हुआ और प्रस्तर-मूर्तियों के रूप में इनके निर्माण से प्रस्तरों में प्राणों का संचार हुआ।

राजस्थान के प्राकृतिक परिवेश का यथार्थ वर्णन भी इस ग्रंथ में अत्यन्त कलात्मक बन पड़ा है। ऋतु, प्रकृति, पशु, जीवन-चर्या आदि का स्थानीय यथार्थ की दृष्टि से पुष्ट चित्रण राजस्थानी—साहित्य में विरल ही कहा जायगा। श्री शंभुसिंह मनोहर द्वारा प्रदत्त इस जातीय काव्य को 'व्यष्टि की वीणा पर मुखरित राजस्थान का अमर प्रेमोद्गीथ'[२] संज्ञा निश्चय ही सटीक है।

---

१. मरुवाणी : वर्ष ७ अंक ८ : पृ. ६ पर 'मरवण' शीर्षक से राजस्थानी में लिखित निबन्ध का हिन्दी रूपान्तर।

२. ढोला-मारू रा दूहा : व्याख्या और विवेचन : भूमिका : पृ. १।

आद्योपान्त विरह के अश्रुओं से आर्द्र एवं दाम्पत्य-प्रेम की मधुरिमा को अपने कलेवर में संजोये हुए यह काव्य विप्रलम्भ शृंगार की अनुपम तथा मूर्धन्य रचना है। इसके साथ ही इसकी मुक्तक छंद की प्रबन्धात्मकता की प्रौढ़ कलात्मकता भी अपूर्व बन पड़ी है। अभिव्यक्ति का ऐसा सानुपातिक समन्वय राजस्थानी साहित्य की अन्य कृतियों में विरल है।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से इस काव्य का महत्व निर्विवाद है। हिन्दी भाषा और वाङ्मय का इतिहास अत्यन्त समृद्ध है, किन्तु आदिकालीन साहित्य की कृतियों का समुचित संरक्षण नहीं हो सका। उपलब्ध प्रकीर्ण ग्रंथों से ही इस आदिकाल का परिचय दिया जाता है। इस रचना का हिन्दी-साहित्य में समावेश कर लेने के पश्चात् आदिकाल और भक्तिकाल के संधिस्थल की इस विशिष्ट कृति से उसकी श्री-वृद्धि सुनिश्चित है। तद्युगीन यह एक ऐसा काव्य है, जहाँ युगीन साहित्य की प्रवृत्तियों को छोड़कर इतर प्रवृत्ति को; उच्च धरातल पर अभिव्यक्त किया गया है। तत्कालीन साहित्य में अपेक्षाकृत वीर और भक्ति-परक रचनाओं का ही प्राधान्य है, किन्तु इस रचना में शृंगार की अविरल धारा प्रवाहित हुई है। यह अपवाद हिन्दी साहित्य के लिये वरदान स्वरूप ही है क्योंकि 'ढोला-मारू रा दूहा' की मूल भावनाओं का अतिरेकात्मक अभिव्यंजन ही रीतिकाल में हुआ। इस ग्रंथ का रीतिकालीन अनेक ग्रंथों पर प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये। इसकी प्राचीनतम एवं मूल प्रति की प्राप्ति के बाद इसके प्रभाव का और अधिक व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

कबीर, जायसी आदि की कृतियों से 'ढोला-मारू' का तुलनात्मक अध्ययन भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। काव्य-भाव, शैली-साम्य तथा रूप समानता आदि की दृष्टि से भी दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब की छाया ग्रहण न भी करें, तो भी कम से कम ऐसी ही परम्पराओं का प्रभाव अवश्य ही मानना पड़ेगा।

हिन्दी-भाषा के विकास और परम्परा के भाषाशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से भी 'ढोला-मारू' की भाषा उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

अतः प्रस्तुत रचना का हिन्दी व राजस्थानी साहित्य में उच्च स्थान निर्विवाद और असदिग्ध है।

(आ) इस ग्रंथ का साहित्य को प्रदेय :

हर श्रेष्ठ साहित्यिक कृति का साहित्य-कोष में अपना प्रदेय अवश्य होता है। इस साहित्यिक कृति के प्रदेय के विश्लेषण-मूल्यांकन का आधार निम्नांकित मूल्यों को लिया जा सकता है—

१. आनन्द मूलक; २. कलात्मक; ३. सांस्कृतिक;
४. नैतिक ५. व्यावहारिक।

'ढोला-मारू रा दूहा' ने भावना, शैली, शिल्प आदि के क्षेत्र में नवीन मार्ग का उद्घाटन किया और परवर्ती परंपरा को भी बहुलांश में प्रभावित किया। 'ढोला-

मारू' की रस-स्नात भाव-निधि अपनी सशक्त अभिव्यंजना से स्वप्निल भाव-लोक में पहुँचा देती है। हृदय को भावावेष्टित कर देने की इसकी अद्भुत प्रेषणीयता ही इसकी अन्यतम विशिष्टता है।

राजकुमार ढोला और राजकुमारी मारू के प्रणय से परिवेष्टित इस प्रेम-कथा में प्रेम का विशिष्ट रूप व्यंजित हुआ है। स्वकीय और दाम्पत्य-प्रेम की मधुर-भावना को लेकर इसके कलेवर की संरचना हुई है। इतर प्रेम-कथाओं से इस वैभिन्य के फलस्वरूप यह अन्यतम स्थान की अधिकारिणी रचना है जिसमें शील-समन्वित मर्यादित शृंगार के विप्रलम्भ पक्ष को कलित कल्पना का पुट देकर रसामृत से परिप्लुत एवं कलात्मक बना दिया गया है। एकार्थ काव्य की एक श्रेष्ठ कोटि की रचना का साहित्य के इतिहास में उदाहरणीय आदर्श इसके द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। इस काव्य में अभिव्यंजित श्लील शृंगार के उदात्त स्वरूप की अनेक अनूठी उक्तियाँ आज भी सूक्तियों के रूप में प्रचलित हैं।

इस काव्य ने साहित्य को एक अभिनव शैली की परम्परा दी है। संदेश काव्य के मिश्रित रूप में प्रबन्ध और इतिवृत्त का समन्वित प्रभाव इस काव्य-शैली का प्रदेय है।

साहित्य के अनेकानेक तत्वों के आदर्श उदाहरण इस ललित प्रणयाख्यान में हमें उपलब्ध होते हैं। कल्पना, सौन्दर्य, रस और अभिव्यक्ति के अनेक उपकरण इसमें श्रेष्ठ कोटि के प्राप्त होते हैं। कई स्थलों पर अनूठी एवं सर्वथा मौलिक कल्पनाओं का प्रयोग और चित्रण विरल है और जिसे साहित्य-भंडार की निराली सम्पत्ति कहा जा सकता है। वक्रोक्ति की दृष्टि से इसने साहित्य को अनेक मौलिकताएँ प्रदान की हैं।

इन सबसे बढ़कर इस काव्य जैसी मर्मस्पर्शी विरहाभिव्यक्ति साहित्य-जगत् में अत्यल्प है, अनुपम है।

प्रतीकात्मकता की दृष्टि से भी इस ग्रंथ ने साहित्य को दो नये प्रतीक दिये हैं। एक 'ढोला' शब्द है—प्रेमी नायक का प्रतीक; और दूसरा 'मारू' शब्द है—विरह-संतप्त नायिका का प्रतीक।

दोहा मुक्तक छन्द माना जाता है पर उसमें प्रबन्धात्मकता लाने का यह प्रयास भी साहित्य में अपनी कोटि का अभिनन्द्य और अभिनव प्रयोग है।

सार्वभौमता का गुण भी साहित्य-संसार को इस काव्य का अपूर्व उपहार है। अमरता के घुंघरू पहन कर लास्य करती हुई यह कमनीय कृति जन-मानस में युगों से आसीन है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति अपना द्वैत त्याग कर नीर-क्षीर की भाँति अभिन्न होकर आई हैं। ऐसी रचना के सृजन के मूल में हमें कवि-कर्म की तीन अवस्थाएँ दृष्टिगत होती हैं—

१. कवि द्वारा विषय की अनुभूति;

२. कवि द्वारा अभिव्यक्ति;

३. पाठक के द्वारा रसास्वादन।

'ढोला-मारू रा दूहा' इन तीनों बिन्दुओं से एक अभितत्य और सफल कृति है और यही इसका साहित्य को अन्यतम योगदान है। अपनी अनेक विशिष्टताओं के फलस्वरूप इसकी यश-धवलिमा निष्कलंक बनी रहेगी।

(इ) साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से निष्कर्ष :

क : साहित्यिक निष्कर्ष :

यह कृति मुख्यतः एक साहित्यिक रचना है; इसलिये स्वभावतः इसका साहित्यिक महत्व प्रथम एवं सर्वोच्च है।

विवेच्य ग्रंथ का शीर्षक नायक-नायिका तथा छंद को लेकर रखा गया है जो लघु होने के साथ ही मुख-सुख पूर्ण, वस्तु-व्यंजक एवं श्रुति-मधुर भी है। इसके रचनाकार सम्बन्धी प्रश्न का मान्य हल, लगभग २०० हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययनोपरान्त भी हाथ नहीं लगा। पर है यह किसी अज्ञात कारयित्री-प्रतिभा-सम्पन्न और रस-प्रवण कवि की मरु-भारती के चरणों में अनूठी श्रद्धांजली, जो उसकी अक्षय कीर्ति का स्मारक बनकर चिरस्मरणीय रहेगी। अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इस कृति का रचना–काल सं. १५३० ही मानना समीचीन लगता है। 'ढोला-मारू' के दोहा, चौपाई, वात, मिश्रित, पद, सज्झाय, लोक गीत आदि बहुविध रूप-रूपान्तर प्राप्त होते हैं जिनमें पर्याप्त पाठान्तर है।' ढोला मारू, संस्कृति और कला के क्षेत्र में अत्यन्त समादृत रहा है। सामाजिक क्षेत्र में इसकी लोकप्रियता अपनी सानी नहीं रखती जहाँ लोकगीत के हर उच्छ्वास से ढोला और मारू रूढ़ार्थ में नायक-नायिका बनकर समा गये हैं।

यह कृति भाव-प्रबन्ध श्रेणी की उत्तम रचना है जिसमें प्रबन्धत्व का सूत्र, अपेक्षाकृत क्षीण होते हुए भी, कथानक की अटूट शृंखला में आद्योपरान्त अप्रतिहत रूप से सर्वत्र व्याप्त है। जीवन्त कथानक की लक्षण-त्रयी आरम्भ, मध्य एवं अंत- इसमें स्पष्ट है जो सुसंयोजित तथा सुसंगठित भी है। काव्य में कथानक-रूढ़ियों के उचित प्रयोग से चारुता और नाटकीयता की सृष्टि हुई है और उनसे कथानक को त्वरा मिली है।

इस कृति का नायक उच्चकुलोद्भूत और ललितगुणागार है। वह अपने जातीय जीवन का पूर्ण-प्रतिनिधित्व करता है और उदात्त रूप में चित्रित है। काव्य में दो मुख्य नारी पात्र हैं और दोनों को ही काव्यान्त में फल-प्राप्ति होती है, किन्तु नायक ढोला ने मारवणी को दो रातें और मालवणी को एक रात्रि देकर मारवणी के प्रति नायिकांश की वृद्धि एवं पक्षपात दिखलाया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में अति सूक्ष्म व्यंजना नहीं है। फिर भी वे मानवीय गुणावगुणों से युक्त सहज विश्वसनीयता लिये हुए हैं। अतिमानवीय तत्व भी काव्य में विद्यमान हैं पर उनका प्राचुर्य नहीं है। लोक-विश्रुत और लोकोन्मुखी कृति में इनका होना स्वाभाविक है।

काव्य-स्वरूप की दृष्टि से यह एकार्थ काव्य ठहरता है यद्यपि अन्य काव्य-

स्वरूपों के न्यूनाधिक तत्व भी इसमें समुपस्थित हैं जिनकी उपस्थिति इसके कथास्रोत के कारण संभाव्य लगती है।

'ढोला-मारू रा दूहा' का अंगी-रस शृंगार है और उसमें भी विप्रलम्भ पक्ष की प्रधानता है। अन्य रसों की झलक-मात्र ही उपलब्ध होती है। शृंगार का यह विप्रलम्भ पक्ष महाकाव्योचित गरिमा-युक्त है। इसकी अतिसूक्ष्म स्थितियों का चित्रण उदात्त भावभूमि पर उद्दीपन-विभावों, अनुभावों एवं संचारी-भावों के संयोग से अभिव्यंजित है।

अनुभूति कला का प्राणतत्व है और इस दृष्टि से भी यह एक सशक्त रचना है। 'ढोला मारू रा दूहा' में प्रेम की महत्ता प्रतिष्ठापित की गई है। मानव-जीवन का यह शाश्वत सत्य अपने अत्यन्त प्रौढ़ स्वरूप में यहाँ उद्घाटित हुआ है। यह प्रेम व दाम्पत्य के शील से मंडित है जिसमें भोग की लालसा है, पर कामातुरता का शैथिल्य नहीं। लौकिक अनुभूति ही सामाजिक मर्यादा के भीतर उभरी है। प्रेम के साथ-साथ कर्मण्यता का परोक्ष संकेत इस काव्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपनी दोनों पत्नियों के प्रति ढोला के कर्त्तव्यशील भाव का यथोचित अनुपात में चित्रण हुआ है।

विरहानुभूति भी इस काव्य जैसी विरल है। कवि ने विरही हृदय की भाव-भूमि की गहराइयों का तलस्पर्श करके विरहिणी के आत्मस्थ दुख को परिव्यक्त किया है। मारू का प्रेम-संदेश नारी हृदय की भावनाओं का महोदधि है जिसमें प्रेम की स्निग्ध पुकार, आत्म-समर्पण और अनन्यता का आग्रह, दाम्पत्य-जीवन की एकनिष्ठा का निश्छल स्वरूप आदि कितने ही भाव-रत्न प्राप्त होंगे। उसमें हमें सर्वत्र भावनाओं की कोमलतम विरुदावली संगुफित मिलेगी। 'ढोला-मारू' में मर्यादा-प्रधान पातिव्रत्य से ओत-प्रोत संयोग-शृंगार की भी अभिव्यक्ति हुई है; परन्तु संयोग-समय की मधुर चेष्टाओं, भाव-भंगिमाओं हास-विलास और हाव-भाव को कम वाणी मिली है। मांसल सुखानुभूति के लिये मर्यादा का उल्लंघन नहीं मिलता।

इस काव्य में भाव, कर्म तथा रूप सौन्दर्य का हमें संगम मिलेगा। यह सौन्दर्य जनमानस के अधिक अनुकूल है। इसी से यह काव्य अशरीरी एवं अतीन्द्रिय सौन्दर्य की छायावादी मान्यता से ग्रसित नहीं हुआ है।

'ढोला-मारू रा दूहा' की कथा के भीतर कल्पना का गहरा रंग है। वह कल्पना अपने सहज और स्वाभाविक रूप में यहाँ विद्यमान है। कल्पना में दूर की कौड़ी लाने की कवि की रुचि नहीं प्रतीत होती। अतः दूरारूढ़ और क्लिष्ट कल्पना की अस्वाभाविकता काव्य को स्पर्श तक नहीं कर सकी है। एकाध स्थल पर उपलब्ध ऊहात्मकता चंद्रांक के समान नगण्य है।

आद्यन्त उत्कृष्ट शैली में इस सम्पूर्ण कृति की रचना हुई है। 'ढोला-मारू' की भाषा सहज माधुर्य गुणोपेत है। लोक-रसना की अनूठी मिठास लिये हुए यह मध्ययुगीन राजस्थानी 'ढोला-मारू' के कोमल कान्त कलेवर में अमर हो गयी है।

काव्य की शब्द-सम्पत्ति बहु-रूपा है । कवि का शब्द-विधान उच्च कोटि का होने से शब्द-शब्द भावनाओं के आवेग में उछलता दृष्टिगोचर होता है । क्लिष्टता और कृत्रिमता से सर्वथा असम्पृक्त भाषा की सरसता सर्वत्र दर्शनीय है और मुहावरों के सुष्ठु प्रयोग ने सौन्दर्य और सौष्ठव से उसका अभिषेक किया है ।

इस रचना की शैली में शब्दों की ध्वनियों का परस्पर सामंजस्य रचना में प्रभविष्णुता का संचार कर उसे प्रभावोत्पादक बनाता है । यह आनुरूप्य अथवा नाद-साम्य हर दोहे में प्राप्त होता है । स्वर-ध्वनियों की विस्वरता का कृति में सर्वथा अभाव है ।

इस काव्य की सांकेतिकता भी उच्चकोटि की है । प्रतीकात्मकता का स्वरूप परम्परागत होते हुए भी अनेक स्थलों पर मौलिकता के दर्शन होते हैं ।

'ढोला-मारू' का अलंकार-विधान भावोत्कर्ष का विधायक है । अलंकारों को सायास लाने के प्रयास से काव्य आक्रान्त नहीं है । कवि ने कला को कलाबाजी का प्रारूप नहीं बनाया । कवि का सर्वप्रिय अर्थालंकार उपमा है ।

काव्यकार ने रचना में सर्वत्र दोहा छंद ही अपनाया है । राजस्थानी के सर्वाधिक प्रिय दोहा छंद के अतिरिक्त रचनाकार ने यद्यपि गाथा और चन्द्रायणा छन्दों के स्फुट दृष्टान्त भी रखे हैं, किन्तु दोहे की अविरल प्रवाहधारा सम्पूर्ण काव्य के तारतम्य को सर्वत्र संतुलित किये रहती है । दोहों की यह प्रबन्धात्मकता अपने ढंग की निराली है ।

'ढोला-मारू' में स्थानीय प्रकृति का सजीव और साकार रूप स्थल-स्थल पर चित्ताकर्षक बन कर आया है । पूर्व-पीठिका के रूप में आई हुई प्रकृति पात्रों के भावानुरूप उनसे तादात्म्य स्थापित करने के साथ ही कवि के सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण की सूचक भी है ।

'ढोला-मारू' में संवादों की बहुलता देखकर उसे संवाद-काव्य कहना समीचीन लगता है । इसके समस्त कथोपकथन सशक्त, सप्राण, भावानुकूल और अवसरानुकूल हैं ।

'ढोला-मारू रा दूहा' राजस्थानी-प्रेमी-युगल-कथाओं का प्रवर्त्तक है । राजस्थानी प्रेमाख्यानों पर इसका प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है ।

संगति और औचित्य कला की प्रधान कसौटी है । 'ढोला-मारू' के मितवाक् कवि की शिल्पगत एकान्विति अर्थात् कृति के विभिन्न अंगों की दुरन्वय-रहित संतुलित समन्वयात्मकता दर्शनीय है । रसराज शृंगार के मिलन और वियोग के बहुविध स्वरूप नारी हृदय के सहज उद्गार और आत्म-समर्पण का आग्रह; माधुर्य गुणोपेत पदावली, मौलिक कल्पना, सशक्त प्रांजल शैली से परिपक्व रसाभिव्यंजना आदि भाव-पक्ष और कला-पक्ष सम्बन्धी अनेक उपकरण इसकी अक्षय कीर्ति के आधार हैं ।

ख : सांस्कृतिक निष्कर्ष :

राजस्थानी जन-जीवन से अनुप्राणित एवं इस प्रदेश की तद्युगीन संस्कृति और सभ्यता का चित्रण भी इस काव्य-रचना में आद्योपान्त प्राप्त होता है ।

सुन्दर साहित्यिक कृति में सामाजिक परिवेश का प्रतिबिम्ब प्रतिच्छायित रहता है। 'ढोला-मारू रा दूहा' भी सांस्कृतिक दृष्टि से एक सम्पन्न और समृद्ध काव्य है। यह सामाजिक परिवेशगत वैशिष्ट्य 'ढोला मारू' का प्राण है।

इस काव्य में हमें स्थापत्य, चित्र, संगीत, काव्य-परंपरा, धातु-प्रयोग, शस्त्रशास्त्र, विष, मंत्र-विद्या, चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में बहुविध संकेत-सूत्र उपलब्ध होते हैं। सामाजिक जीवन में नारी की उच्च सत्ता का उद्घोष भी यह काव्य करता है। इस काव्य में राजस्थानी आत्मा की समस्त भावनाओं और भंगिमाओं का प्रतिनिधान हुआ है। सामाजिक जीवन के आचार-विचार, विश्वास, प्रथाएँ, पर्व, वस्त्राभूषण एवं शृंगार-प्रसाधन तथा क्रीड़ा-विनोद आदि बहुमुखी जीवनीय क्रियाकलाप इसमें व्यंजित हुए हैं। इसका कवि धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन आदि के प्रति भी सर्वथा उदासीन नहीं रहा है। इनके भी संकेत-सूत्र इसमें उपलब्ध हैं।

इससे भ्रम न हो कि 'ढोला मारू' में सभ्यता की भूमि अधिक स्पष्ट है। सांस्कृतिक चेतना की अन्तःसलिला से भी वह सर्वत्र आर्द्र और पुष्ट है। कवि की सांस्कृतिक चेतना स्पष्ट, प्रत्यक्ष और गहरी है।

राजस्थानी जीवन के दैनंदिन क्रिया-कलापों एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्यों को कवि की पारदर्शिनी प्रतिभा का संस्पर्श मिला है। कवि ने राजस्थानी जन-जीवन की गहराइयों का तल-स्पर्श करके उसका सहज-स्वाभाविक और आकर्षक-अभिराम जीवन-चित्र इस कृति में साकार कर दिया है। इसी वैशिष्ट्य के कारण जन-मानस के साथ घुलमिलकर यह जातीय काव्य उसका कंठ-हार बनकर अजर-अमर होगया है। लोक-भूमि पर अवस्थित 'ढोला मारू' के भावना-भवन ने इसे लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग बना दिया है।

इस काव्य के सांस्कृतिक निरूपण की यह भी विशिष्टता है कि वह संक्षिप्त-संश्लिष्ट होने पर भी तद्युगीन समाज का पूर्ण परिचय देने में पर्याप्त सक्षम है। इतिवृत्तात्मकता एवं परिगणनात्मक प्रवृत्ति से कवि ने अपनी कृति को बचाकर भी सामाजिक पर्यावरण के सत्य को मुखरित कर दिया और इसी सौष्ठव के कारण यह सदा-सर्वदा के लिये राजस्थानी मरु-जातीय-जीवन का प्रतिनिधि काव्य बन गया।

यह सांस्कृतिक-सौष्ठव आंचलिकता से समलंकृत भी है। सामाजिक चित्रों पर राजस्थान की अमिट रंगत है। ये चित्र विशद न होने पर भी समस्त वृत्तियों के आनुषंगिक रूप की उपस्थिति के कारण अभिनन्दनीय हैं।

इस काव्य में हमें संस्कृति-प्रेम की झांकी का पद-पद पर दर्शन होता है। नई और पुरानी संस्कृतियों में मिश्रण की जो प्रक्रिया है उसका आभास ऐसे ग्रन्थ-रत्न ही देते हैं। इस प्रक्रिया में सन्निविष्ट तद्युगीन और उसके पूर्वयुगीन संस्कृति का भी परिचय ऐसे ही ग्रंथों से होता है। डॉ. भोगीलाल सांडेसरा ने इस तत्व को 'सांस्कृतिक इतिहास' में बड़ा महत्वपूर्ण माना है।[1] इस दृष्टि से 'ढोला मारू' में

१. वर्णक समुच्चय : भाग २ : पृ. ८।

प्रत्यक्षतः वर्णित एवं परोक्षतः प्राप्त संस्कृति राजस्थान, मालवा, गुजरात और कच्छ के कतिपय भागों के सांस्कृतिक इतिहास का भी दर्शन कराती है ।

इस कृति में यथार्थ और आदर्श का भी अभूतपूर्व सम्मिलन दृष्टिगत होता है । इस मरु-भूखंड की सांस्कृतिक और सामाजिक मान्यताओं का तथ्याश्रित अध्ययन इस रचना में प्राप्त है। जीवन के कठोर सत्यों से संवलित और यथार्थवादी होते हुए भी 'ढोला मारू रा दूहा' में दाम्पत्य-जीवन के मनोरम आदर्शों की अन्तर्धारा सर्वत्र प्रवहमान मिलेगी ।

इस रचना की सांस्कृतिक चित्रोपमता भी अनुपम है । इससे विगत संस्कृति और सभ्यता के पृष्ठ ही मुखर नहीं होते, कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी दृष्टि से छोटी से छोटी वस्तु भी नहीं बची है । इससे समस्त वातावरण वास्तवानुसारी बन गया है ।

इस काव्य ने राजस्थान की संस्कृति-सभ्यता पर दृष्टि केन्द्रित करके भी गुजरात-मालवा और कच्छ को अपनी परिधि में लिया है । यह उदात्त रूप भी इसकी अन्यतम निधि है । फिर मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप यों ही उखड़ी-उखड़ी उच्छ्वासें ले रहा है । यह उस विस्मृत एवं अद्यावधि उपेक्षणीय युग का सांस्कृतिक पट खोलकर अपनी महत्ता का प्रतिपादन करता है ।

'ढोला-मारू' में तद्युगीन सामन्त एवं लोक संस्कृति तथा सभ्यता के सबल स्वरों की अनुगूंज है । इसे मध्ययुगीन जीवन, मुख्यतः राजस्थानी जीवन के मूल-तत्वों को प्रत्यक्ष कराने वाला सांस्कृतिक संदर्भ ग्रंथ कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि इसमें मध्ययुगीन सामन्ती जीवन और लोक जीवन का स्पन्दन स्पष्ट सुनाई देता है । सामाजिक चेतना और साहित्य-सौष्ठव का मणिकांचन इस काव्य की अन्यतम विशिष्टता है ।

ग : ऐतिहासिक निष्कर्ष :

शाश्वत तथा सूक्ष्म भाव-सत्यों की अभिव्यक्ति के लिये स्थूल घटनाओं और पात्रों के आकार का माध्यम कवि स्वीकार करता है । 'ढोला मारू' के कवि ने इसी तथ्य को अपने समक्ष रखकर इतिहास-तत्व ग्रहण किया है ।

इस काव्य का कथानकाधार इतिहास-सम्मत है । ढोला, मारू, ऊमर सूमरा आदि पात्र ऐतिहासिक रहे हैं । ढोला का समय विक्रम की १० वीं शती का है और वह कछवाहा-वंशीय राजपुरुष था । मारू भाटी-वंश की पूगल की राजकुमारी थी । 'ढोला मारू' में आये हुए अन्य पात्रों का अस्तित्व इतिहास से पुष्ट और अनुमोदित नहीं होता । 'ढोला मारू' की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में जो उपोद्घात अथवा धुर-संबंध प्राप्त होता है, वह भी अनेक ऐतिहासिक विसंगतियों से युक्त है ।

वस्तुतः 'ढोला मारू रा दूहा' इतिहास-ग्रंथ न होकर काव्य-ग्रंथ है । इसकी आत्मा काव्यात्मा है । अतः कथा और पात्रों के इतिहासानुमोदित होने पर भी इतिहास के शुष्क तत्व इसमें कहीं नहीं मिलते । इसका वृत्त तो प्रख्यात हैं, पर शेष कलित कल्पना का विलास और उत्पाद्य ही । कल्पना के आवरण में ऐतिहासिक

सत्य अवगुंठित है जिसके कारण नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता का इसमें सर्वथा अभाव है।

इसका मूलाधार और पृष्ठभूमि ऐतिहासिक होते हुए भी इतिहास का वातावरण अनुश्रुतियों से समन्वित होकर इस कृति में मौलिक रूप से प्रस्तुत हुआ है। 'ढोला-मारू' का कथा-स्रोत लोक-जिह्वा से निःसृत है। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुश्रुति में परिवर्तित-परिवर्द्धन हो जाना और उनके आधार पर काव्य-कृतियों का निर्माण हमारे साहित्य में सर्वथा नवीन और आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि इतिहास सम्बन्धी भारतीय दृष्टि-विधान कभी शुद्ध तथ्य-कथनात्मक कभी नहीं रहा। इतिहास से कथावृत्त ग्रहण करने और उसे रसानुरूप ढालने की परम्परा भारतीय काव्यकारों की रही है। 'ढोला-मारू' की निर्मिति के मूल में यही भावना है। एतदर्थ कल्पना के प्रचुर समन्वय से ऐतिहासिक तथ्यों की गौण उपस्थिति इसमें सहज स्वाभाविक है।

सत्य तो यह है कि इसकी अमरता ऐतिहासिकता-मुखापेक्षी कभी नहीं रही। इतिहास-कथोद्भूत होते हुए भी विशिष्ट कलात्मक शैली से परिपोषित इस काव्य में कल्पना का गहरा पुट है। इतिहास की दृष्टि से 'ढोला-मारू' की स्थिति बड़ी विचित्र है। इसकी पात्रता अनूठी और निराली है—व्यक्तिवाचक न होकर जाति वाचक और इस पर भी इतिहास से संपुष्ट। 'ढोला-मारू' में इतिहास-तत्व की यही कहानी है।

'ढोला-मारू रा दूहा' में हमें इस प्रकार साहित्य, संस्कृति और इतिहास की त्रिवेणी के दर्शन होते हैं। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि लोक-अभिनन्दित 'ढोला-मारू रा दूहा' एक ऐसी प्राणवान कृति का विरल दृष्टान्त है जिसमें अन्तरंग की पूर्णता के साथ-साथ कला-पक्ष की भी सबलता है। हर महान कविता नियम से तो सीमित होती है, परन्तु अपने संकेतों में निस्सीम और अनंत। शृंगार-प्राण 'ढोला-मारू रा दूहा' भी पाठक को आत्म-विस्मृत बनाकर काव्यानन्द की मुक्त-दशा में निमग्न करने वाली ऐसी रस-प्लावित आपात मधुर काव्य-कृति है। यह रचना राजस्थानी आत्मा की संजीवनी है। सदा-नीरा मरु-भाषा मन्दाकिनी में खिला राजस्थानी का यह काव्य-कमल प्रेम की शाश्वत भावना से संभूत होकर युग-युग तक अपनी सौरभ लुटाता रहा है और रहेगा।

—इति शुभम्—



परिशिष्ट

१ : हस्तलिखित ग्रंथ,
२ : शिला लेख,
३ : संदर्भ ग्रंथ,
४ : पत्र-पत्रिकाएँ।

१ | हस्तलिखित ग्रंथ

(अ) 'ढोला मारू' से सम्बन्धित हस्तलिखित ग्रंथ :

क्र. सं.	ग्रंथांक	शीर्षक	कवि/लेखक	लिपि-संवत्
		अलवर		
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान शाखा :				
१.	३३५	ढोला मारू री वार्ता	—	१९४५
२.	३३६	ढोला मारू री वार्ता (अपूर्ण)	—	—
३.	३५५(२)	चौपाई ढोला मारूणी (अपूर्ण)	—	१७४९
		अहमदाबाद		
कवीश्वर दलपतराम ह. लि. संग्रह :				
४.	१	ढोला मारू ना दोहरा	—	१८६१
चंचल बेन नो भण्डार, फताशाहनी पोल :				
५.	१	ढोला मारवणी चौपई	कुशललाभ	१६७६
ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर ज्ञान भण्डार :				
('उ' संग्रह)				
६.	१३३१	ढोला मारू चोपई	कुशललाभ	—
(मुनि श्री पुण्य विजय जी संग्रह)				
७.	६४६१	ढोला मारवणी चोपाई (अपूर्ण)	कुशललाभ	—
८.	५९४७	ढोला मारू (दूहा)	—	—
९.	२०००	ढोला मारवणी चोपाई	कुशललाभ	—
१०.	७६४६	ढोला मारू चोपई (अपूर्ण)	,,	—
११.	२००९	ढोला मारू चोपै	,,	—
१२.	२६१४	ढोला मारूवणी चोपाई	,,	—
१३.	२७२३	ढोला मारूनी वार्त्ता चोपाई	,,	—
१४.	२७६४	ढोला मारूनी चोपाई	,,	—
१५.	६१७०	ढोला नो रास	,,	१७८६
१६.	६२२८	ढोला मारू चउपई	,,	—
१७.	६४५६	ढोला मारवणी चोपई	,,	—
(दसाड़ा संग्रह)				
१८.	१२१	ढोला मारवणी चोपाईं	—	१७९२

१९.	३५१	ढोला मारुनी वार्त्ता	टोडर	१८ वीं शती

(लाल भाई दलपत भाई संग्रह)

२०.	३३५५	ढोला मारवणी चोपई	कुशललाभ	१८ वीं शती
२१.	३४९६	ढोला मारवणी वारता दूहावंध	—	१८७४
२२.	१२४८	ढोला मारुवणी की चउपई	—	—
२३.	४२३७	ढोला मारवणी चोपई	कुशललाभ	१७२६
२४.	३४४४	ढोला मारवणी चौपई	,,	१८ वीं शती
२५.	५९९४(१५)	ढोला मारवणी चोपाई	,,	१८०२
२६.	३६५६	ढोला मारु चोपई (सचित्र)	,,	१७६६
२७.	३४४१	ढोला मारु चोपई	,,	१७६४
२८.	२७८०	ढोला मारु चोपई	,,	—
२९.	२९८६	ढोला मारु चोपई	,,	—
३०.	४५८२	ढोला मारु ना दूहा (सचित्र)	,,	१९ वीं शती
३१.	२७७१	ढोला मारु प्रवन्ध	,,	१८१३

आगरा

क. मु. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ :

३२.	९१८	ढोला मारु चउपई	कुशललाभ	१६६६

उदयपुर

अन्नाणी संग्रह (अप्राप्त) :

३३.	२१	ढोला मारवणी री बात	—	—

कविराज मोहनसिंह संग्रह (स्थानान्तरित, रा. प्रा. प्र. जोधपुर) :

३४.	१४	ढोला मारवणी की बात	—	—
३५.	७२	ढोला मारवणी री वार्ता	—	—

डॉ० बृजमोहन जावलिया संग्रह :

३६.	१	ढोला मारु चोपई	कुशललाभ	१६३९

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा :

३७.	१८५०	ढोला मारु चोपई	कुशललाभ	१७५३
३८.	१९६३	ढोला मरवण री बारता	—	१८२२
३९.	१९७३	ढोला मरवण री वात	—	१९ वीं शती
४०.	२१८२	ढोला मरवण रा त्रुटकर दोहा	—	१८२५
४१.	२२३९(२)	ढोला मारींणी री वात	—	१७९५
४२.	२३५०	ढोला मारु री वात	कुशललाभ	१७२५
४३.	२६९३	ढोला मारु री वात	"	१८३३
४४.	७३०१	ढोला मारु री चौपाई (सचित्र)	"	१८१९

साहित्य संस्थान :

४५.	१६५	ढोला मारवणी री वात	—	१९०४

४६.	२७८	ढोला मारू रा दूहा	—	—
४७.	२७९	ढोला मारू रा दूहा (अपूर्ण)	—	—

कलकत्ता

एशियाटिक सोसायटी :

४८.	C–१२	ढोला मारवणी चौपाई	—	१९७१
४९.	C–४४	ढोला मारू रा दूहा	—	१९७२
५०.	C–६४	ढोला मारवणी री वात	कुशललाभ	१९७२
५१.	C–८४	ढोला मारू रा दूहा	—	१९७३

सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय :

५२.	गुटका १० (घ)	ढोला मारवण	—	—

कोटा

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा :

५३.	३५१४	ढोला मारू की वार्ता	—	—

चित्तौड़

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा :

(श्री कान्ति सागर ह० ग्रन्थ संग्रह)

५४.	५४	ढोला मारूजी की वार्ता (अपूर्ण)	—	—

(श्री बालचन्द्र ह. ग्रन्थ संग्रह)

५५.	४६६	ढोला मारू चौपई	—	—

जयपुर

आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार :

५६.	१ (गुटका)	ढोला री सझ्झाय	—	—
५७.	४०	ढोला की चोपई	कुशललाभ	—

आमेर शास्त्र भण्डार :

५८.	२५७८	ढोला मारूणी की वात (अपूर्ण)	—	१९००
५९.	२५७९	ढोला मारूणी को वात	—	—

दि० जैन मन्दिर पाटोदी :

६०.	५४१६	ढोला मारूणी की वात	—	१७८२

दि० जैन मन्दिर बड़ा तेरह पंथियों का :

६१.	२२५१	ढोला मारूणी	—	१७६२

दि० जैन मन्दिर लूणकरणजी पांड्या :

६२.	८६९	ढोला मारूणी	—	—
६३.	८७५	ढोला मारूणी दोहे	—	१६९९

दि० जैन मन्दिर संघीजी :

६४.	२५७७	ढोला मारूवणी चौपई	कुशललाभ	—

६५.	५७६१	ढोला मारूणी की वार्ता	—	—

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा :

६६.	६०	ढोला मारुवणी की वात चोपई	कुशललाभ	१८००

विद्या प्रचारिणी जैन सभा :

६७.	१	ढोला मारवणी चउपही	कुशललाभ	१६६६

जैसलमेर

श्री जिनभद्र सूरीश्वर ज्ञानभण्डार :

६८.	६३३	ढोला मारु वार्ता	—	—
६९.	१०३३	ढोला मारु वार्ता (अपूर्ण)	—	—

जोधपुर

आयस जी संग्रह, महामन्दिर :

७०.	१	ढोला मारु चौपई	कुशललाभ	१६६७

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान :

७१.	११४४(१)	ढोला मारवणी चोपई	कुशललाभ	१९ वीं शती
७२.	२२०७	ढोलै मारूरी वार्त्ता	—	१८२८
७३.	१८८१(२)	ढोला जी की वात	—	१९ वीं शती
७४.	५०८४(१)	ढोला मारु (सचित्र)	—	१८३६
७५.	७७२०(१)	ढोला मारुवणी चौपाई	कुशललाभ	१७५९
७६.	६४३८	ढोला मारवणी चौपाई	,,	१८ वीं शती
७७.	५८६६	ढोला मारु रा दूहा (सचित्र)	—	,,
७८.	७७४७	ढोला मारुनी वात	—	,,
७९.	६७२०	ढोला मारु रा दूहा (अपूर्ण)	—	१९ वीं शती
८०.	४९२४(१३)	ढोला मारु री चौपाई	कुशललाभ	१७७०
८१.	२८९३(४७)	मारु देश निन्दा गीत	—	१७ वीं शती
८२.	८२९६	ढोला मरवण चौपई	कुशललाभ	१८ वीं शती
८३.	८४२६	ढोला मरवण री चउपई	,,	१७ वीं शती
८४.	९०५२(२)	ढोला मरवण री चउपई	,,	१८०२
८५.	१०१८६(२)	ढोला मरवण री वात	—	१८५३
८६.	१०६६०(१)	ढोला मारु (सचित्र)	—	१८०७
८७.	९२५२(५)	ढोला मारु री वात	—	१७८१
८८.	१७७६५	ढोला मारुवणी चोपई (अपूर्ण)	कुशललाभ	१८२०
८९.	१४८२६(१)	ढोलै मारवण री वारता	लूणपाल मेहु	१९ वीं शती
९०.	१६२३५	ढोला मारु चोपई	कुशललाभ	—
९१.	१२३०९(१४)	ढोला मारवणी री चौपई	कुशललाभ	—
९२.	१२३१३(५)	ढोला मारवणी री चोपी	,,	१७९५
९३.	१५७४२	ढोला मारवणी री वार्ता चौपई	,,	१८०१

९४.	१८७२९	ढोला मारू री चोपई	,,	१८८३
९५.	१२७३०(१)	ढोला मारू चोपई	,,	१८६३
९६.	१२२८९	ढोला मारू चौपई (सचित्र)	,,	१९३१
९७.	१३७३७(७)	ढोला मारू रा दूहा	—	१८००
९८.	१३७७१	ढोला मारूवणी री वात (सचित्र अपूर्ण)	—	१८५०
९९.	१३७७५	ढोला मारूवणी री वात (सचित्र)	—	—
१००.	१२३७९(६)	ढोला मारू वार्ता	—	१८६९
१०१.	२२४८४	ढोला मारवणी की वार्ता	—	१९५६
१०२.	२२५४४	ढोला मारूवणी री वारता	—	१८४१
१०३.	२४५०४	ढोला रा दोहा (अपूर्ण)	—	१८ वीं शती
१०४.	२५७९५	ढोला मारूणी चौपई	कुशललाभ	१७३६
१०५.	२६८४०	ढोला मारवणी री चोपई	,,	१८४६
१०६.	२७६९२	ढोला मारू चउपई (अपूर्ण)	,,	१७३०
१०७.	२८०५६	ढोला मारू चोपई	,,	१७ वीं शती
१०८.	३०११४(१)	ढोला मारवणी की वात	—	१८४३
१०९.	३२६३४	ढोला मारवणी चोपई	कुशललाभ	१७१०
११०.	३३५३१	ढोला मारू री वार्ता चौपई	,,	२० वीं शती

इन्द्रगढ़ पोथी खाना (रा. प्रा. वि. प्र. में)

१११.	७७	ढोला मारू री वार्ता (अपूर्ण)	—	२० वीं शती

राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी :

११२.	३८	ढोला मारवणी री वार्ता (सटीक)	—	१९७१
११३.	२७६(१३)	ढोला रा दूहा	—	१८२८
११४.	२७९(३)	ढोला मारवण री चौपई	—	१७८९
११५.	२९५(३)	ढोला मारवण री वात	—	—
११६.	६८६	ढोला मारू रा दूहा	—	—
११७.	७४१	ढोले रा दूहा	—	१७९९
११८.	१०३९	ढोला मारू रा दूहा	—	१९ वीं शती
११९.	१०६४	ढोला मारू चौपई	कुशललाभ	१७३२
१२०.	१२४३(२)	ढोला मारवणी री वात	—	२० वीं शती
१२१.	१३८१	ढोला मारू री चौपई	कुशललाभ	१७९९
१२२.	१६३७(२)	ढोला मारू रा दूहा (अपूर्ण)	—	१८१२
१२३.	१७३५(१)	ढोला मारवण री वारता	—	—
१२४.	१९२२	ढोला मारू रा गीत	—	—
१२५.	२५१५	मारुवनी सज्झाय	—	—
१२६.	३२६६(१)	ढोला मारवण री चौपाई	कुशललाभ	१७९०
१२७.	३२७९(३)	ढोला मारू री चौपई	,,	१८४२

१२८.	३२९१(२५)	ढोला मरवण रा दूहा	—	—
१२९.	३२९६(३)	ढोला मारवण रा दूहा	—	—
१३०.	३७६०(१)	ढोला मारू री चौपई	कुशललाभ	—
१३१.	४१९२	ढोला मारवणी रा दूहा	—	—
१३२.	७११७(१)	ढोला मारवण की वात	—	१९१७

डॉ० पुरुषोत्तम लाल जी मेनारिया संग्रह :

१३३.	१	ढोला मारू चोपई	कुशललाभ	१७२८

पुस्तक प्रकाश, उम्मेद भवन पेलेस :

१३४.	११३७	ढोला मारवण रा दोहा	—	—
१३५.	११३८	ढोला मारवण रा पद	म. मानसिंह	—
१३६.	११३९	ढोला मारूजी री वात	—	१८१२
१३७.	११४०	ढोला मारवण री वात चौपाईमय	कुशललाभ	१७८१
१३८.	२३(गु.१३)	ढोला मारू री वात	—	—

सरदार म्यूजियम :

१३९.	१	वारता ढोला नें मारवणी री	कुशललाभ	—

श्री सीताराम लालस संग्रह :

१४०.	१	ढोला मारू री वात	लूणपाल मेड़	—

सुमेर सार्वजनिक पुस्तकालय :

१४१.	१	ढोला मारूई चउपई	कुशललाभ	१६६६

नागौर

श्वेताम्बर जैन उपाश्रय :

१४२.	१	ढोला मारवणी रा दूहा	—	१७७१

पाटण

सेठ हालाभाई मगनलाल नो भण्डार, फोफलिया वाडा :

१४३.	१	ढोला मारवणी चौपई	कुशललाभ	१६७६

वड़ौदा

ओरिएन्टल इन्सटीट्यूट :

१४४.	११८९८	ढोला मारू चउपई (त्रुटित)	कुशललाभ	१६७६

बम्बई

जैन एसोशियेसन ऑफ इन्डिया :

१४५.	१	ढोला मारू (अप्राप्य)	—	—

श्री फार्बस गुजराती सभा :

१४६.	२७	ढोला मारू	—	१६५७

बीकानेर

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी :

(पद्य काव्य)

१४७.	३५	ढोला मारू रा दूहा	—	—
१४८.	३६(ग)	ढोला मारू रा दूहा	—	१७५२
१४९.	३७	ढोला मारू रा दूहा	—	१७६३
१५०.	३८	ढोला मारू रा दूहा	—	१६६९
१५१.	३९	ढोला मारू रा दूहा	—	—
१५२.	४०(क)	ढोला मारू रा दूहा	—	१८१८
१५३.	४१	ढोला मारू रा दूहा	—	१७५१
१५४.	४२	ढोला मारू रा दूहा	—	—
१५५.	४३(क)	ढोले मारू रा दूहा	—	—
१५६.	४४	ढोला मारू री चौपई	कुशललाभ	—
१५७.	४५	ढोला मारू री चौपई	,,	१६५१
१५८.	४६(क)	ढोला मारू री चौपई	,,	१७१२
१५९.	४७(छ)	ढोला मारू री चौपई	,,	१७२२
१६०.	४८(क)	ढोला मारू री वात—(अपूर्ण)	लूणपाल मेहू.	—
१६१.	४८(ख)	ढोला मारू री चौपई	कुशललाभ	१७११
१६२.	७८(ज)	ढोला मारू रा दूहा	—	—
१६३.	७९(त)	ढोलै मारू रा दूहा	—	१७२०
१६४.	९०(क)	ढोला मारू रा दूहा	—	१७७६
१६५.	१२०(झ)	ढोलै मारू रा दूहा	—	—

(गद्य काव्य)

१६६.	५	ढोला मारू री वार्ता	—	—
१६७.	६	ढोला मारू री वात	—	—
१६८.	९	ढोला मारू री वार्ता	—	—
१६९.	२३(२)	ढोला मारू री वात	लूणपाल मेहू.	—
१७०.	३०(१०)	ढोला मारू री वात—(सचित्र)	,,	—

अभय जैन ग्रंथालय :

१७१.	५९	ढोला मारू	—	—
१७२.	१०१(२)	ढोला मारू—(अपूर्ण)	—	—
१७३.	१७७७	ढोला मारू रा दूहा—(अपूर्ण)	—	—
१७४.	३७०६	ढोला मारू चोपई	कुशललाभ	१७५५
१७५.	३७०७	ढोला मारवणी चउपइ	,,	१७५७

१७६.	३७०८	ढोला मारू चौपाई—(अपूर्ण)	,,	—
१७७.	३७०६	ढोला मारू—(अपूर्ण)	—	—
१७८.	३७११	ढोला मारवणी री चोपई	कुशललाभ	१७४६
१७६.	७११८	ढोला मारू रा दूहा—(अपूर्ण)	—	—

श्री जयपाल सिंह संग्रह :

१८०.	१	ढोला मारू रा दूहा	—	—

पुरालेख विभाग :

१८१.	१६	वारता ढोला नैं मारवण री	कुशललाभ	—
१८२.	२५/३४	ढोला मारवणी री वात	—	—
१८३.	७/७२	दूहा ढोला मारू रा	—	१७६-

भारतीय विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान :

१८४.	१८१	ढोला मारू री वात—(अपूर्ण)	—	—
१८५.	२०३	ढोला मारू रा दूहा	—	१७७१
१८६.	२२६	ढोला मारवण री वात	—	१६६०

श्री मूलचन्द प्राणेश संग्रह :

१८७.	१	ढोला मारू रा दूहा	—	—

श्री मोहन लाल पुरोहित संग्रह :

१८८.	१	ढोला मारूवणी चउपई	कुशललाभ	१६६४
१८६.	२	ढोला मारू रा दूहा—(अपूर्ण)	—	१८३६

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा :
(उपाध्याय जयचन्द्र जी संग्रह)

१६०.	२८	ढोला मारू रा दूहा	—	—

रांगड़ी श्वेताम्बर जैन उपाश्रय-महिमा भक्ति भण्डार :

१६१.	१	ढोला मारवण री चउपई	कुशललाभ	१७००

अभयसिंह भण्डार :

१६२.	१	ढोला मारू रीं चोपई	कुशललाभ	—
१६३.	२	ढोला मारू री चोपई	,,	—

मथुरा

पं० राधेश्याम द्विवेदी संग्रह, स्वामी घाट :

१६४.	१	ढोला मारू रा दूहा	कुशललाभ	१७३१

लींबड़ी

जैन ज्ञान भण्डार :

१६५.	१०७८(१)	ढोला मारू चतुष्पदी	कुशललाभ	१८४८
१६६.	१०७८(२)	ढोला मारू चतुष्पदी	,,	१८०१

१९७.	१०७८(३)	ढोला मारू चतुष्पदी	"	१७३२

सूरत

श्री हुकम मुनि ज्ञान भण्डार :

१९८.	१	ढोला मारूनी चौपाई	—	—

लंदन

इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी :

१९९.	१	ढोला मारवणी चउपई	कुशललाभ	—

(आ) अन्य हस्तलिखित एवं अप्रकाशित ग्रन्थ :

अलवर

श्री किशन सिंह जी जागावत संग्रह, बारहठ हाउस :
२००. कुशवाहा वंशावली ग्रन्थ जयपुर राजवंश,
२०१. वनराव विलास,
२०२. नकल पीढी ।

रा. प्रा. वि. प्र. शाखा :
२०३. ग्रं. ३२० : कछवाहों की वंशावली,
२०४. ग्रं. ३३२ : पन्ना वीरमदे री वारता ।

श्री रामदत्त संग्रह :
२०५. कछवाहों की वंशावली ।

उदयपुर

रा. प्रा. वि. प्र. शाखा :
२०६. ग्र. २३९७ : पंच सहेली रा दूहा ।

जयपुर

रा. प्रा. वि. प्र. शाखा :
२०७. ग्रं. २६७ : शिलालेख प्रतिलिपि संग्रह (५)—३ ।

बीकानेर

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी :
२०८. ग्रं. ८६ : राठौड़ प्रिथीराज रा दूहा आदि,
२०९. ग्रं. २१७ : पंच सहेली रा दूहा ।

पुरालेख विभाग :
२१०. ग्रं. ६ : वस्ता ७२ : वार्ता पन्ना री,
२११. ग्रं. १८ : वंडल ४३ : दोहाऊमर सोढा री,
२१२. ग्रं. ७५ (१) विविध गीत संग्रह,
२१३. ग्रं. ७५ : पुस्तकांक १३ : विविध गति संग्रह (भमर वत्तीसी),
२१४. ग्रं. २१५ : दूसरी कापी : जाति अन्वेषण,
२१५. ग्रं. २१७ कापी नं. ८ एवं ६ : जाति अन्वेषण,
२१६. २२ : ऐतिहासिक नोट,
२१७. पुस्तकांक २६ : गजेटियर रफ अलवर राज्य,
२१८. पुस्तकांक २६ : प्राचीन राजवंशों की कापियाँ चौधरी माधोगोपाल जी द्वारा,
२१६. पुस्तकांक ८३ : ऐतिहासिक नोट्स (मलय सिंह),
२२०. पुस्तकांक ८८ : वड़गूजरों का वंशजात तथा ऐतिहासिक नोट्स,
२२१. पुस्तकांक ६६ : वंशावलियाँ (लिफाफे में),
२२२. पुस्तकांक १३४ : जयपुर राज्य की वंशावली ऐतिहासिक नोट्स,
२२३. पुस्तकांक १३४ : वंश संग्रह,
२२४. पुस्तकांक १४७ : कछवाहा क्षत्रियों की पुरानी राजधानी नरवर गढ़ का वृत्तान्त,
२२५. पुस्तकांक २१५ : जाति अन्वेषण,
१२६. पुस्तकांक ६११/२११ : गेजेटियर रफ, अलवर।

भारतीय विद्यामन्दिर शोध संस्थान :
२२७. ग्रं. २३२ : जालोर के लेख आदि,
२२८. ग्रं. २७६ : कंवर वीरमदे पन्ना की वात।

सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्सटीट्यूट :
२२६. भट्टीवंश प्रशस्ति : पं. हरिदत्त गोविन्द व्यास (टंकित प्रति)।

वल्लभ विद्यानगर

२३०. राजस्थानी दोहा साहित्य : एक अध्ययन : डॉ. ओमानन्द रू. सारस्वत (पी-एच. डी. का टंकित शोध प्रवंध),
२३१. राजस्थानी शब्द कोश : आचार्य वदरी प्रसाद साकरिया।

★★

२ ‖ शिलालेख

१ : सम्वत : । १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइसाख वदि पाचमि……… (आगे के अक्षर अवाच्य) ।

—सुहनी (मध्य प्रदेश) का जैन मंदिर।

२ : सं. १३५३ वर्षे वैसाख वद ५ सामी श्री सवरण गिरि अथाह महाराज कुं. श्री सामंत सिंह कल्याण विजयराजे तत्पाद पद्मोपजीव नीगराज श्री कान्हड़ देव ।।

—जालोर, जिला जालोर (राजस्थान) ।

३ : सवत १६५२ डास जहराम जी ढोलै मारू : सुत्रयादा मुसत बोहीथे

—रैणी, जिला अलवर (राजस्थान) ।

३ ‖ संदर्भ ग्रंथ

(क) संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश :

१. अर्थ शास्त्र : कौटिल्य,
२. अपभ्रंश प्रकाश : देवेन्द्रकुमार,
३. अपभ्रंश व्याकरण : के. का. शास्त्री,
४. अभिनव प्राकृत व्याकरण : नेमीचन्द शास्त्री,
५. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास,
६. अमरकोश : अमरसिंह,
७. उक्तिरत्नाकर : साधु सुन्दरगणि : संपा. मुनि श्री जिन विजय,
८. कवि कण्ठाभरण : भोज,
९. कादम्बरी : बाणभट्ट : संपा. श्री रामचन्द्र मिश्र,

१०. कामसूत्र : वात्स्यायन,
११. काव्य प्रकाश : मम्मट : व्या. : आचार्य विश्वेश्वर,
१२. काव्य मीमांसा : राजशेखर : अनु. पं. केदार नाथ सारस्वत,
१३. काव्यादर्श : दण्डी,
१४. काव्यानुशासन : वाग्भट,
१५. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र : द्वितीयखंड (भूमिका) रसिकलाल पारीक,
१६. काव्यालंकार : भामह,
१७. काव्यालंकार सूत्र : रूद्रट,
१८. कुमारपाल चरित : संपा. ह. वूच एवं ज. का पटेल,
१९. कुमारपाल प्रतिबोध : सोम प्रभ सूरी,
२०. कुमार संभव : कालिदास,
२१. दशरूपकम् : धनंजय : संपा. डॉ. भोलाशंकर व्यास,
२२. देशी नाम माला : धनपाल,
२३. देसी सद्द संगहों : प्रथम भाग : हेमचन्द : संपा. अध्यापक बेचरदास दोसी,
२४. ध्वन्यालोक : आनंदवर्धन : संपा. जगन्नाथ पाठक,
२५. नाट्य दर्पण : रामचन्द्र गुणचन्द्र,
२६. नाट्य शास्त्र : भरत : भाग १ : रघुवंश,
२७. प्रबन्ध चिन्तामणि : मेरुतुंग : संपा. मुनि श्री जिनविजय,
२८. प्रबन्ध चिन्तामणि : मेरुतुंग : संपा. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी,
२९. पाइअलच्छी नाममाला : धनपाल : बी. बी. एण्ड महाशयाना मंडली,
३०. पाइअ-सद्द-महण्णओ : पं. हरगोविन्द त्रिकमचन्द शेठ,
३१. प्राकृतपैंगलम् : भाग १ : संपा. डॉ. भोलाशंकर व्यास,
३२. प्राकृतपैंगलम् : भाग २ : संपा. डॉ. भोलाशंकर व्यास,
३३. प्राकृत शब्दानुशासनम् : त्रिविक्रम : संपा. श्री परशुराम शर्मा,
३४. प्राकृतानंद : रघुनाथ कवि : संपा. मुनि श्री जिन विजय,
३५. मनुस्मृति : मनु : संपा. रावकृष्ण,
३६. महाभारतः वेदव्यास : टी. रामनारायण दत्त शास्त्री,
३७. रस गंगाधर : पं. जगन्नाथ,
३८. वृत्त जाति समुच्चय : विरहांक : संपा. एच. डी. वेलणकर,
३९. वाग्भट्टालंकार : वाग्भट्ट,
४०. वाल्मीकीय रामायण : युद्धकाण्ड : संपा. विश्वबन्धु शास्त्री,
४१. विक्रमोर्वशीय : कालिदास : संपा. सी. आर. देवधर एवं एम. वी. पटवर्धन,
४२. शुक्रनीति : शुक्राचार्य : संपा. पं. मिहिरचन्द्र,
४३. सरस्वती कंठाभरण : भोज,
४४. संदेश रासक : अब्दुर्रहमान : संपा. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी,
४५. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी : आप्टे,

४६. स्वयंभू छन्द : स्वयंभू : संपा. एच. डी. वेलणकर,
४७. साहित्य दर्पण : विश्वनाथ : श्री शालिग्राम शास्त्री,
४८. सिद्धहेम : हेमचन्द्र : ज. का. पटेल एवं ह. बूच
४९. हलायुध कोष : हलायुध : संपा. जयशंकर जोशी
५०. हिन्दी दशरूपक : धनंजय : अनु: डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत
५१. हिन्दी ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन : आचार्य विश्वेश्वर
५२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक : आचार्य विश्वेश्वर
५३. शृंगार प्रकाश : भोज
५४. अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय अध्ययन : श्री रामलाल वर्मा
५५. अध्ययन और आस्वाद : श्री गुलाबराय
५६. अपभ्रंश साहित्य : डॉ. हरिवंश कोछड़
५७. अभिनव प्राकृत व्याकरण : डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री
५८. अमर वाणी : संपा. श्री मानस हंस
५९. अमृत की बूँदें : संपा. श्री आनंद कुमार
६०. अरस्तू के काव्य सिद्धांत : संपा. डॉ. नगेन्द्र
६१. अष्ट छाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन : डॉ. मायारानी टंडन
६२. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य : डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल
६३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना : डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल
६४. ओझा निबंध संग्रह : भाग १,२,३,४ : श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा
६५. कला और संस्कृति : डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
६६. कविता में प्रकृति चित्रण : डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल
६७. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन : डॉ. द्वारिका प्रसाद
६८. कालिदास का भारत : प्रथम खण्ड : डॉ. भगवत शरण उपाध्याय
६९. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद
७०. काव्य के रूप : श्री गुलाबराय
७१. काव्य दर्पण : श्री रामदहिन मिश्र
७२. काव्य निर्णय : भिखारी दास : (भूमिका) डॉ. सत्येन्द्र
७३. काव्य रूपों के मूल स्त्रोत और उनका विकास : डॉ. शकुन्तला दुबे
७४. काव्य शास्त्र : डॉ. भागीरथ मिश्र
७५. काव्य श्री (रस) : डॉ. सुधीन्द्र
७६. काव्यालोक : द्वितीय उद्योत : श्री रामदहिन मिश्र
७७. काव्यांग कौमुदी : तृतीय कला : पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७८. कोशोत्सव स्मारक संग्रह : संपा. पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा
७९. ग्वालियर राज्य के अभिलेख : श्री हरिहर निवास द्विवेदी
८०. छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय : श्री श्यामाचरण दुबे
८१. छन्द : प्रभाकर : श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

८२. छन्द शिक्षा : श्री परमेश्वरानन्द
८३. जायसी के परवर्ती हिंदी सूफी कवि और काव्य : डॉ. सरला शुक्ल
८४. जायसी ग्रंथावली : श्री रामचंद्र शुक्ल
८५. डिंगल कोश: संपा. डॉ. नारायण सिंह भाटी
८६. डिंगल साहित्य : डॉ. गोवर्द्धन शर्मा
८७. डिंगल साहित्य (पद्य) : डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
८८. ढोल सुलतानी : श्री कालूराम उस्ताद
८९. ढोला : श्री नवल सिंह
९०. ढोला मरवण का ख्याल : श्री नानू लाल राणा
९१. ढोला मरवण का ख्याल : श्री लछी राम
९२. ढोला मारवण : श्री भरत व्यास
९३. ढोला मारवण की कथा और उसके आधार पर बने चित्रों का खुलासा : पं. विश्वेश्वरनाथ रेऊ
९४. ढोला मारूणी : श्री बाल मुकुन्द
९५. ढोला मारू रा दूहा : सर्व श्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक तथा नरोत्तम दास स्वामी
९६. ढोला मारू रा दूहा : एक विवेचन : श्री कृष्ण बिहारी सहल
९७. ढोला मारू रा दूहा : विवेचन और व्याख्या : श्री शम्भुसिंह मनोहर
९८. ढोला राह चिकाड़े में : श्री गजाधर सिंह भूदेव
९९. दोहा कोश : राहुल सांकृत्यायन
१००. नल चरित्र ढोला : श्री छेदीलाल करकोली
१०१. नलचरित्रामृत अर्थात् ढोला मारू : श्री टोडरमल
१०२. नालन्दा विशाल शब्द सागर : श्री नवल जी
१०३. निमाड़ी लोकगीत : श्री रामनारायण उपाध्याय
१०४. निहालदे सुलतान : भाग १,२,३ संपा. : डॉ. कन्हैयालाल सहल
१०५. पद्मावत में लोकतत्व : डॉ. रवीन्द्र भ्रमर
१०६. प्रकृति और काव्य (हिन्दी मध्य युग) : डॉ. रघुवंश
१०७. पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढियाँ : श्री व्रजविलास श्रीवास्तव
१०८. प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा : श्री अगरचन्द नाहटा
१०९. प्राचीन राजस्थानी गीत : भाग ६ : संपा. श्री गोवर्द्धन शर्मा
११०. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण : पहला खण्ड : डॉ. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
१११. प्रामाणिक हिन्दी कोश : रामचन्द्र वर्मा
११२. ब्रज की लोक कहानियाँ : डॉ० सत्येन्द्र
११३. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन : डॉ० सत्येन्द्र
११४. बिहारी की वाग्विभूति : श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
११५. बीसलदेवरास : संपा. डॉ. माताप्रसाद गुप्त और श्री अगर चन्द नाहटा

११६. बीसलदेव रासो : डॉ. तारकनाथ अग्रवाल
११७. वीसलदेव रासो : श्री सत्यजीवन वर्मा
११८. भारत का साँस्कृतिक इतिहास : श्री हरिदत्त वेदालंकार
११९. भारत भ्रमण : खण्ड १,२,५ : साधु चरण प्रसाद
१२०. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य : डॉ. हरिकान्त श्रीवास्तव,
१२१. भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा : श्री परशुराम चतुर्वेदी,
१२२. भारतीय लोक साहित्य : श्री श्याम परमार
१२३. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा) : डॉ. मंगलदेव शास्त्री,
१२४. भारतीय साहित्य शास्त्र : डॉ. बलदेव उपाध्याय,
१२५. भाषा-शब्द-कोश : श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल',
१२६. भोजपुरी लोक गाथा : डॉ. सत्यव्रत सिन्हा,
१२७. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन : डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय,
१२८. मदनकोष : मदनलाल तिवाड़ी,
१२९. मर्दुम कुमारी रिपोर्ट राज मारवाड़ सन् १९१५ : राज मारवाड़ की ओर से
१३०. मध्यकालीन प्रेम साधना : श्री परशुराम चतुर्वेदी,
१३१. मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था : श्री अल्लामा अ. युसुफअली,
१३२. मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ : श्री परशुराम चतुर्वेदी
१३३. मध्य युगीन प्रेमाख्यान : डॉ. श्याम मनोहर पाण्डेय
१३४. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन : डॉ. सत्येन्द्र
१३५. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना : डॉ. उषा पांडेय
१३६. मरवण : डॉ. मनोहर शर्मा
१३७. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य : डॉ. शिव सहाय पाठक
१३८. माधवानल कामकन्दला प्रवन्ध : वाल्यूम I : संपा श्री म. र. मजूमदार
१३९. मानक हिन्दी कोष : खण्ड १,२,३ : संपा. रामचन्द्र वर्म्मा
१४०. मालवा की लोक कथाएँ : डॉ. श्याम परमार
१४१. मालवी और उसका साहित्य : डॉ. श्याम परमार
१४२. मालवी लोकगीत : डॉ. श्याम परमार
१४३. मालवी लोकगीत : एक विवेचनात्मक अध्ययन : डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय
१४४. मात्रिक छन्दों का विकास: डॉ. शिवनन्दन प्रसाद
१४५. मिश्र बन्धु विनोद : भाग १ : श्री मिश्र बन्धु-त्रय
१४६. रघुनाथ रुपक गीताँ रो : मंछ : संपा. श्री महताव चन्द्र खारैड़
१४७. रघुवर जस प्रकास : किसना जी आढ़ा : संपा. श्री सीताराम लालस
१४८. रस मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल
१४९. रस रत्नाकर : भानु
१५०. रस सिद्धांत : डॉ. नगेन्द्र
१५१. रस सिद्धांत : स्वरूप विश्लेषण : डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित

१५२. राजस्थान का लोक संगीत : श्री देवीलाल सामर
१५३. राजस्थान की जातियाँ : श्री बजरंग लाल लोहिया
१५४. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद : डॉ. कन्हैयालाल सहल
१५५. राजस्थान के सांस्कृतिक प्रवाद : डॉ. कन्हैयालाल सहल
१५६. राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची : भाग १ : प्र. सं. मुनि श्री जिन विजय
१५७. राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची : भाग २ : प्र. सं. मुनि श्री जिन विजय
१५८. राजस्थान में जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची—भाग १ : संपा. डॉ. कस्तूर कासली वाल
१५९. राजस्थान में जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची—भाग २ : संपा : डॉ. कस्तूर चन्द कासलीवाल
१६०. राजस्थान में जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची—भाग ३ : संपा. श्री अनूप-चंद न्यायतीर्थ
१६१. राजस्थान में जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची—भाग ४ : संपा. डॉ. कस्तूर चन्द कासलीवाल
१६२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज : भाग १ : डॉ. मोतीलाल मेनारिया
१६३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज : भाग २ : श्री अगर चन्द नाहटा
१६४. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज : भाग ३ : श्री उदयसिंह भटनागर
१६५. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज : भाग ४ : श्री अगर चन्द नाहटा
१६६. राजस्थान रा दूहा : संपा. श्री नरोत्तमदास स्वामी
१६७. राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन : डॉ कन्हैयालाल सहल
१६८. राजस्थानी वार्ताँ : १ श्री नरोत्तम दास स्वामी
१६९. राजस्थानी वार्ताँ : २ श्री भवानी शंकर उपाध्याय
१७०. राजस्थानी वार्ताँ : ३ श्री सौभाग्यसिंह शेखावत
१७१. राजस्थानी वार्ताँ : ४ श्री सौभाग्य सिंह शेखावत
१७२. राजस्थानी वार्ताँ : ५ श्री सौभाग्य सिंह शेखावत एवं मोहन लाल व्यास
१७३. राजस्थानी भाषा और साहित्य : संपा. श्री मनोहर प्रभाकर
१७४. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ. मोतीलाल मेनारिया
१७५. राजस्थानी भाषा और साहित्य (वि. सं. १५००—१६५०) : डॉ. हीरालाल माहेश्वरी

१७६. राजस्थानी व्याकरण : श्री सीताराम लालस
१७७. राजस्थानी सबद कोस : खण्ड १,२ : संपा. श्री सीताराम लालस
१७८. राजस्थानी साहित्य का इतिहास : डॉ. पुरुषोत्तम लाल मेनारिया
१७९. राजस्थानी साहित्य संग्रह : भाग १ : श्री नरोत्तमदास स्वामी
१८०. राजस्थानी साहित्य संग्रह : भाग २ : डॉ. पुरुषोत्तम लाल मेनारिया
१८१. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची : भाग १ : प्र. संपा. : मुनि श्री जिन विजय
१८२. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची : भाग २ : प्र. संपा. मुनि श्री जिन विजय
१८३. राजा ढोलन का गीत : श्री महादेव प्रसाद सिंह
१८४. रामायण कालीन समाज : डॉ. शांति कुमार नानूराम व्यास
१८५. रामायण कालीन संस्कृति : डॉ. शांति कुमार नानूराम व्यास
१८६. राष्ट्रभाषा हिन्दी मराठी कोष : कृष्णलाल वर्मा
१८७. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ बावत सन् १८९१ ई : पहला विभाग : राज मारवाड़
१८८. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ बावत सन् १८९१ ई : तीसरा हिस्सा : राज मारवाड़
१८९. लोक गाथा परिचय : आ. नलिन विलोचन शर्मा
१९०. लोक साहित्य : श्री नलिन विलोचन शर्मा
१९१. लोक साहित्य की भूमिका : डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय
१९२. लोक-साहित्य-विज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र
१९३. वृहत् हिन्दी कोश: ज्ञान मण्डल, काशी
१९४. वाङ्मय-विमर्श : श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१९५. विदेशों के महाकाव्य (दी बुक ऑफ एपिक का अनुवाद) : अनु. श्री गोपीकृष्ण गोपेश
१९६. विद्या भूषण ग्रंथ संग्रह सूची : श्री गोपाल नारायण बहुरा
१९७. विश्व इतिहास कोष : तृतीय खंड : चन्द्रराज भंडारी
१९८. वीर सतसई : संपा. सर्व श्री कन्हैयालाल सहल, पतराम गौड़ तथा आशिया
१९९. वेलि क्रिसन रुकमणी री राठौड़ प्रिथीराज री कही : संपा. डॉ० आ. प्र. दीक्षित
२००. वेलि क्रिसन रूकमणि री : संपा. श्री नरोत्तमदास स्वामी,
२०१. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : भाग १, २ : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत २०२
२०२. समालोचना-शास्त्र : रघुनाथ प्रसाद साधक
२०३. समीक्षा के मान और हिन्दी-समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तिया खण्ड १,२ डॉ. प्रताप नारायण टंडन
२०४. संगीत राग कल्पद्रुम : कृष्णानंद राग सागर : संपा. श्री नगेन्द्रनाथ वसु
२०५. संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड हिन्दी साहित्य परिचायक : डॉ. गंगाराम गर्ग

२०६. संस्कृत आलोचना : द्वितीय खंड : श्री बल्देव उपाध्याय
२०७. संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री बल्देव उपाध्याय
२०८. साहित्य का इतिहास दर्शन : श्री नलिन विलोचन शर्मा
२०९. सांगीत ढोला मारू का पूरा वातसवीर : श्री मीर दाद चौधरी
२१०. सिद्धान्त और अध्ययन : श्री गुलाबराय
२११. हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य : डॉ. शंकरलाल यादव
२१२. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण : खंड १,२ : संपा. श्री कृष्ण प्रसाद गौड़
२१३. हर्ष चरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
२१४. हिंदी कथा कोष : भोलानाथ तिवारी
२१५. हिंदी कविता में शृंगार रस का विवेचन : डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
२१६. हिंदी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह : श्री परशुराम चतुर्वेदी
२१७. हिंदी काव्य में प्रकृति : श्री रामचंद्र श्रीवास्तव
२१८. हिंदी काव्य में प्रकृति चित्रण : डॉ. किरण कुमारी गुप्ता
२१९. हिंदी काव्य में सौन्दर्य भावना : श्री शकुन्तला शर्मा
२२०. हिंदी काव्य में शृंगार परंपरा और महाकवि बिहारी : डॉ. गणपति चंद्र गुप्त
२२१. हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास : डॉ. भगीरथ मिश्र
२२२. हिंदी काव्य शैलियों का विकास : डॉ. हरदेव बाहरी
२२३. हिंदी के मध्यकालीन खण्ड काव्य : डॉ. सियाराम तिवारी
२२४. हिंदी के मुसलमान कवियों का प्रेम काव्य : श्री गुरुदेव प्रसाद वर्मा
२२५. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग : डॉ. नामवर सिंह
२२६. हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची : संपा. दीनानाथ खत्री
२२७. हिंदी छन्द प्रकाश : श्री रघुनन्दन शास्त्री
२२८. हिंदी जैन भक्ति काम्य और कवि : डॉ. प्रेमसागर जैन
२२९. हिंदी नीति काव्य : डॉ. भोलानाथ तिवारी
२३०. हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य (१५००–१७०० ई) : डॉ. कमल कुलश्रेष्ठ
२३१. हिंदी महाकाव्य का स्वरूप विकास : डॉ. शम्भुनाथ सिंह
२३२. हिंदी महाकाव्यों में नारी चित्रण : डॉ. श्याम सुन्दर व्यास
२३३. हिंदी मुक्तक काव्य का विकास : श्री जितेन्द्र नाथ पाठक
२३४. हिंदी विश्वकोष : भाग ३,७ : श्री नगेन्द्रनाथ वसु
२३५. हिंदी शब्द सागर : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
२३६. हिंदी साहित्य : खंड १,२ : डॉ. धीरेन्द्र वर्मा एवं डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा
२३७. हिंदी साहित्य : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
२३८. हिंदी साहित्य : डॉ. श्याम सुन्दर दास
२३९. हिंदी साहित्य का अतीत : पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२४०. हिंदी साहित्य का आदिकाल : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

२४१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (सं. ७५०–१७५०) : डॉ. रामकुमार वर्मा
२४२. हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास : भाग १ : संपा. डॉ. राजवली पाण्डेय
२४३. हिंदी साहित्य की भूमिका : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
२४४. हिंदी साहित्य कोश : भाग १,२ : संपा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा आदि
२४५. हिंदी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव : डॉ. सरनाम सिंह शर्मा
२४६. हिंदी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग : डॉ. शंकर देव अवतरे
२४७. हिंदी साहित्यानुशीलन : श्री सत्यकाम वर्मा
२४८. हिंदी सूफी काव्य की भूमिका : श्री राम पूजन तिवारी
२४९ ज्ञान गंगा : प्रथम भाग : नारायण प्रसाद जैन
२५०. ज्ञान गंगा : द्वितीय भाग : नारायण प्रसाद जैन

(ग) गुजराती :

२५१. अर्द्ध मागधी-गुजराती कोष : मुनि श्री रत्नचन्द्र,
२५२. आनंद काव्य महोदधि-मौक्तिक ७ : संपा. मुनि श्री सम्पतविजय,
२५३. गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति : बेचरदास जीवराज जोशी,
२५४. गुजराती साहित्य, खण्ड ५ मो : श्री कन्हैयालाल मा. मुंशी,
२५५. गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, पद्य विभाग : डॉ. मंजुलाल र. मजुमदार,
२५६. गुजराती हाथ प्रतोनी संकलितयादी : के. का. शास्त्री,
२५७. जैनगुर्जर कविओ : प्रथम भाग : श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई,
२५८. जैनगुर्जर कविओ : भाग ३–खण्ड २ : श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई,
२५९. जैसलमेरू दुर्गस्थ ज्ञान भंडारगत ग्रन्थानां जैन ताड़पत्रीय ग्रन्थभंडार, सूची पत्र,
२६०. ढोला मारू [प्राचीन राजस्थानी लोक वार्ता परथी] : संपा. शांति ना.शाह,
२६१. ढोला मारुनी वार्ता (प्राचीन कथा परथी सुधारा वधारा साथे) : मं. जी.शाह
२६२. दलपत पिंगल : दलपत राम डाह्याभाई पटेल,
२६३. प्राचीन गुजराती छंदो (एक ऐतिहासिक समालोचना) : श्री रा. ना. वि. ना. पाठक,
२६४. मध्यकाल ना साहित्य प्रकारो : डॉ. चन्द्रकान्त मेहता,
२६५. रणपिंगल : रणछोड़ भाई उदयराम,
२६६. रूढ़ि प्रयोग–कोश : श्री भोगीलाल भीखा भाई गांधी,
२६७. लींबड़ी जैन ज्ञान भण्डार नी हस्तलिखित प्रतिओनुं सूचीपत्र : मुनि श्री चतुर —विजय
२६८. वर्णक-समुच्चय (भाग २) : सांस्कृतिक अध्ययन अने शब्दसूचिओ : डॉ. भोगीलाल ज. साडेसरा,
२६९. विनीत जोडणी कोश : मगनभाई प्रभुदास देसाई,

२७०. सत्तरमा शतकनां प्राचीन गुर्जर काव्य : डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा,
२७१. सूर्यपुर अनेक जैन पुस्तक भांडागार दर्शिका सूची : केसरीचन्द हीराचन्द झवेरी,
२७२. संशोधन नी केडी : डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा,
२७३. हस्तलिखित पुस्तकोनी सविस्तर नामावली : अंबालाल बुलाखीराम ।

(घ) उर्दू :

२७४. विकाया राजपूताना : ज्वाला सहाय भरतपुर वाले ।

(च) अंग्रेजी :

275. Abstract of the story and Note on paintings of Dhola Marvan : V. Reu.
276. A brief History of Jaipur : Thakur Narendra singh,
277. A catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur : Dr. Motilal Menaria,
278. A catalogue of Rajasthani Mss. in the Library of H. H. the Maharaja of Bikaner. : Dr. C. Kunhan Raja,
279. A Descriptive catalogue of the Rajasthani Mss. in the collections of the Asiatic society : Pt. I : Dr V. B. Trivedi,
280. A Descriptive catalogue of Bardic & Historical Mss., Sec. I Part I, (Jodhpur State) Dr. L. P. Tessitori,
281. A Descriptive catalogue of Bardic & Historical Mss., Sec. I Part II (Bikaner State) . Dr. L. P. Tessitori,
282. A Descriptive catalogue of Bardic & Historical Mss Sec. II Part I (Bikaner State) : Dr. L. P. Tessitori,
283. A History of Indian Literature : M. Winternitz,
284. A History of sanskrit Literature : S.N. Dasgupta & S.K. Dey,
285. An alphabetical list of Mss. in the Oriental Isntitute, Baroda. Vol. II : Raghavan Nambiyar,
286. Ancient Indian Historical Tradition : Portizer,
287. Annals and antiquities of Rajasthan : Vol I : James Todd,
288. Annals and antiquities of Rajasthan : Vol. II : James Todd,
289. A Note on the State of Jaipur : Dr. Jadunath Sarkar,
290. Appreciations : Walter Pater,
291. Brief History of Jaipur State . Fateh Singh Champawat,

292. Catalogue and Guide to State Museum, Bharatpur,
293. Central India Gazetteer series–Gwalior State–Vol. I : C. E. Luard & D. N. Sheopuri,
294. Dictionary of world Literature : Joseph T. Shipley,
295. Early Chauhan Dynasties : Dr. Dashrath Sharma,
296. Encyclopaedia Britannica : Edinburgh, Adam & Charles Black,
297. English and Scottish popular Ballads : G. L. Kittredge,
298. English Epic and Heroic Poetry : M. Dixon,
299. Epic and Romance : W. P. Kerr,
300. F. J. child's English and Scottish Ballads : H. C. Sergent & G. L. Kittredge,
301. Folk Songs of Chattisgarh : Dr. Varrier Elvin,
302. Form and style in Poetry : W. P. Kerr,
303. Gazetteer of Bikaner State : Copt. P. W. Powlet,
304. Gazetteer of Bombay Presidency : vol. I : pt. I : James M. Campbell,
305. Gazetter of Bombay Presidency : Vol. IX : James M. Campbell,
306. Glory that was Gurlara Eesa : K. M. Munshi,
307. Gujrat and its literature : K. M. Munshi,
308. Gujrati and Rajasthani Mss. in the India office Library, London : J. F. Blumhardt,
309. History of Ancient India : Dr. R. S. Tripathi,
310. History of Dharm Shastra : Vol. III : P. Kane,
311. History of Indio : Vol. I : Elphiuston,
312. History of Malwa : Vol. I. Sukh Sampat Rai Bhandari,
313. History of Medieval Hindu India : Vol. I : C. V. Vaidya,
314. History of Medieval Hindu India : Vol. II : C. V. Vaidya,
315. History of the Parmar Dynasty : D. C. Ganguly,
316. Ideal and Position of Hindu women in Social life : Altekar,
317. Imperial Gazetteer : Vol 11, 13, 14, 18, 21, Oxford University Press,
318. Judgement in Literature : W. P. Kerr,
319 Malwa in Transition : First Phase 1698-1765 : Dr. Raghubir Singh,
320. Medieval English Literature : W. P. Kerr,

321. Medieval India : Stanley Lenpool,
322. Memoirs of Central India including Malwa etc. : Sir John Malcolm,
323. Mile stones in Gujrati Literature : Krishan lal Mohan lal Jhaveri,
324. New International Dictionery : Webster,
325. Old English Ballads : Introduction : Gummere,
326. Outline of an Art History of Bikaner : H. Goetz,
327. Political History of Ancient India-Roy Chaudhari,
328. Political History of Jaipur state (Typed Copy) : S. C. Brook,
329. Popular Ballads of olden Times : Sidgwick,
330. Preliminary Report on the operation in Search of Mss. of Bardic Chronicles. : Har Prasad Sastri,
331. Progress Reports on work done in c/w the Bardic and Historical Survey of Rajputana for the year 1914 to 1918 : Dr. L. P. Tessitory,
332. Sanskrit English Dictionery : M. Williams,
333. Sindh : Lt Burton,
334. Sketch of History of Kutch : Dr. Bird,
335. Some cultural Aspects of Muslim rule in India : Zafar,
336. Studies in Rajput History : Dr. K. R. Qanungo,
337. Survey of Historical places in Rajasthan (Typed Copy) : Dr. K. C. Jain,
338. The Ballad : Frank Sidgwick,
339. The Ballads : M. J. C. Hoggart,
340. The Ballad in Literature : T. F. Henderson,
341. The Beginnings of poetry : Ed. F. B. Gummere,
342. The Dynastic History of Northern India : Vol. I : H. C. Ray,
343. The Dynastic History of Northern India : Vol. II : H. C. Ray,
344. The English Ballad : Robert Greeves,
345. The Epic : Ebercrombie,
346. The foundation of Muslim rule in India : Habibullah,
347. The Geographical Dictionery of the Ancient and Medieval India : Nondo lal Dey.
348. The History and culture of the Indian people : Vol. IV, V, VI B. V. Bhawan, Bombay,

349. The History of India as told by its own Historians : Vol. I : Sir H. M. Eliot and Prof. John Dowson,

350. The practical Sanskrit English Dictionery : Apte,

351. The popular Ballad : Ed. F. B. Gummere,

352. The popular literature of Northern India : Dr. Grierson,

353. The western Rajputana States Residency and the Bikaner Agency : Maj: K. D. Erskine,

354. Thirty Decisive Battles of Jaipur : Narendra singh,

355. Travels in Baluchistan : Potinger,

356. Unhappy Valley : Lt. Burton.

(छ) फ्रेंच :

३५७. लेस दूहा द ढोलामारू : डॉ. शार्लोत वॉदविला ।

(ज) इतिहास :

३५८. अलवर राज्य का इतिहास : श्री पिनाकी लाल जोशी,

३५९. इतिहास राजस्थान : चारण रामनाथ रत्नू,

३६०. कछवाहों का संक्षिप्त इतिहास : ठाकुर वीरसिंह तंवर,

३६१. ग्वालियर का इतिहास : ठाकुर सूर्य कुमार वर्मा,

३६२. जयपुर का इतिहास : पहला भाग : पं. हनूमान शर्मा,

३६३. टॉड राजस्थान : श्री गौरीशँकर हीराचन्द ओझा,

३६४. परिहार वंश प्रकाश : मुंशी देवी प्रसाद,

३६५. परिहारों का इतिहास : मुंशी देवी प्रसाद,

३६६. पंवार वंश दर्पण : सिढायच दयालदास : संपा. डॉ. दशरथ शर्मा,

३६७. प्राचीन भारत : डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी,

३६८. पूर्व आधुनिक राजस्थान : डॉ. रघुवीर सिंह,

३६९. बाँकीदास री ख्यात : संपा. श्री नरोत्तमदास स्वामी,

३७०. बीकानेर राज्य का इतिहास : खण्ड १, २ : डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा,

३७१. भारत के प्राचीन राजवंश : १, २, ३ : श्री विश्वेश्वर नाथ रेउ,

३७२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा : भाग १, २ : श्री जयचन्द्र विद्यालंकार,

३७३. मारवाड़ का इतिहास : भाग १, २ : श्री विश्वेश्वर नाथ रेऊ,

३७४. मारवाड़ का मूल इतिहास : श्री रामकर्ण आसोपा,

३७५. मारवाड़ के प्राचीन शिलालेखों का संग्रह : मुंशी देवी प्रसाद,

३७६. मुंहणोत नैणसी की ख्यात : भाग १, २ संपा. श्री दूगड़ एवं श्री ओझा

३७७. मुंहता नैणसी री ख्यात : भाग १, १, ३, ४ : संपा. श्री बदरी प्रसाद साकरिया,
३७८. राजपूताने का इतिहास : खण्ड १, २, ३ : पं गौरीशंकर हीराचन्द ओझा,
३७९. राजपूताने का इतिहास : भाग १, २, ३ : श्री जगदीशसिंह गहलोत,
३८०. राजरमनामृत : मुंशी देवी प्रसाद,
३८१. राष्ट्रकूटों का इतिहास : श्री विश्वेश्वर नाथ रेऊ,
३८२. वीर विनोद : भाग १ : श्री श्यामलदास,
३८३. वीर विनोद : भाग २ : खंड १-३ : श्री श्यायल दास,
३८४. सीकर का इतिहास : पं. झावरमल शर्मा,
३८५. हमारा राजस्थान : श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार,
३८६. हिन्दू भारत का उत्कर्ष : भाग १, २, ३ : श्री सी. वी. वैद्य ।

४ ‖ पत्र-पत्रिकाएँ

(क) हिन्दी :

१. अगली कविता (वल्लभ विद्यानगर),
२. अध्ययन और अन्वेषण (उदयपुर),
३. उत्तर भारती (आगरा),
४. कल्याण (गोरखपुर),
५. गवेषणा (आगरा),
६. चारण (आगरा),
७. चांद (इलाहाबाद),
८. देश दर्शन (इलाहाबाद),
९. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वाराणसी),
१०. परम्परा (चौपासनी, जोधपुर),
११. परिषद पत्रिका (पटना),
१२. प्रेरणा (जोधपुर),

१३. भारतीय विद्या (बम्बई),
१४. भारतीय साहित्य (आगरा),
१५. मधुमती (उदयपुर),
१६. मरू भारती (पिलानी),
१७. मरूवाणी (जयपुर),
१८. मुक्ता (दिल्ली),
१९. राजस्थान (कलकत्ता),
२०. राजस्थान भारती (बीकानेर),
२१. राजस्थानी (कलकत्ता),
२२. राजस्थानी वीर (पूना),
२३. राष्ट्र दूत (जयपुर),
२४. लोक कला (उदयपुर),
२५. वरदा (विसाउ),
२६. विशाल भारत (कलकत्ता),
२७, विशाल राजस्थान (कलकत्ता),
२८. सप्तसिन्धु (चंडीगढ़),
२९. सम्मेलन पत्रिका (इलाहाबाद),
३०. शोध पत्रिका (उदयपुर),
३१. हंस (इलाहाबाद),
३२. हितैषी (जयपुर),
३३. हिंदी अनुशीलन (प्रयाग),
३४. हिन्दुस्तानी (प्रयाग),
३५. क्षत्रिय गौरव (जयपुर),
३६. क्षात्र धर्म (जयपुर),
३७. क्षात्र धर्म सन्देश (जयपुर),
३८. त्रिपथगा (लखनऊ)।

(ख) गुजराती :

३९. बुद्धि प्रकाश,
४०. वाक् सौन्दर्य,
४१. स्वाध्याय,
४२. साहित्य ।

(ग) अंग्रेजी :

43. Bulletin of the School of Oriental Studies,
44. Epigraphic Indica :
45. Indian Antiquary :
46. Journal of American Oriental Society :
47. Journal of Gujrat Research Society :
48. Journal of Indian History :
49. Journal of Royal Asiatic society :
50 Marg :
51. Modern Review :
52. The Journal of the Oriental Research Institute.

श्री डा. भगवतीलाल शर्मा के इस शोध-प्रबंध में राजस्थान के अतिशय सरस, लोक - प्रिय एवं प्रतिनिधि प्रेम-काव्य—'ढोला–मारू' की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं काव्यगत विशिष्टताओं के संदर्भ में एक व्यापक एवं सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'ढोला–मारू' पर नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित संस्करण के अनन्तर इधर कुछ वर्षों में, देश-विदेश में काफी लिखा जा चुका है—स्वतंत्र कृतियों तथा स्फुट लेखों—दोनों ही रूपों में।



डॉ० भगवतीलाल शर्मा

श्री डा. भगवतीलाल जी ने अपने इस शोध-ग्रंथ में 'ढोला–मारू' से संबद्ध इस सारी प्रकाशित सामग्री का अध्ययन–विश्लेषण करने के साथ-साथ, अद्यावधि अज्ञात एवं अप्रकाशित अनेक हस्तलिखित प्रतियों का भी भरपूर उपयोग किया है, जिससे इस ग्रंथ की शोधगत महत्ता व उपादेयता कहीं अधिक बढ़ गई है। लेखक ने अत्यंत मनोयोग एवं अध्यवसायपूर्वक ग्रंथ की आधारभूत सामग्री की छानबीन तथा मंथन-परीक्षण कर अपने निष्कर्ष निकाले हैं। यों, आनुषंगिक रूप से इसमें लेखक ने 'ढोला–मारू' काव्य के मूल्यांकन में सहायक प्रायः सभी पक्षों का सार-गर्भित विवेचन किया है, तथापि उसकी शोध के मुख्य विषय—काव्य-सौष्ठव, संस्कृति एवं इतिहास हैं, जिन पर लेखक ने यत्र-तत्र नवीन प्रकाश डालते हुए अपनी कुछ नूतन स्थापनायें की है। लेखक की इन स्थापनाओं में कहीं-कहीं अंतर्विरोध या स्वतोव्याघात का आभास पाते हुए भी (जो मेरा दृष्टि-दोष भी हो सकता है) तथा कहीं-कहीं उसके निष्कर्षों से असहमत होने पर भी हम उसकी विवेचन - प्रक्रिया के मूल में अंतर्निहित सारस्वत - भावना तथा सत्यान्वेषण-वृत्ति की सराहना किए विना नहीं रह सकते।

राजस्थानी प्रेमाख्यानों की मणि-माला के अनमोल सुमेरु—'ढोला–मारू' पर श्री डा. शर्मा का यह अभिनव शोध-प्रबंध निश्चय ही अभिनंद्य है।

—प्रो० शंभुसिंह मनोहर